समालोचना को पुष्ट बनाने भाषा का स्वरूप स्थिर करने तथा वाद-विवाद प्रणाली में रुचि लेने की ओर जितना अधिक था उतना सैद्धान्तिक निरूपण की ओर नहीं। कहना पड़ता है कि द्विवेदी-युग में सैद्धान्तिक परम्परा का भारतेन्दु-युग की अपेक्षा संवर्धन अवश्य हुआ किन्तु उसे ऐसी प्रौढ़ि नहीं दी जा सकी जिसके प्रतिमानों पर व्यापक दृष्टि से समीक्षण किया जा सके। इसकी पूर्ति आचार्य शुक्ल जी द्वारा की गई और इसी कारण हमने उनको द्विवेदी-युग के प्रमुख साहित्य समीक्षक मान कर भी उन्हें स्वतन्त्र भूमिका प्रदान करना न्यायोचित समझा है।

रचनात्मक साहित्य के लिए प्रस्तुत प्रतिमान

१७ द्विवेदी-युग में रचनात्मक साहित्य का विकास जिन-जिन रूपों में हुआ उनमें काव्य के अतिरिक्त नाटक उपन्यास आख्यायिका और गल्प आदि भी हैं। इनके द्वारा भी समालोचना साहित्य को विकसित होने की प्रेरणाएँ मिली हैं। बात यह है कि रचना और विचार हमारे मानस के दो पूरक अंग हैं, जिन्हें अलग-अलग क्षेत्रों में परिसीमित कर साहित्य का समुचित विकास किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि वे एक-दूसरे को प्रभावित करते अथवा एक-दूसरे से प्रभावित होते चलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी-युग में जिस प्रकार के काव्य कहानी नाटक और उपन्यास आदि लिखे गये उनमें सर्वत्र समाज-सुधार, आदर्श निष्ठा प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम तथा अभिनवता का स्वस्थ दृष्टिकोण झलकता था अतः उसका प्रतिबिम्ब समालोचना-साहित्य पर भी पड़ना अनिवार्य-सा था। इस युग के साहित्यकारों का अधिकांश साहित्य-कला विषयक यही दृष्टिकोण रहा कि वह जीवन के लिए है और उसकी उपयोगिता हमारे लौकिक धरातल से पूर्णतया सम्बद्ध है। अतः उन्होंने अपनी कृतियों के आधार प्रायः वे ही रखे जो जन-जीवन के अत्यन्त अनुस्यूत थे। उन्होंने यदि पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों को लेकर भी अपनी रचनाएँ कीं तो भी उन्हें अपने युग का रंग दे ही दिया। 'साकेत' और 'प्रिय प्रवास' की रचनाएँ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यही प्रवृत्ति हमें इस युग के कथा-साहित्य में भी मिलती है। इस युग के चाहे किसी भी साहित्यकार की रचनात्मक प्रतिभा का अध्ययन किया जाय हमें उसमें जीवन के प्रति एक उद्देश्य अथवा शिक्षा-भाव अवश्य मिलेगा। यहाँ तक कि प्रेमचन्द जी जैसे कथाकार जीवन की जिस यथार्थ भूमि पर अवस्थित होकर अपनी रचनाओं में प्रवृत्त हुए हैं, उनमें भी आदर्शोन्मुखता का अभाव नहीं है। उन्होंने अपने विविध भाषणों और साहित्यिक लेखों में इसका संकेत भी किया है। यही कारण है कि समालोचना के इस संवर्धन-काल में हमें रचनात्मक साहित्य के अनुरूप ही समालोचनात्मक साहित्य मिलता है। यदि किसी साहित्यकार ने युग-धर्म की मान्यताओं का उल्लंघन कर अपनी स्वतन्त्र रुचि से काम भी लिया है तो उसे साहित्यकार की पंक्ति से बहिर्गत करने की चेष्टा ही की गई है, भले ही अपनी प्रतिभा के बल पर कालान्तर में उसने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया हो। इस युग की समालोचना में यह भी एक विशेष बात है कि वह रचनात्मक साहित्य का यथावसर नियमन भी करती चली है। इसी नियमन प्रवृत्ति और पथ-प्रदर्शन की योग्यता ने ही तो द्विवेदी जी को इस युग का सूत्रधार बनाया था अन्यथा ऐसी तो कोई बात नहीं कि वे साहित्य के इतने गम्भीर और महान् अध्येता रहे हों जिनके द्वारा किन्हीं नवीन और मौलिक उद्भावनाओं का सार्वजनीन और शाश्वत स्वरूप निर्मित किया गया हो।

शोध-कार्य द्वारा समालोचना-वृद्धि

१८. द्विवेदी-युग की समालोचनाओं का एक प्रतिमान शोधपरक विषयों से भी संघटित है। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वान् प्रायः वे ही रहे, जिनका सम्बन्ध नागरी-प्रचारिणी सभा हिन्दी साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी एकेडमी से विशेष था। इन विद्वानों द्वारा प्राचीन साहित्य के अनेक अप्राप्य ग्रन्थों का परिश्रमपूर्वक सम्पादन किया गया और उनकी प्रामाणिकता पर भी

विचार हुआ। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का एक प्रमुख उद्देश्य ऐसे ग्रन्थों का ही शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करना था। सभा ने समय-समय पर अपने खोज-विवरण भी प्रकाशित किए जिनमें प्राचीन ग्रन्थों और रचयिताओं की एक लम्बी सूची रहती थी। इस प्रकार के शोधों से यह आभासित होने लगा कि हिन्दी साहित्य की भी एक प्राचीन और समृद्ध परम्परा है और जो लोग उसे 'रामचरितमानस', 'सूरसागर' अथवा बिहारी की 'सतसई' में ही केन्द्रीभूत समझते हैं, वे भ्रान्तिग्रस्त हैं। इस क्षेत्र में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तथा डाक्टर हीरालाल द्वारा किये गए कार्यों का भी प्रमुख महत्त्व है। बड़थ्वाल जी ने सिद्धों और नाथ पंथियों के साहित्य पर अनेक नवीन उपलब्धियाँ प्रदान की हैं। उनका 'हिन्दी-काव्य की निर्गुणधारा' नामक शोध प्रबन्ध तो इस दिशा में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि डाक्टर श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा लाला भगवानदीन आदि विद्वानों को जो साहित्य-क्षेत्र में प्रारम्भिक सम्मान मिला उसमें उनके शोध कार्य का भी प्रमुख सहयोग था। इसी शोधकार्य का एक सम्बन्ध हमारे साहित्य के इतिहास से भी था। वैसे तो डा० ग्रियर्सन तथा शिवसिंह सेंगर ने भी अपने साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में कवियों के वृहद् वृत्त संकलित किये थे किन्तु उनका शोधपरक साहित्यिक समीक्षण नहीं हुआ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने इस ओर स्तुत्य प्रयत्न किये। शुक्ल जी ने युग और साहित्य का समन्वय करते हुए जिस ऐतिहासिक प्रणाली में अपने सुप्रसिद्ध इतिहास की रचना की है वह अपनी युग प्रवृत्तियों के विवेचन तथा साहित्यकारों के संतुलित समीक्षण की दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि द्विवेदी युग की शोधपरक समालोचना में अधिकांशतः प्राचीन कवि और उनके काव्य ही विवेचित रहे। आधुनिक युग की प्रवृत्तियों और साहित्य-धाराओं की विकास-विधि को लेकर भी शोध-कार्य किया जा सकता है इस ओर समालोचकों का अधिक ध्यान नहीं गया। बात यह थी कि द्विवेदी-युग समालोचना का संवर्धनकाल अवश्य था किन्तु उस समय हिन्दी का विश्वविद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं में पठन-पाठन करने के लिए गौरवपूर्ण स्थान न बन सका था और न राज्य की ओर से ही उसको विशेष प्रोत्साहन था। अतः शोध द्वारा समालोचना-वृद्धि में केवल वे ही व्यक्ति अपना योगदान दे सकते थे जो अधिक से अधिक स्वानुभूति से प्रेरणा लेकर चलते। यही कारण है कि द्विवेदी-युग में शोध-विषयक कार्य केवल कुछ ही संस्थाओं और उनके कार्यकर्ताओं के बीच सीमित रह गया। आचार्य द्विवेदी जी ने भी अपनी शोध-सम्बन्धी समालोचनाओं की एक दिशा निर्दिष्ट की किन्तु वह समीक्षा और मूल्यांकन की अपेक्षा जानकारी ही अधिक रही। ऐसी स्थिति में शोध विधान द्वारा समालोचना के विकास का कार्य इस युग द्वारा उस विधि से सम्पन्न नहीं हो सका जो उसके परवर्ती युग में चल कर हुआ क्योंकि परवर्ती युग में उसके विकास के अनेक अनुकूल अवसर उपलब्ध हो गए थे जिनका विवेचन यथास्थान किया जायगा।

महत्त्व-निर्धारण और निष्कर्ष

११. द्विवेदी-युग का एक सबसे बड़ा महत्त्व यह भी है कि उसने हमें साहित्य के विभिन्न युगों में नूतन प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले ऐसे-ऐसे महान् महारथी प्रदान किए जिन्होंने अपने कृतित्व से साहित्य-मन्दिर की शोभा को अपरिमित भाव से आलोकित कर दिया। द्विवेदी जी की समालोचक के रूप में सब से बड़ी देन यही है कि वे अपनी सृजन-शक्ति में एक विशिष्ट साहित्य निर्माता थे। यह उन्हीं के युग और व्यक्तित्व का प्रभाव था जिसने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमें उपन्यासकारों में प्रेमचन्द, काव्यकारों में मैथिलीशरण, नाटककारों में प्रसाद और आलोचकों तथा निबन्ध-लेखकों में रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान् यशस्वी लेखक प्रदान किये। इन साहित्यकारों के निर्माण में द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की अपेक्ष्य छाप थी। यही कारण है कि इनमें से कुछ स्वच्छन्दतावादी

साहित्यकारों को छोड़ कर अधिकांश साहित्यकार द्विवेदी युग की उत्तरवर्ती भावनाओं से प्रभावित होने पर भी उस युग की मान्यताओं के परिवेशमंडल से छूट कर बाहर नहीं जा सके और घूम-फिर कर उन्हें उस युग की आदर्श-निष्ठा और नैतिकता को स्वीकार करना ही पड़ा। समाज-सुधार और लोक-हित की भावना के जो तत्व उनकी कृतियों में अभिव्यक्त हुए, उन पर द्विवेदी जी महाराज का प्रत्यक्ष प्रभाव अंकित है। आचार्य शुक्ल जी ने अपनी समालोचना में जो साहित्यपरीक्षण का प्रतिमान प्रतिष्ठित किया था वह द्विवेदी युग की भूमिका के अत्यधिक सन्निकट है। उनके 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' और 'कविता क्या है' शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध इस कथन के प्रमाणस्वरूप रखे जा सकते हैं। यह बात दूसरी है कि शुक्ल जी ने अपने जीवन-काल में हमारे आधुनिक साहित्य के सभी प्रमुख युग देखे थे। उन्होंने भारतेन्दु-युग के अवसान-काल से अपनी रचनाओं का श्रीगणेश किया था द्विवेदी युग में उनका युवाकाल व्यतीत हुआ छायावादी युग में उनमें प्रौढ़ता परिलक्षित हुई तथा वे नवीन प्रगतिवादी युग के प्रारम्भ तक जीवित रहे अतः उनकी समालोचनाओं में इन चारों युगों की प्रवृत्तियों के तत्व-कण आने स्वाभाविक थे फिर भी उनकी मनोभूमिका में सब से अधिक अंश द्विवेदी-युग की मान्यताओं का ही था इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता।

२ यह सब कुछ होते हुए भी द्विवेदी-युग की समालोचनाओं की अपनी सीमाएँ भी हैं। यद्यपि उसके प्रतिमान में नवीनता का संचार होने लगा था फिर भी वह संस्कृत-साहित्य की काव्यशास्त्रीय समीक्षण-पद्धति के अधिक निकट था। रीतिकाल की भाँति इस युग को भी संस्कृत की अपार ज्ञानराशि से साहित्यालोचन की प्रेरणा मिली थी किन्तु वह रीतिकाल की भाँति रूढ़िग्रस्त न होकर रूढ़िमुक्त थी। इस युग में हमें समालोचना के अंतर्गत समन्वय और संतुलन की प्रवृत्ति भी मिलती है किन्तु उसका विकास स्वच्छन्द विधान में अधिक नहीं हो सका है। इस युग के समालोचकों द्वारा समालोचना को ऐसी आत्मानुभूति और स्वप्रेरित प्रज्ञा से अनुप्राणित नहीं किया गया जिसमें वह भी एक कलाकृति के समान ही मानव-भावनाओं की सौन्दर्यमयी अभिव्यंजना करने के लिए प्रस्तुत होती है। इसी प्रकार इस युग की समालोचना में साहित्यादर्श का भी एक निर्धारित मानदंड था। प्रत्येक समालोचक का अपना एक निर्धारित दृष्टिकोण रहता था और उसी के द्वारा वह समालोच्य विषय के सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त कर दिया करता था। इस युग की अंतश्चेतना का विवेचन करते हुए पहले युग की मर्यादाओं का संकेत कर दिया गया है अतः उन्हीं की भूमिकाओं के अंतर्गत इस युग की समालोचना का स्वरूपबोध करना सर्वथा समीचीन है।

२१ द्विवेदी-युग की समालोचनात्मक संवर्धना में आचार्य पंडित महावीरप्रसाद के अतिरिक्त बाबू श्यामसुन्दर दास मिश्रबन्धु पं पद्मसिंह शर्मा लाला भगवानदीन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पं कृष्ण बिहारी मिश्र पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा बाबू गुलाबराय का प्रमुख हाथ है। इनके अतिरिक्त और भी समालोचकों का ज्ञान 'सरस्वती' की पुरानी प्रतियों से होता है, किन्तु विषय प्रतिपादन और विचारधारा में उनके व्यक्तित्व का ऐसा विकास नहीं हुआ है जिसके कारण उन्हें उपर्युक्त समालोचकों के समकक्ष स्थान दिया जा सके। अब हमें समालोचकों की समालोचनात्मक उपलब्धियों का मूल्यांकन उनकी कृतियों को दृष्टिगोचर रखकर किया जायगा जिससे यह पता चल सके कि उन्होंने किन-किन विचारधाराओं से प्रेरित होकर किन-किन प्रणालियों में कैसी-कैसी समालोचनाएँ लिखीं। इस सामान्य परिचय के अतर्गत तो उनका प्रसंगवश सामान्य उल्लेख हुआ है, किन्तु अब उनका विशिष्ट विवेचन होगा। इन समालोचकों में प रामचन्द्र शुक्ल और बाबू गुलाबराय का मूल्यांकन मैने द्विवेदी-युग की पार्श्व भूमि में विकसित होने वाले शुक्ल-युग के अतर्गत किया है, क्योंकि वे इस युग की उपज होने पर भी अपना स्वतंत्र विकास अपने उत्तरवर्ती युग मे ही कर सके थ। जैसा कि युग-विभाजन के समय इस बात का संकेत कर दिया गया है कि यह

विभाजन केवल विशेष प्रकार की मान्यताओं को प्रमुखता प्रदान करने तथा अपने अध्ययन को सुविधापूर्ण बनाने के लिए ही है अन्यथा ऐसी कोई बात नहीं है कि किसी एक विशेष समय में ही व्यक्ति की मान्यता और चेतना पर कोई अंकुश लग जाय और वह अपने पूर्ववर्ती विकास को किसी मानस प्रकोष्ठ में बन्दी बना कर नवीन दृष्टिकोण से ही कोई अभिनव सर्जना करे। अतः युग-विशेष की प्रवृत्तियों और समालोचकों के अध्ययन के समय इस तथ्य की अवहेलना न करना ही न्यायोचित है।

प्रमुख समालोचक और उनकी कृतियों का समीक्षण

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रतर्प्रवेश और युग-परिवर्तन

२२ भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रारम्भिक काल था। भारतेन्दु जी और उनके सहयोगी मंडल ने रचनात्मक साहित्य की अभिवृद्धि के साथ-साथ साहित्यालोचन की ओर भी ध्यान दिया था किन्तु उनका इस ओर विशेष आकर्षण न था। बात यह थी कि भारतेन्दु मंडल में अपने साहित्य को विविध अंगों की परिपुष्टि के द्वारा अन्यान्य भाषा-साहित्यों की समता में व्यापक बनाने की इतनी अधिक आतुरता थी कि वह इच्छा होने पर भी आलोचना-साहित्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाता था। फल यह हुआ कि इस युग में समालोचना का न्यूनांश में ही विकास हो पाया। यद्यपि इस युग में समालोचना की अनेक प्रवृत्तियों और पद्धतियों का बीजारोपण अवश्य हो गया था किन्तु उनके प्रस्फुटन की स्थिति नहीं आई थी। यह कार्य आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में आने पर सम्पन्न हुआ अतः उनका साहित्य-सेवाकाल हिन्दी समालोचना के द्वितीय चरण के रूप में द्विवेदी-युग के नाम से अभिहित किया जाता है जिसे मैंने विषय-विकास की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी समालोचना का संवर्धन काल कहना सभी दृष्टियों से समुचित समझा है।

२३ वैसे तो आचार्य द्विवेदी जी सरस्वती पत्रिका का सम्पादन ग्रहण करने पर ही (सन् १९०३) साहित्य-क्षेत्र में प्रधान रूप से अवतीर्ण हुए, किन्तु उनका रचना काल उसके पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। सन् १८९९ ई० के प्रारम्भ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में उनकी 'कुमार सम्भव की भाषा' विषयक समालोचना प्रकाशित हुई जिसका उत्तरवर्ती अंश कालाकांकर से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दोस्थान' नामक प्रसिद्ध पत्र में आया। द्विवेदी जी की संस्कृत-साहित्य में नैसर्गिक रुचि थी। उन्होंने सन् १८९७ ई० के नवम्बर से सन् १८९८ ई० के मई तक वैंकटेश्वर समाचार बम्बई में कालिदास के ऋतुसंहार की भाषा' पर निरंतर रूप से समालोचनाएँ लिखीं। सन् १९०१ ई० में उनकी 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' प्रकाशित हुई जिसमें रघुवंश और मेघदूत की आलोचनाएँ भी सम्मिलित कर दी गई थीं। इस प्रकार कालिदास के ग्रन्थों का समीक्षण हिन्दी में प्रथम बार उनकी लेखनी का चमत्कार प्रदर्शित करता हुआ समालोचना-जगत् के सामने आया।

२४ द्विवेदी जी की उक्त प्रारम्भिक समालोचनाओं ने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। बाबू श्यामसुन्दरदास की प्रेरणा और प्रयत्नों से वे सरस्वती के संचालकों द्वारा सम्पादक-पद पर प्रतिष्ठित किये गए। द्विवेदी जी को मनोनुकूल क्षेत्र मिल गया। उन्होंने पहले तो कानपुर जुही से पत्रिका का सम्पादन किया और तत्पश्चात् वे प्रयाग आ गए। तब से उनका साहित्य-क्षेत्र प्रयाग बना और सन् १९०३ से १९२० पर्यन्त सजग वृत्ति से अपने सम्पादन-कौशल

---

१ 'सरस्वती' भाग ४ सं० ३ पृष्ठ १६६.

द्वारा उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र का नेतृत्व किया। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली और महान् था कि उस समय हिन्दी प्रदेश उनके अभिनायकत्व में आ गया। वे रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य के मुख्य प्रेरक और मार्ग-दर्शक बने। उनका प्रभाव इतना गम्भीर और व्यापक था कि सन् १९२ के पश्चात् सम्पादन कार्य से विराम लेने पर भी वह हिन्दी-साहित्य पर छाया रहा और सन् १९३ तक उसकी क्रियाएँ सर्वोपरि रहीं। इतना ही नहीं उनके पश्चात् आचार्य शुक्ल जी ने अपनी विद्वत्ता और गम्भीरता के बल पर जिस समालोचना-साहित्य का निर्माण किया था उसकी मूल मनोभूमि आचार्य द्विवेदी जी की ही थी। शुक्ल जी की विचारधारा का निर्माण द्विवेदी जी के युग-ग्राही भाव-सूत्रों के आधार पर ही हुआ था और वे एक प्रकार से उनके विकासमान स्वरूप कहे जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग की विकास-शृंखला को अपनी प्रतिभा के द्वारा युगानुरूप बना कर भावी साहित्य की रूपरेखा के साथ संबद्ध करने में द्विवेदी जी का महान् योग है और वे आधुनिक साहित्यनिर्माण के केन्द्रवर्ती स्तम्भ के रूप में सदैव विराजमान रहेंगे।

२५ द्विवेदी जी के साहित्यालोचन का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके पूर्ववर्ती समालोचना कार्य को दृष्टिपथ में रखा जाय। ऐसा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें युग-निर्माण की नैसर्गिक योग्यता थी। उन्होंने साहित्य-सूत्र का दायित्व ग्रहण करते ही महावीर की भाँति परम्परागत साहित्य का सूक्ष्म सिंहावलोकन कर उसकी वास्तविकता को परख लिया था। अपनी विवेक-बुद्धि और सारग्राहिणी निपुणता से उन्होंने अत्यन्त शीघ्र ही यह निर्णय कर लिया कि अपने पूर्वरचित साहित्य का प्रतिमान क्या है और उसे युग-स्थिति को देखते हुए किस ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता है। वे अपने विचारों में अत्यन्त स्पष्ट और निर्भीक थे अतः उन्हें परावलम्बन की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं हुई। वे जिस युग में जी रहे थे वह नैतिकता और आदर्श का युग था अतः उन्होंने उसकी नाड़ी टटोल कर अपनी सुरुचि सम्पन्नता से उसी के साँचे में साहित्य को ढालना सर्वतोभावेन उपयुक्त समझा। उन्हें भारतेन्दु-युग का नव जागरण प्रिय लगा किन्तु उसकी न्यूनताएँ भी उनके दृष्टिपथ में आने से नहीं बच सकीं। गद्य-पद्य के लिए भिन्न भिन्न भाषाओं का प्रयोग भाषा रचना में व्याकरण-सम्मत शुद्धता का शैथिल्य साहित्यालोचन में व्यापक विचारों का अभाव तथा गम्भीर साहित्य-निर्माण की न्यूनता आदि ऐसे अनेक क्षेत्र थे जिनकी पूर्ति करना साहित्य-गरिमा के लिए आवश्यक था। अतः द्विवेदी जी की साधना मुख्यतः इन्हीं में केन्द्रीभूत होकर चली और वे इन्हें अपने रचना-कौशल का मेरुदंड बना कर निरंतर बढ़ते रहे। उनके कार्यों का लेखा-जोखा इन्हीं के प्रतिमान से किया जाना न्यायसंगत एवम् समीचीन है।

बहुमुखी व्यक्तित्व और भाषा-परिष्कार

२६ द्विवेदीजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे मुख्य रूप में 'सरस्वती' के सम्पादक थे किन्तु उनमें अनेक विशिष्टताओं का भी समावेश था। भाषा-शिक्षक निबन्धकार समालोचक हिन्दी प्रचारक एवम् गम्भीर विचारक के साथ-साथ वे सबसे बड़े साहित्यिक-प्रेरक भी थे। यद्यपि उनमें रचनात्मक प्रतिभा का बाहुल्य न था और न वे उच्चकोटि के कवि नाटककार अथवा कथा साहित्य रचयिता ही थे किन्तु उनमें एक ऐसी अद्भुत अन्तर्हित शक्ति थी जिसके कारण उन्होंने अनेक साहित्यकारों का निर्माण किया। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त रामनरेश त्रिपाठी गोपालशरणसिंह श्रीधर पाठक गयाप्रसाद शुक्ल सनेही नाथूराम शर्मा 'शंकर' देवीप्रसाद 'पूर्ण' सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि ख्यातनामा कवियों के रचना-विधान में उनका प्रमुख हाथ है और आज की पद्य सर्जना के पीछे उनके महान् व्यक्तित्व की अमिट छाप है। उनकी सरस्वती पत्रिका की प्रतियों में

उनकी साहित्य-तपस्या के अन्तर्गत स्फुलिंग समाविष्ट हैं तथा हिन्दी-भाषा का निखार और शैली वैविध्य का विकास भी सम्मिलित है। निश्चय ही वह हमारे साहित्य के द्वितीय चरण के युगान्तर कारी सूत्रधार हैं और उन्होंने हिन्दी भाषा का ओजस एवम् आदर्श रूप साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

२७ आचार्य द्विवेदी जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भाषा-सम्बन्धी परिष्कार है। उनके पूर्व भारतेन्दु जी ने साहित्य को विविध दिशाओं की ओर उन्मुख किया था किन्तु वे भाषा-संशोधन की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके थे। उनके मण्डल के सभी लेखकों में पद-विन्यास और वाक्य विन्यास आदि की अनेक अशुद्धियाँ मिलती हैं। इसके लिए उन्हें विशेष दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि काम करने को युग में उन्हें इस बात का कोई अवकाश ही नहीं था कि वे भाषा सुधार की ओर ध्यान दे पाते। भाषा-शुद्धि का आन्दोलन सही अर्थ में आचार्य द्विवेदी जी ने ही आरम्भ किया। इसके लिए उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका को अपना अमोघ अस्त्र बनाया। वे स्वयं बहुत सोच-समझ कर लिखते थे और लेखकों को सोच-समझ दुरुस्त कर लिखने की प्रेरणा देते रहते थे। आज के जो चोटी के साहित्यकार हैं उन्हें उन्होंने अंगुली पकड़ कर चलना सिखाया था। वे अपने सम्पादन कक्ष में बैठे प्राप्त लेखों और रचनाओं की एक-एक पंक्ति और शब्द-योजना को ध्यानपूर्वक पढ़ते और उनका उचित परिष्करण करने के पश्चात् ही उन्हें पत्रिका में प्रकाशित करते। अनेक बार तो उन्हें लेखकों के वाक्य-विन्यास और छन्द-विधान का समूल कायाकल्प करना पड़ता था। यह उन्हीं की साधना का फल था कि स्तुपित कही जाने वाली हिन्दी सभ्य नागरिकों की भाषा बन सकी और धीरे-धीरे उसने अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया। द्विवेदी जी की यह सेवा वस्तुतः अमूल्य है और उसका भाषा-साहित्य के इतिहास में एक स्थिर *प्रतिमान बन गया है।* उनका कहना था कि आलोचक काव्य-निरूपण के साथ-साथ भाषा परिष्कार को भी अपना कर्तव्य समझे और वस्तुतः उन्होंने स्वयम् भाषा शिक्षक के रूप में उसका पूर्ण पालन कर हिन्दी को निश्चित गति प्रदान की।

विषय-व्यापकता और समालोचनागत वैविध्य

२८ द्विवेदी जी की समालोचना ने हमारे आधुनिक साहित्य को अनेक विषयों की व्यापकता प्रदान की है। एक प्रकार से देखा जाय तो आधुनिक युग में जो साहित्य-विधाओं की अनेकरूपता प्रदर्शित हो रही है उसमें द्विवेदी जी की साधना का सुयोग है। वे कुशल सम्पादक होने के साथ-साथ हिन्दी संस्कृत अंग्रेजी मराठी और बंगला आदि साहित्यों के पण्डित थे और उक्त साहित्यों के अन्तर्गत अभिव्यक्त ज्ञानकोष से हिन्दी भाषा के साहित्य की भी अभिवृद्धि करना चाहते थे। उन्होंने सरस्वती के प्रत्येक अंक में साहित्य-वृद्धि के लिए अपेक्षित परामर्श और आदर्श प्रदान करने का नियम सा बना लिया था। उस समय बंगला और मराठी का साहित्य भी यथेष्ट सम्पन्न था और वे उन साहित्यों के आधार पर हिन्दी को भी सम्पन्न बनाने की प्रेरणाएँ निरन्तर देते रहते थे। संस्कृत की अपार साहित्य-निधि और अंग्रेजी की असम साहित्य राशि से हिन्दी साहित्य के उपयुक्त सामग्री के जिन तत्त्वों के सृजन का समावेश उन्होंने अपनी समालोचनाओं में किया वे आगे चल कर हमारे साहित्यिक उत्कर्ष के कारण बने। यह कहना किंचित्मात्र भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को सभी प्रकार के विषयों से परिपूर्ण *बना कर विश्वालोक* में उपस्थित कर दिया। आज पत्र-पत्रिकाओं और समालोचनाओं में जिन रूपों का हम विकास पाते हैं, उनकी मूल दिशा द्विवेदी जी की दिखलाई हुई है। वस्तुतः अपने मानदण्ड में वह साहित्य की विषयगत जो उत्थान प्रदान कर गये हैं, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

२९. आचार्य द्विवेदी जी की समालोचनाओं के मूल में अनेक प्रकार की विशेषताओं का

समावेश है। वे किसी से दब कर चलने वाले साहित्यकार न थे अतः उन्होंने समालोचना-साहित्य में जो कुछ भी लिखा पूर्ण निर्भीकता के साथ लिखा। वे पहले अपने आलोच्य विषय का यथाशक्ति मन्थन कर उसके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बना लेते थे और तत्पश्चात् तथ्यग्राहिणी शक्ति द्वारा अपने मन्तव्यों का स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्तीकरण कर देते थे। उनकी यह निर्भीकता उनकी सभी समालोचनाओं में प्रतिबिम्बित है। निर्भीकता की यह वृत्ति कहीं-कहीं पर तो इतनी अधिक बढ़ जाती थी कि वे प्रतिपक्षी पर कटु प्रहार करने से भी नहीं चूकते थे और उसकी दोषोद्भावना बिना किसी हिचकिचाहट के अपने दृष्टिकोण से प्रकट कर दिया करते थे जिसको पढ़ कर सहृदय पाठक अनेक बार तिलमिला उठते थे।

९ द्विवेदी जी में अपनी विचारधारा को प्रबल शब्दों में व्यक्त करने की अद्भुत शक्ति थी। उनका अपना मानसिक धरातल था। जिन साहित्यकारों की कृतियों में वे उसका परिपालन नहीं पाते उन पर वे बरस पड़ते थे। ईमानदारी तो उनमें इतनी अधिक थी कि वे सत्य का गोपन किसी भी दशा में उचित नहीं समझते थे। छायावादी कवियों से उनकी प्रारम्भ ही से नहीं बनी और वे अन्त तक उनके काव्य-सौष्ठव से अप्रभावित रहे। उन्होंने उनकी काव्य रचनाओं पर 'सरस्वती' पत्रिका में सर्वत्र अपने विचार बिन्दु से समीक्षण किया। ऐसा करते समय उन्होंने हास्य और व्यंग्य की शैली को भी अपनाया। निस्सन्देह उनकी यह निश्चित विचार-सरणि उनकी द्वितीय विशेषता कही जा सकती है। 'सरस्वती' पत्रिका की पुरानी प्रतियों में प्रकाशित द्विवेदी जी की समालोचनागत मान्यताओं का एक स्पष्ट लेखा जोखा मिल जाता है। उन्होंने साहित्य के स्वरूप विधान को जिस शास्त्रीयता और सुरुचि सम्पन्नता से सोचा-विचारा उसी के अनुरूप उसकी अभिव्यक्ति की। वे एक ही बात को घुमा-फिरा कर अनेक प्रकारों में अभिव्यक्त किया करते थे जिसका मूल उद्देश्य यही होता था कि पाठक उनके भावों के उद्गम-स्थल तक पहुँच जाय और उसे किसी प्रकार की उलझन न रहे। वे स्वयम् अत्यन्त स्पष्टवादी और निर्भीक थे और साहित्य-समालोचना में भी ऐसे ही आयोजन के आकांक्षी थे। उनकी मान्यता सुधारवादी और पुनरुत्थान काल की थी किन्तु उसकी एक प्राचीन परम्परा और मर्यादा भी थी। वे मध्यम श्रेणी के समाज का नेतृत्व करने वाले साहित्यकार थे और उनकी उद्भावनाओं में आदर्श का दृष्टिकोण सर्वत्र गुम्फित रहता था। उन्होंने अपनी अमर वाणी से साहित्य-संसार को जो अनेक उपलब्धियाँ प्रदान की हैं, उनका स्थान सदैव अक्षुण्ण रहेगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

११ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती का सम्पादन करते हुए सम्पादकीय टिप्पणियों स्वतन्त्र समालोचनात्मक निबन्धों साहित्यिक कवि चर्चाओं सैद्धान्तिक निरूपणों और सामयिक विचारधाराओं को लेकर जिस समालोचना-साहित्य का निर्माण किया है उसका स्थायी महत्त्व है। इन समीक्षाओं से द्विवेदी जी के प्रखर व्यक्तित्व और युगान्तरकारी प्रभाव का सहज ही पता चल जाता है। तिथिक्रम के अनुसार उन्होंने सन् १८९९ ई० में श्री हर्ष लिखित हिन्दी विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा, १९ ६ ई० में श्री हर्ष-लिखित नैषधीयचरितम् नामक संस्कृत महाकाव्य की परिचयात्मक समालोचना (नैषध चरित चर्चा नाम से), सन् १९ १ ई० में लाला सीताराम-कृत कालिदास के कुमारसम्भव मेघदूत और रघुवंश की अनुवाद भाषा को लेकर व्यंग्यपूर्ण शैली में हिन्दी कालिदास की समालोचना सन् १९ ३ में नाट्यशास्त्र के रूप में सैद्धान्तिक समालोचना और सन् १९ ७ ई० में 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' शीर्षक शोधपूर्ण समालोचना लिखी। सन् १९११ ई० में 'कालिदास की निरंकुशता' का प्रकाशन पुस्तक रूप में हुआ। 'रसज्ञ रंजन' (सन् १९२) 'कालिदास और उनकी कविता' (सन् १९२) 'सुकवि संकीर्तन' (सन् १९२२) 'साहित्य संदर्भ' (सन् १९२४) 'साहित्य सीकर' (सन् १९२६) 'आलोचनांजलि' (सन् १९२८) 'समालोचना समुच्चय' (सन् १९२८) 'लेखांजलि' (सन् १९२८) आदि उनके सरस्वती में विभिन्न तिथियों में

प्रकाशित निबन्धों के संग्रह हैं, जिनमें उनका समालोचक व्यक्तित्व भी प्रस्फुटित हुआ है। इनकी समालोचनाओं का एक अंग साहित्यकारों और विद्वानों की जीवनी प्रस्तुत करना भी रहा है, जिसमें हल्की-फुल्की समालोचना-क्रिया का समावेश हो सका है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कानपुर के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पद से सन् १९२३ ई० में जो भाषण दिया था उसका भी समालोचना-क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व है। उपर्युक्त कृतियों और संकलनों के अध्ययन से द्विवेदी जी की समीक्षागत मान्यताओं और दृष्टिकोणों का ज्ञान बड़ी सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक पक्ष में नवीन प्रस्फुरण

१२ आचार्य द्विवेदी जी वस्तुतः एक ऐसे शास्त्रीय समालोचक थे जो परम्परा युक्त साहित्य प्रतिमानों को उदार भावना से ग्रहण करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। उनमें आचार्यत्व के अनुकूल खण्डन-मण्डन-प्रवृत्ति शास्त्रार्थ की भावना और टीका तथा सूचित पद्धति का भी स्वरूप मिलता है। उनका सैद्धान्तिक निरूपण संस्कृत के 'काव्य-प्रकाश' 'साहित्य-दर्पण' और 'ध्वन्यालोक' जैसे ग्रन्थों को उपजीव्य बना कर हुआ है जिसमें समीक्षा की नवीन सद्भावनाओं को ग्रहण करने का भी प्रशंसनीय प्रयास रहा है। वे अपनी समालोचनाओं में युग और परिस्थिति का भी ध्यान रखते थे और उनकी दृष्टि में समालोचना भी साहित्य निर्माण की जागरूक प्रेरणा बन सकती थी। यही कारण है कि उन्होंने अपनी समीक्षाओं द्वारा नूतन साहित्य-सृजन का अनेक विधाओं में मार्ग-दर्शन कराया। 'कवि बनने के सापेक्ष साधन' 'कवि और कविता' शीर्षक समालोचनात्मक निबन्धों में उन्होंने संस्कृत के 'काव्य-मीमांसा' आदि लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर शास्त्रीय निरूपण किया तो 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' जैसे समालोचनात्मक निबन्धों से काव्य के प्राचीन उपाख्यानों को भी नवीन दृष्टि से सँजोने की प्रेरणा दी जिसका प्रतिफल हमें गुप्त जी के 'साकेत' नामक महाकाव्य में मिलता है। वस्तुतः द्विवेदी जी में *उदारवादिता नैतिकता* और सुरुचि-सम्पन्नता के भाव इतनी अधिक मात्रा में थे कि उनका व्यापक और गम्भीर प्रभाव हमें उस युग के रचनात्मक और समालोचनात्मक साहित्य पर मिलता है और यदि यह कह दिया जाय कि वह प्रभाव आज भी सर्वथा क्षीण नहीं हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

१३ *आचार्य द्विवेदी जी की समालोचनाओं का सैद्धान्तिक पक्ष* तो अत्यधिक उभरा हुआ था ही किन्तु उसका प्रयोग-पक्ष भी हीन कोटि का न था। उनकी व्यावहारिक समालोचनाओं से व्याख्या विश्लेषण और निर्णय की अपूर्व छटा प्राप्त होती है। उनकी समीक्षा का एक निश्चित प्रतिमान था जिसमें पाश्चात्य प्रणाली की अपेक्षा भारतीयता के प्रति अधिक झुकाव था। वे बार बार *अपनी मान्यताओं का स्पष्टीकरण करते हुए आलोच्य कृति या रचनाकार की विशेषताओं का* उद्घाटन करते थे। यदि उन्हें अपने मानसिक संस्कार के अनुरूप आलोच्य विषय मिल जाता तो वे गद्गद होकर प्रशस्त भाव-प्रवण शैली में उसका निरूपण करते थे[1] और यदि उनको मानसिक संस्थिति के विपरीत विषय पर *ही लिखना पड़ता तो वे उसकी कटु आलोचना करने में कोई* कसर नहीं रखते अतः ही उन्हें अनेक स्थलों पर मर्यादा का भी सीमोल्लंघन ही क्यों न करना पड़ता। इसका प्रमाण उनकी 'आजकल के छायावादी कवि और उनकी कविता' विषयक समीक्षा कही जा सकती है।

१४ द्विवेदी जी ने विविध निबन्धों और समालोचना-ग्रन्थों के रूप में अपनी चिंतविचार

---

१ 'सरस्वती' अगस्त १९१४ ई० में भारत-भारती की समालोचना।
२. 'भाषा और व्याकरण' 'सरस्वती' फरवरी १९११ ई०।

पाठ का विवेचन किया है उससे पता चलता है कि वे साहित्य के कोरे शास्त्रीय मीमांसक ही नहीं थे अपितु उनमें काव्य के सौंदर्य-ग्रहण की भी क्षमता थी। उन्होंने कवियों की जो जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं उनमें उनकी ऐतिहासिक समालोचक-दृष्टि का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है। इसी प्रकार वे स्थल-स्थल पर दो समान भाव-धाराओं के कवियों की तुलना भी करते गये हैं, जिनसे उनकी तुलनात्मक तथ्य-निर्णयिणी प्रवृत्ति और मूल्यांकन-शक्ति का भी पता चलता है। उनकी समालोचनाओं से हिन्दी साहित्य को एक बड़ा लाभ यह भी हुआ है कि हमें उसी समय में हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य की वैभवपूर्ण प्रभूत सामग्री का सामान्य परिचय मिल गया है जिसकी प्राचीनता और गुरुता से हिन्दी साहित्य-सृजन और समीक्षण को भी सहायता मिलती रही है। संस्कृत के कवियों और कृतियों को लेकर स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में समालोचना प्रस्तुत करने का पर्याप्त श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को ही है। उनकी समालोचक-दृष्टि संस्कृत के अमर महाकाव्यों के हिन्दी-अनुवादों की अशुद्धियों और भूलों पर तो विशेष रूप से गई थी जिनका विवेचन उन्होंने अनेक बार तो अत्यन्त कटुतापूर्ण शब्दों में किया है। उदाहरण के लिए लाला सीताराम के कालिदास के ग्रन्थों के अनुवादों को लिया जा सकता है।

समालोचना की सीमाएँ और सर्जनात्मक शक्ति

१२ यह सब कुछ होते हुए भी आचार्य द्विवेदी जी की समालोचना को किसी विशेष प्रौढ़ धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें केवल समालोचना का किशोर कण्ठ ही फूट सका है। उन्होंने कवियों की परिचयमूलक समालोचनाएँ लिखीं किन्तु उनसे तत्कालीन युग और परिस्थिति का विशद और गम्भीर समीक्षण नहीं हो सका। इसी प्रकार वे काव्य के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर कवियों की अंत-प्रवृत्ति की छानबीन भी नहीं कर सके। उनका प्रमुख कार्य काव्य के शरीर तत्व का विवेचन करने की ही ओर अधिक रहा और वे काव्य के भावपक्ष की ओर बहुत कम झुक सके। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनका भाषा-सुधार-आन्दोलन है। फिर भी यह मानने में तो कोई संकोच किया ही नहीं जा सकता कि आचार्य द्विवेदी जी वस्तुतः एक युग-संस्थापक साहित्य-कार थे और उनकी प्रतिभा से जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक साहित्य को अनेक प्रकार की नूतन विषय-सामग्री और व्यापक दृष्टि की उपलब्धि हुई है उसी प्रकार उनके महान् व्यक्तित्व से समालोचनात्मक-साहित्य भी बहुत कुछ पा सका है। सचमुच आचार्य द्विवेदी जी वर्तमान हिन्दी समालोचना का एक व्यापक धरातल निर्मित कर गए थे जिसकी रूप रेखा में रंग भरने का काम उन्हीं के युग की उपज आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया किन्तु उससे द्विवेदी जी के महिमामय गौरव में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आती।

१३ आचार्य द्विवेदी जी ने प्रधानतः सम्पादक रहते हुए भी समालोचना-क्षेत्र में अपना एक आदर्श रखा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उन्होंने समालोचना के न्याय-पक्ष का समर्थन करने के पीछे अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों की कोई परवाह नहीं की। उनमें अन्य सम्पादकों की भाँति चापलूसी अथवा जी-हुजूरी की भावना बिल्कुल नहीं थी। सच तो यह है कि वे सरस्वती-सम्पादक का पद भी बड़ी योग्यता से ग्रहण कर सके थे। यह उनकी समालोचना-प्रज्ञा का ही प्रतीक है कि उन्होंने अपनी पत्रिका में उन्हीं रचनाओं को स्थान दिया जो उनके विवेक से समुचित-स्तर की होतीं अथवा सामान्य संशोधन और परिवर्धन के पश्चात् उन्हें प्रकाशनोपयुक्त बना लिया जाता। उनका यह समीक्षण कार्य सर्जनात्मक प्रवृत्ति का प्रतीक है जिसका एक स्वरूप उनके 'हिन्दी साहित्य'[1] की होती अथवा 'सूरदीर समालोचक'[2] 'काली का साहित्य-नृत्य'[3] जैसे व्यंग्य चित्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

१ सरस्वती १६ २ पृष्ठ ६२।
२ वही, सन् १६ ३ पृष्ठ २६५।
३ वही, सन् १६ १ पृष्ठ ४ ३।

१७ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि भाषा-सुधार आन्दोलन द्विवेदी जी की समालोचना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका सूत्र संचालन उन्होंने सरस्वती पत्रिका को ही अपना अमोघ अस्त्र बना कर किया। वे बड़े से बड़े लेखक की भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियों को क्षमा नहीं करते थे। उन्होंने स्वरगत संज्ञक त्रुटियों के संशोधन से लेकर व्यंजनगत लेखन-त्रुटियों तक की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान दिया और परिश्रम करते हुए भाषा-विषयक धाँधली को मिटाने का प्रयत्न किया। 'सरस्वती' पत्रिका की फाइलों में संकलित संज्ञा सर्वनाम विशेषण क्रिया विशेष्य लिंग अव्यय वचन कारक संधि समास उपसर्ग प्रत्यय आकांक्षा योग्यता और सन्निधि जैसे विषयों से लेकर वाच्य प्रत्यक्ष परोक्ष कथन मुहावरे तथा लोकोक्तियों तक संशोधन किये हैं।[1] इतना ही नहीं उन्होंने लेखकों द्वारा प्रयुक्त कठिन संस्कृत शब्दों के स्थान पर सरल शब्द अरबी फारसी तथा अंग्रेजी के स्थानापन्न हिन्दी शब्द और प्रान्तीय प्रयोगों के स्थान पर प्रामाणिक शब्दों का प्रयोग कर भाषा-शुद्धि के आन्दोलन को बहुत आगे बढ़ाया था।[2] यह आन्दोलन उनकी समालोचना का मुख्य अंग बन कर अमर रहेगा। यदि यह कह दिया जाय कि द्विवेदी-युग के उत्तरवर्ती समय में आगे चलकर भाषा को जो प्रांजलता और परिष्कृति का सौष्ठव प्राप्त हुआ उसके पीछे आचार्य द्विवेदी की अनवरत साधना थी तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

१८ यद्यपि आचार्य द्विवेदी अपनी समालोच्य कृतियों में छन्द अलंकार और व्याकरण विषयक निरूपण को महत्त्व देते थे किन्तु गुण-दोष-निरीक्षण की परम्परा के निर्वाह मात्र को ही वे सच्ची समालोचना नहीं समझते थे। उन्होंने समालोचकों के कर्तव्य का विश्लेषण करते समय यह बात बार-बार दोहराई है कि वे केवल समालोचना के बाह्य विधान तक ही सीमित न रहें किन्तु इस बात का भी विचार करें कि समालोच्य कृति मनोरंजन शिक्षा आदर्श उपयोगिता आदि की दृष्टि से भी किसी काम की बन सकी है या नहीं। उनका तो यह मत था कि समालोचक को निष्पक्ष भाव से समालोच्य विषय के गुण-दोष प्रदर्शन में किसी भी प्रकार की कोई हिचक नहीं करनी चाहिए। वे प्राचीन और नवीन कवियों की दोषोद्भावनाओं को भी निस्संकोच प्रकट करते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि ऐसा न करने पर साहित्य और समाज के कल्याण में अवरोध उत्पन्न हो सकता है। वे अपने मन्तव्यों पर समुचित विवेचन और विश्लेषण के पश्चात् ही पहुँचते थे।

समालोचना का आधार और अन्याय प्रवृत्तियाँ

१९ आचार्य द्विवेदी जी की समालोचना का एक नैतिक आधार है। वे जिस युग में अवतीर्ण हुए थे वह नैतिकता आदर्श और सुरुचि के अत्यधिक अनुकूल था। यही कारण है कि उन्हें रीतिकालीन काव्यधारा और ब्रजभाषा की रचनाएँ अत्यन्त हीनकोटि की प्रतीत हुईं। उन्होंने रीतिकालीन काव्यकारों को खूब आड़े हाथों लिया और उनके नायिका भेद तथा ऋतु-वर्णन का खुल कर भण्डाफोड़ किया।[3] वे साहित्य की व्यापक विधाओं को हिन्दी में देखने के आकांक्षी थे अतः उन्होंने अपनी समालोचना का एक सम्पन्नपोषक दृष्टिकोण भी उपस्थित किया जो उस युग की आवश्यकता में बराबर उपयुक्त जँचा। उनकी दृढ़ता और निष्पक्ष वृत्ति का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि उनकी समालोचना के शिकार बने हुए उनके अनेक आत्मीय जन भी उनके प्रबल विरोधी और शत्रु बन गये पर आचार्य ने उनकी कोई परवाह नहीं की। यहाँ तक कि अनेक बार तो उनका आत्मरक्षण भी कठिन हो गया और उन्हें अपने अध्ययन कक्ष में अनेक अस्त्रशस्त्र तक रखने पड़े।

---

१. डा. उदयभानु सिंह 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' प्रथम संस्करण पृष्ठ १११ ११।
२. डा. उदयभानु सिंह महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, प्रथम संस्करण पृष्ठ ११६ ११४।
३. 'सरस्वती' सन् १९ १ पृष्ठ १६५।

४ आचार्य द्विवेदी जी की आलोचनाओं में जहाँ एक ओर उनकी प्रखरता और कटुता थी वहाँ दूसरी ओर उनमें रसिकता और भावुकता का भी अभाव न था। वे अनुशासन के पक्के थे, पर गुणग्राहकता भी उनमें हीन-कोटि की न थी। प्रयाग के साहित्यिक मेले में उन्होंने जो अपना भाव-प्रवण वक्तव्य दिया था[1] वह उनके कर्तव्य में वज्रवत् कठोर किन्तु भावना में कुसुमादपि मृदुल हृदय की मनोवृत्तियों का आभास देता है। सच तो यह है कि द्विवेदी जी की समालोचना की अपनी एक परिधि थी और वे उसी के अन्तर्गत कवियों और रचयिताओं के काव्यगुणों का परीक्षण करते थे। उनके पास एक शास्त्रीय आधार था जो संस्कृत काव्यशास्त्र से मुख्यतः अनुप्राणित था और उसके द्वारा उन्होंने अपने विवेच्य कवियों और उनकी कृतियों का समालोचन किया। उन्हें उस आधार के अनुकूल यदि समालोच्य विषय में गुणों का अन्तर्भाव प्रदर्शित हुआ तो उसकी उन्होंने प्रशंसा कर दी और यदि वे उनके मानदंड में अनुरूप न जँचे तो उनकी निन्दा भी कर दी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उनकी समालोचना में साहित्य की अंतर्वृत्ति के एकांत रहस्यों के उद्घाटन का वह सूक्ष्म प्रयास नहीं था जिसके कारण समालोचना अत्यन्त सौष्ठवमयी और शाश्वत गाम्भीर्य से युक्त होती है। उनकी मेधा ने रचनात्मक साहित्य को प्रेरणा देने के लिए और विद्यमान साहित्य का परिष्कार करने के लिए जितना अधिक उचित समझा उतना ही लिखा। समालोचनागत गाम्भीर्य और सूक्ष्म विश्लेषण का कार्य तो उनके समकालीन लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आगे चल कर किया जिनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में आचार्य द्विवेदी जी का कम हाथ नहीं था।

मानसिक स्तर और समालोचना-कार्य

४१ आचार्य द्विवेदी जी की समालोचना द्वारा उनके मानसिक स्तर और संवेदन का आभास भी मिल जाता है। ऐसा लगता है कि वे प्रारम्भ में अंग्रेजी शासन के प्रशंसक थे किन्तु कालान्तर में उनकी धारणा बदलती गई। उन्होंने 'हिन्दी-शिक्षावली तृतीय भाग' की जो समालोचना लिखी है, उससे उनके अंग्रेजी शासन के प्रति बने हुए आस्था-भाव का पता चलता है। आगे चल कर उसमें परिवर्तन के लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं। उनकी 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय रीडर' की आलोचना का भी उनके समालोचना-कार्य के प्रारम्भिक प्रयासों में यथेष्ट महत्त्व है, क्योंकि उससे द्विवेदी जी के वर्धमान समालोचक-स्वरूप का क्रमिक विकास समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। यह पुस्तक उत्तर प्रदेश के तहसीली स्कूलों में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत निर्धारित हुई थी जिसकी सदोषता की ओर आचार्य का ध्यान एक अध्यापक महोदय ने आकृष्ट किया था और जिसकी प्रेरणा लेकर द्विवेदी जी ने उसकी कटु समीक्षा की।[2] कहना होगा उसकी समालोचना से इण्डियन प्रेस को पर्याप्त हानि भी सहन करनी पड़ी किन्तु द्विवेदी जी को इससे क्या ? वे तो साहित्य के पारखी थे और साहित्य के पावन मन्दिर में व्यर्थ की दोषोद्भावना का प्रवेश निषिद्ध करना चाहते थे।

४२ द्विवेदी जी के समालोचक-स्वरूप को समझने के लिए उनका और 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' का सम्बन्धोल्लेख करना भी आवश्यक है। वास्तव में देखा जाय तो 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन सभा की प्रेरणा से ही हुआ था और द्विवेदी जी को उसके सुयोग्य सम्पादन का कार्य भी सभा के कार्यकर्ताओं के संकेत पर ही मिला था किन्तु आगे चल कर उनमें पारस्परिक विरोध हो गया। बात यह हुई कि सभा ने सन् १९०१ में अपना खोज-विवरण प्रकाशित किया जिसका द्विवेदी जी ने अक्टूबर १९ ४ की सरस्वती में प्रतिवाद किया और बतलाया कि वह कितना अधिक

१ सरस्वती, भाग ४ संख्या १ पृष्ठ १६४।

२. "साहित्य-सन्देश" मार्च १९३९, पृष्ठ १ १।

भ्रान्तिपूर्ण है। उस विवाद का क्रम वैयक्तिक आक्षेपों तक उतर आया और जिसके लक्ष्य बने बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य द्विवेदी जी। द्विवेदी जी ने सभा की जिन दोषों की कटु आलोचना की थी उनकी प्रशंसात्मक प्रशस्तियाँ 'पायनियर' 'इण्डियन पीपुल' 'एडवोकेट' तथा 'इण्डियन स्टूडेण्ट' नामक पत्रों में बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित की। फिर क्या था द्विवेदी जी का रोष और अधिक बढ़ गया। उन्होंने सभा के उस पत्र का हवाला देकर अपनी व्यंग्यपूर्ण कटूक्तियों से सभा के इस रवैये की निन्दा की जिससे सभा ने अपने विषय में ऐसे शंकापूर्ण लेख प्रकाशित करने से 'सरस्वती' को रोका। बात बढ़ गई इण्डियन प्रेस के स्वामी श्री चिन्तामणि घोष ने इसके निर्णय का उत्तरदायित्व द्विवेदी जी पर छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि सरस्वती का सभा से सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया। द्विवेदीजी ने इस विच्छेद के अवसर पर फरवरी १९ ३ की सरस्वती में अपना विद्वत्तापूर्ण वक्तव्य 'अनुमोदन का अन्त' के नाम से छापा जिसमें यह स्पष्ट किया कि उनका सभा अथवा उसके संचालकों से कोई विरोध नहीं है अपितु वे तो जो भी कहते हैं वह हिन्दी भाषा और साहित्य के कल्याण और उत्कर्ष की भावना से ही प्रेरित होकर। कहना होगा इस प्रकार सभा और सरस्वती का यह झगड़ा बाबू श्यामसुन्दर दास और द्विवेदीजी के वैयक्तिक आक्षेपों से कम बोझिल नहीं था। 'भारतमित्र' के अंक में बाबू श्यामसुन्दर दास ने द्विवेदी जी से क्षमा-याचना करते हुए लेख लिखा तो द्विवेदीजी ने 'शीलनिधान जी की शालीनता'[1] शीर्षक लेखमाला लिखनी जिसके बीच-बीच में तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता भी थी। इस लेखमाला का परिवर्धित स्वरूप 'कौटिल्य कुठार' के नाम से काशी नागरी प्रचारिणी-सभा के कला भवन में सुरक्षित है। यह विवाद *अत्यन्त दुःखपूर्ण-सा था जिसका अन्त सभा ने द्विवेदी जी की ७ वीं वर्षगांठ पर* 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' का प्रकाशन कर किया और द्विवेदी जी ने अपनी समस्त साहित्य-निधि सभा को अर्पण कर उसकी समाप्ति की। कहना होगा इस विवाद के मूल में सभा और द्विवेदी जी के सैद्धान्तिक मतभेदों *का ही पुट था अन्यथा दोनों एक-दूसरे की साहित्य साधना और सेवा-वृत्ति के* अनन्य प्रशंसक थे। स्वयं द्विवेदी जी को कटु आलोचनाओं के लिए खेद हुआ था पर वे क्या करते! सम्पादक और समालोचक का कठोर कर्त्तव्य उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य किये हुए थे। सारांश यह कि द्विवेदी-जी और श्यामसुन्दर दास जी का यह विवाद भी द्विवेदी जी की *समालोचना-प्रक्रिया* को समझने के लिए एक अत्यन्त आवश्यक आधार है और इसका भी उसके विकास-क्रम में बड़ा महत्त्व है। इसी प्रकार द्विवेदी जी और श्री जी एम शर्मा का झगड़ा भी हिन्दी-समालोचना के फुटपुट स्वरूप की झलक उपस्थित करता है। हाँ यह बात दूसरी है कि उसमें समालोचना के पुष्ट निर्माण का प्रयत्न किसी परिपुष्ट प्रतिमान में नहीं हो सका है।

'हिन्दी-नवरत्न' की आलोचना समालोचना का विवाद स्वरूप

४१ द्विवेदी जी ने जनवरी-फरवरी सन् १९१२ की 'सरस्वती' पत्रिका में *मिश्रबन्धुओं* द्वारा लिखित 'हिन्दी-नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ की अत्यन्त व्यापक और विश्लेषणात्मक समीक्षा की जिसके प्रारम्भ में पुस्तक-सम्बन्धिनी साधारण बातें[3] कह कर उसके गुण-दोषों का विशद विवेचन किया गया है। इस समालोचना में द्विवेदी जी की व्यंग्यप्रधान शैली और कटुतापूर्ण प्रहार की झलक स्थल-स्थल पर मिलती है। विद्वान् समालोचक ने पूर्व-पक्ष के रूप में मिश्रबन्धुओं की मान्यताओं का तार्किक खण्डन किया है। ऐसा करते हुए द्विवेदी जी ने समालोच्य कवियों के

---

१ हिन्दी केसरी कलकत्ता जून-जुलाई १९०७ ई।

२. पं पद्मसिंह शर्मा ने जी पी एम शर्मा की विद्या-भक्ति की आलोचना 'सरस्वती' अगस्त १९१४ में लिखी थी।

३. 'समालोचना समुच्चय' 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना पृष्ठ २ १ २ ७

प्रसंग में विवेचित उन अनेक उद्धरणों को भी अपनी इस समीक्षा में स्थान दिया है, जिन पर मिश्र बन्धुओं ने निर्ममतापूर्वक अपना निर्णय दिया था। द्विवेदी जी ने उनकी निस्सारता बड़ी युक्तिसंगत विधि से सिद्ध की है।[1] उन्होंने न केवल मिश्रबन्धुओं की समीक्षा-पद्धति ही दोषपूर्ण मानी है, अपितु वे ऐसे अनेक उदाहरण भी देते गए हैं जो 'हिन्दी नवरत्न' में संकलित तथ्यों और मान्यताओं की अग्राह्यता स्पष्ट करते हैं। इतना ही नहीं पुस्तक में दिए गए कवियों के काल्पनिक चित्रों की निस्सारता पर भी द्विवेदी जी ने व्यंग्य किए हैं। मिश्रबन्धुओं ने अपने जिन प्रतिमानों के आधार पर हिन्दी नवरत्नों का श्रेणी-विभाग बृहत्त्रयी और मध्यत्रयी के नाम से किया था वह भी द्विवेदी जी को अप्रसन्न करता है। उन्हें तो मिश्रबन्धुओं के इस समीकरण में कोई ऐसा प्रौढ़ आधार भी नहीं मिलता जिसको लेकर यह कह दिया जाय कि हिन्दी नवरत्न के कवि ही वस्तुतः हमारे साहित्य के सच्चे नवरत्न हैं और शेष कवि उनकी समता में हीन सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की श्रेणी विभाजन-पद्धति को किसी भी साहित्य की समालोचना का उपजीव्य बना कर चलना खतरे से खाली नहीं है इसका विवेचन द्विवेदी जी ने सुचारु रूप से अपनी इस व्याख्यात्मक समालोचना में कर दिया है। इतना ही नहीं उनकी इस समालोचना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी भाषा के शुद्ध और व्याकरण-सम्मत प्रयोग के कितने अधिक समर्थक थे। इसका एक प्रमाण उनका यह वाक्य है—"प्रारम्भ में लेखकों ने हिन्दी नवरत्न का जो अर्थ लिखा है 'साहित्य के नव सर्वोत्तम कवि' उसके भी 'नव' और 'सर्व' शब्द परस्पर विरोधी हैं।

४४ द्विवेदी जी ने हिन्दी-नवरत्न में प्रयुक्त 'उत्तम' शब्द के अनधिकृत प्रयोग की तो खूब कसकर खबर ली है, जिसका मूल आशय यही है कि मिश्रबन्धुओं को इस शब्द की प्राण-शक्ति का बिल्कुल ज्ञान नहीं है अन्यथा वे उत्तम उत्तमोत्तर, परमोत्तम सर्वोत्तम उत्तमोत्तम अति उत्तम आदि शब्दों का अर्थ-मर्यादा के अनुकूल प्रयोग करते।[2] इसी प्रकार मिश्र बन्धुओं ने गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की उत्तमता का विवेचन करते हुए जिन प्रसंगों का उल्लेख किया है, वे भी द्विवेदी जी को नहीं जँचे हैं। उन्हें मिश्रबन्धुओं की विनयपत्रिका-सम्बन्धी इस उक्ति में भी व्यर्थ का दम्भ अथवा पाखण्ड ही लगता है कि विनय सम्बन्धी ऐसा अद्भुत और भावपूर्ण ग्रन्थ हमने अब तक किसी भी भाषा में नहीं देखा।"[3] इसी प्रकार बिना किन्हीं आधारों अथवा प्रमाणों के 'कृष्ण-गीतावली' को बड़ा ही विशद् ग्रन्थ कहना सम्वत् १५८९ को तुलसी की जन्मतिथि निर्दिष्ट करना आदि विषयों पर भी द्विवेदी जी ने उनकी कटु समीक्षा की है।[4] मतिराम देव बिहारी और हरिश्चन्द्र के विषय में भी मिश्रबन्धुओं की जो अनेक भ्रान्त मान्यताएँ हैं, उनका खण्डन भी द्विवेदी जी ने किया है।[5] वे इसी प्रकार अवशिष्ट रत्नों पर भी समालोचना दे सकते थे यदि उन्हें उनका अध्ययन करने का भी अवकाश मिल पाता। फिर भी यह स्पष्ट है कि हिन्दी समालोचना के सम्वर्धन-काल में द्विवेदी जी द्वारा की गई 'हिन्दी नवरत्न' की इस व्यापक और व्याख्यात्मक समालोचना का बड़ा महत्त्व है क्योंकि आगे चलकर आचार्य शुक्ल जी ने जिन विशद विवेचनाओं को अपना आधार बनाया उनकी पूर्वाभासित प्रेरणा सम्भवतः हिन्दी नवरत्न की समालोचना में ही सन्निहित थी। समालोचना के अन्त में द्विवेदी जी ने मिश्रबन्धुओं के भाषा-दोष वाक्य औचित्याभाव दोष शब्द-दोष तथा अन्यान्य फुटकर दोष निरूपित कर इस समालोचना का उपसंहार किया है और सुयोग्य विद्वान् लेखकों को इस बात की शुभसम्मति दी है कि यदि वे भविष्य में हिन्दी का इतिहास लिखें तो इन

१ 'समालोचना समुच्चय' 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना पृष्ठ १ १ २ अ.
२ वही पृष्ठ १११
३ वही, पृष्ठ १ १ १ अ.
४. वही, पृष्ठ ११२
५. वही पृष्ठ ११६ ११८.

दोषों को दूर करने की चेष्टा करें। अभिप्राय यह है कि 'हिन्दी नवरत्न की समालोचना' हिन्दी समालोचना के सम्वर्धन-काल (द्विवेदी-युग) की एक आदर्श समीक्षा प्रणाली है जिसका व्याख्यात्मक प्रणाली के विकास-क्रम में अत्यधिक गौरव है।

द्विवेदी जी की सैद्धान्तिक मान्यताएँ और उनका विवेचन

४५. वैसे तो पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी विभिन्न सम्पादकीय टिप्पणियों और चर्चाओं के अंतर्गत समालोचना के सैद्धान्तिक स्वरूप का निरूपण किया था किन्तु 'रसज्ञ रंजन' उनकी ऐसी रचना है जिसमें वे सारभूत विधान में संकलित होकर उपस्थित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में द्विवेदी जी के कविता और छंद काव्य भाषा काव्यार्थ-सौरस्य और काव्य-विषय आदि पक्षों पर विचार व्यक्त हुए हैं। द्विवेदी जी के मतानुसार काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसमें गद्य और पद्य दोनों का ही समावेश किया जा सकता है। वे छन्दमात्र को ही काव्य नहीं मानते क्योंकि उनमें काव्य के लक्षणों का संगठन होना आवश्यक नहीं है। छन्द तो उनकी दृष्टि में रचना-पंक्तियों में *वर्णों या मात्राओं की नियमित संख्या है, अतः वह पद्य अवश्य कहा जा सकता है पर काव्य नहीं* कहा जा सकता। उनके विवेचन से यह भी ध्वनित होता है कि वे सिद्ध कवियों के लिए छन्द-योजना का कोई *प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते किन्तु साधारण* कवियों के लिए विषयानुकूल छन्द-योजना आवश्यक समझते हैं। इसके लिए उन्होंने संस्कृत के उन कवियों की प्रशंसा की है जो अपनी काव्यरचनाओं में प्रसंगानुकूल छन्द चयन कर सकते थे। उन्होंने हिन्दी कवियों को उनके आदर्शों को ग्रहण करते हुए चलने का परामर्श दिया है और कहा है कि वे केवल परम्परागत दोहा सोरठा चौपाई, घनाक्षरी सवैया और छप्पय आदि छन्दों की भंवला में ग्रस्त होकर ही नहीं बल्कि अपितु संस्कृत के उत्तमोत्तम वृत्तों का प्रयोग भी अपने काव्यों में करें। बोलचाल की हिन्दी कविता में तो उन्होंने उर्दू के छन्दों को ग्रहण करते हुए चलने में भी कोई आपत्ति नहीं की है, क्योंकि उनमें वह अधिक सुलभी है।

४६. द्विवेदी जी ने पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द लिखने का भी समर्थन किया है। चूँकि इस प्रकार के छंदों का प्रयोग संस्कृत बंगला और अंग्रेजी आदि भाषा काव्यों में हुआ है अतः द्विवेदी जी के मतानुसार केवल तुकबन्दी तक ही हिंदी छंदों को सीमित बनाना शोभनीय नहीं है। *इससे उनका यह तो अभिप्राय नहीं है कि प्रचलित परिपाटी को सर्वथा भग करके ही चला जाय* किन्तु वे इतना अवश्य उपादेय समझते हैं कि हिन्दी काव्य को छन्दों की व्यापकता प्रदान की जाय। यह सब कुछ होते हुए भी द्विवेदी जी काव्य में छन्दों का आपेक्षिक महत्त्व ही स्वीकार करते थे क्योंकि उनकी दृष्टि से कविता का अच्छा या बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रस माधुर्य पर अवलम्बित है।

४७. द्विवेदी जी के काव्य भाषा विषयक विचार भी अत्यन्त स्पष्ट थे। वे ऐसी भाषा के पक्षपाती थे जो पाठकों को सहज ही अर्थ-बोध करा सके। क्लिष्ट भाषा और दुरारूढ़ कल्पना को वे काव्य का दोष समझते थे। उन्होंने उन कवियों की प्रशंसा की है जो बहुत विद्वान् होने पर भी काव्य रचना में सरस भाषा का प्रयोग करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में सरलता काव्य-भाषा का एक ऐसा गुण है जो कवि की रचना को सर्वसाधारण के लिए सुगम बना देता है। *इससे यह भी ध्वनित होता है कि द्विवेदी जी का काव्य-क्षेत्र विषयक दृष्टिकोण लोक-जीवन की मान्यताओं के कितना अधिक निकट था।*

४८. द्विवेदी जी ने काव्य भाषा के अन्तर्गत व्याकरण के नियमों मुहाविरों तथा शब्द चयन का भी विचार किया है। उन्हें भाषा के क्षेत्र में व्याकरण के नियमों की अवहेलना तो किसी भी रूप में स्वीकार नहीं थी क्योंकि ऐसा करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है। उन्होंने

उन कवियों की बड़ी निन्दा की है जो शुद्ध भाषा की ओर ध्यान न देकर व्याकरण के नियमों की अवहेलना करते हुए चलने में अपना गौरव समझते हैं। भाषा को सप्राण बनाने के लिए उन्होंने मुहावरों का भी महत्त्व स्वीकार किया है। इसी प्रकार वे विषयानुकूल शब्द-स्थापना पर भी जोर देते हैं। उनकी दृष्टि में तो कविता एक अपूर्व रसायन है जिसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी मनोयोगिता और चतुराई की आवश्यकता रहती है। अतः उन्होंने उस रसायन-प्रक्रिया को सफल बनाने के लिए विषयानुरूप शब्द-चयन और अक्षर-मैत्री का ध्यान रखना परम वांछनीय बतलाया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द-स्थापना की अव्यवस्था के कारण काव्य स्वरूप की जो कुछ दुर्दशा होती है अथवा उसके यथार्थ में क्लिष्टता आ जाती है, उसका सोदाहरण विश्लेषण उन्होंने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' में किया था।

४१ द्विवेदी जी ने अर्थ-सौरस्य को कविता का प्राण माना है। वे पद्य में अर्थ का चमत्कार आवश्यक मानते हैं, तथा विषय-वर्णन के साथ कवि के तादात्म्य पर भी जोर देते हैं। वस्तुतः ये दोनों बातें उनकी दृष्टि से अर्थ-सौरस्य के मूल आधार हैं। उन्होंने काव्य में अलंकारों की महत्ता तो स्वीकार की है, किन्तु बलपूर्वक किए गए अलंकार प्रयोग को अशोभनीय बतलाया है। उन्होंने अर्थ-सौरस्य के लिए यथासम्भव ललित-व्यंजक शब्दों का प्रयोग करने तथा निरर्थक और विकृत शब्दों के आडम्बर से बचने की सम्मति दी है। द्विवेदी जी के मतानुसार कविता में अश्लील और ग्राम्यदोषपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना भी उचित नहीं है और न वे देश-काल तथा लोक-मर्यादा के विरुद्ध बात कहना ही समीचीन समझते हैं। रस तो उनके मत से काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है, अतः उसको प्रधानता देते हुए ही काव्य-निर्माण किया जाना चाहिए।

५ द्विवेदी जी ने काव्य विषय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक माना है। उसमें मनोरंजन तथा उपदेश दोनों रह सकते हैं। उनके मतानुसार चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल अनन्त आकाश अनन्त पृथ्वी अनन्त पर्वत सभी पर *कविता हो सकती है। अतः वे केवल नायिका-भेद-विषयक अथवा स्त्रियों की चेष्टा मात्र के* वर्णन को ही कविता का ऐकांतिक विषय नहीं समझते। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया है कि हिन्दी भाषा में संस्कृत के 'काव्य प्रकाश' 'काव्यालोक' 'कुवलयानंद' और 'रस-तरंगिणी आदि लक्षण ग्रन्थों के अनुरूप काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिए, जिससे हिन्दी काव्यकारों को समुचित *मार्ग दर्शन कराया जा सके। इसी प्रसंग में* उन्होंने समस्या-पूर्ति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी साधारण कवियों को समस्या-पूर्ति के चक्कर में न पड़ने की सम्मति दी है। इसी प्रकार वे नये-नये विषयों पर छोटी-बड़ी मुक्तक कविताएँ लिखने और अन्यान्य भाषाओं के उत्तम काव्यों का अनुवाद करने की प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन देना चाहते हैं। वे कवि के लिए *यह अत्यन्त* आवश्यक समझते हैं कि वह *कविता लिखते समय अपने* सामने कोई न कोई ऊँचा उद्देश्य अवश्य रखे क्योंकि कविता के लिए कविता करना एक तमाशा-मात्र है। निष्कर्ष यह है कि द्विवेदी जी की सैद्धान्तिक मान्यताओं का सम्यक् निदर्शन उन की 'रसज्ञ-रंजन' नामक पुस्तक के विभिन्न निबन्धों में पूर्णतया प्रस्फुटित है और उसके द्वारा उनकी साहित्य-सर्जना के मूल केन्द्रों की अभिज्ञता सहज भाव से की जा सकती है। इस प्रकार की सैद्धान्तिक उपपत्तियों से ही समालोचना के संवर्धन-काल का मार्गदर्शन निर्मित हुआ था।

(२)

सर्वश्री मिश्रबन्धु और उनका समीक्षण-कार्य

(सर्वश्री गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र)

समालोचना-क्षेत्र में प्रवेश और ऐतिहासिक पद्धति का अनुगमन

५१ मिश्रबन्धुओं का हिन्दी समालोचना साहित्य में प्रवेश ऐसे समय में हुआ जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान कराने उसे विश्वविद्यालयों की उच्चतर परीक्षाओं में स्थान दिलाने तथा उसके अपार साहित्य-भण्डार की खोज निकालने के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। यही समय काशीस्थ नागरी प्रचारिणी सभा के प्रारम्भिक वर्षों का था जब हिन्दी-हितैषी विद्वानों ने उसे अपनी उद्देश्य-पूर्ति का साधन बनाकर उपर्युक्त साध्यों की प्राप्ति का उद्योग किया। मिश्रबन्धु भी उनमें से थे। उन्हें इस बात का अनुभव करने में कोई विशेष आयास नहीं करना पड़ा कि यद्यपि हिन्दी भाषा और साहित्य में देश का नेतृत्व करने की क्षमता है, किन्तु उसे एक सुन्दर व्यवस्था प्रदान करने की भी कम आवश्यकता नहीं है। उनका भारतीय और पाश्चात्य ग्रंथों का अच्छा अध्ययन था और वे हिन्दी-साहित्य को भी उनके समकक्ष आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे अतः उन्होंने युग जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से मुख्यतः साहित्येतिहास का निर्माण और शोधपरक समालोचना के संवर्धन का गुरुतर कार्य करना समीचीन समझा। वे नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित थे और हिन्दी-सेवा उनके जीवन का एक प्रधान व्रत था। 'मिश्रबन्धु-विनोद' (चार भाग) और 'हिन्दी नवरत्न' जैसे विशालकाय ग्रन्थों की रचना से उनके द्वारा भावी समालोचकों का शोध-समीक्षण विषयक पथ प्रशस्त हो सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी समालोचनाओं में अनेक स्थलों पर अवैज्ञानिक अपूर्णताएँ हैं और वे समालोच्य विषय का सम्यक रूप से संतुलित निर्वाह भी कम कर सके हैं, किन्तु उस युग में हिन्दी-समालोचना जिस पराधव पर अवस्थित थी उसे उनके द्वारा निश्चय ही विकास प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि उनकी समालोचनाओं का हिन्दी-समालोचना के सवर्धनकाल में ऐतिहासिक महत्त्व है और उनकी उपेक्षा कर आधुनिक समालोचना-साहित्य का विकास समझा ही नहीं जा सकता।

५२ मिश्रबन्धु ऐतिहासिक समालोचना-पद्धति के प्रमुख सूत्रधार हैं। उनका 'मिश्रबन्धु विनोद' इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन्होंने अपने 'विनोद' को 'हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन' भी कहा है, जिसके चार भागों में प्रायः पाँच हजार कवियों और साहित्यकारों का परिचय संकलित किया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९११ में प्रयाग के इंडियन प्रेस से हुआ था। यद्यपि इसमें समालोचना की ऐतिहासिक पद्धति का संतुलित निर्वाह बहुत कम हुआ है किन्तु अनुसंधाताओं और साहित्य-प्रेमियों के लिए यह संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में सदैव सम्मानार्ह रहेगा। इसमें ज्ञात और अज्ञात श्रेणी के ऐसे अनेक साहित्यकारों को भी स्थान दिया गया है जिनकी प्रतिभा का परीक्षण होना अभी शेष है। काल-विभाजन और युग-प्रवृत्तियों के निरूपण में भी उन्होंने अपनी निजी पद्धति का प्रयास किया है जो आज के विकासोन्मुख समीक्षण प्रतिमान में सर्वग्राह्य और प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। वस्तुतः 'विनोद' में कवि-संग्रह की प्रवृत्ति ही अधिक है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि उसके चतुर्थ भाग में पहले प्रायः २१४ कवियों का विवरण था किन्तु धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते वह डेढ़ हजार की संख्या तक पहुँच गया। ऐसा होने का प्रधान कारण यही था कि मिश्रबन्धु बिना किसी प्रकार के निश्चित प्रतिमान और परीक्षण के उन वर्तमानकालीन कवियों को भी अपने विनोद में सम्मिलित करते गए, जिन्होंने अपने मित्रों द्वारा अथवा स्वयम् अपना जीवन-चरित्र उन्हें लिख भेजा। उन्हीं के शब्दों में उनका विनोद मुख्यतया कवि-कृतियों का कथन बन गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'विनोद' का कवि-संग्रह-ग्रन्थ के रूप में स्थायी महत्त्व है,

किन्तु मिश्रबन्धुओं का समीक्षण-विधान कई स्थलों पर अत्यन्त अपरिपक्व और दोषपूर्ण भी है, इस तथ्य की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

'मिश्रबन्धु विनोद' का काल-विभाजन और उसका दृष्टिकोण

२३ मिश्रबन्धुओं के विनोद में काल-विभाजन का कोई निर्धारित क्रम अथवा तथ्य परक आधार नहीं है। उन्होंने संवत् ७०० से लेकर पुस्तक-प्रकाशन के समय-पर्यन्त (संवत् १९७०) पूर्वारम्भिक (सन् ११ १२८१) उत्तरारम्भिक (१२८६ १३८०) पूर्वमाध्यमिक (१३८७-१५०१) प्रौढ़ माध्यमिक (१५ १ १६११) पूर्वालंकृत (१६११ १७११) उत्तरालंकृत (१७११ १८१२) परिवर्तन-काल (१८१२ १८१८) तथा वर्तमान हिन्दी (१८१८ से) के अन्तर्गत प्रायः १२५ वर्षों के इतिहास का विभाजन अत्यन्त शिथिल और किंचित् कलित विधि से किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने पूर्वालंकृत हिन्दी के परिचय के साथ साथ सेनापति-काल भूषण-काल बिहारी-काल आदिम देव-काल माध्यमिक देव-काल तथा उत्तरालंकृत हिन्दी के अन्तर्गत दास काल सूदन-काल रामचन्द्र-काल बेनी प्रवीण-काल पद्माकर-काल आदि विभिन्न कालों के अन्तर्गत जो कवि-संकलन किया है, उसमें उनके निर्धारित प्रतिमान की मूल तर्कना का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रबन्धुओं को साहित्य के इतिहास निर्माण और कवि-कीर्तन में कोई विशेष अन्तर ही नहीं प्रतीत हुआ था अतः उन्होंने कवि-परिचय तक ही इतिहास की सीमा समझ ली। किसी भी साहित्य के इतिहास में जिस प्रकार का सामान्य परिचय और ऐतिहासिक अनुक्रम से युग प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में साहित्यकारों और उनकी कृतियों का समालोचन किया जाता है, वह 'मिश्रबन्धु विनोद' में बहुत कम है। उन्होंने कई कवियों पर तो केवल उड़ती सम्मति देकर ही उन्हें चलता कर दिया है। उनके 'विनोद' में इन्हीं अपूर्णताओं को लेकर आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उन पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

जब तक पूर्व और उत्तर के अलग-अलग लक्षण न बताए जायेंगे तब तक इस प्रकार के काल-विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोड़े-थोड़े अन्तर पर होने वाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध कर चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल में होने वाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए।[1]

२४ मिश्रबन्धुओं ने अपने विनोद के प्रारम्भ में जो भूमिका लिखी है, उससे उनके समालोचना विषयक दृष्टिकोण का भी पता चलता है। इस भूमिका के द्वारा उन्होंने साम साहित्य की गतिविधि तथा अपनी सीमाओं का विश्लेषण अत्यन्त शिष्ट और नम्र वाणी में कि है। जिन कारणों से उनका 'विनोद' हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका नहीं ग्रहण कर सा उनका विवेचन भी उन्होंने भूमिका भाग के अन्तर्गत कर दिया है। वे साहित्य के इतिहास सीमाएँ समझते थे अतः उन्होंने उसका नाम 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' न रखकर 'मिश्रबन्धु विनोद' रखना ही उचित समझा है क्योंकि उनके मतानुसार 'इतिहास ग्रंथ में छोटे-बड़े सभी कवि एवं लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता' जबकि इसमें इतिहास से इतर बातों का भी कथन हुआ है।[2] फिर भी विद्वान् लेखकों ने इसमें इतिहास-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों और गुणों को लाने का यथासाध्य प्रबल प्रयास किया है, जिसके कारण वे इसका उपनाम 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा कवि-कीर्तन' भी रखना अनुचित नहीं समझते हैं।

२५ भूमिका-भाग में मिश्रबन्धुओं ने ग्रन्थ-निर्माण की प्रेरणा विषय-निरूपण लेखन

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृष्ठ १।

२. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण संवत् १९७० भूमिका पृष्ठ ४-५।

शैली कालक्रम आधारभूत सामग्री तथा उसका विवरण, सहायक विद्वानों के नाम काल-विभाग तथा विविध समय और उनकी दशा आदि विभिन्न प्रसंगों का विवेचन कर एक प्रकार से 'विनोद' की परिचयात्मक समालोचना भी कर दी है। काल विभाग के पूर्व सात अध्यायों में लिखा गया 'हिन्दी भाषा का संक्षिप्त इतिहास' उसका संक्षिप्त प्रकरण-क्रम ही है तदुपरान्त पूर्वारम्भिक उत्तरारम्भिक और पूर्व माध्यमिक कालों को मिलाकर 'आदि प्रकरण' बनाया गया है जिसमें इन्हीं तीनों कालों के नाम पर तीन अध्याय हैं। अवशिष्ट छः कालों में प्रत्येक के नाम पर एक प्रकरण है, जिसमें यथावसर अध्यायों का संयोजन है। कवियों के विश्लेषण में श्रेणी-विभाग भी किया गया है, जिसका आधार उन्होंने कवियों का काव्योत्कर्ष माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रबन्धु स्वयम् अपनी श्रेणी-विभाग की प्रक्रिया विषयक अपूर्णता से परिचित हैं किन्तु उन्हें काव्यकारों के मूल्यांकन का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय दृष्टिगोचर ही नहीं हुआ है। अन्त में अपनी भाषा-शैली के स्वरूप-गठन का भी सामान्य परिचय देकर अपनी अन्यान्य रचनाओं के विवरण के पश्चात् भूमिका समाप्त की गई है। मिश्रबन्धुओं का यह स्पष्टीकरण अत्यन्त विनम्र और उपयोगी है। इसके द्वारा हमें 'विनोद' का वास्तविक महत्त्व-निर्धारण करने में सहायता मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस युग को देखते हुए मिश्रबन्धुओं का यह प्रयास स्तुत्य है। रीतिकालीन शास्त्रीय परम्परा के साथ आधुनिक ढंग की समालोचना का यथेष्ट संयोग कर उन्होंने विचार-सामग्री के संकलन के साथ-साथ कवियों के तुलनात्मक अध्ययन की जो दृष्टि दी है, वह अपने समीक्षात्मक प्रतिमान में निश्चय ही अग्रगण्य है। 'विनोद' का प्रणयन विद्वान् लेखकों के कठोर परिश्रम और साहित्य प्रेम का द्योतक है। कालान्तर में 'मिश्रबन्धु-विनोद' के जो नवीन संस्करण प्रकाशित हुए, उनमें उन्होंने युग-जीवन के साथ सम्बन्धित ज्ञान-राशि का भी सर्वत्र सदुपयोग किया है। फिर भी उनकी समीक्षा-प्रणाली से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि वे अपने 'विनोद' में काव्य-परीक्षण की जो शास्त्रीय पद्धति अपनाकर चले हैं उससे प्राचीन ब्रजभाषाकाव्य का भले ही यथोचित विश्लेषण किया जा सके किन्तु नवीन आलोक में विकसित काव्य-प्रवृत्तियों और साहित्य धाराओं के परीक्षण में वह अधिक समर्थ नहीं है।

समकालीन समालोचकों और साहित्य-प्रवृत्तियों पर विचार

४९ जिस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी ने मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' की व्यापक समालोचना की है, उस प्रकार तो मिश्रबन्धुओं ने उनके सम्बन्ध में नहीं लिखा किन्तु द्विवेदी जी द्वारा लिखी के समीक्षाविषयक दोषों की ओर संकेत करने में वे भी पीछे नहीं रहे हैं। उन्होंने द्विवेदी जी द्वारा की गई लाला सीताराम की 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' को समालोचना न कहकर 'अशिष्ट भाषा में लिखा गया व्याकरण-सम्बन्धी दोष-प्रदर्शन मात्र' कहा है और इसी प्रकार उनकी दृष्टि में "द्विवेदी-कृत कालिदास की निरंकुशता बहुत करके व्याकरण सम्बन्धी और कहीं-कहीं धार्मिक प्रयोगों पर विचार का विवरण-मात्र है।"[1] "उनकी 'नैषध चरित चर्चा' में समालोचना का कुछ रूप आया है किन्तु वह भी सर्वांगपूर्ण नहीं है क्योंकि वह भाषादि बाहरी बातों पर बहुत करके सीमित है और भाव तक नहीं पहुँचता।"[2] इसी प्रसंग में मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' में बहुत से कवियों की पृथक्-पृथक् और विस्तृत रूप में की गई समालोचनाओं को "केवल सम्मति न देकर कवियों की रचनाओं से उदाहरण सामने रख कर अपने कथनों को पुष्ट करने का प्रयत्न" कहा है।[3] उन्होंने बाबू श्यामसुन्दरदास के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक समालोचना-ग्रन्थ को अधिकतर

---

१ मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ भाग, प्रथमावृत्ति, सं० १९७० पृष्ठ ३०।
२ मिश्रबन्धु-विनोद, चतुर्थ भाग, प्रथमावृत्ति, सं० १९९१ पृष्ठ १९४।
३ वही, पृष्ठ १९४।

स्थानों पर निष्पक्ष भाव से की गई शुद्ध समालोचना माना है। उन्होंने पं० पद्मसिंह शर्मा को बिहारी की भली-बुरी कैसी भी प्रशंसा करने का बीड़ा उठा कर चलने वाले समालोचक कह उनके महान् परिश्रम की प्रशंसा अवश्य की है, किन्तु देव के प्रति उनका कठोर भाव देख कर वे उन्हें एक स्थान पर समालोचक भी नहीं मानते क्योंकि हठवाद उनके विचारों में कुछ अधिकता से है। लाला भगवान दीन को उन्होंने समालोचक न मान कर केवल टीकाकार माना है।[१]

२७ मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में समालोचना की विस्तृत-विधि निबन्ध रचना से भिन्न कोटि की होती है। उनके समय में ऐसी समालोचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं जिनमें "साहित्यकारों तथा साहित्य पर समालोचना लिखते हुए कुछ विषयों पर पचास-पचास साठ-साठ पृष्ठों के निबन्ध लिखे जाते थे और अन्त में उदाहरण की भाँति आलोच्य कवियों अथवा साहित्यिक समयों के रचयिताओं से दो चार मोटी-मोटी बातें कह कर यह समझ लिया जाता था कि उन्होंने विशिष्ट कवियों अथवा समयों के साहित्य की समालोचना कर डाली है।[२] मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में वे समालोचनाएँ न हो कर निबन्धमात्र हैं। उनके मतानुसार तो समालोचना में मुख्य वर्णन कवि का होना चाहिए और उसी की रचना के साथ जहाँ कहीं अच्छे सिद्धान्त निकलें उनका सूक्ष्मतापूर्वक विवरण लिख देना उचित है।"[३] उन्होंने अपने समय में प्रचलित उन समालोचनाओं का भी विरोध किया है जिनमें "समालोचक कवियों पर मौखिक शब्दों में सम्मति देते चले जाते हैं किन्तु उनका किसी कारणमाला द्वारा समर्थन नहीं करते हैं।"[४]

२८. *यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि मिश्रबन्धुओं ने अपने विनोद (चतुर्थ भाग)* में उत्तर नूतन काल (संवत् १९९१-७४) के अन्तर्गत छायावादी साहित्य और उसके रचयिताओं का भी उल्लेख किया है। यद्यपि उनके द्वारा छायावाद का रूप स्पष्ट नहीं किया जा सका है, किन्तु उन्होंने सबसे प्राचीन छायावादी साहित्य स्वयम् वेद भगवान में माना है।[५] वर्तमान छायावादी कवियों में उन्होंने प्रसाद, पंत तथा मोहनलाल महतो को प्रमुख माना है और निराला जी की गणना रहस्यवादी कवियों में की है। उन्होंने विवेचन के प्रसंग में छायावादी रचनाओं में दूरारूढ़ कल्पना भाषा-सौष्ठव शुष्क चित्रण एकान्त मुक्तक, कथानक-अभाव आदि बातों को लेकर छायावादी रचनाओं में अनेक प्रकार के 'असमर्थ तथा अप्रसाद दूषण' भी निर्दिष्ट किये हैं जो उस युग के अन्य समालोचकों की मनोवृत्ति के बहुत निकट हैं। यह एक विचित्र बात है कि छायावाद का स्वरूप विवेचन किये बिना ही मिश्रबन्धुओं ने छायावादी कवियों पर अपने निर्णय दे दिये हैं जो प्रमाण सम्मत नहीं कहे जा सकते। वस्तुतः मिश्रबन्धुओं के सामने छायावाद का रूप स्पष्ट ही न था और वे केवल प्रबन्ध-काव्य की वर्णनात्मकता और अलंकृत प्रणाली में ही काव्य की परिधि सीमित समझते थे अतः उन्होंने उसी के प्रतिमान से श्री जयशंकर प्रसाद तथा सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-रचना के सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हुए लिखा है—

"जयशंकर प्रसाद का छायावाद उत्कृष्टता के सोपान तक नहीं पहुँच पाता। उनके जो मुख्य ग्रन्थ हैं, उनमें ऐतिहासिकता की प्रधानता है और छायावाद नहीं के बराबर है। यदि प्रसाद जी केवल छायावादी होते तो हम उन्हें बहुत ही साधारण कवि मानते। सुमित्रानन्दन पंत के पल्लव में है तो मुक्तकों का ही रूप किन्तु एक-एक विषय पर वर्णन कुछ बड़े-बड़े भी हैं। इनमें केवल

---

१ मिश्रबंधु विनोद, चतुर्थ भाग, प्रस्तावना, सं० १९९१, पृष्ठ १९५।
२. वही, पृष्ठ १९५।
३ वही, पृष्ठ १९६।
४. वही, पृष्ठ १९६।
५. वही, पृष्ठ १११।

छायावाद नहीं है वरन् इतर साहित्य के साथ कुछ-कुछ यह भी मिल गया है।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि मिश्रबन्धुओं का यह निर्णय उनके छायावाद विषयक सीमित दृष्टिकोण का ही परिचायक है। उनके छायावाद विषयक विवेचन से ध्वनित होता है कि वे उसके स्वरूप की यदि थोड़ी बहुत प्रशंसा भी कर सके हैं तो उसका प्रमुख आधार प्रसाद और निराला द्वारा प्रस्तुत वह साहित्य है जिसमें उन्हें इतिवृत्तात्मकता की झलक मिली है। उन्होंने उनके साहित्य द्वारा भविष्य में इस वाद को प्राचीन स्वरूप प्रदान करने की आशा भी रखी है।[2]

'हिन्दी नवरत्न' और उसका समीक्षागत स्तर

१६. मिश्रबन्धुओं द्वारा लिखित 'हिन्दी नवरत्न' का प्रथम संस्करण सन् १९१ में गंगा पुस्तकमाला लखनऊ से प्रकाशित हुआ था जिसकी भूमिका में लेखक-बन्धुओं ने अपना उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किया है "बहुत दिनों से हमारा यह विचार था कि हिन्दी साहित्य का एक अच्छा इतिहास रचा जाय और उसमें प्रसिद्ध तथा अच्छे कवियों की रचनाओं पर कुछ विस्तार के साथ समालोचना लिखी जाय।[3] मिश्रबन्धुओं ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास 'मिश्रबन्धु विनोद' के साथ-साथ 'हिन्दी नवरत्न' की रचना करते हुए भी किया है, जो उस युग के साहित्य-प्रतिमान में तो यथेष्ट प्रशंसनीय है, किन्तु उसमें भी अनेक प्रकार की त्रुटियाँ पाये से नहीं बच सकी हैं। बात यह है कि उस समय हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास अर्द्ध मुकुलित अवस्था में था और उसके साहित्य-संवर्धन-गत महत्त्व की ओर लेखक समुदाय का ध्यान आकर्षित होने ही लगा था। यद्यपि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य साहित्य की नवीन विधाओं के परिचय से हमारा हिन्दी प्रदेश भी प्रभावित होने लगा था और यहाँ के लब्धमान लेखक भी इस दिशा में प्रयत्नशील बनने के आकांक्षी थे किन्तु उनके दृष्टिकोण में अधिक परिपक्वता नहीं आ सकी थी। साहित्य-वृद्धि में समालोचना का सापेक्षिक महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उस समय के प्रायः सभी समालोचक अपनी अपूर्णताओं का अनुभव करते थे किन्तु उनके द्वारा मार्ग-दर्शन का व्यापक अभियान और रचनात्मक सुझाव नहीं मिलता था। मिश्रबन्धुओं ने भी अपने नवरत्न की भूमिका में समालोचना के साहित्यगत महत्त्व का विश्लेषण कर इस ओर संकेत किया है कि साहित्यालोचन की प्रक्रिया को किस प्रकार अधिक प्रौढ़ और प्रांजल बनाया जा सकता है।

१ मिश्रबन्धुओं की समालोचना का समारम्भ काल आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समवर्ती (सन् १९०१ ई० के आस-पास) ही समझना चाहिए। समालोचना की आवश्यकता और साहित्य में उसकी न्यूनता को देखकर ही वे इस ओर उन्मुख हुए थे। पाश्चात्य भाषा साहित्य के अध्ययन से वे इसी निर्णय पर पहुँचे कि उसकी समता में हमारा हिन्दी-साहित्य अधिक हीन है अतः उन्हें उसकी समृद्धि का एक उपाय समालोचना-वृद्धि भी लगा। उनकी तो उसी समय यह दृढ़ मान्यता बन गई कि केवल समालोचना के अभाववश ही हमारे अनेक साहित्यकारों का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है और उन के अमूल्य ग्रंथ काल-कवलित हो रहे हैं जिसे साहित्य विकास का शुभ लक्षण नहीं कहा जा सकता। मिश्रबन्धुओं ने स्वयम् इस क्षेत्र में कार्य किया और अन्यान्य विद्वानों को भी कार्य करने की प्रेरणा दी। वे प्रयोगात्मक

---

१ 'मिश्रबन्धु विनोद' चतुर्थ भाग, प्रथमावृत्ति सं० १९९१ पृष्ठ ११२।
२. वही, पृष्ठ १११।
३ हिन्दी नवरत्न की भूमिका पृष्ठ १।

समालोचना की एक नवीन परम्परा हिन्दी-समीक्षा-जगत् में लाना चाहते थे और उन्होंने इस ओर प्रयास भी करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९ ई० में उनकी हम्मीर हठ की समालोचना 'सरस्वती' पत्रिका में छपी और उसी वर्ष के लगभग उन्होंने पंडित श्रीधर पाठक की कविताओं पर भी अपने समालोचनात्मक निर्णय दिये जिनको लेकर हिन्दी-संसार में बहुत दिनों तक वाद विवाद चलते रहे। उसके पश्चात् तो उनका समालोचना-लेखन का क्रम बराबर चलता रहा जिसकी चरम परिणति उनके उपर्युक्त ग्रंथों में प्रदर्शित हुई है। कहना होगा सन् १९१ के आसपास मिश्रबन्धुओं के समालोचन-कार्य मे उनके मानसिक उत्थान का निश्चित स्वरूप प्रकट होने लगा था जो समयानुक्रम से क्रमशः विकसित होता गया।

९१ मिश्रबन्धुओं की समालोचनाओं में अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ भी परिलक्षित हैं। अद्यतन युगीन समीक्षा-शास्त्र के विकसित और बहुव्यापी प्रतिमान का उसमें अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रबन्धु समालोचना के केवल बाह्य धरातल का ही स्पर्श कर सके हैं और उन में *काव्य के अन्तरंग और सौष्ठवपूर्ण विधान में प्रविष्ट होने की कम क्षमता है। उनकी समालोचनाओं* पर रीतिकालीन परम्पराओं की छाप है, जिसे उन्होंने आधुनिकता से संयुक्त बनाने का प्रयास अवश्य किया है किन्तु उनकी ग्रहणीयता उस से पीछा छुड़ाती हुई नहीं प्रतीत होती। हाँ यह बात अवश्य है कि उस युग में उनकी समालोचनाओं ने यथेष्ट सम्मान पा लिया था। द्विवेदी-युग की *प्रधान पत्रिका 'सरस्वती' और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों का संचालन और पथ* प्रदर्शन करने में उनका प्रारम्भ ही से सक्रिय सहयोग रहा और उक्त संस्थाओं ने उनके सत्परामर्श से अनेक लाभ भी प्राप्त किये। भूषण मतिराम देव और तुलसी जैसे काव्यकारों का समुचित महत्त्व-निर्धारण और मूल्यांकन करने वाले समालोचकों में मिश्रबन्धुओं का बड़ा हाथ है। यह सब कुछ होने पर भी उन्होंने उक्त कवियों के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है अथवा उनके पारस्परिक साम्य द्वारा जो काव्य-गुण-परीक्षण किया है वह किसी प्रौढ़ और प्रामाणिक धरातल पर आसीन नहीं है। उनकी समालोचना के प्रतिमान का सामान्य परिचय उनका निम्न लिखित उद्धरण दे सकेगा।

"पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते थे पर पीछे से इस विचार में शंका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छंद का मुकाबला किया। तब जान पड़ा कि मतिराम के प्राय: ९ या १२ कवित्त तो ऐसे रुचिर हैं कि उनका सामना *भूषण का कोई कवित्त नहीं कर सकता और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त* नहीं ठहर सकते पर मतिराम के शेष पद्य भूषण के अनेक पद्यों के सामने नहीं ठहर सकते। इस प्रकार मतिराम और भूषण की तुलना करके हमने भूषण को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूषण को केशव से मिलाया तो भी भूषण ही की कविता में विशेष चमत्कार देख पड़ा।[1]

९२ स्पष्ट है कि उपर्युक्त उद्धरण मिश्रबन्धुओं की समालोचना-पद्धति का आभास देने में सर्वथा समर्थ है। इसमें उन्होंने बिना किसी ठोस और तर्कपूर्ण आधार पर दो कवियों की तुलना का जो मानदंड निर्धारित किया है वह अपूर्ण तथा एकांगी है। उसमे हमें साहित्य-समीक्षण का वह पक्ष नहीं मिलता जो साहित्यकारों की आत्मा में प्रविष्ट होकर उसमें अंतर्निहित अनन्य विभूतियों का परिचय प्रदान करता है। इसी प्रकार कुछ पद्यों को मिला कर कवियों को एक दूसरे से हीन सिद्ध करने का पक्ष भी केवल समीक्षण की बाह्य चेष्टा का ही प्रतीक है।

---

१ मिश्रबन्धु, "हिन्दी नवरत्न" प्रथम संस्करण की भूमिका पृष्ठ १९.

२. " विनोद प्रथम संस्करण, १९१० पृष्ठ १९ २.

शास्त्रीय तथा निर्णयात्मक प्रणाली का संयोजन

१३ मिश्रबन्धुओं की समालोचना में शास्त्रीयता की झलक भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उन्होंने प्राचीन कवियों के काव्यांशों के उदाहरण देकर संस्कृत काव्य शास्त्र की निर्धारित समीक्षा प्रणाली में उनमें प्रयुक्त अलंकार, रस दोष ध्वनि छन्द और शब्द-शक्ति आदि का भी परीक्षण किया है। इस प्रकार का विवेचन परम्परागत ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए देव-कृत एक छंद का सखी के सकोच युत ... बिलानो जात' का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं

"यह रूप घनाक्षरी छंद है जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और प्रथम यति सोलहवें वर्ण पर होती है। इसमें मुखलोचनि में धर्मोपमान लुप्तोपमा है। 'गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात' में गौणी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा एवं पूर्णोपमालंकार है। रति-भाव इसके शृंगार रस का मूल है। यहाँ मुग्धा कलहान्तरिता नायिका है। यहाँ अवस्थित संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि निकलती है। छंद में कौशिकी वृत्ति और नागर नायिका है। इसमें दोष बहुत कम और सद्गुण अनेक हैं। सब मिलाकर छंद बहुत अच्छा है।"[1]

इसी प्रकार उन्होंने तुलसी बिहारी केशवदास आदि कवियों के प्रमुख छंदों का भी शास्त्रीय विवेचन किया है।[2]

१४ मिश्रबन्धुओं की समालोचना में शास्त्रीयता के साथ-साथ निर्णयात्मक प्रवृत्ति भी प्रायः सर्वत्र मिलती है। माना कि निर्णय अथवा स्वमत प्रकाशन समालोचक का एक जन्मसिद्ध अधिकार है किन्तु उसके मूल में उसकी मान्यताओं और आस्थाओं का तात्विक आधार और तात्विक विश्लेषण भी रहना आवश्यक है जिससे समालोच्य विषय के विवेच्य तत्व प्राप्त हो सके। मिश्रबन्धुओं में निर्णय देने की जितनी अधिक प्रवृत्ति है उतनी उसके अनुरूप मानदंड-संस्थापन की नहीं। निर्णय देते समय भी वे तटस्थ नहीं रह सके हैं और अपनी मनोरुचि को ही साहित्य का व्यापक प्रतिमान समझ बैठे हैं। यह बात अवश्य है कि क्रम-क्रम से उनकी समालोचक-बुद्धि में इस प्रकार की प्रवृत्ति कम होती गई और विकास के भी अनेक उपकरण जुटते गये। इस विकास का ही तो यह परिणाम है कि उन्होंने सन् १९०७ के आसपास कवियों की अलग-अलग रूप में केवल फुटकर समालोचनाएँ लिखी थीं किन्तु अध्ययन प्रसार ने उन्हें एक ऐसी विकसित दृष्टि भी दी जिससे वे कवियों की मानसिक भूमिका में अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध सा पाने लगे और जिसका प्रतिफल था उनके 'हिन्दी नवरत्न' का निर्माण। मिश्रबन्धु पहले तो इसे संस्कृत के 'कविपंचक' की भाँति 'भाषा कवि-पंचक' के रूप में लिखना चाहते थे और उसमें सूर, तुलसी देव बिहारी और केशव को ही स्थान देना सर्वतोभावेन उचित समझते थे किन्तु कालान्तर में उनमें विचार परिवर्तन होता गया। भूषण के काव्य-चमत्कार ने उन्हें इतना अधिक मुग्ध बनाया कि वे उसे सूर तुलसी के समकक्ष मान कर 'भाषा कवि-षट्क' लिखने की सोचने लगे तो सेनापति के काव्य-सौन्दर्य से उन्हें 'भाषा कवि सप्तक' लिखने की सूझी। कालांतर में उन्हें चन्द बरदाई और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की रचनाएँ भी अत्यन्त उत्कृष्ट और मनोहर प्रतीत हुईं जिनका सम्मिलन कर वे 'हिन्दी नवरत्न' लिखने के लिए उद्यत हुए। कहने के लिए तो उन्होंने अपनी बौद्धिक प्रवृत्ति के अनुरूप नव कवियों का चयन कर नवरत्न की रचना कर दी किन्तु उनका निजी दृष्टिकोण किसी प्रौढ़ धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं हो सका। वे स्वयं कई स्थलों पर अपने निर्णयों में शिथिल से प्रतीत होते हैं जिसका मुख्य कारण कदाचित् यह हो कि मिश्रबन्धु के नाम से एक साथ

---

१ 'मिश्रबन्धु विनोद' प्रथम संस्करण सं० १९७० पृष्ठ ११ ४२।
२ वही पृ. ४१-४७।

रचना प्रकाशित करने पर भी उनकी अलग अलग वैयक्तिक मान्यताओं तथा अभिव्यंजन-शैलियों में अवश्यमेव अंतर रहा हो। उनका कवि-समीक्षण का प्रतिमान कितना शिथिल और अव्यवस्थित है तथा वे श्रेणी विभाजन की जिस अवैज्ञानिक प्रणाली को लेकर चले हैं वह कितनी अपूर्ण है इसका सामान्य आभास उनके निम्नलिखित कथन से हो सकेगा —

"पीछे से जायसी की कविता बहुत बढ़िया समझ पड़ी और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ किन्तु अन्त को जायसी की कविता कई बार ध्यान से पढ़ने पर उसका चमत्कार कुछ फीका जचा और जायसी का स्थान तोष कवि की श्रेणी में समझ पड़ा। यह श्रेणी पद्माकर की श्रेणी के नीचे है। सबसे पहले मतिराम की श्रेणी थी फिर दास की और तब पद्माकर की। तोष की श्रेणी के नीचे साधारण श्रेणी है। और उसके पीछे हीनश्रेणी धीरे धीरे यह समझ पड़ा कि *सेनापति की कविता परम अनूठी एवं विशद होने पर भी मतिराम* की रचना की समता नहीं कर सकती। इस विचार से मतिराम की श्रेणी को सेनापति की श्रेणी बना दिया और मतिराम को सेनापति के बदले नवरत्न में स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न में नव कवियों की स्थिति हुई। हाल ही में महात्मा कबीर दास भी नवरत्न में मध्य समझ पड़े हैं।"[1]

१५. उपर्युक्त उद्धरण मिश्रबन्धुओं के समालोचनागत मानदंड का एक आदर्श कहा जा सकता है। माना कि समालोचना के क्षेत्र में यह भी एक अभिनव प्रयोग था किन्तु उसमें किसी निश्चित धरातल की ठोस पीठिका न होने के कारण अनेक प्रकार के दोष आने से भी नहीं बच सके। इसमें मिश्रबन्धुओं ने अपने राजकीय प्रशासन की भाँति साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में भी *आदेशपूर्ण निर्णय दिये हैं, किन्तु वे किन-किन सिद्धान्तों से निर्मित हैं इसका कोई निश्चित पता* नहीं चलता। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी इस पद्धति की अपूर्णताओं पर अपने इतिहास-ग्रन्थ में व्यंग्य करते हुए लिखा है

"हिन्दी के पुराने कवियों को समालोचना के लिए सामने लाकर मिश्रबन्धुओं ने बेशक बड़ा जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं यह दूसरी बात है।"[2]

शुक्ल जी के इस कथन में सत्य का पर्याप्त अंश है, क्योंकि यह श्रेणी-विभाजन अथवा कवि-मूल्यांकन प्रतिमान स्वतः ही अतार्किक है। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी नवरत्न के इस प्रतिमान की कटु समालोचना 'सरस्वती' पत्रिका में व्यापक रूप में की थी जिसका विवेचन द्विवेदी जी के काव्य-समीक्षण-प्रतिमान के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ पर लिखने का मूल आशय केवल यही है कि मिश्रबन्धुओं ने जिस शिल्पविधि में समालोचना-साहित्य लिखा है, वह किसी ऐसी परम्परा का सूत्रपात करने वाली नहीं है जिसके कारण द्विवेदी जी की भाँति उन्हें भी किसी विशिष्ट श्रेणी के युग-संस्थापक का स्वरूप दिया जा सके।

तुलनात्मक प्रणाली और 'हिन्दी नवरत्न' का मूल्यांकन

१६. मिश्रबन्धुओं की समालोचना में तुलनात्मक पद्धति का भी समावेश है, किन्तु वह भी अपरिपक्व अवस्था में ही है। उन्होंने कविताओं की तुलना करने की प्रवृत्ति के अनुसार नवरत्न में बृहत्त्रयी मध्यत्रयी और लघुत्रयी नाम से जो तीन विभाग निश्चित किए हैं, उनमें भी कोई संतुलित दृष्टिकोण नहीं आ सका है। कहने के लिए उन्होंने बृहत्त्रयी में तुलसी सूर और देव।

---

१ मिश्रबन्धु, 'हिन्दी नवरत्न की भूमिका' प्र. संस्करण पृष्ठ ११।
२ पं. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, न. संस्करण पृष्ठ ६११।

मध्यत्रयी में बिहारी भूषण और केशव तथा मधुत्रयी में मतिराम चंद और हरिश्चन्द्र को स्थान दिया है, किन्तु इसमें भी पूर्वापर क्रम अथवा निश्चित प्रतिमान का न्यूनांश ही है। और तो और, वे कवियों की इस त्रयी-निर्धारण में भी बराबर उलझे हुए से हैं और बड़ी कठिनाई के पश्चात् ही वे किसी एक निर्णय पर पहुँच सके हैं। उन्होंने जिस क्रम-प्रणाली के आधार पर कवियों को एक दूसरे से छोटा-बड़ा सिद्ध किया है उसमें भी तारतम्य नहीं है। इसी प्रकार 'तुलसी और सूर के महात्मा होने के कारण उनके नाम देव से प्रथम लिखे हैं' वाक्यांश इस ध्वनि-गर्भित अर्थ का संकेत करता है कि मिश्रबन्धुओं को देव तुलसी और सूर से भी बड़े पड़े लगते हैं, पर केवल सूर और तुलसी का महात्मा-रूप ही उन्हें उनसे निम्न स्थान दिला रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मिश्रबन्धुओं का यह निर्णय भी भ्रमपूर्ण है, क्योंकि सूर और तुलसी के काव्य में जीवन की संवेदना का जो व्यापक और सरस अभिव्यंजन हुआ है, उसे देव की प्रतिभा स्पर्श भी नहीं कर सकती।

१७ वास्तव में मिश्रबन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' के कवियों की समालोचनाएँ अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखने के लिए ही लिखी थीं किन्तु समालोचनाओं का विवक्षित आकार इतिहास ग्रन्थ के निर्धारित पृष्ठों का सम्पूर्ण स्थान घेर लेता अतः उन्होंने नवरत्न का प्रकाशन अलग रूप से करना ही समीचीन समझा। यही कारण है कि उन्होंने नवरत्न में इतिहास के मतानुसार कवियों का वर्णन काल-क्रम से न कर एक भिन्न प्रणाली से किया है। अतः उन्हीं के अनुसार उनका 'नवरत्न' इतिहास का प्रथम द्वितीय या अंतिम कोई भी भाग नहीं हो सकता। इसे इतिहास से पृथक परन्तु उससे मिलता-जुलता हुआ ग्रन्थ समझना चाहिए।[1] चूँकि 'हिन्दी नवरत्न' का इतिहास से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः यहाँ उसकी भूमिका के विवेचन के रूप में ही इतिहास का थोड़ा सा सारांश लिख देना समीचीन प्रतीत हुआ है। ऐसा करने के पूर्व उन्होंने सर्वप्रथम 'हिन्दी भाषा के महत्त्व' का विवरण दिया है और यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हिन्दी की जननी चाहे संस्कृत मानी जाय अथवा प्राकृत किन्तु बहुमत इसी बात का है कि प्राकृत ही बदलते बदलते अपभ्रंश होती हुई हिन्दी हो गई है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार स्थूल रूप से हिन्दी का उत्पत्ति काल सातवीं शताब्दी में कहा जा सकता है।[2]

१८ मिश्रबन्धुओं की समालोचनाओं में भले ही अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ हों किन्तु उन्होंने प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य की जो शोधपरक सामग्री एकत्र की है वह उनके अथक परिश्रम और निरन्तर अध्यवसाय का ही निदर्शन है। 'शिवसिंह-सरोज' के पश्चात् केवल उन्हीं के 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ इस प्रकार की व्यापक सामग्री प्रदान कर सके हैं। उन्होंने अनेक अज्ञात काव्यकारों के साथ-साथ उनकी अनेक लुप्तप्राय कृतियों का जो अनुसन्धान किया है, वह हमारे साहित्य-कोष की अभिवृद्धि का प्रमुख साधन बना है। उनकी मान्यताओं और विचार-सरणियों में आज भले ही अनेक प्रकार के दोष मिलें किन्तु आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य और समालोचना जिस स्वल्प पर अवलम्बित थे उसे विकसित और सम्वर्धित बनाने में मिश्रबन्धु जिस लगन और साधना से प्रवृत्त हुए, वह वस्तुतः श्लाघ्य है। आज के स्वतन्त्र भारत में हिन्दी भाषा और साहित्य को जो राष्ट्रव्यापी गौरव मिला है, उसको देखते हुए हमारे अनेक वर्तमान विद्वान् उसकी साहित्य-सेवा का अब अपकारी नीति से भले ही परिहास करें, किन्तु उस युग में जब कि हिन्दी वाङ्मय को इस प्रकार का कोई सम्मान अथवा राज्याश्रय प्राप्त नहीं था, मिश्रबन्धुओं ने जो कार्य किया वह उनकी अपूर्णताओं को आच्छादित करने के लिए

---

१ मिश्रबन्धु 'हिन्दी नवरत्न' की भूमिका प्रथम संस्करण ४५

२. वही, पृष्ठ १।

पर्याप्त समझा जाना चाहिए। आज की विकसित परम्परा में मिश्रबन्धुओं के साहित्य का मूल्यांकन करते समय इस तथ्य की अवहेलना करना उनके वास्तविक स्वरूप-परिज्ञान का एकांगी दृष्टिकोण ही कहा जायगा।

६६ मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' की जो भूमिका लिखी है, उसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास का सामान्यतया सिंहावलोकन हो जाता है। उसमें ऐसे अनेक काव्यकारों का भी परिचय है जो कालांतर में हमारे साहित्य-मन्दिर के आराधक सिद्ध हुए हैं। उन्होंने नवरत्न के कवियों का वंशावली समय देकर भावी अनुसन्धाताओं के लिए इस क्षेत्र में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। प्राप्त सामग्री के आधार पर उन्होंने यथासम्भव प्रत्येक रत्न का व्यापक जीवन परिचय भी दिया है जो जीवन-चरितमूलक समालोचना-पद्धति का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। यह बात अवश्य है कि वे जीवन की साहित्यगत प्रतिक्रिया का विश्लेषण उस विधि से नहीं कर सके हैं, जिस विधि से आज की विकासोन्मुख समालोचना करना चाहती है। यद्यपि कई स्थलों पर उनका कवि-परिचय पक्षपातपूर्ण भी बन गया है और ऐसा लगता है कि वे कवियों की वंशपरम्परा तक को अपने अनुकूल सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु इस प्रकार के सामान्य स्खलन के कारण ही उनके कार्यों के उज्ज्वल पक्ष को हीन नहीं बताया जा सकता। अपने विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने अपने प्रतिवादी समालोचकों की युक्तियों का खण्डन करने की चेष्टा भी की है और यथासम्भव कवि-परिचय में अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों का उपयोग किया है। कवियों के काव्य सौष्ठव का निर्देश करने के लिए उन्होंने उनके कतिपय काव्यांश भी उद्धृत किये हैं, जिनके चयन से प्रत्येक साहित्य-जिज्ञासु का सहमत होना आवश्यक नहीं है। विवेचन के अन्तर्गत सैद्धान्तिक निरूपण भी हुआ है और विवरणात्मक विश्लेषण की प्रवृत्ति तो उनमें सर्वत्र परिलक्षित है ही। निष्कर्ष यह है कि मिश्रबन्धुओं का हिन्दी नवरत्न आधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास को समझने का एक असाध्य साधन है जिसमें विद्वान् लेखकों ने समालोचना की ऐतिहासिक जीवनीमूलक प्रभावाभिव्यंजक शास्त्रीय सैद्धान्तिक और वैयक्तिक प्रवृत्तियों का प्रयोग युगवर्ती प्रतिमान के अनुरूप करने की यथाशक्ति चेष्टा की है। वस्तुतः ये दो ग्रन्थ ही मिश्रबन्धुओं के समालोचक-व्यक्तित्व के निर्माण के प्रमुख साधन हैं और उनकी शेष कृतियों में भी इन्हीं की छाया प्रतिबिम्बित है जिनसे मिश्रबन्धुओं के समालोचक-स्वरूप को समझने में यथेष्ट सहायता मिलती है।

(३)

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास

समालोचना में प्रसंग वेश

७ सन् १९२१ में महामना पं० मदन मोहन जी मालवीय ने बाबू साहब को काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के अध्ययन उत्थान और विकास को समुचित स्वरूप प्रदान करने की भावना से नियुक्त किया और मुख्यतः यही नियुक्ति उनकी प्रौढ़ साहित्य-समालोचनाओं और गम्भीर गवेषणाओं के विकास का कारण बनी। उसी वर्ष जब एम० ए० के पाठ्य-क्रम में हिन्दी को स्थान दिया गया तो आरम्भ में इस बात की बड़ी कठिनाई रही कि किन-किन ग्रन्थों को किन किन विषयों के अन्तर्गत निर्धारित किया जाय। अन्यान्य प्रश्नपत्रों के साथ-साथ उस समय एम० ए० के पाठ्यक्रम में भारतवर्ष का भाषा विज्ञान हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास तथा साहित्यिक आलोचना नामक तीन ऐसे विषय भी रखे गये जिनमें उन के उपयुक्त पुस्तकों का हिन्दी में अभाव था। यद्यपि इन तीनों विषयों से सम्बन्धित संस्कृत और अंग्रेजी आदि भाषाओं में लिखे गये आधार ग्रन्थों के नाम निर्दिष्ट कर दिये गये थे किन्तु ऐसा एक भी ग्रन्थ न था जिसकी सहायता से इनका अध्ययन-अध्यापन सुचारु रूप से किया जाता। ऐसी स्थिति में बाबू साहब के ऊपर एक महान् दायित्व

गया। अपनी अभिरुचि के अनुकूल सर्वप्रथम उन्होंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और वे एतद्विषयक अध्ययन में प्रवृत्त हुए। गम्भीर चिन्तन और मनन के उपरान्त अन्ततोगत्वा वे इस निर्णय पर पहुँचे कि इस विषय का सुचारु रूप से तभी अध्ययन किया जा सकता है जब सर्वप्रथम विद्यार्थियों को समालोचना के प्रमुख तत्त्वों का प्रारम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। उन्होंने निरन्तर रूप से प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित सामग्री के संकलन और संचयन का कार्य आरम्भ किया और वे उसकी मन-ही-मन रूपरेखा बना कर उसे परिच्छेदों में लिखने लगे। उस समय उनके अध्ययन और अध्यापन दोनों के क्रम एक साथ चल पड़े थे जिससे उन्हें एक लाभ यह हुआ कि वे विद्यार्थियों को विषय-ग्रहण करने में होने वाली कठिनाई का अनुभव करते हुए यह जान सके थे कि पाठ्य विषय में भिन्न-भिन्न स्थलों पर संकोच अथवा विस्तार की आवश्यकता है। अपने इस क्रियात्मक अनुभव के आधार पर उन्होंने लिखित अंशों का संशोधन और परिवर्तन करना भी प्रारम्भ किया जो कालान्तर में उनकी साहित्यिक आलोचनाओं के भिन्न भिन्न परिच्छेदों में संकलित हो कर साहित्यालोचन नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। उसका प्रथम संस्करण सन १९२२ में इंडियन प्रेस प्रयाग से छपा था।

साहित्यालोचन की आधारशिला और मौलिकता

७१ 'साहित्यालोचन' की रचना में बाबू साहब ने अनेकानेक भारतीय और पाश्चात्य ग्रन्थों का आधार लिया है, जिनकी सूची पुस्तक के अन्त में दी हुई है। सचमुच इन्हें इसकी रचना करने में अथक परिश्रम करना पड़ा था। इस विषय में उस समय हिन्दी साहित्य में उनके सामने ऐसा कोई पुष्ट और प्रामाणिक प्रतिमान भी नहीं था जिसे अपनाकर वे आगे बढ़ते। अतः एक प्रकार से उन्हें ही साहित्यालोचन की सुदृढ़ भित्ति प्रस्तुत करनी पड़ी। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ का उद्देश्य बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि इसकी सामग्री उन्हें दूसरे ग्रन्थों से मिली है और वे भारतीय तथा यूरोपीय आलोचना-तत्त्वों को अपने दृष्टिकोण से परख कर ही व्यक्त कर सके हैं। विषय-प्रतिपादन तथा अभिव्यंजन की दृष्टि से बाबू साहब ने इसमें मौलिकता रखी है किन्तु है यह अन्य ग्रन्थों का निचोड़ ही। अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ की भाषा और विषय के उपस्थापन का ढंग उनका अपना है किन्तु विचारों के संग्रह में अनेक भारतीय और यूरोपीय ग्रन्थों की सहायता लेकर दोनों के सिद्धान्तों में समन्वय लाने का सफल प्रयत्न किया गया है।[1]

७२ बाबू साहब ने साहित्यालोचन की भूमिका में मौलिकता के सम्बन्ध में जिन विचारों की अभिव्यक्ति की है वह विचारणीय है। ऐसा लगता है कि उस समय साहित्य-जगत् में मौलिकता के नाम पर अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का प्रचार था और लेखक स्वेच्छाचारी भावना से इस शब्द का प्रयोग करते थे। बाबू साहब ने स्पष्ट शब्दों में इस विषय का उल्लेख किया है कि जो लोग विचारों की मौलिकता और उनकी अभिव्यंजन की मौलिकता को अभिन्न समझते हैं वे भ्रान्ति में हैं। उनके मतानुसार 'साहित्य में मौलिकता से अभिप्राय विचार और शैली दोनों की व्यक्तिगत विशेषता से है।'[2] उनकी दृष्टि में लेखक की मौलिकता की सच्ची कसौटी यही है कि "हम उसकी रचनाओं द्वारा परखें कि उन से संसार के ज्ञान भंडार की वृद्धि हुई है या नहीं? यदि लेखक अपने विचार अभिव्यक्ति अथवा शैली द्वारा यह कार्य कर सका है तो उसे मौलिक कहने में किसी प्रकार का आगा-पीछा नहीं करना चाहिए। जहाँ विचार और अभिव्यक्ति दोनों में

---

१ श्याम सुन्दर दास : साहित्यालोचन, प्रथम संस्करण की भूमिका, सं० १९७९, पृष्ठ ११।

२ वही, पृष्ठ १।

३ वही, पृष्ठ १।

मौलिकता हो वहाँ तो फिर कहना ही क्या है।[1]

७३ साहित्यालोचन' की मौलिकता का निर्णय करने के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अनेक स्थलों पर तो यह अनेक भारतीय और पाश्चात्य ग्रन्थों की प्रतिच्छाया के रूप में ही लगता है किन्तु लेखक ने इसके लिए बड़ी सच्चाई से पहले ही अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए यह लिख दिया है कि 'यदि यह ग्रन्थ पथ-प्रदर्शक का काम देकर अन्य विद्वानों से इस विषय के उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखाने के लिए उत्साहित कर सका तो वह इसी में अपना सन्तोष मान लेगा।[2] लेखक का उक्त कथन यथार्थ है क्योंकि साहित्यालोचन हिन्दी में साहित्यिक आलोचना का प्रारम्भिक ग्रन्थ है और इसे महान विषय की प्रस्तावना मात्र कहा जाना ही सर्वथा उचित है। इसमें जिन-जिन विषयों का अलग-अलग अध्यायों में विवेचन हुआ है वे ऐसे विषय हैं जिन पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों का निर्माण किया जा सकता है। बाबू साहब के उत्तरवर्ती काल में आलोचकों ने इस ओर प्रयत्न किये हैं और अब भी कर रहे हैं, किन्तु यह बात आज भी विचारणीय है कि इन प्रयत्नों ने इस परम्परा को कहाँ तक ठोस मौलिक और भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रणाली के आधार पर आगे बढ़ाया है।

संशोधित संस्करण और उसकी विशेषताएं

७४ बाबू साहब ने उक्त ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में इस विषय का अभिलाष प्रकट किया था कि उन्हें अन्य विद्वान् लेखक इस क्षेत्र में आशा यथेष्ट योगदान देंगे किन्तु उन्हें इस दिशा में निराशा ही हुई। प्रायः १५ वर्ष पश्चात् नवम्बर सन् १९३७ में साहित्यालोचन का संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक ने यथोचित परिवर्तन भी किए। उन्होंने पूर्ववर्ती संस्करणों की उपयोगी सामग्री तो इसमें रखी ही किन्तु ऐसे अनेक समसामयिक विषयों पर भी प्रस्तावना के रूप में विवेचन प्रस्तुत किया जो उस समय तक साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत समाविष्ट होने लगे थे। इस संस्करण में पूर्ववर्ती संस्करण से अध्यायों की संख्या भी कम है और दृश्य काव्य के विकास को छोड़कर और कोई विषय छूटने नहीं पाया है। भारतीय और यूरोपीय सिद्धान्त के सामञ्जस्य का प्रयास भी इसमें प्रथम संस्करण में अधिक है। लेखक ने पूर्व संस्करण की भाँति इस संस्करण में भी उन विद्वानों और सहयोगियों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित की है, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उन्हें ग्रन्थ रचना में उचित परामर्श और सहयोग दिया है।

७५. इस संशोधित संस्करण के प्रकाशित होने के समय तक 'साहित्यालोचन' की अनेकानेक आलोचनाएं भी प्रकाशित हो चुकी थीं पर बाबू साहब को उनके कथनानुसार इस संस्करण के लिए उनसे कोई लाभ नहीं हुआ। वे आलोचनाएँ या तो निन्दात्मक थीं या स्तुत्यात्मक। एक आलोचक ने तो साहित्यालोचन' को 'साहित्य दर्पण' का सारांश कह कर 'माधुरी' पत्रिका में अपना लेख प्रकाशित किया था।[3] बाबू साहब ने ऐसी आलोचनाओं के प्रति खेद प्रकट किया है और उन्हें साहित्य वृद्धि के लिए बाधक बतलाया है क्योंकि मूलग्रन्थ और उसकी उपजीव्य रचनाओं का अध्ययन किये बिना अपनी मनमानी सम्मति प्रदान करना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं है। साथ ही साथ बाबू साहब ने इस भ्रम को निवारित करने का भी प्रयत्न किया है जो उस समय इस विषय को लेकर साहित्य क्षेत्र में फैलने लगा था कि वे दूसरों से ग्रन्थ लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित करते हैं। उन्हें ऐसे मिथ्या प्रचारों से हार्दिक ग्लानि हुई है और उनका यह कथन तत्कालीन साहित्यिक मनोवृत्ति की ओर भी संकेत करने वाला है।

---

१ डा० श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन पहले संस्करण की भूमिका, सं १९७९ पृ ४।

२. वही, पृष्ठ ४।

३ वही, संशोधित संस्करण की भूमिका सन् १९३७ पृष्ठ ७।

७६ साहित्यालोचन' मूलतः सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रन्थ है। इसके समालोच्य विषय कला साहित्य काव्य रस शैली तथा साहित्य की आलोचना आदि हैं। परिशिष्ट में 'साहित्य की आत्मा और शक्ति' पर भी एक अध्याय है जो श्री पदुमनारायण आचार्य का लिखा हुआ है। साथ-ही-साथ हिन्दी साहित्य-शास्त्र के कतिपय पारिभाषिक शब्द तथा आलोचना-शास्त्र विषयक ग्रन्थों की सूची भी दी गई है जो साहित्यानुशीलक के लिए अत्यन्त उपादेय है। वस्तुतः उस युग में हिन्दी समालोचना साहित्य का जो स्वरूप और धरातल था उसके दृष्टिकोण से साहित्यालोचन सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति कहा जा सकता है।[1] कालान्तर में इस विषय में जितने भी ग्रन्थ लिखे गये उन पर इसका अत्यधिक मात्रा में प्रभाव रहा है और इस दृष्टि से यह एक विवेच्य विषय बन जाता है कि साहित्यालोचन की परम्परा आज जिस रूप में हमारे सामने आ रही है, उसमें बाबू साहब का कितना बड़ा हाथ है। इस ग्रन्थ की उपयोगिता का एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि आज का अनुशीलन इसकी परिधि की उपेक्षा कर आगे नहीं बढ़ सकता और आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास में यह निश्चय ही अपना ऐतिहासिक महत्त्व स्थापित करने में समर्थ हुआ है।

७७ बाबू साहब ने साहित्यालोचन में जिन सैद्धान्तिक विषयों पर विवेचन किया है उन्हें अपने दृष्टिकोण से उन्होंने मौलिक कहा है। वस्तुतः यह मौलिकता उस युग को देखते हुए तो अवश्य ही प्रशंसनीय है किन्तु उसे ऐसी मौलिकता नहीं कहा जा सकता जो इस क्षेत्र में नवीन उद्भावना करने वाली हो। यद्यपि उनका इस ओर प्रयास रहा है कि वे भारतीय और यूरोपीय साहित्य सिद्धान्तों में सामंजस्य उपस्थित करें किन्तु उनमें वह क्षमता प्रस्फुटित नहीं हो सकी है जो दोनों विचारधाराओं को पचा कर अपनी मौलिकता का प्रतिष्ठापन करने वाली हो। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि उनके सामने प्रस्तुत परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं जिनमें उनके लिए अवकाश के साथ बैठ कर ऐसे मौलिक चिन्तन के अवसर कम थे जो उत्तरवर्ती समालोचकों को उपलब्ध हुए। उन्हें तो नित्य प्रति साहित्यालोचन के नूतन विषय पर रात्रिकाल में नोट्स तैयार करने पड़ते और दिन में विद्यार्थियों को पढ़ाना होता। इस क्षेत्र की गति को आगे बढ़ाने का प्रश्न तो उनके सामने बहुत कम था। ऐसी परिस्थिति में उनके विचारों में संकलन की प्रवृत्ति अधिक मिले तो यह उनका अमौलिक दोष नहीं समझा जाना चाहिए। वस्तुतः उस युग को देखते हुए साहित्यालोचन का अपूर्व महत्त्व है और इस दिशा में बाबू साहब उचित प्रशंसा के अधिकारी हैं।

७८ बाबू साहब ने साहित्यालोचन की मौलिकता को मुख्यतः विवेचन की मौलिकता कहा है पर यह कथन भी कदाचित् ही अधिक सत्यांश-समित कहा जा सके। उसमें व्यक्त सिद्धान्तों और विचारों पर तो भारतीय और यूरोपीय समालोचना ग्रन्थों का प्रभाव है ही साथ ही साथ विषय-विभाजन और निरूपण की पद्धति भी अनुकृत है। इसकी रूपरेखा विषय-विभाजन शीर्षक और उपशीर्षक का संयोजन आदि पश्चिमी विद्वान् हडसन लिखित 'इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आव लिटरेचर' पर बहुत अधिक आधारित है। यहाँ तक कि कविता कहानी नाटक आलोचना आदि के अनेक विवेचित स्थल तो उसके अनुवादमात्र कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार कला का विवेचन वर्सफोल्ड की 'जजमेण्ट इन लिटरेचर' नामक पुस्तक से लेकर किया गया है। नाटक के अन्तर्गत विवेचित सामग्री पश्चिमी प्रभाव के साथ-साथ विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' से ज्यों-की-त्यों ली गई प्रतीत होती है। और भी ऐसे अनेक स्थल हैं जिनको लेकर ग्रन्थ की मौलिकता को विशेष

---

१ डा. नगेन्द्र, विचार और विवेचन प्रथम संस्करण पृष्ठ ७७।

परिष्कावस्था में प्रवस्थित किया जा सकता है। पर इस ओर ऐसी कठोरता का रूप बाबू साहब के प्रति एकांगी दृष्टिकोण का ही प्रतिपादक होगा क्योंकि उन्होंने समालोचना के किशोर काल में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में जो योगदान दिया है, उसकी समता में उसकी नगण्यता स्वतः सिद्ध है। विकासवाद का सिद्धान्त भी वस्तुतः यही निर्देश करता है कि विकास की परम्परा सतत गतिशील रहती है और आगे आने वाला युग अपने पूर्ववर्ती युग का ही परिणाम होता है। अतः इस दृष्टि से बाबू साहब का साहित्यालोचन भी अपने पूर्ववर्ती युगों की विकास-परम्परा की उत्तम परिणति है, जिसके कारण उसकी महत्ता में सन्देह करने के अधिक अवसर नहीं होने चाहिएँ।

समालोच्य विषय और उनका प्रतिपाद्य

कला-विषयक विवेचन

७१ बाबू साहब ने मनुष्य के संस्कारों और वृत्तियों का विश्लेषण कर अभिव्यंजना की विधियों को कला की संज्ञा दी है किन्तु उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण अभिव्यंजना कला नहीं है क्योंकि दार्शनिक सिद्धान्त-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य भी मानव अभिव्यंजना के विषय होने पर भी कला की कोटि में नहीं रखे जाते। वस्तुतः कला का लोक मुख्यतः भाव-लोक है और इसी माध्यम से कला-कृतियाँ ग्रहण की जानी चाहिएँ। उन्होंने कला विश्लेषण के अन्तर्गत आधुनिक समीक्षा जगत् में प्रचलित फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त यथार्थवाद और कला के लिये कला आदि सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त परिचय दिया है जिसमें संकलन की प्रवृत्ति ही अधिक है। वे इन प्रवादों को पाश्चात्य विवेचन की उस प्रतिपादिता में स्वीकार नहीं करते जिसका यूरोपीय विद्वानों ने अपने ग्रंथों और निबन्धों में निरूपण किया है। उनका तो स्पष्ट कथन है कि 'फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त को कलाभिव्यक्ति के मूल में स्वीकार करने पर तथा यथार्थवाद के नाम पर समस्त साहित्य-विधाओं को ग्रहण करने पर उनका जीवन के सदाचार पक्ष से सम्बन्ध छूट जाता है जो भारतीय साहित्य दर्शन का एक मूल आधार है।'[1] इसी प्रकार कला के लिये कला की सिद्धान्त की मनमानी खींचा तानी भी उन्हें पसन्द नहीं है क्योंकि कला को जीवन से अलग धरातल पर देखना साहित्य की स्वस्थ परम्परा के प्रतिकूल है। इसी प्रसंग में उन्होंने इटली के क्रोचे के उस सिद्धान्त का भी परिचय दिया है जिसके अनुसार कला सहज अभिव्यक्ति है, किन्तु वे स्वयं व्यावहारिक दृष्टि से कला का वर्गीकरण करना समीचीन समझते हैं।[2] उन्होंने उपयोगी और ललित कलाओं के स्थूल मानदंड पर विभिन्न कलाओं के मूर्त आधार तत्त्व और विषय-क्षेत्र का विवेचन कर काव्य-कला को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका यह समग्र विवेचन अधिकतर पाश्चात्य विचारधारा को आधारभूत बनाकर हुआ है जिसमें एतद्विषयक भारतीय सिद्धान्तों का संयोजन बहुत कम है। वस्तुतः यह पाश्चात्य विचारधारा का ही प्रभाव है जिसके कारण बाबू साहब ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की है जबकि वास्तविकता तो यह है कि हमारे यहाँ काव्य-स्वरूप का विश्लेषण उसे कला से अपेक्षाकृत श्रेणी प्रदान करते हुए किया गया है और उसके आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की समता दी गई है। वस्तुतः भारतीय दृष्टि से कला में भौतिकता का अधिक समावेश है किन्तु पश्चिम की मान्यताएँ इससे भिन्न हैं। वहाँ के प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगेल ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की थी जिसका आधार बाबू साहब ने भी अपने विवेचन में पर्याप्त मात्रा में लिया है। कालान्तर में प० रामचन्द्र शुक्ल और श्री जयशंकर प्रसाद'

---

१ बाबू श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन परिवर्धित और संशोधित संस्करण सं० १९१४ पृ० १।
२ वही, पृष्ठ ८।

ने कला का जो विवेचन किया उसमें काव्य को कला से बहुत ऊँचा स्थान दिया गया जो इस बात का सूचक है कि उनकी दृष्टि उसे विशुद्ध भारतीय विधान में उपस्थित करने की थी। बाबू साहब के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती।

साहित्य काव्य तथा कविता सम्बन्धी विचार

८ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि बाबू साहब के विवेचन का प्रमुख दृष्टिकोण पाश्चात्य विचारधारा के बहुत निकट है, अतः उन्होंने कला-विवेचन के पश्चात् साहित्य विश्लेषण का विषय लिया है। वे साहित्य के मूल में भी उन्हीं मनोभावों को ग्रहण करते हैं जो समस्त कलाओं के मूल में हैं किन्तु उसके प्रभाव को अधिक विस्तृत और दर्शन को अधिक सूक्ष्म बताते हैं।[1] उन्होंने साहित्य-दर्शन की व्याख्या भारतीय दर्शन की मूल प्रकृति के आधार पर की है और उसे आत्म और अनात्म भाव से युक्त माना है[2] उनकी दृष्टि में अन्यान्य कलाओं की भाँति साहित्य कला भी एक नैसर्गिक और अखंड सृष्टि है। वे इटली के कला-शास्त्री क्रोचे तथा इंग्लैंड के प्रसिद्ध आलोचक आई ए रिचर्ड्स की उन धारणाओं को भी एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं जिन के अनुसार साहित्य क्रमशः एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है एवम् उसका आनन्द प्राकृतिक आनन्द से तत्वतः भिन्न नहीं है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि प्राकृतिक आनन्द की भावना के बिना भले ही काव्यानन्द की उपलब्धि न हो सके अथवा उसे अलौकिक अनुभूति का आधार न मिल सके किन्तु प्राकृतिक आनन्द और साहित्यिक आनन्द को एक मानना भी उचित नहीं है। वस्तुतः उनका साहित्य की चिरन्तन और चिरनवीन स्थिति पर अधिक विश्वास है और वे उसे मानवता का दर्पण मानते हैं जिससे यह भी ध्वनित है कि उसकी श्रेणी विज्ञान की श्रेणी से अत्यन्त उदात्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में डीक्वेन्सी ने ज्ञान तथा शक्ति के नाम पर साहित्य का जो विभाजन किया था वह बाबू साहब को ग्राह्य प्रतीत हुआ है और वे भी शक्ति अथवा भाव के साहित्य को ही मूलतः सच्चा साहित्य मानने के लिए उद्यत हो गये हैं। उनका यह विश्लेषण भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा से अनुमोदित काव्य-विवेचन को वास्तविक साहित्य का मूल स्वरूप मानते हुए चला है और वे एतद् विषयक निरूपित विभिन्न दृष्टिकोणों का पर्यवेक्षण भी कर सके हैं। इस विवेचन का आकलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बाबू साहब अपने विद्यार्थियों को सद्धान्तिक साहित्यालोचन की अधिक से अधिक सामग्री प्रदान करना चाहते थे अतः उन्हें प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित जितनी भी सामग्री प्राप्त हो सकी उसका उन्होंने यथा शक्ति तत्व-चयन किया और यथाप्रसंग अपनी मान्यताएँ भी प्रकट की। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि बाबू साहब साहित्य के विवेचन को आत्मसात् कर उसे अपना मौलिक व्यक्तित्व देने में पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके विवेचन में कतिपय ऐसे स्थल भी हैं जहाँ वे विरोधमूलक सम्मतियाँ भी प्रकट कर गये हैं। पर इसका एक कारण विषय की गूढ़ता और मानसिक व्यस्तता भी है। हाँ साहित्य और जातीयता तथा साहित्य पर विदेशी प्रभाव आदि का उन्होंने जो निरूपण किया है, वह अत्यन्त स्पष्ट और व्यवस्थित है।

८१ बाबू साहब भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियों के समष्टि समूह को साहित्य कहते हैं अतः उनके मतानुसार संग्रह-रूप में जो साहित्य है, मूल रूप में वही काव्य है।[3] उन्होंने काव्य

---

१ डा श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन, पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ २७।
३ वही, पृष्ठ ४२।

को संकुचित रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति को असमीचीन बतला कर उन आलोचकों का विरोध किया है जो किसी भी तुकबंद पद्यबद्ध रचना को तो काव्य की श्रेणी में परिगणित कर लेते हैं, किन्तु गद्य की प्रणालियों में अभिव्यक्त सरस और भावनामय उक्ति को भी काव्य की संज्ञा नहीं देते। वस्तुतः गोस्वामी जी के 'भाव भेद रसभेद अपारा' की उक्ति के आधार पर बाबू साहब को काव्य की उदात्त तथा विस्तीर्ण भूमि ही ग्राह्य है जिसमें रस सौन्दर्य रमणीय अर्थ अलंकार तथा भाषा आदि विषय उसके प्रमुख अंग बन कर उपस्थित होते हैं। बाबू साहब के मतानुसार काव्य का सत्य अपनी विशिष्टता में भले ही कुछ अलौकिकता ग्रहण कर ले किन्तु उसका लोक हित कारी पक्ष कदापि उपेक्षणीय नहीं समझा जा सकता। उन्होंने मनोवृत्तियों तथा विषयों के आधार पर काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसके जो उपादान निर्दिष्ट किये हैं वे उनकी उर्वर मेधा-शक्ति के प्रतीक हैं। उनमें व्यंजित विचारणाओं ने उसकी परवर्ती समालोचना को विकसित होने में पर्याप्त प्रेरणा और आधार प्रदान किये हैं। उनका 'काव्यकार की साधना' विषयक निरूपण मौलिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार उन्होंने काव्य के वास्तविक अध्ययन के लिये काव्यकार की प्रतिभा का परिचय उसकी रचना-शैली क्रमानुकूल और विकासयुक्त तुलनात्मक प्रणाली जीवन चरित्र और श्रद्धा आदि को इसके मुख्य उपादान निर्दिष्ट करते हुए काव्यालोचन का एक प्रतिमान सा प्रस्तुत कर दिया है जिसकी झलक हमें उनकी व्यवहारिक समालोचनाओं में मिलती है। निश्चय ही यह प्रतिमान समीक्षण कार्य का एक आदर्श माना जा सकता है।

८२ बाबू साहब की सैद्धान्तिक समालोचनाओं में एक विचारणीय विषय यह है कि यद्यपि उन्होंने काव्य का विवेचन करते समय उसके अन्तर्गत गद्य और पद्य दोनों का समावेश किया था किन्तु कविता की सीमा उन्होंने पद्यबद्ध साहित्य तक ही परिमित रखी है। आगे चलकर फिर दोनों में तात्विक ऐक्यारोपण कर दोनों का विभेद व्यावहारिक दृष्टिकोण में ही माना है। कहने के लिये तो बाबू साहब ने कविता का विवेचन काव्य से भिन्न स्वरूप में किया है किन्तु उसमें भी प्रायः वे ही बातें कही गई हैं जो काव्य के सामान्य लक्षणों में आती हैं। उनके मतानुसार सात्विक वृत्तियाँ कविता अथवा काव्य के लिये अनिवार्य हैं ही किन्तु साथ ही साथ उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष में भी समन्वय की साधना का कम महत्व नहीं है। वे भाषा की सबलता व्यंजना आदि शक्तियों को उद्बुद्ध और पुष्ट करके भावों को रसमय बना देना ही वस्तुतः साहित्य के कला-पक्ष का काम मानते हैं जिसके अनुसार काव्य अथवा कविता भी इसी श्रेणी में परिगणित हो जाते हैं।[१] उन्होंने कविता की साधना को मुख्यतः शब्दों की साधना कहा है और उसका छन्दशास्त्र से भी सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है। भारतीय कविता के रूप को लेकर प्राचीन काव्यशास्त्रकारों ने जिन भिन्न-भिन्न मतों का निरूपण किया था उनका सामान्य परिचय देकर बाबू साहब ने बतलाया है कि कविता की व्यंजक शक्ति कवियों के महत्त्व तथा उसके आदर्श और कवि कल्पना आदि के विषय में उनके कैसे-कैसे विचार हैं। उनका यह विश्लेषण पराजित ही विशेष है क्योंकि उसमें स्वानुभूति और आत्म निर्णय की प्रवृत्ति बहुत कम है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उन्होंने कविता के व्यावहारिक विभाग कर हिन्दी कविता के स्वरूप-विकास का जो एक रेखाचित्र उपस्थित किया है, वह अत्यन्त पठनीय और सारगर्भित है।

दृश्य और श्रव्य काव्य का निरूपण

८३ बाबू साहब के 'साहित्यालोचन' में गद्य काव्य का विश्लेषण अत्यन्त विस्तृत और

---

१ बा० श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृष्ठ ८५।
२. वही, पृष्ठ ८१।

व्यापक विचार में हुआ है। उसका पाँचवाँ अध्याय तो केवल दृश्य काव्य के विवेचन से ही सम्बन्धित है जिसमें दृश्य काव्य की उत्पत्ति और नाटकों की परम्परा के विषय में भारतीय और यूरोपीय विचारों की सारगर्भित सहरणी एक स्थान पर मिल जाती है। इस विवेचन में अनुकरण को नाटक की मूलवृत्ति मान कर यूनानी रूपक-कला के क्रमिक विकास का भी सामान्य विवरण हो गया है और आजकल साहित्य-क्षेत्र में आदर्श और यथार्थवाद के नाम पर जिस प्रकार की धारणाएँ प्रस्तुत की जाती हैं उनके नाटकान्तर्गत महत्त्व और स्थान का भी प्रसंगानुकूल सामान्य संकेत दिया गया है। उसमें भारतीय रूपक-रचना प्रणाली रूपकों का रूप और अभिनय आदि के सम्बन्ध में अनेकानेक विचारों का संकलन भी है। इसके अतर्गत नाटक और उपन्यास का अन्तर बतला कर नाटकों की विशेषताओं के उद्घाटन का साधारण प्रयास हुआ है और आगे चल कर पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रियों की विचारणानुसार वस्तु, पात्र कथोपकथन देश काल शैली और उद्देश्य नामक उपशीर्षकों के अन्तर्गत नाटकों के छः तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इस विवेचन में 'साहित्य-दर्पण' और भरत के 'नाट्यशास्त्र' से यथेष्ट सामग्री ली गई है और एक प्रकार से उन्हीं के विवेचन पर आधारित होकर यह सारा निरूपण हुआ है। नाटक-रचना के सिद्धान्तों के अन्तर्गत अर्थ प्रकृतियाँ संधियाँ आदि की जो चर्चा है वह भारतीय 'नाट्य शास्त्र' के अनुसार है। साथ ही साथ संकलन त्रय के अंतर्गत यूनानी विचारकों द्वारा निरूपित वस्तु, काल और स्थल तीनों का विवेचन कर भारतीय नाट्य-मीमांसा में प्रतिपादित देश-काल के साथ उनका सामंजस्य प्रस्थापित किया गया है। अन्त में रूपक के १० और उपरूपक के १८ भेद गिनाकर अध्याय समाप्त किया गया है। इस विवेचन की सारी सामग्री प्रायः वही है जो उनके अन्य रूपक-रहस्य में है और इसमें नाट्य-शास्त्र और साहित्य-दर्पण की अनेक स्थलों पर तो ज्यों की त्यों उद्धरणी देख कर ही कतिपय आलोचकों ने इसे सर्वतोभावेन अनुकृति ग्रन्थ कहने का साहस किया है। कुछ भी हो बाबू साहब ने इस विवेचन द्वारा साहित्य अध्येताओं के हृदय में अपने प्राचीन साहित्य के प्रति एक जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न कर दी है और यह आवृत्ति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ?

८४ बाबू साहब ने दृश्य-काव्य-विवेचन के अनन्तर श्रव्य काव्य का विश्लेषण किया है जिसके अन्तर्गत उपन्यास आख्यायिका निबन्ध मुक्तक काव्य और साहित्यिक आलोचना सम्मिलित है। उनके इस विवेचन में उपन्यास और आख्यायिका साहित्य पर तो फिर भी विस्तृत विवेचना मिल जाती है किन्तु निबन्ध-साहित्य पर इनकी अपेक्षा बहुत कम सामग्री उपलब्ध होती है। मुक्तक काव्य पर तो उन्होंने सर्वथा अत्यन्त सामान्य और चलती बातें कहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तक काव्य की ओर बाबू साहब की विशेष रुचि थी ही नहीं अन्यथा उस पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता था। उन्होंने मुक्तक काव्य को पद्य-गीत का पर्याय कहा है और बतलाया है कि जो स्थान पद्य में रहस्यवादी कविता का है वही स्थान गद्य में मुक्तक काव्य का है।[1] उनका उपन्यास विषयक विवेचन यथेष्ट व्यापक और सधा हुआ है। वे उपन्यास का साहित्य में स्थान निर्धारित करते हुए यह भी स्पष्ट कर सके हैं कि रूपक अथवा नाटक की भाँति उपन्यास की भी कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं और उसके एक ओर जीवनी और दूसरी ओर कविता रहती है।[2] उपन्यास और छोटी कहानी या गल्प का क्या सम्बन्ध है उपन्यास के कोटि-क्रम कौन कौन से हैं तथा हिन्दी में उपन्यासों की कैसी साहित्यिक परम्परा रही है ? इन सब विषयों का भी उन्होंने क्रमिक विवेचन किया है। साथ ही साथ उपन्यासों के तत्त्वों के अन्तर्गत वस्तु पात्र कथोपकथन देशकाल शैली और उद्देश्य का अलग अलग विवेचन कर उपन्यास में अभि-

---

१ डॉ॰ श्याम सुन्दर दास साहित्यालोचन, पृष्ठ १ ३।
२ वही, पृष्ठ १४०।

व्यक्त यथार्थ और गीति आदि पर भी अपनी मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया गया है। इस विवेचन में बाबू साहब ने अध्यापन-कला की विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है जिसका एक उद्देश्य विषय का अधिक से अधिक विशदीकरण के साथ अभिव्यंजन होता है।

८४. बाबू साहब ने आख्यायिका-साहित्य पर कम लिखा है किन्तु जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त सारगर्भित है। आख्यायिका का आकार कितना बड़ा हो? उसका लक्ष्य क्या है? उसका और गीति काव्य का क्या सम्बन्ध है—इन विषयों पर भी उन्होंने प्रकाश डालने की चेष्टा की है। आख्यायिका द्वारा लोक-सेवा तथा उसमें प्रयुक्त नाटकीय आख्यान पर भी संक्षिप्त विवेचन है। अन्त में आख्यायिका के सिद्धान्तों का निरूपण है। यह सारा विवेचन प्रायः यूरोपीय सैद्धान्तिक समालोचना का सत्व है जो मुख्यतः हडसन के ग्रन्थों के निचोड़ के रूप में आया है। अभिप्राय यह है कि बाबू साहब ने आख्यायिका के विवेचन में अपनी मानसिक क्षमता और अभिरुचि के अनुरूप पर्याप्त सामग्री देने की चेष्टा की है। हाँ इस विवेचन की अपेक्षा उन्होंने निबन्ध-साहित्य का विश्लेषण स्वतन्त्र धरातल पर किया है। पश्चिमी साहित्य में जिस क्रम से निबन्ध का विकास हुआ है, उसका विवरण देकर उन्होंने बतलाया है कि निबन्ध के मुख्य उपकरण तथा उसकी प्रमुख कोटियाँ कौन-कौन सी हैं। उन्होंने 'आलोचनात्मक निबन्ध' के अन्तर्गत आने वाले विषयों का विवरण भी दिया है और हिन्दी निबन्ध के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा निबन्ध-साहित्य अपने वर्तमान स्वरूप में किस स्तर पर अवस्थित है।

रस शैली और आलोचना का विवेचन

८५. रस और शैली का विवेचन करने के पूर्व बाबू साहब ने साहित्य की मूल मनोवृत्तियों और उसके विविध पक्ष काव्य के तत्त्वसंगठन और अंतःकरण की वृत्तियाँ तथा बुद्धि कल्पना और मनोवेगों का विश्लेषण किया है, जिसका मुख्य उद्देश्य यह है कि पाठक रस के मूल भावों या मनोविकारों तक पहुँच सके और उनकी भित्ति पर रस-निष्पत्ति को समझ सके। उन्होंने मानवीय भावों को मुख्यतः इन्द्रियजनित प्रभावात्मक और गुणात्मक के भेदों में विभक्त कर उनके सहायक विभाव अनुभाव और संचारी भावों का सामान्य परिचय देने के पश्चात् भरतमुनि के रस-निष्पत्ति विषयक सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की है जो हमारे सम्मुख रस-सिद्धान्त की व्यापकता और गम्भीरता प्रस्तुत कर देती है। इसी प्रसंग में भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद भट्टनायक के भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की सैद्धान्तिक चर्चाएँ भी हैं, जिनमें भरत मुनि के रस-सूत्र का विश्लेषण विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं को आधार बना कर किया गया है। बाबू जी ने पं० केशव प्रसाद मिश्र द्वारा प्रतिपादित 'मधुमती भूमिका' और 'पर प्रत्यक्ष' की विचारधारा भी उद्धृत की है, जिसके अनुसार रस का आनन्द अलौकिक अति प्राकृतिक अथवा असामान्य सिद्ध होता है। बाबू जी रस की निष्पत्ति उस अतिरेकता में स्वीकार नहीं करते। उन्होंने रस को 'पर प्रत्यक्ष-गम्य' (सुपर सेंसुअस) माना है और अपने निर्णय में आधुनिक मनोविज्ञान का भी समावेश किया है, जिसके अनुसार रस अलौकिकता की अतीन्द्रियता से कुछ नीचे उतर आता है।[1] बाबू साहब का यह विवेचन उनकी प्रज्ञा का प्रतीक है, पर इसे ही अन्तिम निर्णीत विवेचन नहीं कह सकते क्योंकि रस-निष्पत्ति इतना सामान्य विषय नहीं है जिस पर अपना सहसा निर्णय दिया जा सके। सच तो यह है कि इसके समीक्षण में भारतीय आचार्यों ने अपने विविध दृष्टिकोणों से जो ऊहापोह अथवा तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए हैं, वे कई बातों में आधु

---

१. डा० श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचन, संशोधित संस्करण, १९४८, पृष्ठ ३१६।

निक मनोविज्ञान से अधिक उदात्त और मर्म है। अतः हमें तो बाबू साहब का यह विवेचन इस विषय के अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान के धरातल पर आगे बढ़ाने की प्रस्तावना मात्र जान पड़ता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल डा० नगेन्द्र पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि विद्वानों ने इस विषय को पर्याप्त आगे बढ़ाया है, फिर भी इसके सम्बन्ध में विवेचन के लिए यथेष्ट अवकाश बना हुआ है।

८७ प्रत्येक रस के सामान्य धर्मों उदाहरणों और पारस्परिक विरोधों का उल्लेख करने के पश्चात् बाबू साहब शैली के विवेचन में लगे हैं। उन्होंने पहले तो यह स्पष्ट किया है कि शैली का रूप क्या है और फिर उसके अन्तर्गत शब्दों का महत्त्व वाक्यों की विशेषता और उसके प्रभाव का विवरण दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत भारतीय शैली के आधार, विषयक विवेचन भी यथेष्ट उपादेय है। ग्रन्थ में काव्य शैली के अन्तर्गत अलंकारों का स्थान वाक्य और पदविन्यास की महत्ता छन्द-योजना और गुणधर्मा का उल्लेख है। प्रस्तुत विवेचन में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि शैली की श्रेष्ठता उसकी दुरूहता में न होकर उसकी सरलता सुबोधता और अभिव्यंजना शक्ति में होती है।[1]

८८. साहित्यालोचन का अन्तिम अध्याय साहित्य की आलोचना है, जिसके प्रारम्भ में आलोचना की परिभाषा करते हुए बाबू साहब ने लिखा है कि 'साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़ कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। उनके शब्दों में 'साहित्य यदि जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है और उसका क्षेत्र साहित्य की सभी विधाओं तक व्याप्त है यहाँ तक कि आलोचनात्मक ग्रन्थों की भी आलोचना की जा सकती है। उन्होंने आलोचना का क्षेत्र निर्धारित कर आलोचना का उद्देश्य उसकी उपादेयता आलोचक के आवश्यक गुण आलोचना द्वारा साहित्य-वृद्धि तथा साधारण तथा आलोचना करते समय प्रयुक्त विधि का विश्लेषण कर यह बतलाया है कि साहित्य-निर्माण में उसका कितना अधिक उत्तरदायित्व है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य आलोचना तथा उसके निर्माताओं का भी उल्लेख किया है और स्थायी साहित्य के गुण निर्दिष्ट कर सिद्ध किया है कि उसका प्रतिमान आलोचना किस रूप और प्रकार में ग्रहण करे। स्पष्ट है कि बाबू साहब ने साहित्य की आलोचना को अधिकाधिक व्यापक रूप में व्याख्यात करने का प्रयास किया है। उन्होंने बतलाया है कि साहित्य जब अपने स्वरूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तभी समालोचना का जन्म होता है। *उन्होंने आलोचना को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है* जिसके अभाव में साहित्य के विकास की कल्पना की ही नहीं जा सकती।[2]

८९ वैसे तो साहित्य की भाँति समालोचना की भी एक सम्पूर्ण इकाई अथवा निरपेक्ष सत्ता है किन्तु उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण से विभाजन भी किया जाता रहा है। बाबू साहब ने भी आधुनिक आलोचना के सैद्धान्तिक (स्पेक्युलेटिव) व्याख्यात्मक (इन्डक्टिव) निर्णयात्मक (ज्युडीशियल) तथा स्वतंत्र अथवा आत्म प्रधान (फ्री और सब्जैक्टिव) नामक चार प्रकार गिनाये हैं। कहने के लिए तो आलोचना के ये चारों भेद स्वतंत्र हैं किन्तु इनका पारस्परिक घनिष्ठाश्रित सम्बन्ध है। बाबू साहब 'शुद्ध सिद्धान्त और 'उसका प्रयोग' नाम से आलोचना के स्थूल विभाजन को भी स्वीकार करते हैं, जिसमें काव्य-मीमांसा' 'काव्य-प्रकाश' 'साहित्य दर्पण' आदि ग्रन्थ पहली श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं और सूर, तुलसी जायसी और कबीर आदि कवियों पर

1 डा० श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन संशोधित संस्करण १९५५, पृष्ठ ५६९।
वही, पृष्ठ ११०।

2 वही, पृष्ठ २ ।

लिखी गई आलोचनाएँ दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इसी क्रम में बाबू साहब ने आगे चलकर उपर्युक्त चारों प्रकारों की समालोचनाओं के अन्तर्गत कौन-कौन से विषय आते हैं तथा इनके क्षेत्र की व्यापकता कहाँ तक है, इसका भी विशद निरूपण किया है। साथ ही साथ वे इनको लेकर चलने वाले विभिन्न प्रवादों का यथावसर विश्लेषण करने से भी नहीं चूके हैं। इन्होंने प्रत्येक श्रेणी के आलोचक को यह सत्परामर्श दिया है कि वह आलोचना करते समय विश्व-रुचि अथवा मानव-आदर्श को सदैव दृष्टिगत रखे अन्यथा उसकी समीक्षा में संकीर्णता का दोष आ जायगा। वे आलोचना के अन्तर्गत प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली के चयन को भी कम महत्वपूर्ण विषय नहीं मानते और विदेशी भाषाओं से गृहीत शब्दों के लिये अपनी भाषा से उपयुक्त पर्यायवाची शब्दायोजन को आलोचना के पक्ष में परम निधि मानते हैं। कहना होगा बाबू साहब ने समालोचना के महान उत्तरदायित्व के विभिन्न पक्षों का सर्वांगीण निरूपण करने में कोई कसर नहीं रखी है और उनका आलोचना-विषयक विवेचन अत्यन्त तर्क-सम्मत और तत्वयुक्त है। अपनी सुबोध शैली में इसका निरूपण जिस वैज्ञानिकता से हुआ है, ऐसा अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

१० आलोचना के इसी प्रसंग में बाबू साहब ने बतलाया है कि श्रेष्ठ समालोचक के लिये जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान अनिवार्य है उसी प्रकार उसके लिये शब्द-शक्ति का ज्ञान साहित्य की आत्मा की परीक्षा और आलोच्य विषय और मान-दंड की प्रवृत्ति की जानकारी भी आवश्यक है। उनकी तो यह दृढ़ धारणा है कि आलोचक को अपने आलोच्य विषय के लक्ष्य की अनन्यता और अनासक्ति का भी ध्यान रखना चाहिए और यथासम्भव असम्बद्धता के दोष से निरन्तर बचने का भी ध्यान रखना चाहिए। इस सामान्य विवेचन के पश्चात् उन्होंने हिन्दी समालोचना की उपजीव्य सामग्री संस्कृत आलोचना-पद्धति की विशेषताओं का निरूपण किया है और यह बतलाया है कि सच्चा समालोचक सर्वथा निष्पक्ष और निर्दोष बनकर चलने का पूर्ण ध्यान रखता है। उन्होंने बतलाया है कि समालोचक को व्यक्तिगतता पूर्वाग्रह आदि दोषों से बचना चाहिए और अप्रासंगिक बातों के दलदल में भी नहीं फँसना चाहिए। उन्होंने संक्षेप में पश्चिमी आलोचना का इतिहास प्रस्तुत कर यह भी बतलाया है कि भारतीय सिद्धान्त के साथ उसका किस प्रकार सामंजस्य किया जा सकता है। सारांश यह कि बाबू साहब ने अपने इस परिच्छेद में आलोचना के सिद्धान्त पक्ष से सम्बन्धित अनेक प्रकार की ज्ञान-सामग्री और उपलब्धियाँ हमें प्रदान की हैं जिनके कारण ज्ञान के अपार भंडार के रूप में उनका साहित्यालोचन सदैव सम्मानार्ह रहेगा इसमें कोई सन्देह किया ही नहीं जा सकता। वस्तुतः वे साहित्यालोचन की रचना कर सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए एक भव्य पथ प्रदर्शन कर गये हैं और इस दृष्टि से उनका यह ग्रन्थ आधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास क्रम में किसी भी आत्मसम्मान स्थान से कम आलोच्यमय नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष तथा अन्यान्य कृतियों का उल्लेख

११ निष्कर्ष यह है कि बाबू साहब ने 'साहित्यालोचन' की रचना कर समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि की समन्वय-साधना के रूप में किया है। यद्यपि उनकी कृति में संकलन की मात्रा भी कम न रही फिर भी हिन्दी-समीक्षण की दरिद्रता को दूर करने में साहित्यालोचन सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। यह ग्रन्थ उनकी सिद्धान्त-विवेचना का आदर्श कहा जा सकता है, किन्तु इसी से उनकी समालोचक-प्रतिभा की समाप्ति नहीं समझनी चाहिए। उन्होंने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का जो इतिहास लिखा है अथवा 'भाषा-विज्ञान' जैसे नूतन विषय पर अपना मानसिक अभिकोषत्व प्रदान किया है उसकी मुद्राएँ पराजित होने पर भी

उनकी अपनी टकसाल में ढली हुई है। उनकी समालोचनाओं में प्राचीन काव्यकारों की जीवन रचनाओं की खोज तथा हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण मात्र भी हमारे अनुसन्धानकर्त्ताओं के उपयोग की स्थायी सामग्री है। 'भारतेन्दु-नाटकावली' 'कबीर ग्रन्थावली' सतसई सप्तक' 'राधा-कृष्ण ग्रन्थावली' 'गोस्वामी तुलसी दास' संक्षिप्त पदमावत 'हिन्दी निबन्धमाला' और 'रानी केतकी की कहानी' आदि पुस्तकों से हमें उनकी समालोचक-प्रज्ञा का ज्ञान हो जाता है। इस समस्त पुस्तकों में बाबू साहब के व्यक्तित्व की छाप है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती आदि पत्रिकाओं में उनके समय-समय पर जो लेख प्रकाशित हुए हैं उनसे भी उनकी समीक्षा-बुद्धि का ज्ञान होता है। अभिप्राय यह है कि श्यामसुन्दरदास जी का हिन्दी साहित्य को सामान्य विकास प्रदान करने के साथ उसके समालोचनात्मक संवर्धन में भी विशिष्ट हाथ है और द्विवेदी-युग की पार्श्व भूमि में अपना ऐसा असाधारण व्यक्तित्व रखते हैं जिसके समक्ष किसी अन्य समालोचक की गणना की ही नहीं जा सकती। कहना होगा हिन्दी साहित्य और उसकी समालोचना को विकसित करने वाले समालोचकों का निर्माण बाबू साहब के प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शन से ही हुआ है और भावी पीढ़ी उनके प्रति आज भी श्रद्धावनत है इसमें कोई सन्देह नहीं।

(४)

प० पद्मसिंह शर्मा

समालोच्य विषय और नवीन परम्परा का उन्मेष

१२ पं पद्मसिंह शर्मा को हिन्दी-समालोचना के संवर्द्धन-काल में दिए जाने वाले महत्त्व का मूल कारण उनकी बिहारी की सतसई की आलोचना' है। वसे तो उनके पूर्व भी बिहारी की सतसई एक लोकप्रिय रचना रही है और उस पर ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के गद्य-पद्य में अनेक टीकाएँ भी लिखी गई है, किन्तु शर्मा जी ने उसके भाष्य की भूमिका के रूप में तुलनात्मक समालोचना-पद्धति को आदर्श बना कर उसका जो काव्य-सौष्ठव विवेचित किया है, वह अभूत-पूर्व है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शर्मा जी ने सतसई की टीका और भाष्य लिख कर बिहारी को विश्व-साहित्य के महान् कवियों की श्रेणी में अभिषिक्त रूप से प्रतिष्ठित किया है तो बिहारी ने भी मानों ऐसे विद्वान और गुणग्राही समालोचक के लिए अपना रचनात्मक साहित्य प्रस्तुत कर उसे समालोचना क्षेत्र में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने का अवसर दिया है। शर्मा जी के पूर्व इस प्रकार बिहारी का गुण-संस्तव किसी भी आलोचक द्वारा नहीं किया गया था। इस क्षेत्र मे उनकी समालोचना वस्तुत विशिष्ट प्रकार की थी अत विद्वानों का ध्यान उसकी ओर नैसर्गिक स्वरूप मे आकृष्ट हुआ और वे समालोचना-क्षेत्र के महान् महारथी समझे जाने लगे। हिन्दी समालोचना के संवर्धन-काल के प्रारम्भिक चरण में उनके समान प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न मेधावी समालोचक बहुत कम थे जिन्होंने इस प्रकार कवियों के रचना-कौशल का विश्लेषण तुलनात्मक पद्धति से किया हो। उनकी इस प्रकार की समालोचना का इससे अधिक और क्या महत्त्व हो सकता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने सं १९७९-८ मे बारह सौ रुपयों का मयमाप्रसाद पारितोषिक अपने कानपुर में आयोजित अष्टम वार्षिक अधिवेशन पर राजर्षि श्री पुरुषोत्तम दास टंडन के सभापतित्व में उन्हें प्रदान किया। उस वर्ष के निर्णायकों ने उनकी 'सतसई' को हिन्दी समालोचना जगत् का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ घोषित किया था। समालोचना के तत्का-लीन स्वरूप को देखते हुए यह निर्णय वस्तुत समीचीन ही था क्योंकि जिस प्रकार और प्रणाली की समालोचना पं पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई का विषद विश्लेषण करते हुए लिखी थी वैसी उनके पूर्व किसी भी समालोचक द्वारा नहीं लिखी गई। आज उनकी समालोचना के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा अनेक प्रकार की निम्नोन्नत श्रेणियों को पार कर अपने रूप तथा प्रकार

में अत्यधिक विकासपूर्ण बन गई है किन्तु शर्मा जी द्वारा प्रतिष्ठित समालोचना-पद्धति को उसी रूप में विकासोन्मुख बनाने का सुष्ठु प्रयास बहुत ही कम हुआ है। मेरी दृष्टि में उनकी सतसई में तुलना और प्रभावाभिव्यंजन का ऐसा सुन्दर समन्वय है जिसमें उनका प्रच्छन्न पांडित्य मिल कर उसे समीक्षा-निबंधों का सम्यक् विधान प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है।

१३ पं पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की सतसई की विशद् समालोचना लिखकर हिन्दी साहित्यालोचन के क्षेत्र में एक नवीन परम्परा का उन्मेष किया है। उस युग में उनके पूर्व पं रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त कदाचित् ही किसी अन्य समालोचक ने इस प्रकार की प्रबन्धपूर्ण समालोचना लिखी हो। वैसे तो संस्कृत-साहित्य में भी कवियों की पारस्परिक तुलना का विधान रहा है किन्तु वह युग प्रणाली से अधिक विशद नहीं कहा जा सकता। संस्कृत के अनुकरण पर हिन्दी-साहित्य में भी तुलना की जो विधा पूर्ववर्ती युग में प्रचलित रही वह भी अत्यधिक अपर्याप्त और सूत्रबद्ध थी। उसके पर्यालोचन से अनुमान होता है कि तत्कालीन समालोचक तुलना की कोई निश्चित् दृष्टि अथवा निर्धारित प्रतिमान न बना पाने के कारण ऐसे कवियों को भी समीकरण तुला पर प्रतिष्ठित करने के लिए उद्यत हो जाते थे जिनके भाव पक्ष और कला-पक्ष में किसी भी प्रकार का कोई साम्य ही नहीं होता था। अभिप्राय यह है कि हिन्दी समीक्षा-जगत में भी तुलना की प्राचीन परम्परा के मूल बिन्दु थे अवश्य किन्तु जिस शिल्प-विधान और प्रक्रिया-पद्धति में पं पद्मसिंह जी ने उसे नवीन उद्भावना प्रदान की वह पूर्वयुग की अपेक्षा मौलिक और अभिनंदनीय थी अतः इस दृष्टि से उन्हें आधुनिक हिन्दी-समालोचना में तुलनात्मक प्रणाली का वास्तविक उन्नायक कहना अनुचितपूर्ण नहीं माना जा सकता।

वैयक्तिक अभिरुचि और प्रभावाभिव्यंजन की मात्रा

१४ यों तो शर्मा जी ने सतसई की समालोचना में वैयक्तिक रुचि और प्रभावाभिव्यंजक पद्धति का ही प्रधानतः प्रयोग किया है किन्तु उसका एक शास्त्रीय आधार भी अवश्य है। यह शास्त्रीय आधार रूढ़िग्रस्त और संकुचित नियमबद्धता की प्रणाली के मुक्त और स्वच्छंदतावादी विधि में प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने अपनी समालोचना के प्रारम्भिक वक्तव्य में कविता की उपयोगिता और महत्त्व का विवेचन कर अपनी समालोचना को प्रतिष्ठित करने की एक पीठिका प्रस्तुत कर दी है जिसका मंच शृंगार के मणि रत्नों से आलोकित है। कहा जा सकता है कि शर्मा जी का शृंगार रस का यह विवेचन अत्यन्त भावमय और आह्लादजनक है। अपने कथन को परिपुष्ट बनाने के लिए उन्होंने शृंगार के माहात्म्य को अनेक सुधीजनों की उक्तियों से विभूषित किया है, जिसका मूल प्रयोजन यह सिद्ध करने का है कि बिहारी ने जिस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का प्रसार किया वह वस्तुतः मानव-जीवन का अत्यन्त आकर्षक और भव्यतम पक्ष है। इस विवेचन में उन्होंने उन लोगों की मनोवृत्ति का भी तार्किक खंडन किया है जो शृंगार को अश्लीलता का पर्याय समझकर उस पर नाक भौं सिकोड़ते हैं और बिहारी के काव्य में किसी भी प्रकार का उज्ज्वल पक्ष नहीं पाते। द्विवेदी युग में इस प्रकार की पूर्व-पीठिका के आधार पर काव्यालोचन की पद्धति का बहुत कम विकास हुआ था अतः इस दृष्टि से भी शर्मा जी के कार्य का महत्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की समालोचनात्मक प्रणाली से अनेक बार अपने पक्ष-समर्थन का अनुचित अतिरेक भी व्यंजित होने से नहीं बच पाता।

१५. शर्मा जी ने बिहारी की सतसई की जो इतनी विशद् विवेचना की उसका मूल कारण तो उनकी आंतरिक अभिरुचि अथवा मानसिक प्रवृत्ति तो थी ही किन्तु उसका बाह्य कारण एक और भी है। वह यह कि उन्हें सवत् १९६७ विक्रमी में प्राय वर्ष पर 'सरस्वती' पत्रिका में सतसई की एक प्रसिद्ध टीका पर 'सतसई-संहार' शीर्षक एक कटु आलोचना लिखनी पड़ी जिसने

विद्वद्-समाज का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया और जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपनी अभिरुचि तथा पाठकों के सानुरोध निवेदन के कारण सतसई का भाष्य और समीक्षण करना पड़ा। ऐसा करते हुए शर्मा जी ने सतसई की समस्त उपलब्ध टीकाओं और विवेचनाओं का उपयोग किया था और उन सबके अध्ययन के पश्चात् उनके मानस-लोक में जो प्रतिक्रिया हुई, उसी का परिणाम हुआ सतसई की समालोचना। सचमुच इस प्रकार की तुलनात्मक समालोचना का मार्ग उन्होंने हिन्दी-साहित्य में स्वयं निकाला है और ऐसा करते हुए पाश्चात्य साहित्य और भारतीय तथा अरबी साहित्य-परम्परा का भी यथावसर प्रयोग किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलनात्मक समालोचना को सुन्दर अभिव्यक्ति और रूप-रचना प्रदान करने के लिए उन्हें अन्यान्य साहित्यों का भी गम्भीर और मर्मस्पर्शी अध्ययन करना पड़ा था क्योंकि यह स्वाभाविक है कि जब तक इस प्रणाली में प्रवृत्त होने वाले समालोचक का अध्ययन व्यापक नहीं होता तब तक उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। मेरी समझ में शर्मा जी का यह प्रयास अपने ढंग का सर्वप्रथम प्रयास है और यही कारण है कि इसने हिन्दी प्रेमी सुशिक्षित जनों का ध्यान समालोचना जैसे शुष्क और गम्भीर समझे जाने वाले विषय की ओर जितनी शीघ्रता से आकर्षित किया उतना किसी अन्य समालोचक की कृति ने नहीं। सच तो यह है कि शर्मा जी की इस समालोचना को पढ़ कर अनेक रसिक-जनों ने बिहारी की सतसई का आद्योपान्त अध्ययन किया और उसके काव्य सौरस्य का आस्वादन कर अपने को कृतकृत्य बनाया। इस प्रकार उनकी यह समालोचना एक ओर जहाँ हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के प्रचार और प्रसार में सहयोगी बनी तो दूसरी ओर उसने अपने समकालीन अनेक समालोचकों को भी नवीन स्फूर्ति और पथ-निर्देश प्रदान किये।

१६ कहा जा सकता है कि जिस प्रकार बिहारी की परमा हिन्दी नवरत्नों में कराने का एकमात्र आधार उनकी सतसई है, उसी प्रकार पं० पद्मसिंह शर्मा को भी हिन्दी समालोचना क्षेत्र में गौरवमय अधिष्ठान प्रदान करने का मूल कारण उनकी बिहारी सतसई की समालोचना है। चूँकि हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का अभिनव प्रयास सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा किया गया था अतः उसमें त्रुटियाँ होनी भी स्वाभाविक थी। किन्तु इस तथ्य का भी निषेध नहीं किया जा सकता कि शर्मा जी को इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने का ही अधिक श्रेय प्राप्त है। अपने प्रकृत विषय पर आने के पूर्व उन्होंने सतसई के उद्भव और विकास का जो खोजपूर्ण विश्लेषण किया है वह उनके व्यापक अध्ययन का प्रतीक है। यह विश्लेषण मूल विवेच्य विषय से विच्छिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि आगे चल कर उन्होंने गाथा सप्तशती आर्यासप्तशती तथा अमरुकशतक आदि संस्कृत ग्रन्थों से जो बिहारी के दोहों की तुलना की है, उनकी पृष्ठभूमि में इसका परिचय आवश्यक था। अपनी तुलना को पूर्ण बनाने के लिए उन्हें संस्कृत प्राकृत उर्दू और फारसी के साथ-साथ हिन्दी के भी अनेक कवियों की कृतियों का गम्भीर अध्ययन करना पड़ा था और तब कहीं जाकर वे बिहारी के साथ उनके साम्य का सम्यक् अन्वेषण कर सके थे। अतः इस दृष्टि से भी उनकी यह समालोचना महिमामण्डित ही कही जायगी।

समालोचना में तारतम्य, वैज्ञानिकता और व्याख्यात्मक प्रभा

१७ शर्मा जी की समालोचना में एक तारतम्य और वैज्ञानिकता है। अपने समालोच्य विषय में अवतीर्ण होने के पूर्व उन्होंने अपने संरक्षण और समर्थन की पूरी भूमिका सी कर ली है। उन्होंने गाथा-सप्तशती आर्यासप्तशती' और 'अमरुकशतक' को बिहारी की सतसई के तीन आदर्श ग्रन्थ माने हैं। वे स्वयम् इस बात को स्वीकार करते हैं कि बिहारी ने उक्त ग्रन्थों के अनेक गाथाओं से सामग्री ली है किन्तु उनका यह काम 'चोर-कर्म' नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने

जिन भावों को लिया भी है उन्हें अपने व्यक्तित्व से प्रतिरंजित कर उन्हें मौलिक सा बना दिया है।[1] अपने पक्ष को शास्त्रीय सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्य-मीमांसा' से उदाहरण देकर भावापहरण की अत्यन्त विशद् और मार्मिक मीमांसा की है जिसका मूल प्रयोजन यही सिद्ध करने का है कि यदि बिहारी के काव्य में पूर्ववर्ती कवियों की छाया प्रतिबिम्बित भी हो जाय तो उसे उनका दोष मानना अनुचित होगा। शर्मा जी का यह समर्थन वैसा ही है जैसा आधुनिक वकील अथवा धारा-शास्त्री अपने पक्ष को सच्चा सिद्ध करने के लिए संविधान का सहारा लेकर उसकी मनमानी व्याख्या करते हैं।

६८. शर्मा जी की समालोचना का व्याख्यात्मक अंश अत्यन्त आकर्षक है। वे बिहारी के दोहों को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए उनके एक एक शब्द और अक्षर को लेकर उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थों तक पहुँचे हैं और उनके साम्यमूलक अन्य कवियों के काव्यांशों के उदाहरण देकर बिहारी की उच्चता और भी व्यापक और पुष्ट धरातल पर सिद्ध कर सके हैं। उनका तो निर्भीक निर्णय है कि इतर विद्वान् चाहे बिहारी के दोहों को लेकर कितनी ही विवेचनाएँ करें अथवा उन पर कुण्डलिया या कवित्त लिखें किन्तु बिहारी ने छोटे से छंदों की गागर में जो भाव-सौन्दर्य का सागर भर दिया है, उसकी समता की ही नहीं जा सकती। वे कहते हैं:

"जरा से दोहे में जो अर्थ सिमट बैठा था वह वहाँ से निकलते ही इतना फैला कि कुण्डलियों और कवित्तों के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानो गंगा का समुद्र वेग प्रवाह है जो शिवजी की लटों से निकल कर फिर किसी के काबू में नहीं आता। इंजीनियर लाख कारस्तानी कर हारे पर भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े से बड़े गड्ढे में भरकर रोक रखना सामर्थ्य से बाहर की बात है, हो नहीं सकती ऐसा हो नहीं सकता।"[2]

६९ उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि शर्मा जी का यह विवेचन काव्यालोचन न होकर प्रभावाभिव्यंजन प्रणाली में स्वतः एक भावप्रवण काव्य सा बन गया है। उसमें तथ्यग्रहण की उतनी प्रवृत्ति नहीं है जितनी आत्म-विभोर होकर समालोच्य विषय की एकमात्र प्रशंसा करने की। निश्चय ही इस प्रकार की प्रणाली गद्य-काव्य के सृजन अथवा रचनात्मक साहित्य के निर्माण में ही अधिक सफल हो सकती है। इससे यह बात तो अवश्य ध्वनित होती है कि समालोचक भी अपनी भावुकता तथा चमत्कृति में कवि की रस-संसिद्धि के निकट पहुँचने में प्रयत्नशील है किन्तु वह उसका भावन करने में अपना मानसिक संतुलन खोकर कवि के हाथों में केवल आत्मसमर्पण कर देता है जिससे उसका बौद्धिक पक्ष उभरने के स्थान पर और अधिक दब जाता है। यों तो अनातोले फ्रांस आदि पश्चिमी विचारकों ने भी इस प्रकार की प्रभावाभिव्यंजनवादी प्रणाली को समालोचना की सर्वश्रेष्ठ पद्धति माना है किन्तु ऐसा करना संभवतः अधिक उचित नहीं है क्योंकि काव्य-परीक्षण में यदि इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग किया जाय तो वह समालोचना न होकर एक दूसरी भावमय कविता बन जाती है जिसके द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचना तो असम्भव सा है। शर्मा जी की समालोचना में इस प्रकार की प्रवृत्ति अधिकांशतः मिलती है जो अपनी विशिष्टता में अद्वितीय होने पर भी समालोचना के गम्भीर दायित्व को वहन करने में अधिक समर्थ नहीं है। बिहारी जैसे शृंगारी कवि के काव्य-विश्लेषण में इसकी उपयोगिता एक सीमा तक भले ही स्वीकार कर ली जाय किन्तु काव्यालोचन का गम्भीर विश्लेषण तो इसमें किया ही नहीं जा सकता। अतः इसका महत्त्व विशेष सीमाओं में ही ग्राह्य समझा जाना चाहिए। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी

---

[1] पद्मसिंह शर्मा : बिहारी की सतसई पहला भाग, प्रथम संस्करण पृष्ठ ११।
[2] वही, पृष्ठ १२।

को कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं माना है और उस
इस प्रकार की प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा
मालोचना तक कहना व्यर्थ समझा है।

पूर्वग्रह तथा काव्य-सौष्ठव-विधान

में बार-बार यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया
१० शर्मा जी ने अपनी समालोचना
और उनकी सतसई-प्रणाली का महत्त्व सर्वोत्कृष्ट
है कि बिहारी हिन्दी साहित्य के अनुपम कवि हैं
है। बिहारी के पक्ष-समर्थन का उन्हें इतना अधिक व्यामोह है कि वे उसके सम्बन्ध में किसी भी
समालोचक की प्रतिकूल विवेचना को सुनना ही नहीं चाहते और यदि कोई बिहारी के दोहों की
समता में किसी अन्य कवि की रचनाओं को रखने का साहस भी करता है तो वे उसका मद् से
भरा उपहास करने में नहीं चूकते। उनका इस प्रकार का विवेचन कई स्थलों पर उन वक्ताओं अथवा
मल्ल-योद्धाओं का सा हो गया है जो मंच अथवा अखाड़ों में अपना ही एकछत्र आधिपत्य चाहते हैं
और जिनमें विरोधी के सत्य कथन के श्रवण की भी सहिष्णुता नहीं होती। ऐसी परिस्थिति में
उनकी समालोचना एकपक्षीय और पूर्वग्रही-मात्र ही अधिक बन सकी है। यह बात निश्चित है कि
इस प्रकार की समालोचना द्वारा अपने मन' प्रिय कवि के काव्य-सौन्दर्य का सूक्ष्म तथा व्यापक
विवेचन अवश्य हो जाता है। शर्मा जी ने बिहारी के दोहों का काव्य-सौन्दर्य और कला-चातुर्य जिस
विधि से व्याख्यात किया है वैसा अन्य किसी भी समालोचक द्वारा नहीं किया गया अत: इस
दृष्टि से तो उनका समालोचना-साहित्य की सम्वर्धना मे महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ता है।

११ शर्मा जी की समालोचना में 'बिहारी-सतसई' का सौष्ठव प्रायः सवा सौ पृष्ठों में
विवेचित हुआ है। इस सौष्ठव-समीक्षण के पूर्व उन्होंने गाथा-सप्तशती' और 'आर्यासप्तशती' से
बिहारी के दोहों का मुकाबिला किया है। ऐसा करने के लिए उन्होंने अपनी अभिरुचि के अनु
कूल ऐसे अनेक दोहों का संचयन कर लिया है जिनके भाव-साम्य के आभास उन्हें इतर कवियों में
मिले हैं और तदुपरांत तुलनात्मक प्रणाली में दोहों और उनकी समता में रखे गये अन्य पदों का
भाव विश्लेषण करते हुए बड़ी सूक्ष्मता और तार्किकता से उनका पारस्परिक अंतर स्पष्ट कर दोहों
को विजय-श्री प्रदान की है। इस विवेचन के अध्ययन से काव्य का सा आनन्द मिलता है क्योंकि
दोहों की समता में रखे गए विविध छन्द भी अपनी छटा में उनसे कम नहीं है। सचमुच ऐसा करते
समय विद्वान् समालोचक को दोहों के अनुकूल छंदों का अनुसंधान करने में बड़ा परिश्रम करना
पड़ा है। उनकी तुलना का एक विधान निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा —
कविता की करामात सुनी होगी तो
इस हजरत ने यदि बिहारी से
क्या हुआ ?
निकाल भी ली तो
क्यों त्यों करके
"क्या अच्छी सूझी है
आँखें
मरे बाबा
ऐसी फिजूल बारह कभी न करते।
जिनका समालोचना
भरी पड़ी हैं
निकाल सकोय।'
इस नामन के मुंह में से तो मन तो नहीं
ने सतसई का सौष्ठव निरूपित
न जाने कितनी कविताएँ
तुलना के अन्तर्गत इस प्रकार की
कहने का अभिप्राय यह है कि शर्मा जी
के काव्यांशों का उदाहरण है
कहना बड़े साहस का काम है।
फारसी तथा हिन्दी के अनेक कवियों
करने के लिए संस्कृत प्राकृत उर्दू
का प्रयास किया है।
कर इसी प्रकार उन्हें बिहारी की प्रतिमा से हीन सिद्ध करने
प्रशंसा करते हुए उस
१०२ शर्मा जी की समालोचना की शुक्ल जी ने एक सीमा तक
उसमें उस
और शाबाशी की महफ़िली ढंग
जगह-जगह जुमलेबाजी
पथ छिप नहीं जाता। वस्तुत:
पर बिहारी ने अपनी सतसई की
बहिष्कृत ही माना है और उसमें "बिना बरुरत के
किन्तु इससे उसका उज्ज्वल
जिसके अनुकरण
को एक चटकम वाली बात कहा है
साहित्य-परम्परा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है

१ दे० पदम सिंह शर्मा : बिहारी की सतसई : समर्थ का अन्य-संग्रह, पृष्ठ ७१।
२ दे० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ २१।

की रचना की थी। शर्मा जी ने विवेचन के अन्तर्गत शास्त्र-सम्मत पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर उनके सत्य को उद्घाटित किया है और ऐसे शब्दों पर विशेष बल दिया है जो हमारे काव्य-शास्त्र की विवेचना के मूल आधार रहे हैं। ऐसे प्रयुक्त शब्दों से यह अनुमान सहज ही लग सकता है कि शर्मा जी में केवल शब्दों का वाग्जाडम्बर ही नहीं अपितु काव्य-शास्त्र के अध्ययन से उद्भूत व्यक्तित्व भी है। उन्होंने शास्त्रीय विवेचन को भी अपनी भावमयी शैली से तर्कपरिमिश्रित बनाकर ऐसे विधान में समुपस्थित किया है, जिसमें नीरसता का कहीं अणुमात्र भी नहीं आ सका है। उदाहरणार्थ वे एक स्थल पर बिहारी के विरह-वर्णन की विचित्रता का उद्घाटन करने के लिए अलंकार शास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करते हुए लिखते हैं

"अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन में एक निराला बाँकपन है, कुछ विशेष चमत्कार है व्यंग्य का प्राबल्य है अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान और रस की खान है) और अत्युक्ति का अत्युत्तम उदाहरण है, जिस पर अधिक सुजान सौजान से फ़िदा है।"[1]

तुलनात्मकता का आधिक्य और इतर समीक्षकों पर आक्षेप

१ ३ शर्मा जी की समालोचनाओं में तुलनात्मक प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित है। उन्होंने बिहारी के काव्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में साधारण से साधारण बात कहते समय भी उसको सौष्ठव प्रदान करने के लिए उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कवियों के साम्यमूलक उद्धरण अवश्य दिए हैं। उनका विवेचन चाहे विरह-वर्णन से सम्बन्धित हो अथवा पांडित्य प्रदर्शन से सम्बन्धित वे तो सर्वत्र बिहारी की सर्वाधिक सम्पन्न स्थिति के लिए तर्कपूर्ण संकेत निकाल ही लेते हैं। इतना ही नहीं उन्हें बिहारी के काव्य में कहीं कोई दोषोद्भावना भी मिली है तो उसका परिहार भी उन्होंने अपने पांडित्यपूर्ण विवेचन से कर दिया है। उन्हें बिहारी का काव्य ऐसी खांड की रोटी के समान लगा है जिसको जिधर से तोड़िए, उसका मीठापन कम न होगा।[2] उनकी समालोचनाओं में सैद्धान्तिक व्याख्यावली भी प्रयुक्त हुई है, किन्तु उनकी भावपूर्ण व्याख्या के आगे उसकी मूलभूत सत्ता निष्प्रभ है। बिहारी के कवित्व और व्यापक पांडित्य की प्रकृत भूमि पर अवतीर्ण होने के पूर्व उन्होंने सिद्धान्त-पक्ष के रूप में इस प्रकार की भूमिकाएँ भी बाँधी हैं

'कवि प्रकृति का पुरोहित होता है। जिस प्रकार पुरोहित के लिए यजमान के समस्त कुलाचारों और रीति-रिवाजों का अंतरंग ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यों का मर्मज्ञ होना उचित है। प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। अक्षेय मीमांसा करने बैठना आकाश के तारे तोड़ने बैठना कवि का काम नहीं है।[3]

१ ४ शर्मा जी के सैद्धान्तिक पक्ष के मूल में भी बिहारी के कलापूर्ण काव्य और पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन की ही भावना मुख्य है। उन्होंने बिहारी की बहुज्ञता सिद्ध करने तथा उनकी प्रतिभा का विस्तार बतलाने के लिए ऐसे अनेक दोहों की मीमांसा की है, जिनसे बिहारी का गणित ज्योतिष वैद्यक दर्शन राजनीति इतिहास पुराण और भक्तिमार्ग आदि विविध विषयों

---

१ प० पद्मसिंह शर्मा बिहारी की सतसई प्रथम संस्करण पृ० ११।

२. वही, पृ० २१३।

३ वही, पृ० २१४।

का गम्भीर ज्ञान सिद्ध होता है। ऐसा करते समय वे कई स्थलों पर तो इतने अधिक भावमग्न हो गए हैं कि उन्हें उक्त विषयों से सम्बन्धित साधारण उक्ति भी किसी मौलिक सूझ और महती कल्पना से कम नहीं लगती। सच तो यह है कि पं पद्मसिंह शर्मा को बिहारी के काव्य में सर्वत्र गुण और चमत्कार ही नजर आते थे अतः उन्होंने उनके प्रदर्शन के साथ-साथ उन समालोचकों की भी कटु आलोचना की जिन्होंने बिहारी के काव्य में दोष-दर्शन का प्रयास किया था। ऐसे विद्वानों को उन्होंने खूब आड़े हाथों लिया है और अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में उन्हें समालोच्य विषय से अनभिज्ञ सिद्ध किया है। यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि शर्मा जी के जिन विद्वानों और समालोचकों की खबर ली है, उनमें साहित्याचार्य पं अम्बिकादत्त व्यास और मिश्रबन्धु प्रधान थे। व्यास जी ने अपनी 'बिहारी-बिहार' नामक रचना में बिहारी के दोहों में साम्यदोष स्थलों का अनौचित्य अश्लीलता और वीभत्स तथा कुछ स्थलों पर उत्तम उक्ति में न्यूनता आदि का निर्देश किया था जिन्हें लेकर शर्मा जी उन पर बरस पड़े हैं और उनके द्वारा निर्दिष्ट दोषों को ही उन्होंने गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके इस विवेचन को साहित्यालोचन में प्रयुक्त वैयक्तिक अभिरुचि की दृष्टि से भले ही समुचित कह दिया जाय किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उसमें शर्मा जी की भी हठधर्मी झलके बिना नहीं रहती। इसी प्रकार उन्होंने मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी-नवरत्न' में निर्दिष्ट बिहारी के कतिपय न्यून पक्षों का भी विश्लेषण कर उनके द्वारा समीक्षित निम्न भाव को भी शृंगार रस का छलकता हुआ प्याला कहा है। अभिप्राय यह है कि शर्मा जी की बिहारी की सतसई आदि से अंत तक अपने प्रिय कवि के काव्य की वकालत है जिसकी चपेट में अनेक कवि और समालोचक भी यथाप्रसंग आने से नहीं बच सके हैं। इस प्रकार की समालोचनाओं से अपने रुचि-प्रिय कवि की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन भले ही हो जाय किन्तु सीमित ज्ञान वाले पाठक के लिए बहकाने के अवसर भी कम नहीं होते।

१ ५ पं पद्मसिंह शर्मा की समालोचना का एक परिशिष्ट यह भी है कि उन्होंने बिहारी सतसई की 'भावार्थ प्रकाशिका टीका' की समालोचना 'सतसई-संहार' शीर्षक से की है, जिसमें उन्होंने बिहारी के कुछ दोहों को लेकर मिश्र जी की टीका के अनेक प्रकार के दोषों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है। कहना होगा शर्मा जी ने जिस प्रकार बिहारी के काव्य-सौष्ठव का गुणगान करते हुए अपनी समालोचनाओं में उन्हें संस्कृत प्राकृत उर्दू फारसी तथा हिन्दी के अन्यान्य कवियों से असाधारण एवम् विशिष्ट श्रेणी प्रदान की थी उसी प्रकार उन्होंने 'सतसई संहार' में मिश्र जी की टीका को उस महाकवि के मूल ग्रंथ का विध्वंसक सिद्ध कर उसे दो कौड़ी की भी नहीं बतलाया है। निस्सन्देह ऐसा करते हुए पद्मसिंह जी का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर और कहीं-कहीं पर अशिष्ट भी हो गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने 'विद्या-वारिधि जी' पर जो टीकागत लांछन लगाए हैं वे सर्वथा निराधार हैं किन्तु उनसे विद्वान् समालोचक की हस्की मनोवृत्ति भी झलके बिना नहीं रहती। समालोचना के बीच-बीच में उनके द्वारा किए गए व्यंग्य बहुत ही तीक्ष्ण और मर्मभरी हैं। उनकी विवेचन शैली प्रायः वैसी ही है जैसी द्विवेदी युग की वाद-प्रतिवाद प्रणाली में अनेक सम्भ्रान्त विद्वानों द्वारा भी प्रयुक्त की जाती थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू बालमुकुन्द गुप्त में 'भाषा की अनस्थिरता' और 'व्याकरण विचार' विषय को लेकर जो अशोभनीय वाद-विवाद चला था उसकी छाया शर्मा जी के इस विवेचन पर भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की समालोचना लिखते समय व्यक्तियों का ध्यान मुख्य विषय के समुचित प्रतिपादन की ओर न होकर केवल समालोच्य विषय के दोषान्वेषण का ही अधिक रहता है। पद्मसिंह जी ने भी मिश्र जी की 'विद्या-वारिधि' 'व्याख्यानवाचस्पति' आदि उपाधियों पर कठोर व्यंग्य किए हैं और इस प्रकार उनकी यह समालोचना साहित्य-समीक्षा की अपेक्षा वैयक्तिक वैमनस्य की निर्देशिका अधिक मात्रा में बन गई है। शर्मा जी ने मिश्र जी की टीका को तो दोषपूर्ण सिद्ध

किया ही है साथ ही साथ उनके अलंकार-निरूपण को भी भ्रांत और अशुद्ध बतलाया है। अपने पक्ष-समर्थन में शास्त्रीयता का आधार लेकर उन्होंने खंडन-मंडन की प्रणाली को और अधिक संपुष्ट बनाया है। इस समालोचना से शर्मा जी का प्रतिपाद्य प्रयोजन यही है कि बिहारी जैसे कवि के काव्य-रत्नों का संहार विद्यावारिधि जी की निर्मम लेखनी से हुआ जिसके कारण उसकी यश चन्द्रिका में कलंक ही लगा। अतएव शर्मा जी के मतानुसार सतसई की 'आचार्य प्रकाशित टीका' सतसई के मूल अर्थ का संहार करने वाली है और उसके लेखक ने भूमिका में जो इस बात का उल्लेख किया है कि टीका करते समय कई सतसई हमारे सम्मुख रहीं वह निरर्थक और तथ्यहीन है। यहाँ इसी प्रसंग में इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्यावारिधि जी की टीका का प्रकाशन संवत् १९६६ में भी वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से हुआ था और उसकी आलोचना शर्मा जी ने उसी समय के आसपास की थी जिसमें तत्कालीन समालोचना-वृत्ति के अनेक तत्वों का संयोजन सहज भाव से अन्वेषित किया जा सकता है।

समालोचना के अन्य विषय तथा कार्यों का मूल्यांकन

१६. तुलनात्मक समालोचना के साथ-साथ पं. पद्मसिंह शर्मा ने साहित्य और समाज से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर अनेक निबन्ध भी लिखे हैं, जिसका प्रकाशन 'पद्म-पराग' के नाम से हो चुका है। उन्होंने हिन्दुस्तानी एकेडमी के अनुरोध पर हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी विषय पर जो भाषण दिया था वह भी उनके सुलझे हुए विचारों की विवेचना करने में यथेष्ट सहायक है। तुलनात्मक समालोचना पद्धति का संघटन तो उनकी कृतियों का मूलाधार ही है। अपनी इस पद्धति और बिहारी विषयक मान्यताओं का निष्कर्ष उन्होंने सतसई के उपसंहार में जिस रूप में दिया है वह उनके दृष्टिकोण को समझने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। उनका निम्नलिखित उद्धरण इस कथन की पुष्टि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण होगा—

"तुलनात्मक समालोचना का उद्देश्य भारतीय साहित्य के विधाता संस्कृत कवियों का अपमान करना नहीं है, उन पर लेखक की बिहारी से भी अधिक पूज्य बुद्धि है संस्कृत कवियों के भाव के साम्य को ही वह बिहारी के काव्योत्कर्ष का कारण समझता है। संस्कृत कवि उपमान है। बिहारी उपमेय है। उपमान और उपमेय में जो भेद है वह स्पष्ट है। कहीं कहीं जो व्यतिरेक प्रदर्शन है, वह मतिभ्रममूलक हो सकता है बुद्धिपूर्वक पक्षपातजन्य नहीं।"[1]

१७. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने पं. पद्मसिंह शर्मा को 'शृंगारिक परम्परा का प्रशंसक' माना है किन्तु उनके इस कथन का यह आशय नहीं है कि वे शृंगारिकता से सम्बन्धित थे। सच तो यह है कि पद्मसिंह जी ने रीतिकालीन कविता और बिहारी के काव्य को एक सौष्ठवपूर्ण दृष्टि से देखा था और वे उसकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों का विवेचन पूर्ण तन्मयता से कर सके थे। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में उनका गम्भीर प्रवेश था और वे अरबी-फारसी के भी विद्वान् थे अतः उन्होंने बिहारी के काव्य का समीक्षण करते हुए भाव-साम्य अथवा अर्थ-सौरस्य की अभिव्यंजना के आधार पर समालोचना-क्षेत्र में एक ऐसी शैली को जन्म दिया जिसे तुलनात्मक प्रणाली कहा जा सकता है। यद्यपि उनके पूर्व भी कवियों के काव्य की तुलना की परम्परा संस्कृत-साहित्य में होती हुई हिन्दी-साहित्य में आई थी किन्तु उसका रूप केवल सूचनात्मक ही रहा। शर्मा जी ने उसको साध्य का विधान प्रदान किया और वे तुलना के अंतर्गत शब्द-ध्वनित और अभिव्यंजना की सूक्ष्मता की ओर भी जा सके। वस्तुतः उनका यह प्रयास हिन्दी समालोचना के विकास में एक

[1] पं. पद्मसिंह शर्मा बिहारी की सतसई प्रथम संस्करण पृष्ठ २७३।

नवीन दिशा का प्रेरक था जो कालांतर में उतना गौरव नहीं बन सका जितना समयानुकूल रूप से बनना चाहिए।

१०८. पं पद्मसिंह जी की समालोचना पद्धति का हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में एक विशिष्ट व्यक्तित्व है। उसके प्रतिमान आज पुरातन और जीर्ण हो चले हैं, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है। समालोचना के संवर्धनकाल द्विवेदी-युग में तो उसका प्रवाह निश्चय ही विशिष्ट श्रेणी का रहा है और आज का समालोचना-साहित्य का अनुसंधित्सु उसकी उपेक्षा कर चल ही नहीं सकता। फिर भी यह भी कहना बड़ा कठिन है कि उनकी समीक्षा-पद्धति से कवि और उसके काव्य की आत्मा तक पहुँचने का कोई मार्ग अन्वेषित किया जा सका है या नहीं। वास्तविकता तो यह है कि शर्मा जी शब्दों के पारखी और उनकी प्राण-शक्ति के जानकार थे अतः वे अधिकांशतः केवल समालोचना के शरीर-पक्ष का ही उद्‌घाटन कर सके और उनके द्वारा कवि के मानसिक संस्थान और सामाजिक परिवेश का वह सूक्ष्म विश्लेषण नहीं हो सका जो उनके परवर्ती काल में हुआ। फिर भी उनकी समालोचनाओं से यह अवश्य व्यक्त हो गया कि बिहारी हिन्दी के उच्चतर महाकवियों में से एक हैं और उनका साहित्याकलन किसी भी साहित्य-चिंतक के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनकी बिहारी की समालोचना ने हिन्दी के समालोचक-वर्ग का भी ध्यान अन्यान्य कवियों की कृतियों का उसी स्तर विधि से विश्लेषण करने की ओर आकर्षित किया जिसका कालांतर में एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में 'देव और बिहारी' अथवा 'सूर और तुलसी' को लेकर अनेक बार अवांछित विधि में भी समीक्षात्मक निर्णय किए गए, जिससे साहित्यालोचन का प्रकृत क्षेत्र कुछ स्थलों पर कर्दममय सा बन गया।

१०९. यह सब कुछ होते हुए भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि पं पद्मसिंह शर्मा की समालोचना में अपेक्षित गाम्भीर्य का न्यूनांश भी है। यह एक बड़ी स्वाभाविक किन्तु विचित्र बात है कि उनके समालोच्य विषयों की व्यक्ति-विधि में जहाँ हमें एक ओर अपने विकास काल के विकास के चिह्न मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर उनके गर्भ में अनागत के प्रस्फुरण बिन्दु भी संवहित हैं जो कालक्रम से आगे चलकर नैसर्गिक रूप से विकसित बने थे। आचार्य शुक्ल ने पद्मसिंह जी की समालोचना-विधि को 'महफ़िली तर्ज वाली' कहा है जो यथेष्ट सत्य है किन्तु केवल इसी निर्णय के प्रति पूर्वाग्रही बन कर हमें शर्मा जी के समीक्षा-साहित्य के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिए। मुझे तो ऐसा लगता है कि साहित्य-समालोचक का भी एक मानसिक स्तर और उसकी विशेष प्रवृत्ति होती है जो अपने मनोनुकूल साहित्य-स्रष्टा अथवा कला-कृति को पाकर अपने मानसिक संस्थान के अनुरूप ही उसका विवेचन अथवा विश्लेषण करती है। शर्मा जी के लिए भी यह कथन सर्वथा सत्य है। हिन्दी साहित्य और अरबी-फारसी के साहित्य के अध्ययन ने उन्हें जिस श्रेणी का आचार्यत्व प्रदान किया था उसमें उनकी बहुज्ञता की छाया स्पष्ट आलोकित थी। अतः वे किसी भी कवि का मूल्यांकन करते समय अपने अगाध पांडित्य के बल पर उसकी अपनी भाव-माधुरी का विवरण देने का लोभ-संवरण नहीं कर सके और यही कारण है कि उन्होंने बिहारी की विस्तृत समालोचना में संस्कृत फारसी तथा प्राकृत और हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के उन कवियों के साम्यमूलक उदाहरण भी प्रस्तुत किये जिनमें उन्हें अधिक अनुकूलता प्रतीत हुई। चूँकि वे स्वयं अत्यन्त भावुक और सरस हृदय थे अतः कवियों की साम्यमूलक भाव-माधुरी रचना-चातुरी और कला-निर्मिति के समय अपनी तन्मयता से बच कर नहीं चल सके। यही कारण है कि उनकी समालोचना में प्रयुक्त 'तर्जे अदा' को उनका दोष न मानकर एक वैशिष्ट्य ही समझना चाहिए और आचार्य शुक्ल के उनके प्रति किए गये निर्णय का केवल उज्ज्वल पक्ष के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उनकी समालोचना विधि के साथ न्याय भावना का परिपालन किया जा सकता है।

प० कृष्णविहारी मिश्र

समालोच्य विषय और उनका दृष्टिकोण

११ पं० कृष्णबिहारी मिश्र की समालोचना-क्षेत्र में ख्याति का प्रधान कारण उनकी 'देव और बिहारी' नामक रचना है, जिसमें उन्होंने तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर दोनों कवियों का काव्य-समीक्षण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक का प्रेरणा-सूत्र तत्कालीन समालोचना-क्षेत्र में देव और बिहारी को एक दूसरे से उच्चतर सिद्ध करने का प्रयास ही प्रतीत होता है, किन्तु मिश्र जी ने यथासम्भव अपने विवेचन को गम्भीर बनाने का प्रयत्न किया है। अपने ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि 'न तो उनका बिहारी से विरोध है और न देव के प्रति पक्षपात' अतः इन दोनों कवियों की रचनाओं को जैसा कुछ समझा है उससे वे यही राय कायम कर सके हैं कि देव जी बिहारीलालजी की अपेक्षा अच्छे कवि हैं'।[1] मुख्य विषय पर आने के पूर्व उन्होंने प्रायः साठ पृष्ठों की भूमिका में व्रजभाषा-काव्य में दुर्बोधता की वृद्धि भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव समालोचना तुलनात्मक समालोचना और बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात शीर्षकों के अंतर्गत एतद् विषयक अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। मिश्र जी ने प्रारम्भ में उन कारणों का सप्रमाण विवेचन किया है जिनसे व्रजभाषा काव्य में दुर्बोधता की वृद्धि हो रही है तथा तदुपरान्त उनके निवारण के उपाय भी यथामति निर्धारित किए हैं। वे इस दुर्बोधता का निवारण करने के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि व्रजभाषा कवियों की रचनाओं के सटीक संस्करण प्रकाशित किए जाएँ जिससे साहित्य प्रेमियों का ध्यान उनकी रस-सरिता में अवगाहन करने की ओर उन्मुख हो। यद्यपि वे पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा बिहारी की सतसई पर लिखे गए संजीवनी भाष्य की प्रशंसा करते हुए उसे 'आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में सर्वप्रथम शृंखलाबद्ध तुलनात्मक समालोचना'[2] मानते हैं किन्तु उसके कई स्थलों का वे विरोध भी करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रजी को काव्य पर भाषा-माधुर्य का प्रभाव मान्य था और वे कविता चित्र एवं संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए उनके शब्द माधुर्य वर्ण-लालित्य तथा स्वर-सौन्दर्य को उनकी सफलता का एक प्रमुख कारण समझते थे। यही कारण है कि उन्हें व्रजभाषा की माधुरी अत्यधिक कर्णप्रिय लगी। खड़ी बोली काव्य के विषय में उनकी धारणा उस युग के अन्य व्रजभाषा प्रेमी समालोचकों के समान पूर्वाग्रहपूर्ण नहीं थी और वे यह मानते थे कि उसमें भी उत्तम काव्य-रचना की जा सकती है। उन्होंने संस्कृत अंग्रेजी और हिन्दी के कई ग्रन्थों से उदाहरण देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'शब्द-माधुर्य काव्य की सफलता का प्रमुख सहायक अंग है'[3] और 'भाषा की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयंगम कराती है। सच तो यह है कि मिश्र जी के मतानुसार यदि कविता का मुख्य गुण भाव है तो उसका सहायक गुण शब्द-सौन्दर्य है।[4] चूँकि व्रजभाषा में यह गुण आधिक्य में पाया जाता है, अतः वह इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

१११ मिश्र जी ने 'निष्पक्षपात भाव से किसी वस्तु के गुण-दोषों की विवेचना' को समालोचना संज्ञा से अभिहित कर उसे उत्तम विचारों की पुष्टि तथा वृद्धि में आवश्यक उपादान माना

---

१ पं० कृष्ण बिहारी मिश्र। देव और बिहारी, द्वितीय संस्करण की भूमिका सन् १९२५ पृष्ठ ६।

२. वही, पृष्ठ १२।

३ वही, पृष्ठ २।

४. वही, पृष्ठ १२।

५ वही, पृष्ठ १०।

है।[1] उन्होंने ऐतिहासिक अनुक्रम से समालोचना का विकास विवेचित कर आधुनिक समालोचना का रचना-विधान अंग्रेजी चाल के आधार पर ही बतलाया है। उनके इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय मिश्र जी समालोचना-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, हिन्दी समीक्षा किस धरातल पर अवस्थित थी और पत्र-सम्पादक पुस्तकालोचन स्वतंत्र लेखों या सम्पादकीय टिप्पणियों में किस प्रकार की मनोवृत्ति का परिचय दिया करते थे। मिश्र जी ने समालोचना के महान् दायित्व की प्रशंसा कर समालोचकों को यह सम्मति दी है कि वे केवल कथनमात्र के रूप में ही किसी ग्रंथ को उत्तम अथवा अधम न बतलावें, अपितु उन कारणों का भी सतर्क विवेचन करें जिनसे वे अपना मत-निर्धारण करने का कार्य करते हैं। मिश्र जी के मतानुसार समालोचना का दृष्टिकोण इस प्रकार होना चाहिए —

'हमारी समझ में किसी ग्रन्थ की समालोचना करते समय तद्गत विषय का प्रत्येक ओर से निरीक्षण होना चाहिए। ग्रन्थ का मौलिक विषय क्या है तथा प्रयोजनीय क्या है, वास्तविक वर्णन क्या है तथा गौण क्या है, आदि बातों का जिस समालोचना में विचार किया जाता है, उससे पुस्तक का हाल वैसे ही विदित हो जाता है जैसे किसी मकान के मान-चित्रादि से उस गृह का विवरण ज्ञात हो जाता है।"[2] अभिप्राय यह है कि मिश्र जी के मतानुसार समालोच्य कृति का परीक्षण मुख्य भाव रस-निरूपण कवि-कौशल वर्णन-शैली लेखक की मनोवृत्ति भाषा-विधान पूर्वाग्रहरहित भावना व्यापक दृष्टिकोण तर्कपूर्ण प्रतिपादन आदि तत्वों का आधार लेते हुए होना चाहिए। उनके मतानुसार "तुलना भी समालोचना का एक प्रधान अंग है जिसमें एक या अनेक कवियों की उक्तियों की तुलना के आधार पर उनके काव्य की परीक्षा की जाती है।"[3]

तुलनात्मक पद्धति और उसका गम्भीर पक्ष

११२ मिश्र जी ने अपने 'देव और बिहारी' नामक ग्रन्थ को तुलनात्मक समालोचना कहा है और उसकी विवेचन-पद्धति का भी प्रारम्भ में विश्लेषण किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने विभिन्न कवियों के छन्दों को भाव-साम्य के आधार पर समीक्षित कर उनका काव्य-सौष्ठव स्पष्ट किया है। उनकी तुलनात्मक पद्धति में व्याख्या और विवेचना के साथ निर्णयात्मक प्रवृत्ति का भी समावेश है। इस प्रकार के विवेचन से उनका पांडित्य और काव्य-मर्मज्ञ कौशल भी प्रकट होता है। कहा जा सकता है कि 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक के भूमिका-भाग में उन्होंने अपनी तुलनात्मक समालोचना-प्रणाली का एक आदर्श उपस्थित कर मुख्य विवेचन के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई पर संजीवन भाष्य लिखकर उसके प्रथम भाग में जिस रूप में तुलनात्मक समालोचना लिखी है वह मिश्र जी को ग्राह्य प्रतीत नहीं हुई है। उनका इस सम्बन्ध में निर्णय इस प्रकार है

"संजीवनी भाष्य का टीकाकार हमको स्थल-स्थल पर बिहारीलाल के साथ अनुचित पक्षपात करता हुआ देख पड़ता है। बिहारीलाल शृंगारी कवि थे अतएव उनकी शृंगाररसी सुधा-सूक्तियों का हिन्दी भाषा के अन्य शृंगारी कवियों की तादृश उक्तियों से तुलना करना उचित ही था। पर इस प्रकार की जो तुलना हुई है खेद है, वह पक्षपातपूर्ण हुई है। इस पक्षपात का ज्वलंत उदाहरण पाठकों को इस बात से मिल जायगा कि देव सदृश उच्च कोटि के शृंगारी कवि की

---

१. पं. कृष्ण बिहारी मिश्र देव और बिहारी, द्वितीय संस्करण की भूमिका सन् १९५२, पृष्ठ २८।

२. वही, पृष्ठ ३४।

३. वही, पृष्ठ ३५।

कविता से बिहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही उस बेचारे का नाम तक 'संजीवन भाष्य' के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है।"[1]

११३ मिश्र जी ने बिहारी सतसई के भाष्यकार की अन्य अपूर्णताओं की ओर भी संकेत किया है। देव के अतिरिक्त सूरदास केशवदास पद्माकर तोष और सुन्दरदास आदि कवियों के छन्दों के साथ बिहारी के छन्दों की तुलना करते हुए पं० पद्मसिंह शर्मा ने जिस प्रकार का विवेचन प्रस्तुत किया है उसके अनेक स्थलों पर मिश्र जी ने समालोचक की पक्षपातपूर्ण भावना ही निर्दिष्ट की है। भूमिका का अंतिम अंश इसी प्रकार के विवेचन से निर्मित है जिसका प्रमुख उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि मिश्र जी प० पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक समालोचना को सर्वांगीण और न्यायपूर्ण नहीं मानते थे और सम्भवतः उसकी अपूर्णताओं का दिग्दर्शन कराने के लिए ही उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की। मिश्र जी ने शर्मा जी के विवेचन में भाव पक्ष और भाषा-पक्ष की दुर्बलताओं का संकेत अन्य कवियों का काव्य-सौष्ठव निरूपित करते हुए किया है और उनके उन आक्षेपों को भी अनुचित बतलाया है जो उन्होंने अपनी समीक्षा के अन्तर्गत मिश्रबन्धुओं के 'नवरत्न' तथा 'मिश्र बन्धु विनोद' के सम्बन्ध में किए थे।[2] यह सब कुछ होते हुए भी उनके विवेचन में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उनका स्वर कहीं पर भी शर्मा जी की भाँति तीव्र और व्यंग्यपूर्ण नहीं है और उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनकी प्रशंसा की है।[3]

११४ देव और बिहारी का मुख्य समालोचना-भाग अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण दृष्टि से लिखा गया है। मिश्र जी ने संस्कृत अंग्रेजी तथा हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्रकारों के मत उद्धृत कर कविता का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना ही माना है और इसके लिए शृंगार रस को सर्वाधिक उपयुक्त साधन बतलाया है।[4] ऐसा करते हुए उन्होंने देव के काव्य-विवेचन की एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है क्योंकि देव भी शृंगार को रसराज मानते थे। उन्होंने विभिन्न साहित्यों में वर्णित शृंगार और प्रेम-चित्रण को जीवन की अनिवार्य और मोहिनी वृत्ति सिद्ध कर यही निष्कर्ष प्रदान किया है कि "दाम्पत्य प्रेम से परिपूर्ण कविताओं को हम भावसमाज के विद्रोह की उपस्थिति में भी बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं जिन प्राचीन तथा नवीन कवियों ने ऐसे उच्च और विशुद्ध वर्णन किये हैं उनकी भूरि-भूरि सराहना करते हैं और मनुष्यता के विकास में उनका भी हाथ मानते हैं।"[5] इस प्रकार मिश्र जी के मतानुसार यदि देव सर्वतोभावेन शृंगारी कवि हैं तो उनका यह पक्ष निन्दनीय नहीं माना जा सकता क्योंकि विश्व के अधिकांश कवियों ने शृंगार रस को अपने काव्यों का वर्ण्य विषय बनाया है। उन्होंने तुलनात्मक समालोचना के प्रमुख उपकरण भाव सादृश्य को सौन्दर्य-सुधार, सौन्दर्य रक्षा और सौन्दर्य संहार शीर्षक तीन भागों में विभक्त कर प्रथम भाग को सर्वोत्तम तथा अंतिम को निकृष्ट बतलाया है।[6] और इस दृष्टि से भी उन्हें देव जी अत्यन्त श्रेष्ठ कवि प्रतीत हुए हैं। इस प्रकार के विश्लेषण में मिश्र जी ने प्रभावाभिव्यंजक प्रणाली का भी उपयोग किया है और एक रससिक्त भावक के रूप में वे उन काव्यांशों में आत्मविभोर भी होते चले हैं जो उनके मानसिक धरातल के अधिक निकट प्रतीत हुए हैं। विवेचन के इस प्रसंग में उनकी व्याख्यात्मक पद्धति अत्यन्त हृदयहारिणी और भावमयी बन गई है।

---

१ पं० कृष्ण बिहारी मिश्र : देव और बिहारी, द्वितीय संस्करण की भूमिका पृष्ठ ६८।
२ वही, पृष्ठ ६९।
३ पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवां संस्करण २००९, २ २३ वि०।
४ पं० कृष्ण बिहारी मिश्र : देव और बिहारी, द्वितीय संस्करण की भूमिका पृष्ठ ११-१२।
५ वही, पृष्ठ ७१-७४।
६.१ कृष्ण बिहारी मिश्र : देव और बिहारी, तृतीयावृत्ति, सं० १९९४ वि० पृष्ठ ८१।

द्वारा तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के समर्थन में यथेष्ट सहयोग मिला है। उनके द्वारा सम्पादित 'मतिराम-ग्रन्थावली' की भूमिका भी तुलनात्मक समीक्षा का प्रत्यक्ष मुखर पक्ष है जिसके विवेचन में आचार्य शुक्ल जी ने तुलनात्मकता का आधिक्य देख कर उसे कई स्थलों पर असंगुचित भी निर्दिष्ट किया है।

लाला भगवानदीन

समालोचना का प्रमुख विषय प्राचीन कवि और उनके काव्य

११८ द्विवेदी-युग के समालोचकों में लाला भगवानदीन का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे काशीस्थ हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक और नागरी प्रचारिणी सभा से सम्बद्ध साहित्यकार थे। उनकी प्रतिभा में साहित्य के रचनात्मक और विचारात्मक पक्षों का समावेश था। लाला जी ने यद्यपि कवियों काल-विशेषों तथा सिद्धान्तों को लेकर कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी है फिर भी उनके समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों के अध्ययन से उनकी समालोचक प्रज्ञा का अनुमान किया जा सकता है। उनकी समालोचनाओं में शास्त्रीय पक्ष से खंडन-मंडन की प्रवृत्ति भी मिलती है जिसमें परम्परागत कवियों को अधिक निकटता से अपनाया गया है। देव और बिहारी के लघुत्व और गुरुत्व को लेकर उस युग में जो एक साहित्यिक प्रवाद चल पड़ा था उसमें भी लाला जी ने पर्याप्त भाग लिया और बिहारी के काव्य का पक्ष ग्रहण कर उसकी समता में देव को हीन प्रतिभा का कवि सिद्ध किया। कहने की आवश्यकता नहीं की उनका यह विश्लेषण भी पूर्वग्रहदूषित और पक्षपातपूर्ण था। उनके एतद्विषयक लिखे गये निबन्धों का संग्रह 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

११९. लाला जी की समालोचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण भाग उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाएँ हैं। उनका नवीन काव्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं था अतः उन्होंने अपनी अभिरुचि के अनुरूप केवल प्राचीन कवियों को ही अपना समालोच्य विषय बनाया। 'सूर पंचरत्न' केशव पंचरत्न' 'तुलसी पंचरत्न' 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' ठाकुर ठसक' स्नेह-सागर' 'रामविलास' 'बिहारी बिलास' और 'सूक्ति-सरोवर' उनके द्वारा सम्पादित काव्य-ग्रन्थ हैं जिनकी भूमिकाओं में उन्होंने काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष के विभिन्न अंगोपांगों को दृष्टिगत रखकर व्याख्यात्मक शैली में कृतिकारों की विशेषताओं का उद्घाटन उनकी काव्य रचनाओं से उदाहरण देते हुए किया है। इनमें उन्होंने विवेचित कवियों के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं पर भी यथाप्रसंग अपनी टिप्पणी दी है। उनके काव्य-परीक्षण का प्रतिमान अधिकांशतः सैद्धान्तिक और शास्त्रीय ही है जिसमें निर्णयात्मक और प्रभावाभिव्यंजक समालोचना-पद्धति के भी दर्शन होते हैं। 'सूरपंचरत्न' की भूमिका उसका आदर्श उपस्थित करती है। लाला जी ने अपने प्रिय शिष्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और पं० मोहन वल्लभ पन्त को भी अपनी समालोचनात्मक सर्जना में अपेक्षित महत्त्व दिया है। इन भूमिकाओं के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उन्होंने प्राचीन कवियों पर जो समय-समय पर निबन्ध प्रकाशित कराये थे उनसे भी उनकी समालोचक-दृष्टि का ज्ञान होता है। लाला जी हिन्दी संस्कृत के अतिरिक्त फारसी के बहुत बड़े विद्वान् थे और उनका हिन्दी साहित्य में आगमन फारसी साहित्य के अध्ययन के अनन्तर ही हुआ था अतः उनकी समालोचनाओं में फारसी की संजीदा शैली का भी प्रभाव परिलक्षित है। लक्ष्मी नामक पत्रिका के सम्पादन-काल में उनकी समालोचनाएँ निरंतर क्रम से निकलती रही हैं, जिनमें प्राचीन कवियों के प्रति उनका जितना समर्थनपूर्ण दृष्टिकोण है, उतना नवीन कवियों के प्रति नहीं। एक प्रकार से नवीन कवियों के काव्य का उन्होंने खंडन ही किया है। उस युग के अन्य समालोचकों की भाँति उन्होंने भी छायावादी काव्य की भर्त्सना में

एक भी शब्द नहीं लिखा है किन्तु यह एक और महत्वपूर्ण विषय है कि लाला जी को बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और पं रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित-चिंतामणि' जैसी रचनाओं में भी अधिकांशतः दोष ही दोष दृष्टिगोचर हुए हैं जो उस युग की अत्यन्त लोकप्रिय रचनाएँ थीं। इसका प्रमुख कारण लाला जी की प्राचीन कवियों के प्रति निष्ठा और साहित्य परीक्षण का पुरातन प्रतिमान ही कहा जा सकता है ।

टीका साहित्य और शास्त्रीय पक्ष

१२ लाला जी की समालोचनाओं का एक प्रमुख अंग टीका-साहित्य भी है किन्तु यह टीका-साहित्य केवल शब्दार्थ-योजना और सरलार्थ के दृष्टिकोण से ही न लिखा जाकर समालोचना की शास्त्रीय पद्धति से सम्बन्धित अनेक प्रकार की टिप्पणियों से भी समन्वित है । लाला जी ने विविध प्रतियों के आधार पर यथासम्भव टीका-ग्रन्थों का शुद्ध और प्रामाणिक पाठ देकर प्रारम्भ में उनके शब्दार्थ और भावार्थ दिए हैं और तदुपरांत आवश्यक स्थलों पर अलंकार छन्द और शब्द शक्ति का भी निरूपण किया है। *उनकी टीकाओं में समालोचना की तुलनात्मक पद्धति भी मिलती है।* टीका के प्रसंग में उन्हें जहाँ कहीं प्रस्तुत पद्य के साथ किसी अन्य कवि के काव्य का भाव साम्य-सूचक पद मिला है उसका उदाहरण देकर उन्होंने उसकी विशेषताएँ भी बतलाई हैं । इतना ही नहीं जहाँ किसी छन्द की भावमाधुरी और कला-कांति ने भी उनको रससिक्त बनाया है वे प्रभाववादी समालोचक के रूप में उसकी प्रशंसा करने में भी नहीं चूके हैं । उनकी टीकाओं में यथावसर शब्दों की व्युत्पत्ति उनकी मूलध्वनि तथा अर्थ-योजना का भी भव्य निरूपण है । उन्हें बुन्देलखंडी अवधी और ब्रजभाषा की शब्द-शक्ति और मूल चेतना का अपूर्व ज्ञान था अतः उन्होंने टीका के प्रसंग में उनके प्रमुख शब्दों का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है । कहना होगा लाला जी के पूर्व इस प्रकार समालोचनात्मक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य में प्राचीन कवियों के काव्यों की टीकाएँ नहीं लिखी गई थीं अतः उनका टीका-साहित्य जहाँ हमें एक ओर प्राचीन काव्यों के अर्थ-बोध और भाव-सौन्दर्य को हृदयंगम करने में सहायता देता है, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा हमें लाला जी की समालोचक-निष्ठा की भी जानकारी कराता है। उनके टीका-ग्रन्थों में 'केशव-कौमुदी' 'प्रिया-प्रकाश' 'मानस की टीका' 'बिहारी-बोधिनी' 'दोहावली' 'कवितावली' और 'कृष्णराम-वर्धक' की टीकाएँ प्रधान हैं ।

१२१ लाला जी की समालोचना का एक सैद्धान्तिक पक्ष भी है। वे शास्त्रीय समालोचक हैं, जिनका झुकाव संस्कृत काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त-पक्ष की ओर विशेष रहा है। उन्होंने 'अलंकार मंजूषा' और 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' के नाम से समालोचना के सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्र को मूल आधार बना कर अलंकारों और व्यंजनाओं का विश्लेषण किया गया है। ऐसा करते समय उन्होंने लक्षणों की सरलता और सुबोधता का सर्वत्र ध्यान रखा है और वे उनके ऊहापोहों में अधिक नहीं उलझे हैं। यथासम्भव स्पष्ट भाषा-शैली में अलंकारों के लक्षण निर्दिष्ट कर उन्होंने साधारणतया प्राचीन काव्यों से उनके संगति सूचक उदाहरणों द्वारा विवेच्य अलंकारों की सामान्य व्याख्या भी कर दी है, जिससे पाठकों को विषय-बोध करने में सहायता मिल सके। अभिप्राय यह है कि लाला जी का सैद्धान्तिक निरूपण आचार्यत्व की छाप से अलंकृत न होने पर भी छात्र वर्ग के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। यही कारण है कि एक समय उनकी अलंकार-मंजूषा' का काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष-विवेचन में बहुत अधिक महत्व था।

मानसिक प्रवृत्ति तथा निर्धारित प्रतिमान

१२२ लाला जी की समालोचनाओं में उनके व्यक्तित्व की झलक भी सर्वत्र मिलती है।

द्वारा तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के संवर्धन में यथेष्ट सहयोग मिला है। उनके द्वारा सम्पादित 'मतिराम-ग्रन्थावली' की भूमिका भी तुलनात्मक समीक्षा का अत्यन्त मुखर पक्ष है जिसके विवेचन में आचार्य शुक्ल जी ने तुलनात्मकता का आधिक्य देख कर उसे कई स्थलों पर असंतुलित भी निर्दिष्ट किया है।

लाला भगवानदीन

समालोचना का प्रमुख विषय प्राचीन कवि और उनके काव्य

११८ द्विवेदी-युग के समालोचकों में लाला भगवानदीन का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे काशीस्थ हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक और नागरी प्रचारिणी सभा से सम्बद्ध साहित्यकार थे। उनकी प्रतिभा में साहित्य के रचनात्मक और विचारात्मक पक्षों का समावेश था। लाला जी ने यद्यपि कवियों काल-विषयों तथा सिद्धान्तों को लेकर कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी है फिर भी उनके समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों के अध्ययन से उनकी समालोचक प्रज्ञा का अनुमान किया जा सकता है। उनकी समालोचनाओं में शास्त्रीय पक्ष से खंडन मंडन की प्रवृत्ति भी मिलती है जिसमें परम्परागत रूढ़ियों को अधिक निष्ठता से अपनाया गया है। देव और बिहारी के लघुत्व और गुरुत्व को लेकर उस युग में जो एक साहित्यिक प्रवाद चल पड़ा था उसमें भी लाला जी ने पर्याप्त भाग लिया और बिहारी के काव्य का पक्ष ग्रहण कर उसकी समता में देव को हीन प्रतिभा का कवि सिद्ध किया। कहने की आवश्यकता नहीं की उनका यह विश्लेषण भी पूर्वग्रहग्रसित और पक्षपातपूर्ण था। उनके एतद्विषयक लिखे गये निबन्धों का संग्रह 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

११९ लाला जी की समालोचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण भाग उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाएँ हैं। उनका नवीन काव्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं था अतः उन्होंने अपनी अभिरुचि के अनुरूप केवल प्राचीन कवियों को ही अपना समालोच्य विषय बनाया। 'सूर पंचरत्न' 'केशव पंचरत्न' 'तुलसी पंचरत्न' 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' 'ठाकुर ठसक' 'स्नेह-सागर' 'रामविलास' 'विरह विलास' और 'सूक्ति सरोवर' उनके द्वारा सम्पादित काव्य-ग्रन्थ हैं जिनकी भूमिकाओं में उन्होंने काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष के विभिन्न अंगोपांगों को दृष्टिगत रखकर व्याख्यात्मक शैली में कृतिकारों की विशेषताओं का उद्घाटन उनकी काव्य रचनाओं से उदाहरण देते हुए किया है। इसमें उन्होंने विवेचित कवियों के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं पर भी यथाप्रसंग अपनी टिप्पणी दी है। उनके काव्य-परीक्षण का प्रतिमान अधिकांशतः सैद्धान्तिक और शास्त्रीय ही है, जिसमें निर्णयात्मक और प्रभावाभिव्यंजक समालोचना-पद्धति के भी दर्शन होते हैं। 'सूरपंचरत्न' की भूमिका उसका आदर्श उपस्थित करती है। *लाला जी ने अपने प्रिय शिष्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और पं०* मोहन वल्लभ पन्त को भी अपनी समालोचनात्मक सर्जना में अपेक्षित महत्त्व दिया है। इन भूमिकाओं के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उन्होंने प्राचीन कवियों पर जो समय-समय पर निबन्ध प्रकाशित कराए थे उनसे भी उनकी समालोचक-दृष्टि का ज्ञान होता है। लाला जी हिन्दी संस्कृत के अतिरिक्त फारसी के बहुत बड़े विद्वान् थे और उनका हिन्दी साहित्य में आगमन फारसी साहित्य के अध्ययन के अनंतर ही हुआ था अतः उनकी समालोचनाओं में फारसी की तंकीदा शैली का भी प्रभाव परिलक्षित है। 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका के सम्पादन-काल में उनकी समालोचनाएँ निरंतर क्रम से निकलती रही हैं जिनमें प्राचीन कवियों के प्रति उनका जितना समर्थनपूर्ण दृष्टिकोण है, उतना नवीन कवियों के प्रति नहीं। एक प्रकार से नवीन कवियों के काव्य का उन्होंने खंडन ही किया है। उस युग के अन्य समालोचकों की भाँति उन्होंने भी छायावादी काव्य की भर्त्सना में

एक भी ग्रन्थ नहीं लिखा है किन्तु यह एक और महत्वपूर्ण विषय है कि लाला जी को बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और पं० रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित-चिंतामणि' जैसी रचनाओं में भी अधिकांशतः दोष ही दोष दृष्टिगोचर हुए हैं जो उस युग की अत्यन्त लोकप्रिय रचनाएँ थीं। इसका प्रमुख कारण लाला जी की प्राचीन कवियों के प्रति निष्ठा और साहित्य-परीक्षण का पुरातन प्रतिमान ही कहा जा सकता है।

टीका साहित्य और शास्त्रीय पक्ष

१२ लाला जी की समालोचनाओं का एक प्रमुख अंग टीका-साहित्य भी है किन्तु वह टीका-साहित्य केवल शब्दार्थ-योजना और सरलार्थ के दृष्टिकोण से ही न लिखा जाकर समालोचना की शास्त्रीय पद्धति से समन्वित अनेक प्रकार की टिप्पणियों से भी संवलित है। लाला जी ने विविध प्रतियों के आधार पर यथासम्भव टीका ग्रन्थों का शुद्ध और प्रामाणिक पाठ देकर प्रारम्भ में उनके शब्दार्थ और भावार्थ दिए हैं और तदुपरांत आवश्यक स्थलों पर अलंकार, छन्द और शब्द शक्ति का भी निरूपण किया है। उनकी टीकाओं में समालोचना की तुलनात्मक पद्धति भी मिलती है। टीका के प्रसंग में उन्हें जहाँ कहीं प्रस्तुत पद्य के साथ किसी अन्य कवि के काव्य का भाव साम्य-सूचक पद मिला है उसका उदाहरण देकर उन्होंने उसकी विशेषताएँ भी बतलाई हैं। इतना ही नहीं जहाँ किसी शब्द की भावमाधुरी और कथा-कांति ने भी उनको रससिक्त बनाया है वे प्रभाववादी समालोचक के रूप में उसकी प्रशंसा करने में भी नहीं चूके हैं। उनकी टीकाओं में यथावसर शब्दों की व्युत्पत्ति उनकी मूलध्वनि तथा अर्थ-योजना का भी भव्य निरूपण है। उन्हें बुन्देलखंडी अवधी और ब्रजभाषा की शब्द-शक्ति और मूल चेतना का अपूर्व ज्ञान था अतः उन्होंने टीका के प्रसंग में उनके प्रमुख शब्दों का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। कहना होगा लाला जी के पूर्व इस प्रकार समालोचनात्मक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य में प्राचीन कवियों के काव्यों की टीकाएँ नहीं लिखी गई थीं अतः उनका टीका-साहित्य जहाँ हमें एक ओर प्राचीन काव्यों के मर्म-बोध और भाव-सौन्दर्य को हृदयंगम करने में सहायता देता है, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा हमें लाला जी की समालोचक-निष्ठा की भी जानकारी कराता है। उनके टीका-ग्रन्थों में 'केशव कौमुदी' 'प्रिया-प्रकाश' 'मानस की टीका' 'बिहारी-बोधिनी' 'दोहावली' 'कवितावली' और 'भ्रमरगीत-सार-दर्पण' की टीकाएँ प्रधान हैं।

१२१ लाला जी की समालोचना का एक सैद्धान्तिक पक्ष भी है। वे शास्त्रीय समालोचक हैं, जिनका झुकाव संस्कृत काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त-पक्ष की ओर विशेष रहा है। उन्होंने 'अलंकार मंजूषा' और 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' के नाम से समालोचना के सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी लिखे हैं जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्र को मूल आधार बना कर अलंकारों और व्यंजनाओं का विश्लेषण किया गया है। ऐसा करते समय उन्होंने लक्षणों की सरलता और सुबोधता का सर्वत्र ध्यान रखा है और वे उनके ऊहापोहों में अधिक नहीं उलझे हैं। यथासम्भव स्पष्ट भाषा-शैली में अलंकारों के लक्षण निर्दिष्ट कर उन्होंने साधारणतया प्राचीन काव्यों से उनके संगति पूर्वक उदाहरणों द्वारा विवेच्य अलंकारों की सामान्य व्याख्या भी कर दी है, जिससे पाठकों को विषय-बोध करने में सहायता मिल सके। अभिप्राय यह है कि लाला जी का सैद्धान्तिक निरूपण आचार्यत्व की छाप से अलंकृत न होने पर भी छात्र-वर्ग के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। यही कारण है कि एक समय उनकी 'अलंकार-मंजूषा' का काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष-विवेचन में बहुत अधिक महत्त्व था।

मानसिक प्रवृत्ति तथा निर्धारित प्रतिमान

१२२ लाला जी की समालोचनाओं में उनके व्यक्तित्व की झलक भी सर्वत्र मिलती है।

र तुलसी केशव बिहारी और दीनदयाल गिरि जैसे कवियों को अपनी समालोचनाओं का विषय
नाने में उनकी मानसिक भूमिका ने भी बड़ा सहयोग दिया था। वे इन कवियों का काव्यालोचन
पने सुनिश्चित प्रतिमान से ही कर सके थे। समीक्षा के बाह्य पक्ष भाषा-शैली का व्युत्पत्ति-विवेचन
ो इन्होंने जिस विधान से किया वैसा उनके पूर्व बहुत कम किया गया था। एक प्रकार से ग्रन्थ
ौर *रचनाओं के आधार पर ही उन्होंने कवियों के समय तथा स्थान का निर्धारण किया*। उन
ारा कवियों के व्यापक व्यक्तित्व और उनकी कृतियों के मूल प्रयोजन का उद्घाटन भी किया गया
्वि को उन्होंने कवि भक्त और आचार्य इन तीनों रूपों में ग्रहण किया तो सूर और तुलसी
ो भक्त और कवि के अतिरिक्त मानव भावनाओं के सफल गायक के रूप में प्रतिष्ठित किया
दोहावली' की समालोचना के पूर्व उन्होंने काव्य के मर्म-बोध के लिए जो साहित्यिक प्रतिमान
निर्धारित किया है यह उनके काव्य-विषयक उदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है। उन्होंने हृदय
ौर मस्तिष्क की संसृष्टि से कविता का उद्रेक मानकर उसको पद्य से भिन्न माना है और उसके
ावगम्यता के लिए अलंकार रस छन्द और व्यंजना को महत्त्व दिया है। उनका भक्ति-काव्य क
विश्लेषण समालोचना की ऐतिहासिक प्रणाली का अनुगमन करता हुआ चला है। यद्यपि उनके
समय में पाश्चात्य विधान की समालोचना प्रणाली का प्रचलन हो गया था किन्तु लाला जी प
उसकी छाया बहुत कम पड़ सकी है। कहा जा सकता है कि उनके द्वारा कवियों की विस्तृत समा
लोचनाएँ लिखने में भी अपेक्षित सहयोग दिया गया था। 'सूर-पंचरत्न' की भूमिका हमारे सामने
इस प्रकार का एक आदर्श प्रस्तुत करती है। अभिप्राय यह है कि लाला जी की समालोचनाओं की
निश्चित प्रणाली थी जिसमें वे यथाप्रसंग समालोचना के शास्त्रीय सैद्धान्तिक तुलनात्मक, प्रभा
ाभिव्यंजक और निर्णयात्मक पक्षों का प्रयोग बड़ी शालीनता से किया करते थे। उन्होंने कहीं पर
ी समालोचनाओं को तर्क-वितर्क के वितंडावाद में नहीं उलझाया। यही कारण है कि हिन्दी का
नुसन्धाता जहाँ उसका अध्ययन समालोचना का तुलनात्मक और क्रमिक विकास समझने के लिए
करता है, वहाँ छात्र-समाज भी अपना परीक्षोदधि उत्तीर्ण करने के लिए उसकी अपेक्षित सहायता
ता है।

निष्कर्ष

१२१ उपरिलिखित अनुच्छेदों में द्विवेदी-युग की समीक्षात्मक प्रवृत्तियों और प्रमुख समालो-
चकों की उपलब्धियों का जो विवेचन किया गया उससे समालोचना की संवर्धनशीलता का सहज ही अनु-
मान लगाया जा सकता है। डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शोध-कार्य के विवरण का उल्लेख सामान्य
परिचय के अन्तर्गत हो ही चुका है। अन्य आलोचकों ने पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर में जिस प्रकार
की समालोचनाएँ लिखीं उनमें साधारणतया पूर्व विवेचित विषयों का ही पिष्टपेषण रहने के
कारण उनका विवेचन करने के लिए हमारे शोध प्रबन्ध में अधिक अवकाश नहीं है। अतः समा
लोचना के विकास के द्वितीय चरण को इस युग तक ही सीमित रख कर अब उत्तरवर्ती अध्याय में
उन आलोचकों की कृतियों का विवेचन किया जायगा जिनसे द्विवेदी-युग के संवर्धन को वास्तविक
विकास मिला है। यद्यपि इन आलोचकों का समीक्षण कार्य द्विवेदी-युग में ही प्रारम्भ हो गया था
किन्तु वे अनेक दृष्टियों से अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित कर सके अतः उनका विश्लेषण स्वतन्त्र
अध्याय के रूप में करना मैंने समुचित समझा है। आचार्य पं॰ रामचन्द्र शुक्ल इस विकास के प्रमुख
सूत्रधार हैं जिनकी मान्यताओं को स्वीकार कर अन्य समालोचक भी चलते रहे हैं।

समालोचना का विकास-काल

[शुक्ल-युग]

१ भारतेन्दु-युग में जिस आधुनिक समालोचना-प्रणाली का प्रवर्तन हुआ वह द्विवेदी युग में आकर संवर्धित हुई और शुक्ल-युग में आकर विकसित बनी अतः आचार्य शुक्ल जी के कार्य-काल को मैंने 'हिन्दी समालोचना का विकास काल' कहा है। इसका काल-निर्धारण सन् १९२१ से १९४ पर्यन्त रखा गया है जब शुक्ल जी की प्रतिभा द्विवेदी-युग की मान्यताओं से अधिक विकसित और प्रौढ़ बनकर अपना स्वतन्त्र विकास करती है। जब तक द्विवेदीजी सरस्वती का सम्पादन करते रहे, उनसे साहित्य का नेतृत्व निर्भीकतापूर्वक होता गया किन्तु सन् १९२ के पश्चात् उनके सम्पादन-कार्य से विराम लेने पर उनका साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में प्रभाव शनैः शनैः शिथिल पड़ने लगा। इस समय पर्यन्त विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अध्ययन अध्यापन का महत्त्व भी स्वीकार कर लिया गया था और भाषा में भी स्थिरता और प्रौढ़ि आगई थी अतः द्विवेदी-युग में जो कार्य किया गया उसके विकास के सभी साधन शुक्ल-युग में आकर संघटित हुए। एक बात यह भी हुई कि द्विवेदी-युग से ही काव्य-साहित्य में जिस प्रकार स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ने कला और कल्पना का आश्रय लेकर छायावाद के नाम से स्वर्गीय प्रसादजी द्वारा इन्दु पत्रिका में अस्तित्व धारण करना प्रारम्भ किया वह भी शनैः-शनैः विकसित होने लगी जिसके कारण साहित्य के मूल्यांकन में भी परिवर्तन आने लगा। शुक्लजी ने अपने गंभीर अध्ययन और चिन्तन से साहित्य-परीक्षण को नवीन दृष्टि दी और वे द्विवेदी जी की मान्यताओं को बहुत अधिक आगे ले गये। अतः यह युग अनेक दृष्टियों से अपना स्वतंत्र विकास करने में समर्थ हुआ। यद्यपि इसकी मूल्यचेतना और मान्यताओं में द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि भी बनी हुई है, किन्तु विकास की दृष्टि से मैंने इसका स्वतंत्र अध्याय के रूप में मूल्यांकन करना समीचीन समझा है। एक प्रकार से इस युग की अन्तर्दृष्टि पर शुक्ल जी का ही सब से अधिक प्रभाव है अतः उनके विस्तृत विवेचन के अन्तर्गत ही इस युग की सामान्य प्रवृत्तियों का स्वरूप मिल सकेगा। इस युग के अन्य आलोचक शुक्ल जी की मान्यताओं के निकट ही चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, अतः उनकी विशेष मौलिक देन नहीं है फिर भी उनका यथोचित विश्लेषण अवश्य कर दिया गया है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार रामभक्ति-शाखा में गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व सर्वोपरि बन कर प्रकट हुआ जिसकी दिव्य दीप्ति के सम्मुख अन्य राम भक्त-कवि हतप्रभ होगये उसी प्रकार शुक्ल जी के समीक्षण ने साहित्य-क्षेत्र को इतना अधिक प्रभावित किया कि शेष समालोचक उन्हीं के निर्दिष्ट परिवेश में अपना कार्य कर सके।

२ शुक्ल-युग की समालोचना में भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-तत्त्वों का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनमें द्विवेदी-युग की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिकोण है। कवियों और काव्य विशेषों का अध्ययन इस युग में विस्तृत विधान पर किया गया है। रचनात्मक साहित्य के अंगों में अभिनव वृद्धि होने के कारण उसका प्रभाव भी समालोचना पर पड़ा है। इस युग में साहित्य के काव्येतर अंगों के सैद्धान्तिक निरूपण के साथ-साथ प्रमुख साहित्यकारों की कृतियों का भी

विश्लेषण स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में हुआ है। विश्वविद्यालयों के स्नातकों के साथ-साथ अन्य विद्वानों द्वारा शोध-कार्य के माध्यम से भी इस युग में समालोचना की वृद्धि हुई है। पश्चिमी साहित्य में व्याख्यात्मक प्रणाली के अन्तर्गत जिस ऐतिहासिक पद्धति का अनुगमन किया जाता है उसका यथेष्ट विकास इस युग की समालोचनाओं में मिलता है। यद्यपि मनोविश्लेषणवादी जीवन चरितमूलक और समाजशास्त्रीय पद्धति का प्रसार इस युग में अधिक नहीं हो सका फिर भी उनके निर्माण और विकास के लक्षण इस युग में संगठित होने लगे थे। इस युग के समालोचकों में निर्णयात्मक प्रवृत्ति भी कम न रही। साहित्य और भाषा विषयक अनेक इतिहास भी इस काल में लिखे गये। कवियों की रचनाओं और काव्यग्रन्थों का भी पर्याप्त प्रचार रहा। इस युग में समालोचना-कार्य को विकसित बनाने में जिन विद्वानों ने अधिक सहयोग दिया उनमें विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों का विशेष हाथ था। निष्कर्ष यह है कि इस युग की समालोचना द्विवेदी-युग का ही विकसित रूप है जिसको स्वतन्त्र विधान में प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। शुक्ल जी के समीक्षण-कार्य का मूल्यांकन उसका विकास समझने का सर्वोत्तम साधन है। यदि व्यक्तित्व का युग-निर्माण में महत्त्व स्वीकार किया जाय तो समालोचना का विकास-काल शुक्ल जी का ही पर्यायवाची शब्द बन कर उपस्थित हुआ है। इस विचार से प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं। सच तो यह है कि शुक्ल जी ने अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं को विकसित बनाकर ऐसे स्थान पर उपस्थापित किया है, जहाँ से भावी साहित्यालोचन को भी विकास मिला है। अतः प्रस्तुत अध्याय में मुख्यतः शुक्ल जी की समीक्षाओं का विशद् विवेचन किया जायगा जिससे उनकी उन उपपत्तियों का स्पष्टीकरण हो सके जिनसे विकास-काल का निर्माण हुआ है। तदुपरान्त अन्य समालोचकों के कार्यों का पूर्व प्रयुक्त विधि से समीक्षण किया जायगा।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

युग-परिस्थिति और साहित्य-प्रवेश

पं० रामचन्द्र शुक्ल में बाल्यकाल से ही साहित्य के प्रति अभिरुचि थी। किशोरावस्था से ही उन्होंने साहित्यिक मित्रों की एक ऐसी गोष्ठी का निर्माण कर लिया था जिसमें समय-समय पर विविध प्रकार की काव्य-चर्चाओं के साथ-साथ रचनात्मक साहित्योन्मेष के प्रयास भी चला करते थे। प्रारम्भ में तो उनके पिता जी को उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति अरुचिकर लगी किन्तु शनैः-शनैः वे भी सूर और तुलसी आदि काव्यकारों की कृतियों में रुचि रखने लगे तथा उनके हृदय में भी बालक रामचन्द्र की काव्य-प्रवृत्तियों के प्रति स्नेह सा उत्पन्न हो गया। अपने बाल्यकाल में पं० केदारनाथ पाठक की कृपा से शुक्ल जी को हिन्दी का समृद्ध पुस्तकालय प्राप्त हुआ जिसके द्वारा वे अत्यधिक लगन और तल्लीनता से अपनी ज्ञान-वृद्धि करने लगे। वय-क्रम के विकास के साथ-साथ उन्होंने हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का व्यापक अध्ययन करना प्रारम्भ किया और वे शनैः-शनैः प्राचीन और नवीन काव्यों के मौलिक विभेद को भी समझने लगे। उनका नवीन साहित्य से परिचय सर्वप्रथम नाटक और उपन्यासों से हुआ था और उनकी लालसा प्राचीन की अपेक्षा नवीन साहित्य की ओर अधिकाधिक बढ़ने लगी थी।[1] मिर्जापुर में रहते हुए उन्हें एक अच्छा-सा साहित्यिक वातावरण मिल गया। उन दिनों वहीं से भारतेन्दु मंडल के देदीप्यमान नक्षत्र स्वर्गीय पं० बदरीनारायण जी चौधरी 'प्रेमघन' अपनी प्रसिद्ध पत्रिका "आनन्द-कादम्बिनी

---

१ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (सं० गुलाबराय तथा विजयेन्द्र स्नातक)
आत्म-संस्मरण प्र० संस्करण सन् १९५८, पृष्ठ ४।

का अध्ययन करते थे। शुक्ल जी बड़ी मधुर भावनाओं से संचालित होकर उनके सम्पर्क में आये और उस पत्रिका द्वारा उनके हृदय में साहित्य के प्रति और भी अधिक आकर्षण उत्पन्न हो गया। वे उसमें अपनी रचनाएं भी प्रकाशित कराने लगे।[1] इन्हीं दिनों स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' भी गिरता-पड़ता चल रहा था तथा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्नों की धूम भी मची हुई थी। साथ ही साथ कचहरियों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रवेश के आन्दोलन भी चल रहे थे।[2] सभा ने प्राचीन साहित्य की खोज तथा नवीन साहित्य की अभिवृद्धि के भी प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे। उसकी 'पत्रिका' में अनेकानेक नवीन विषयों पर लेख भी निकलने लगे थे। इस प्रकार शुक्ल जी के साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने के समय हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि और भावी विकास के लिए ऐसे वातावरण का निर्माण हो गया था जिसमें उनका पदार्पण साहित्य-समीक्षा की अभिवृद्धि में अत्यन्त मंगलमय सिद्ध हुआ। उन्होंने काशी-निवास के समय से ही साहित्य-सेवा और उसकी समृद्धि का व्रत धारण किया जो जीवन पर्यन्त चलता रहा। निस्सन्देह उनके कार्यों की गुरुता साहित्य-संसार में ऐसी व्यापक सत्ता प्राप्त कर सकी जिसने उन्हें हमारे साहित्यालोचन के क्षेत्र का एक महारथी बनाया। कहना होगा यद्यपि उनकी बहुमुखी प्रतिभा के विकास के और भी अनेक क्षेत्र थे किन्तु साहित्य-समालोचना और निबन्ध साहित्य में उनके समान अन्य कोई मेधावी लेखक नहीं हुआ। यही कारण है कि उनका साहित्य-सेवाकाल समालोचना-साहित्य के विकास में 'शुक्ल-युग' के नाम से प्रख्यात है।

समालोच्य विषय और रचनाएं

४ आचार्य शुक्ल के साहित्यिक कार्यों का प्रारम्भ एक प्रकार से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हिन्दी-कोष-योजना से हुआ था। वे सर्वप्रथम उक्त कोष के लिए शब्द-संग्रह का कार्य करने के लिये नियुक्त किए गये और तदुपरान्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सहायक सम्पादक नियुक्त हुए। कोष-कार्य की समाप्ति के पश्चात् उन्हें काशी विश्वविद्यालय में निबन्ध-लेखन की शिक्षा देने के लिए अध्यापनवृत्ति मिली और जब वहाँ के पाठ्यक्रम में हिन्दी भाषा और साहित्य को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थान दिया गया तो वे भी हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा समीक्षण का अध्यापन कार्य करने लगे। डा० श्यामसुन्दरदास के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् वे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और उस पद पर वे जीवन-पर्यन्त अधिष्ठित रहे। साथ ही साथ उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी कई वर्षों तक किया। उनकी प्रतिभा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। जहाँ तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रश्न है, वे पहले ऐतिहासिक आलोचक हैं, जिन्होंने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करते हुए प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियों का परिचय देश की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव को लक्ष्यगत रखते हुए दिया और इतिहास के सुडौल ढांचे में कवियों तथा कृतियों की विवेचनात्मक समीक्षा कर उनका वास्तविक मूल्यांकन करने की चेष्टा की। उनके इतिहास से साहित्य की प्रचुर सामग्री को नूतन प्रकाश मिला है। आज उनके पश्चात् और भी अनेक साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों का निर्माण हो चुका है, किन्तु वे प्रायः सभी घूम फिर कर शुक्ल जी की ऐतिहासिक प्रणाली के पार्श्ववर्ती क्षेत्र की ओर ही उन्मुख होते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी पर

---

१ शुक्लजी का 'भाषा की शक्ति पर विचार' शीर्षक निबंध सन् १९०७ ई० में 'आनन्द-कादम्बिनी' (ज्येष्ठ आषाढ़) में छपा था जो कालान्तर में परिवर्तित होकर 'भाषा की शक्ति' शीर्षक से नागरी प्रचारिणी पत्रिका में सन् १९१ में प्रकाशित हुआ।

२ 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' प्रथम संस्करण सन् १९५१ प्रथम संस्करण पृष्ठ ४।

जो गम्भीर विस्तृत समालोचनाएँ लिखी हैं उनसे परवर्ती युग के समालोचकों और अनुसन्धाताओं को भी प्रेरणाप्रद मार्ग-दर्शन मिला है। 'चिन्तामणि' के दोनों भागों में संकलित उनके मनोवैज्ञानिक और समीक्षात्मक निबन्ध तो अपना स्थायी गौरव प्राप्त किये हुए हैं। रस-मीमांसा जैसे गम्भीर विषय को उन्होंने नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा है। इसी प्रकार आधुनिक युग की अनेकानेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने अपने व्यक्तित्व की चेतना से जिस प्रणाली में किया है वह हिन्दी समालोचना का आधारभूत प्रतिमान बन सकी है। उनके द्वारा निरूपित साहित्य-समालोचना का विवेचन और विश्लेषण करने के लिए साहित्य-चिन्तकों को अब भी पर्याप्त उपकरण प्राप्त हो सकते हैं। समालोचना के सिद्धान्त और प्रयोग पक्ष का उनके समान निर्वाह बहुत कम विचारकों में मिलता है।[1]

समालोचक-व्यक्तित्व और क्रान्त दृष्टि

५ शुक्ल जी निश्चय ही हिन्दी के गम्भीर समालोचक थे। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन किया था। इस अध्ययन में वे अपनी उपजात प्रतिभा के बल पर मौलिक उद्भावनाओं का भी समावेश कर सके थे। किसी भी वाद प्रवृत्ति अथवा मान्यता को वे तभी स्वीकार करते थे जब वह उनके मस्तिष्क में अच्छी प्रकार से जमा जाती अथवा उनके मूल में उन्हें अपने मनोनुकूल न्याय-भावना का तत्त्व सन्निहित मिलता। उनकी बौद्धिक चेतना और रसानुभूति इतनी उर्वर और प्रबल थी कि वे उनके द्वारा साहित्योदधि का सम्यक मन्थन कर एक ऐसा अमृत प्राप्त कर सके जिसने उन्हें वस्तुतः 'आचार्य' पद का अधिकारी बनाया। ऐसी तो कोई बात नहीं कि उनके पूर्ववर्ती युग में समालोचना में गाम्भीर्य पक्ष का प्रस्फुटन होना प्रारम्भ नहीं हुआ था किन्तु वस्तुतः वह गाम्भीर्य शुक्ल जी के समकक्ष न था। विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं का अध्यापन करने के साथ-साथ वे अपने अध्ययन को अधिक व्यापक बनाते गये और कालानुक्रम से

---

१. शुक्ल जी की समीक्षा-कृतियों का क्रिमिक-क्रम के अनुसार विवरण इस प्रकार है :

(अ) 'साहित्य' सरस्वती पत्रिका भाग ५, संख्या ५, ६, मई जून सन् १९०४ ई.।

(आ) 'अपनी भाषा पर विचार' 'आनन्दकादम्बिनी' (ज्येष्ठ आषाढ़) सन् १९ ०४।

(इ) 'उपन्यास' नागरी प्रचारिणी पत्रिका सन् १९१ जुलाई अंक।

(ई) भाषा की शक्ति नागरी प्रचारिणी पत्रिका सन् १९१२ ई.।

(उ) 'गोस्वामी तुलसीदास' रचनाकाल सं. १९८० विक्रमी तदनुसार १९२३ ई.।

(ऊ) जायसी ग्रन्थावली की भूमिका रचनाकाल सं. १९८१ वि. तदनुसार सन् १९२४।

(ए) भ्रमरगीतसार की भूमिका रचना काल सं. १९८२ वि. तदनुसार सन् १९२५।

(ऐ) भारतेन्दु साहित्य, प्रकाशन काल गोल भूमिका सं. १९८२ वि. तदनुसार सन् १९२।

(ओ) हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण १९८६ वि० तदनुसार सन् १९२९।

(औ) काव्य में रहस्यवाद प्रकाशन काल विक्रमाब्द १९ ६ तदनुसार सन् १९२९।

(अं) चिन्तामणि प्रथम भाग, प्रकाशन काल सन् १९३९ ई.।

(क) सूरदास, प्रकाशन काल सम्वत् २ वि० तदनुसार १९४३ ई.।

(ख) चिन्तामणि द्वितीय भाग प्रकाशन काल सं. २ २ वि. तदनुसार सन् १९४५ सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

(ग) रस-मीमांसा रचना काल सन् १९२२ के आस-पास प्रकाशन काल सं. २ ६ वि. तदनुसार १९४९ ई. विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

(घ) चिन्तामणि तथा रस मीमांसा में उनके भिन्न-भिन्न समयों में लिखे गये लेखों का संकलन और प्रकाशन है जिनकी तिथियाँ अलग-अलग हैं किन्तु उन सब का एक ही स्थान पर समाहार होने के कारण विचार यहाँ पर अलग-अलग उल्लेख नहीं किया गया है।

उसमें गम्भीरता का समन्वय भी होता गया। यह उनके गाम्भीर्य का ही प्रतिफल था कि वे हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी मानसिक शक्ति का उन्मेष कर सके और साहित्यालोचन का क्षेत्र तो उनकी मार्गदर्शी और रसग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा और भी अधिक उपकृत हुआ। यह उन्हीं के समान तत्त्वाभिनिवेशी और सुधी समालोचक की ही देन है जिससे हिन्दी में समालोचना का एक स्वतन्त्र मानदण्ड स्थापित हो सका और उसकी मूलभूत प्रेरणा उनके गाम्भीर्यवश विपुल मात्रा में स्थायी और चिरंतन बन सकी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी वे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचनाएँ हैं, जो उनके गम्भीर व्यक्तित्व के तानों-बानों से निर्मित और स्वतन्त्र चेतना से उद्भासित हैं।

६. आचार्य शुक्ल का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि वे समालोचना-साहित्य में एक अद्भुत क्रान्ति और युग-परिवर्तन कर गये हैं। उनका आविर्भाव-काल भारतेन्दु-युग का अवसान और द्विवेदी युग का प्रारम्भ था किन्तु वे अपने सम्मुख प्रवाहित युग-धारा के ही अनुवर्ती नहीं रहे, अपितु वे उसे बहुत दूर तक आगे ले गये। उन्होंने एक सफल समालोचक के रूप में अपने युग की प्रवृत्तियों का सम्यक् आलोचन किया और उन्हें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि उनमें किन-किन अंशों तक संकीर्णता अथवा दुराग्रह और पूर्वग्रह के भाव सन्निहित हैं। साथ ही साथ युग-धर्म की आवश्यकता और जीवन-साहित्य की सर्जना के तत्त्व-बिन्दु भी उन्हें अकस्मात् अवगत हो गये। उनके रसग्राही मस्तिष्क में रीतिकालीन काव्य-धारा की रूढ़िग्रस्तता और भारतेन्दु-युग की जागरण भावना भली भाँति प्रविष्ट हो गई और उन्होंने अपनी सहज सम्वेदना के द्वारा वस्तु-परिस्थिति की नाड़ी-परीक्षा कर यह जान लिया कि साहित्य को किस दिशा की ओर उन्मुख करने की आवश्यकता है। उन्होंने उस युग में उद्भूत साहित्य समालोचन के उस [illegible] का उन्मूलन करने में भी कोई कमी नहीं रखी जो साहित्य-जगत् की संजीवनी शक्ति को क्षीण कर रहा था तथा जिसके कारण वाद प्रतिवादों का घटाटोप उसके सहज और स्वाभाविक विकास में अवरोधपूर्ण बनने लगा था। उन्होंने समझ लिया कि साहित्य की प्रकृत भावभूमि में परिष्करण की अत्यन्त आवश्यकता है और यह परिष्करण तभी हो सकता है जब कोई साहित्य-मेधावी समीक्षक विरोधी शक्तियों के साथ सतत संघर्षशील बनकर चले। यही कारण है कि उन्होंने अपने अध्ययन को अधिकाधिक रूप में व्यापक और गम्भीर बनाना समीचीन समझा और वे उस अध्ययन और चिंतन के बल पर ही साहित्य जगत् में अपने सुदृढ़ चरण स्थापित कर एक आचार्य के रूप में साहित्य का सच्चा निर्देशन सफलतापूर्वक कर सके। उनकी मान्यताओं और धारणाओं के पीछे एक ठोस शास्त्रीय आधार था और वे जीवन की अनुभूति का मंथन कर उसे ऐसी स्वस्थ अभिव्यक्ति दे सके थे जिसने उन्हें समालोचना जगत् का एक स्थायी स्तम्भ बनाया। वस्तुतः वे साहित्यालोचन के महदाकाश में इस प्रकार छा गये कि उस पर उनका उज्ज्वल आलोक अद्यावधि प्रोद्भासित है और उनकी परवर्ती समालोचना भी उनके महान् व्यक्तित्व की परिधि को लाँघकर निरपेक्ष सत्ता का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकी है। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी आज का समालोचक उनके साहित्य सिद्धान्तों के सम्मुख नतमस्तक है और वह उन पर व्यंग्य अथवा आक्षेप करता हुआ भी उनसे प्रभावित है। इसे उनकी [illegible] और युग प्रवर्तक प्रज्ञा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? निश्चय ही उनका व्यक्तित्व आधुनिक समालोचना का मेरुदण्ड है जिसके बिना यह पंगु और अशक्त ही मानी जायगी। डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन हमें समीचीन प्रतीत होता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के गौरव थे। समीक्षा क्षेत्र में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन-काल में था न अब कोई उनके समकक्ष समालोचक है। आचार्य शुक्ल ऐसे ही कर्ता साहित्य

कारों के योग्य है। पं. रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे।[1]

आधारभूत सामग्री और मूल विचारधारा

७. आचार्य शुक्ल की संस्तुति में जो कुछ कहा गया है उसका यह अभिप्राय नहीं कि उनका समालोचक-स्वरूप सर्वतोभावेन मौलिक और स्वावलम्बी था तथा वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में कोई अद्वितीय उद्भावना करने वाले अद्भुत चिंतक थे। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने प्राचीन और नवीन ज्ञान-राशि का चयन बड़ी कुशलता और सतर्कता से कर अपने समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण किया था। वे एक ओर जहाँ संस्कृत-साहित्य की अपार शास्त्र-निधि से सुपरिचित थे, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी साहित्य की सैद्धान्तिकता भी उनके अध्ययन-क्षेत्र से बहिर्गत नहीं थी। यह सब कुछ होने पर भी वे किसी विशेष वर्ग या संकीर्णता से बंधन-ग्रस्त कभी नहीं हुए। उन्होंने अपने समालोचना-शास्त्र के निर्माण में दोनों का यथोचित आधार और प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु उन्हें केवल उसी अंश तक स्वीकार्य समझा है, जिस अंश तक उन्हें उसमें औचित्य का आभास मिला है। उन्हें न तो प्राचीन परम्परावादी ही कहा जा सकता है और न विशुद्ध नवीनतावादी ही। वस्तुतः वे प्राचीनता और नवीनता की संधि में उभय कूलों का संस्पर्श कर चलने वाले ऐसे मर्यादा-वादी समालोचक हैं, जिनकी संस्कारजन्य मान्यताएँ वर्णाश्रम धर्म से आपूरित हैं और वे द्विवेदी-युग की नैतिकता और आदर्शवादिता के ठोस धरातल पर स्थित होकर भी उससे दूरगामिनी दृष्टि भी रखते हैं। यही कारण है कि उनके समीक्षा-क्षेत्र में कलावाद, सौन्दर्य-शास्त्र और अभिव्यंजनावाद आदि नवीन तथा विविध विचारधाराओं के निर्बंधक विवादग्रस्त विषय भी आने से नहीं बच सके हैं। उनकी विचारधारा पर किस वर्ग का अधिक प्रभाव है, इसका निष्पक्ष निर्णय करना तो कठिन है किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उनकी साहित्य-विषयक धारणाओं के निर्माण में भारतीय रस सिद्धान्त का अधिक प्रभाव है। कुछ भी हो वे जो कुछ भी हैं अपने में सच्चे और निर्भीक समा-लोचक हैं और उन्हें किसी का अन्धानुयायी बनकर चलना तो सर्वथा अरुचिकर लगा है। अपने विचारों की दृढ़तावश उन्होंने इस बात की कभी चिन्ता नहीं की कि उनके दृष्टिकोण को कोई हठवादितापूर्ण कहेगा या उन्हें संकीर्णतावादी की संज्ञा से अभिहित करेगा। वे तो जिस विषय को जिस रूप में हृदयंगम कर सके थे उसे उसी प्रकृत रूप में विवेचित करते चले हैं। निश्चय ही यह उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक ऐसा विशिष्ट गुण है जिसके कारण उन्होंने काव्य में रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद और कल्पनावाद आदि को केवल वहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक वे उसमें अपनी मनोभूमि के अनुकूल तत्त्व पा सके। यहाँ तक कि विश्व-कवि रवीन्द्र के काव्य तथा टालस्टाय आदि की आदर्शवादिता भी उन्हें एक निश्चित स्वरूप तथा सीमा में ही मोह सकी है। उनकी ऐसी दृढ़ता तथा विवेचन-शक्ति को देख कर यदि उन्हें हिन्दी का ही नहीं, अपितु आधुनिक भारतीय साहित्य का एक समर्थ समालोचक कह दिया जाय तो इसमें अतिशयोक्ति का किंचित्मात्र भी अंश न होगा।

८. आचार्य शुक्ल का साहित्यालोचन के क्षेत्र में प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उनके पूर्व प्राचीन भारतीय-साहित्य शास्त्र को नवीन दृष्टिकोण से मूल्यांकित करने का कोई सम्यगम प्रयत्न नहीं हुआ था। संस्कृत साहित्य में रस अलंकार, ध्वनि आदि को लेकर जो कुछ लिखा गया था उसका शास्त्रीय आधार अवश्य था किन्तु उसे नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति' नहीं मिल सकी थी।[2] रीतिकाल में तो जो कुछ लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए थे वे अधिकांशतः उनकी अनुकरणी मात्र ही बने रहे

१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल। सं. गुलाबराय और विजयेन्द्र स्नातक में डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी का "आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' शीर्षक लेख, पृष्ठ २५।
२. पं. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आचार्य शुक्ल का अध्ययन' पृष्ठ ५६।

और उनमें भी अनेक स्थलों पर एकांगी तथा अपूर्ण मीमांसा का ही प्रादुर्भाव हुआ। भारतेन्दु-काल में साहित्य रचयिताओं का प्रमुख ध्यान रचनात्मक साहित्य के उद्भावन की ही ओर रहा। द्विवेदी युग केवल नैतिकता और सुरुचिपूर्ण आदर्श तक ही परिसीमित रह गया और उसे प्राचीन रीति काव्य-शास्त्र में श्रेयस्कर और ग्राह्य तत्त्वों की उपलब्धि नहीं हुई। इस प्रकार साहित्यालोचन के क्षेत्र में बनी हुई एकांगिता को दूर कर व्यापक दृष्टि से अनुरूप कार्य करने की प्रबल आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति के लिए प्राचीन और नवीन साहित्य का निष्पक्ष विवेचन सर्वतोभावेन वांछनीय था। कहना होगा शुक्ल जी ने इन समस्त बातों का सम्यक् चिंतन और गम्भीर मनन किया और वे प्राचीन साहित्य-शास्त्र को नवीन आलोक में देख सके। उन्होंने रसवाद की मीमांसा भारतीय और पश्चिमी विचारधारा का सम्यक् सामंजस्य करते हुए की और वे अलंकारवाद की रूढ़िग्रस्तता को दूर कर उसे जीवन-सौन्दर्य का पर्याय बना कर ग्रहण कर सके। यह उनकी उच्च काव्य-भावना का ही परिणाम था कि वे समालोचना के क्षेत्र में एक नवीन रूप और प्रकार उद्भावित कर सके और उनकी विचारधारा का एक निश्चित मानदंड बन सका। यह बात अवश्य है कि उनकी मान्यताओं में अनेक स्थलों पर वैयक्तिक रुचि वैभिन्न्य का प्राधान्य होने से भी नहीं बच सका जिसके कारण वे अनेक स्थलों पर एकांगी निर्णय ही दे पाए। उदाहरणार्थ उन्होंने कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध रचना को मुक्तक-काव्य की समता में श्रेष्ठतर माना और निर्गुण-सगुण के विवेचन में वे सगुणवादी धारा की ओर ही अधिक झुके। *इसी प्रकार उनके मानस में तुलसी के प्रति इतना अधिक श्रद्धाभाव समाहित था कि वे मुख्यतः* उन्हीं की काव्य रचनाओं को अपनी समालोचना की सैद्धान्तिकता का आधार बनाकर चले और केशव को हृदयहीन तथा कबीर को मूर्खपन्थी तक कहने में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। रहस्यवाद और छायावाद के प्रति उनके मन में एक ऐसी आक्रोश भावना-सी प्रविष्ट हो गई थी जिसके कारण वे उसके काव्यगत प्रयोग को विदेशी तथा अग्राह्य ही समझते रहे और उसका विवादग्रस्त स्वरूप उन्हें महत्त्वहीन सा लगा। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद तो उन्हें 'भारतीय वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' से अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। इसी प्रकार कलावाद कल्पनावाद और स्वच्छन्दतावाद भी उनके मस्तिष्क में उनकी निजी धारणा के अनुसार ही आकार ग्रहण कर सके। उन्हें डी० एल० राय की रचनाओं में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की कृतियों की अपेक्षा जो उच्च भाव-संवेदन मिला उसके मूल में भी उनकी वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य है। *अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी की अपनी निजी विचारधाराएँ तथा सीमाएँ थीं और वे प्रत्येक विषय* को उन्हीं के अनुरूप ही ग्रहण करते थे। इस एक दृष्टि से उनकी मान्यता सम्बन्धी संकीर्ण परिधि भी कहा जा सकता है तो दूसरी ओर उनके समुन्नत व्यक्तित्व का मूर्तिमान निदर्शन भी माना जा सकता है। इसका एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि शुक्ल जी की ये मान्यताएँ अपने वैयक्तिक अवरोध में ग्रस्त होने पर भी भविष्य के विकास की वे रत्न-शिलाएँ हैं, जिनसे समालोचना-साहित्य आगे बढ़ने का इंगित पा सका है।

मर्यादित भावना और युग-प्रभाव

२ आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि उन्होंने अपनी काव्य-समीक्षा में बड़े समारोह के साथ सामाजिक सम्पर्क का आह्वान किया है।[1] वे सर्वत्र लोकजीवन की पृष्ठभूमि के परिवेश में ही अपना समीक्षण-कार्य करते चले हैं और उनका विवेचन जीवन-जगत् की प्रत्यक्ष अनुभूति के ठोस आधार पर स्थित है। इस प्रसंग में यह जानना भी आवश्यक है कि वे अपने युग के सशक्त समालोचक होने पर भी आधुनिक साहित्य की नवीनतम

१ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य शुक्ल का मूल्यांकन पृष्ठ ८१।

[वृ]त्तियों के साथ अधिक तादात्म्य नहीं कर सके थे। यही कारण है कि वे नवतर काव्य के [प्र]ति बहुत कम नम सके। एक प्रकार से उनकी जीवन-संवेदना नवीन वादों और शैलियों के प्रति [ऐं]ठ सी रही। वे यूरोप के साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित तथा अन्यान्य साहित्यों पर अपना प्रभाव [डा]लने वाले वादों का समुचित समर्थन नहीं कर सके। उन्होंने उन वादों को बरबस हुए [वा]दों जैसी चीज बतलाया और पश्चिमी साहित्य की समृद्धि की पृष्ठभूमि में उनसे उनका स्वस्थ [सम]न्वय नहीं हो सका। वे न तो इन काव्यवादों की कलात्मकता और सौन्दर्य-वृत्ति का ही सम्यक [आ]कलन कर सके और न परिवर्तित सामाजिक अथवा राजनीतिक क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय परि[स्थि]ति का ही समुचित लेखा जोखा दे सके। परिणाम यह हुआ कि उनका साहित्य-विवेचन यथेष्ट [रूप] में मध्ययुगीन विचारधारा की क्रोड में ही सीमाबद्ध हो गया। उन्होंने तुलसी के मानस को [लोक]ता आप्त-वाक्य बनाकर जिस लोक-धर्म के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की वह भारतीय वर्णाश्रम-धर्म [का ही] अनुस्यूत था और उसमें मध्य वर्ग की वे आदर्शात्मक प्रेरणाएँ थीं जिनका प्रस्फुटन बीसवीं [श]ताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। अतः यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी का दृष्टिकोण मानस में [क]ल्पित हिन्दू-समाज पद्धति और आदर्शवाद का ही परिणाम है जिसे उन्होंने सार्वदेशिक व्यवस्था [का] स्वरूप देने का यथाशक्य प्रयास किया है।[1]

१ शुक्ल जी के समालोचक-स्वरूप के निर्माण में उनकी समकालीन परिस्थिति और [उन]की सीमाओं का भी यथेष्ट हाथ है। वे द्विवेदी-युग की देन थे जो आदर्श नीति और सुरुचि [के] संवेदनाओं से निर्मित था। उन्होंने इसका पूर्ण निर्वाह अपनी साहित्य-समालोचना में किया। [उ]नके अपने उच्च कोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप उस पर अंकित करते चले और उनका [स्म]रण साहित्य के समस्त अंगों का सम्यक् विन्यास करने की प्रवृत्ति से हुआ। यद्यपि उसमें मुख्य [वि]वेचना काव्य-विषयक ही रही। उन्होंने अपनी आलोचनाओं द्वारा साहित्य को यह संदेश दिया [कि] वह अपने सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख होकर चले। उन्होंने उन आलोचकों पर कठोर [प्रहा]र किया जो समीक्षा के एक ही अंग अथवा उसकी संकीर्ण परिधि में सिमट कर रह जाते हैं [अथव]ा जिनमें अधिकांशतः अपने पक्ष के समर्थन का दुराग्रह प्रबल होता है। उन्होंने ऐसी आलो[चन]ाओं को किसी भी दृष्टि से साहित्याभिवृद्धि के लिए उपादेय नहीं बतलाया और यही कहा कि [इस]से व्यर्थ ही भ्रांतिपूर्ण वातावरण की सृष्टि होती है। जो आलोचक ऐसी प्रवृत्ति से ग्रस्त हैं, [उन्ह]ें उन्होंने साहित्यिक पत्रकोषों को उड़ाने की प्रवृत्ति वाले कहा है क्योंकि उनके द्वारा साहित्य[िक] प्रस्तावना को दिव्य मजाक कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। अभिप्राय यह है कि आचार्य शुक्ल [ने] अपने मौलिक दृष्टिकोण से साहित्य का परीक्षण करने की चेष्टा की है। आगे के पृष्ठों में [उन]की वाद-समीक्षाओं तथा समीक्षागत सिद्धान्तों का विवेचन कुछ विस्तार के साथ किया जायगा [जि]ससे यह स्पष्ट हो सके कि शुक्ल जी की मनोभूमिका कितनी उदात्त और परिपक्व थी और वे [कि]स प्रकार का मानदंड समीक्षा क्षेत्र में स्थापित करना चाहते थे। इसके लिए पहले हम उनके [काव्]य में रहस्यवाद और अभिव्यंजनावाद विषयक विवेचन को लेंगे जो उनके 'चिन्तामणि द्वितीय [भा]ग' में संकलित है तथा तदुपरान्त 'रस-मीमांसा' के आधार पर उनके सैद्धान्तिक विवेचन का [स्प]ष्टीकरण करेंगे।

वाद-समीक्षा और आचार्य शुक्ल काव्य में रहस्यवाद

[रचना]त्म प्रेरणा और उद्देश्य

११ रहस्यवाद आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-काल में सैद्धान्तिक समीक्षा

1 पं० नंद दुलारे वाजपेयी, आचार्य शुक्ल का अभिनन्दन २ पृष्ठ १०-११।

भ्रम एक ऐसा विषय रहा है, जिस पर हिन्दी के प्रायः समस्त गण्यमान समालोचकों ने यथामति विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं के अन्तर्गत भी इस सम्बन्ध में अनेक बार उल्लेख हुआ है, जो उनके एतद्विषयक दृष्टिकोण को समझने में परम उपयोगी है। द्विवेदी-युग के संवर्धन काल में रहस्यवाद के प्रकृत स्वरूप का विश्लेषण करने की भावना से उसके पक्ष-विपक्ष में एक युग पर्यन्त सुधी समालोचकों में भी वाग्युद्ध चलता रहा जिसमें अपने पक्ष का समर्थन करने की जितनी अधिक प्रवृत्ति थी उतनी निष्पक्ष भाव से तथ्यनिरूपण की नहीं। ऐसी समालोचनाओं ने जहाँ एक ओर अपरिपक्व अध्येताओं के लिए तत्त्व-ग्रहण करने की अपेक्षा (तत्त्वोपलब्धि के स्थान पर) विषय-विवेचन की उलझनों में उलझने के लिए अधिक अवकाश दे वहाँ दूसरी ओर मेधावी जिज्ञासुओं को उसके वाग्जाल से ऊपर उठकर वास्तविक चिन्तन की ओर अग्रसर होने के लिए भी प्रेरणा दी। यह समय आचार्य पं॰ रामचन्द्र शुक्ल के समालोचक-व्यक्तित्व के महिमामय विकास का था अतः उन्होंने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति में सक्रिय भाग लिया जिसका परिणाम था उनकी 'काव्य में रहस्यवाद' नामक समीक्षा-कृति का प्रकाशन। इसका मूल उद्देश्य आचार्य के शब्दों में यह था कि 'रहस्यवाद या छायावाद की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या जान बूझ कर जो अनेक प्रकार की बेसिर-पैर की बातों का प्रचार किया जाता है वह बंद हो।'"[1]

१२ आचार्य शुक्ल की 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक का अध्ययन करने से यह सहज ही आभास हो जाता है कि उन्होंने इसकी रचना तत्त्व-प्रकाशन की भावना से एक विशेष प्रकार की झुंझलाहट की थी। बात यह थी कि उस समय कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यपरक काव्य-कृतियों की प्रतिच्छाया हिन्दी के नवोदित स्वच्छन्दतावादी कवियों की अन्तश्चेतना पर सहज भाव से प्रतिबिम्बित होने लगी थी और हमारे काव्यकार द्विवेदी-युग की स्थूल नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए सूक्ष्म-सौन्दर्य-चित्रण की ओर क्षिप्रगति से बढ़ रहे थे जिन पर अंकुश लगाना[2] उस युग के कोटि के समालोचकों का कर्तव्य-सा हो गया। इसका यह आशय नहीं कि कवियों की इस प्रकार की आत्मपरक प्रवृत्ति में उच्छृंखलता का ही अभिव्यंजन प्रधान था जिसका दमन आवश्यक था। यदि गंभीरतापूर्वक देखा जाय तो इन नवीन कवियों के काव्य का सौष्ठव-विधान अत्यन्त भव्य और शालीन था किन्तु उनके अनुकरण पर जब काव्य-क्षेत्र में वितंडावाद की सृष्टि होने लगी और कतिपय साहित्यकारों द्वारा रहस्यवाद या छायावाद को 'वर्तमान युग की एकमात्र कविता' एवम् उसे ही काव्य का सर्वस्व मानकर साहित्य-क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रवाद फैला दिये गये तो उनकी इस एकातिरेकता का निराकरण करना समयोचित प्रतीत होने लगा। अतः पं॰ रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इस विस्तृत निबन्ध द्वारा काव्य के प्रकृत क्षेत्र का निर्धारण कर उसके अन्तर्गत रहस्यवाद की संस्थिति का निरूपण किया। निश्चय ही उनका प्रस्तुत विवेचन सर्वग्राह्य धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं है, और उसके दृष्टिकोण की विशेष सीमाएँ भी हैं, जिनका उल्लेख रहस्यवाद के समर्थक कवियों और समालोचकों ने अपनी समीक्षा-कृतियों में किया है। किन्तु यह बात निर्भ्रान्त है कि शुक्ल जी के इस विवेचन ने एक बार समीक्षा-क्षेत्र में आन्दोलन सा उत्पन्न कर दिया और उनके विवेचित तथ्य के व्यावहारिक पक्ष ने अनेक कृत्रिम रहस्यवादी काव्यकारों के आसन हिला दिये।

विवेचना का आधार और रहस्यवाद की स्थिति

१३ आचार्य शुक्ल में विषय-निरूपण की एक संतुलित दृष्टि थी वे मुख्य विषय पर

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, दूसरा भाग, 'काव्य में रहस्यवाद' तृतीय आवृत्ति, संवत् २०१० पृ० ५२।
२. वही।

आने से पूर्व अपनी तर्कशक्ति द्वारा एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर लेते थे जिसके आधार पर अन्य विवेचना को अग्रसर किया जा सके। यही कारण है कि उन्होंने काव्य में रहस्यवाद का स्थान निर्धारण करने के पूर्व काव्य का लक्षण निरूपित किया और तदुपरान्त इस विषय का संयोजन कर की चेष्टा की कि काव्य की प्रकृतभूमि में रहस्यवाद की प्रतिष्ठा के लिए किस आकार प्रकार गुंजाइश हो सकती है। वैसे तो उन्होंने 'कविता क्या है'[1] शीर्षक अपने एक समालोचनात्मक निबन्ध में भी इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया है, किन्तु इस प्रसंग में भी उनके लिए यह आवश्य हो गया है कि वे काव्य या कविता का स्वरूप निरूपित करें। ऐसा करते हुए वे प्राचीन शास्त्री समालोचकों की भाँति काव्य का कोई सूत्रबद्ध लक्षण तो नहीं निर्दिष्ट कर सके हैं, किन्तु उनकी परिभाषा से काव्य का उद्देश्य और प्रयोजन अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। निश्चय ही उनका काव्य प्रयोजन भारतीय आदर्शवाद की परम्परा के बहुत निकट है जिसके द्वारा वे काव्य की सम्प्रेषण शक्ति का आभास यह कह कर देते हैं कि 'कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।'[2] ऐसा कहते हुए वे काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और सब मनोविकारों के लिए प्रकृति के आधार-क्षेत्र से आलम्बन या विषय चुन चुन कर रखना निर्दिष्ट[3] कर, काव्य का सम्बन्ध जगत् और जीवन की अनेकरूपता के साथ स्वतः जोड़ देते हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-विषयगत प्रत्यक्ष दृष्टि सगुणोपासना की भाँति व्यक्त और गोचर जगत् को काव्योपकरण बनाने में अधिक संगति पाती है, और यही कारण है कि वे रहस्यवाद में वर्णित अव्यक्त की लालसा को अपनी काव्य-सरणि में कोई महत्त्व नहीं देते।

१४ शुक्ल जी का काव्य-प्रतिमान भावों का उदात्त और व्यापक विधान पर अवलम्बित था। वे जीवन के सौन्दर्य को वैचित्र्यपूर्ण मानते हुए उसमें सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने निष्क्रिय सौन्दर्य-चित्रण को केवल स्वप्न-दृश्यों का उपभोग बतला कर उसमें उस व्यापक भावभूमि का अभाव सिद्ध किया है, जिसकी परिणति में 'व्यक्ति-जीवन लोक-जीवन में लय' होकर उसमें विश्व-हृदय का स्पंदन पाता है।[4] उनकी काव्य-परीक्षा की इसी कसौटी ने उन्हें जहाँ एक ओर महात्मा टालस्टाय की लोकादर्शवादिता की एकांगी मनोवृत्ति के विरुद्ध में अपना मत देने के लिए बाध्य किया है, वहाँ दूसरी ओर वे विश्व-कवि रवीन्द्र की कविता में भी अलौकिक स्वप्न-दर्शन की एक ऐसी अतिरेकता पाते हैं, जिसके कारण उसमें जीवन के वैभिन्न्य का परिग्रहण न्यूनांश में ही हुआ है। अतः शुक्ल जी रहस्यवादियों के कल्पना परम्परा में चित्रित सौन्दर्य को एकपक्षीय घोषित कर उसे काव्य का सर्वांगीण पक्ष नहीं मानते क्योंकि उसमें केवल स्वप्न-संयोजन ही रहता है, जबकि जीवन में जागरण की महत्ता उससे कम नहीं है।[5] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस धारणा के मूल में भी आचार्य शुक्ल का रहस्यवाद के उस स्वरूप पर व्यंग्य है जो जीवन में केवल प्रेम शान्ति तथा स्वप्न-दर्शन की तो उपयोगिता

---

१ यह निबन्ध सर्वप्रथम सन् १९०९ में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। तदुपरान्त सन् १९११ ई० में हिन्दी निबन्धमाला भाग १, में संकलित किया गया। सन् १९३९ में जब चिन्तामणि प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ तो यह उसमें भी संगृहीत हुआ।

२ पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में रहस्यवाद, [illegible] पृ० ४९, ५०।

३ वही, पृष्ठ ४७।

४. वही पृष्ठ ४६।

५ वही पृष्ठ ४६।

ममता है किन्तु जिसमें मानव-जीवन की लोम-विलोम प्रकृतियों के सामंजस्यपूर्ण उद्घाटन की क्रियमाण चेष्टा नहीं है। इस प्रकार शुक्ल जी रहस्यवाद की अन्तर्जगत् विषयक एकांगिता का निरूपण कर उसके दुर्बल पक्ष का विवेचन इस प्रकार करते हैं

'जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रत्यक्ष सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान की मंगलमयी शक्ति का दर्शन होता है अतः जो आँख मूँदकर काव्य का पता जगत् और जीवन से बाहर लगाने निकलते हैं, वे काव्य के धोखे में या उसके बहाने से किसी और ही चीज के फेर में रहते हैं। इसी प्रकार जो कोमल भाव या प्रमाद के प्रेम अभिलाषा लालसा या वियोग के नीरव-स्वर-क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्य भूमि समझते हैं उन्हें जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक भावात्मकता के सहारे संकुचितता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए।'[1]

१८. उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल द्विवेदी-युग की नैतिकता और सामाजिक आदर्श की दृष्टि का काव्य-परिवेश में संयोजन एक अनिवार्य तत्व मानते हैं। उनकी इस प्रकार की धारणा के निर्माण में अवतारवाद की निष्ठा और गोस्वामीजी की मर्यादावादी भूमिका का भी यथेष्ट भाग है। यह अवतरण उनकी अव्यक्त के प्रति अभिमानसिक प्रतिक्रिया का सूचक है, अन्यथा वे इतने कठोर शब्दों में उसका प्रतिकार नहीं करते। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अलख का राग अलापने वाले जोगियों पर चिढ़कर अपने एक दोहे 'तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच' में ऐसी ही मनोवृत्ति प्रकट की थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी काव्यानुभूति को किसी विशेष प्रकार की निराली और अलौकिक वस्तु नहीं समझते थे जिसका हमारे लौकिक और व्यक्त जीवन से कोई सम्बन्ध ही न हो। उनका यही दृष्टिकोण उन्हें रहस्यवादी कवियों की आध्यात्मिक चेतना से भिन्न स्तर पर प्रतिष्ठित करता है और वे इस प्रकार के काव्य प्रयोगों को भारतीय मान्यताओं के विरुद्ध समझते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुक्ल जी का यह प्रतिमान काव्य के लोक-मंगल पक्ष का अभिव्यंजक है और वे मुख्यतः इसी को अपनी समीक्षाओं का आधार बनाकर चले हैं, किन्तु जीवन की भाँति काव्य में भी अध्यात्म-चिन्तन के कुछ विशेष क्षण होते अवश्य हैं, इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संसार के सभी प्रमुख काव्यकारों की उत्कृष्ट रचनाएं उनकी इसी आत्मपरक या स्वांतः सुखाय भावनाओं से लिखी गई हैं। यहाँ तक कि शुक्ल जी के आदर्श और लोकप्रिय महाकवि तुलसीदास भी रघुनाथ-गाथा को 'स्वांतः सुखाय' कह कर विनय-पत्रिका में अपनी अंतस्साधना की अभिव्यक्ति के लिए अधिक अवसर पा सके हैं। वस्तुतः काव्य का निर्माण एक विशेष प्रकार की तन्मयता और असाधारण मनःस्थिति में होता है, अतः काव्य को केवल गोचर जगत् और व्यक्त जीवन की सीमाओं के अन्तर्गत ही केन्द्रित नहीं किया जा सकता। हाँ यह बात अवश्य है कि उसे एकमात्र हृत्तंत्री के नीरव तारों की झंकृति तक ही परिबद्ध समझना भी उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में शुक्लजी का प्रस्तुत दृष्टिकोण एक विशेष सीमा तक ही ग्राह्य समझा जा सकता है। सम्भव है, उन्होंने काव्य-क्षेत्र को लोक-सामान्य भावभूमि तथा उपयोगितावादी वास्तविकता प्रदान करने के लिए इस प्रकार का प्रतिमान स्वीकार किया हो और पश्चिमी समीक्षा क्षेत्र में प्रचलित 'कला के लिए कला' के अथवा 'काव्य के लिए काव्य' के सिद्धान्त की भारतीय साहित्य-शास्त्र में एकनिष्ठ पुनरावृत्ति देखकर ही अपने इन विचारों को अधिक दृढ़ता से निरूपित किया हो।

काव्य की प्रकृत भूमि और रहस्यवाद का क्षेत्र

१९ रहस्यवाद को काव्य की प्रकृत भाव-भूमि से निष्कासित करने के लिए शुक्ल जी ने

---

१ दे० उपर्युक्त ग्रन्थ : चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १ २१।

पूरी मोर्चाबन्दी-सी की है। वे अपने विवेचन के प्रसंग में बार-बार 'मनोमय कोश को काव्य की प्रकृत भूमि'[1] निर्दिष्ट कर जीवन के प्रबल-पक्ष से सम्बन्धित रचनाओं में शाश्वत युगीन काव्य-कोटि की प्रतिष्ठा करते हैं। इसी प्रकार उन्हें काव्य की सामान्यभूमि में किसी प्रकार की वाद-सृष्टि भी स्वीकार नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा उसे साम्प्रदायिक परिधि में आबद्ध कर दिया जाता है। सच तो यह है कि वे सिद्धान्त रूप में जगत को अव्यक्त की अभिव्यक्ति कहकर भी काव्य को अव्यक्त की अभिव्यक्ति नहीं मानते क्योंकि काव्य-भूमि प्रत्यक्ष आलम्बन चाहती है और वह प्रत्यक्ष आलम्बन केवल अभिव्यक्त जीवन ही हो सकता है। अतः वे प्रत्येक दशा में काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभिव्यक्ति को चित्रित करने की प्रेरणा से ही मानते हैं। प्रत्यक्ष जगत् से दूर हटी हुई कविता उन्हें 'आलस्य अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी ही'[2] लगती है। क्योंकि उसमें मंगल का सिद्ध रूप मुखरित नहीं होता तथा वह एक प्रकार से जगत और जीवन से पलायन करना सिखलाती है। अतः उनकी दृष्टि में जगत की अनेक रूपात्मकता की भाँति काव्य की अनेक भावात्मकता सग्राह्य है। यही कारण है कि वे रहस्यवादी कवियों द्वारा स्वीकृत प्रेम अभिलाषा विरह, औत्सुक्य हर्ष आदि विशेष मनोवृत्तियों के संकीर्ण घेरे में काव्य की व्यापकता को निबद्ध न कर उसे क्रोध भय उत्साह, घृणा आदि अन्यान्य भावों तक भी परिव्याप्त करना चाहते हैं जिससे जगत और जीवन में स्वस्थ सामंजस्य की प्रतिष्ठा हो सके तथा हमारी रागात्मिका वृत्ति के लिए परिष्करण का व्यापक क्षेत्र मिल सके।[4]

१७ शुक्ल जी के रहस्यवाद विषयक विवेचन के सम्यक् आकलन से यह स्पष्ट भासित हो जाता है कि वे उसकी अभ्यर्थना में जो भावुकतापूर्ण निर्णय नहीं दे सके उसका एक प्रमुख कारण उनकी मध्यकालीन विचारधारा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रहस्यवाद का एक स्वरूप ज्ञान-साधना की क्रोड में पनपने के कारण बहुत अधिक गूढ़ बन गया और उसमें साम्प्रदायिकता की गंध आने लगी किन्तु उसका एक सौष्ठवपूर्ण कलात्मक दृष्टिकोण भी रहा है इस सत्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हिन्दी-साहित्य की काव्य-परम्परा में जिस रूप और प्रकार में रहस्यवाद का उद्भव और विकास हुआ है, वह अपने काव्य चमत्कार और अर्थ-सौष्ठव की दृष्टि से अभिनन्दनीय है तथा वर्तमान काव्य निश्चय ही उसके द्वारा विकासोन्मुख और वैभवपूर्ण बना है, इसको अस्वीकार करना उसके विरोधी विचारकों के लिए भी सहज नहीं है। अतः शुक्ल जी उसके जिस स्वरूप को विदेशी छाया में पला हुआ सिद्ध करते हैं, वह कई स्थलों पर उनके पूर्वाग्रह का ही परिणाम है। पश्चिमी देशों में इस प्रकार की काव्यगत आध्यात्मिकता को उन्होंने भौतिक संघर्ष का प्रतिवर्तन कहकर उसे बनावटी फैशन से अधिक महत्त्व नहीं दिया है क्योंकि उसमें कवियों के सन्देश के नाम पर केवल कृत्रिमता और एकांगिता का ही प्रचार किया जाता है। सच तो यह है कि शुक्लजी का काव्यादर्श वाल्मीकि कालिदास तथा तुलसीदास जैसे भारतीय महाकवियों की विचारधाराओं के अधिक निकट था क्योंकि वे काव्य-निर्माता भी सम्पूर्ण चराचर तक अपनी मनोभूमिका प्रसारित कर जीवन और जगत की व्यापक सत्ता में अपने व्यक्तित्व का समाहार करना अपनी चरम संसिद्धि समझते थे। यदि ऐसा न होता तो उनके काव्य में भी अव्यक्त के एकांत स्वप्न देखने की प्रवृत्ति मिलती। अतः शुक्ल जी के मतानुसार काव्य का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से स्वतः सिद्ध है और जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उस काव्य-क्षेत्र

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि दूसरा भाग, पृष्ठ ७१।
२. वही, पृष्ठ २४।
३. वही, पृष्ठ ५१।
४. वही, पृष्ठ ५०-५१।

से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना रूप भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।'[1]

१८. शुक्ल जी ने रहस्यवाद को जिस अर्थ में विदेशी तत्त्व स्वीकृत किया है, उसका एक साम्प्रदायिक आधार भी है। वस्तुतः वे काव्य और दर्शन का क्षेत्र दो भिन्न-भिन्न रूपों में मानते थे तथा अव्यक्त तथा अगोचर को केवल ज्ञान का विषय समझते थे। उनका यहाँ तक विश्वास था कि 'ज्ञानातीत सत्ता से चाहे वह कोई सत्ता हो या न हो काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।'[2] वस्तुतः उन्हें उपासना की भाँति काव्य की अधिकतर रागात्मिका वृत्ति में ही अधिक आस्था थी। अतः वे वादग्रस्त काव्य को अधिकतर काव्याभास कहकर उसकी रहस्यपरक सरणियों को साम्प्रदायिक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। यही कारण है कि उन्होंने रहस्यवादी प्रवृत्तियों का सर्वत्र विरोध किया और जो लोग अव्यक्त के प्रति अपनी लालसा व्यक्त करते गये उन्हें भारतीय काव्य दृष्टि से सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध किया क्योंकि 'भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है अभिलाषा या लालसा नहीं। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है, उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रतिभाव का एक अंग है। अतः अव्यक्त या अज्ञात का अभिलाष बिलकुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत मानने वाले देशों में की गई है।'[3]

१९. अस्तु यह उद्धरण शुक्ल जी की रहस्यवाद विषयक उपपत्ति का मौलिक आधार है। इसी के प्रतिमान से उन्होंने रहस्यवादी *काव्यधारा को विदेशी प्रवृत्ति सिद्ध किया है।* उनकी इस मान्यता में भारतीय रस-निष्पत्ति के उस सिद्धान्त की भी छाया है जो काव्य में विभाव की मूर्तता को अपरिहार्य *अंग निर्दिष्ट करता है। उनका तो स्पष्ट मत है कि काव्य में अव्यक्त की लालसा सर्वथा अवैज्ञानिक है, अतः* जो कवि अपनी *कविता में बार बार अध्यात्म और ब्रह्मवाद की* चर्चा करते हैं, उन पर वे आचार्य के सिंहपीठ से बिफरते हुए लिखते हैं

'जो यह भी नहीं जानता कि ब्रह्मवाद और कविता किन चिड़ियों के नाम हैं, जो अंग्रेजी की अधूरी नकल पर बनी *बंगला की कविताओं तथा* वैष्णव *कवियों की अंग-समीक्षाओं तक ही* सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बनाकर कहने लगे कि 'मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूँ तब हर्ष से नाच उठता हूँ' तो एक सुशिक्षित सुनने वाले पर क्या असर होगा ?'[4]

२० *शुक्लजी के इस कथन का मूल मन्तव्य यही है कि ब्रह्मवाद जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों* को काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना भारतीय काव्य-परम्परा के विरुद्ध है और कबीर तथा जायसी आदि कवियों ने अपनी कृतियों के बीच अद्वैतवाद, मायावाद, एकेश्वरवाद प्रतिबिम्बवाद आदि की अभि *व्यंजना विभिन्न रूपकों अन्योक्तियों तथा साध्यवसान रूपकों द्वारा की है, वह उनकी मान्यता में* साम्प्रदायिक है। इसी प्रकार संत-कवियों की बानियों में इड़ा पिंगला और सुषुम्ना आदि विभिन्न नाड़ी-चक्रों की जो चर्चा की गई है, उसका भी वे काव्य की प्रकृत भावभूमि की दृष्टि से खण्डन करते हैं।

रहस्यवाद विषयक मान्यताओं का मूल्यांकन

२१ प्रश्न होता है कि शुक्ल जी ने जिस प्रतिमान के आधार पर रहस्यवाद को काव्य *भूमि से बहिष्कृत किया है, वह क्या भारतीय दृष्टिकोण के प्रतिकूल है* अथवा उन्होंने केवल अपनी बात बनाये रखने के लिए ही इस प्रकार का निर्णय दे दिया है ? वस्तुतः इस प्रकार की शंकाओं

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ ७६।
३ वही पृष्ठ ८२।
४, वही पृष्ठ ८४।

का समाधान गणित-विज्ञान की निश्चित परिगणन-प्रणाली के अनुरूप नहीं किया जा सकता। बात यह है कि ज्ञान उपासना और कर्म की भारतीय साधना में जो भिन्न भिन्न श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं वे केवल तत्त्वोपलब्धि की सुगमता के दृष्टिकोण से ही निर्मित हैं, अन्यथा मानव-जीवन की अखंडता को इस प्रकार के भिन्न भिन्न साँचों में विभक्त नहीं किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि इन श्रेणियों के निर्माण में मानव-मन की बोधमय तथा रागपूर्ण वृत्तियों का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में रहने के कारण ही किसी एक को प्राधान्य देते हुए उसके अनुरूप ही उसे ज्ञान उपासना तथा कर्म की श्रेणियाँ प्रदान कर दी जाएँ। शुक्ल जी अपनी मानसिक रुचि और आस्थाओं के अनुसार काव्य को उसके विशुद्ध रागात्मक स्वरूप में ग्रहण करने के पक्षपाती थे अत: उन्होंने रहस्य मुद्रा तथा योग-साधना जैसे अध्यात्मपूर्ण क्षेत्रों में उसकी सीमा का संयोजन करना अनुचित समझा और उपनिषद् तथा दर्शन-ग्रन्थों की भिन्न कोटि निर्धारित कर वाल्मीकि को ही आदि कवि होने का गौरव प्रदान किया जब कि प्रसाद जी ने अपने रहस्यवाद विषयक विवेचन में सत्य की अभिव्यक्ति को ही काव्य का चरम उद्देश्य बतलाकर कवि और मनीषी को बहुत निकट लाकर उपस्थित किया। सुतराम् इस विषय में सहसा यह निर्णय करना कठिन सा है कि शुक्ल जी की काव्य-क्षेत्र विषयक मान्यता किस मानसिक मथन का परिणाम है फिर भी उसमें से उनके कुछ स्थलों पर प्रतिष्ठित पूर्वाग्रह को निकाल देने पर उनका काव्य-प्रतिमान ग्राह्य समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रहस्यवादी धारा के प्रति उनके मन में एक प्रकार की प्रतिकूल प्रतिक्रिया ने ऐसा स्थान बना लिया था जिसके कारण वे उसे काव्य में औदात्य और सौरस्य प्रदान करने में कुछ भी उपयोगी नहीं समझते थे। ऐसी स्थिति में हमें बाध्य होकर यह कहना ही पड़ता है कि उनके रहस्यवाद विषयक विवेचन में यथेष्ट ठोसता और तथ्य-परकता होते हुए भी उसका दुर्बल पक्ष बिना प्रकट हुए नहीं रहता है।

रहस्यवाद के प्रसंग में अन्य विषयों का विवेचन

२२ शुक्ल जी ने काव्य में रहस्यवाद का स्थान निर्धारित करने के प्रसंग में ही काव्य में प्रकृति-चित्रण कल्पना-संयोजन अलंकार-विधान छन्द प्रयोग और उक्ति-वैचित्र्य आदि के सम्बन्ध में भी अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं और उनका काव्य-निर्माण में आपेक्षिक महत्त्व निर्धारित किया है। वास्तव में वे काव्य के प्रयोजन और उद्देश्य के संबन्ध में जो दृष्टिकोण लेकर प्रारम्भ ही से चले हैं, उसी की संपुष्टि उन्होंने अन्य विवेच्य विषयों के साथ भी की है। उसका विस्तृत विवेचन शुक्ल जी के काव्य-स्वरूप विषयक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए किया जाएगा। यहाँ तो मेरे कथन का मूल आशय यही है कि शुक्ल जी ने काव्य में रहस्यवाद की योजना को एक सीमा तक ही स्वीकार किया था और वे उसे कविता की एक शाखा विशेष मानने के पक्ष में थे।

२३ शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक विस्तृत निबन्ध इस विषय का प्रत्यक्ष निदर्शन है कि वे उसमें काव्य में लोक-पक्ष और मूर्त-जगत् की ही अभिव्यक्ति पाते थे अतः उन्हें न तो यह ग्राह्य प्रतीत हुआ कि काव्यकार अज्ञात लोक के प्रति अव्यक्त कल्पनाएँ करें और न उन्हें यह ही अच्छा लगा कि प्राचीन ग्रन्थों की आध्यात्मिकता के नाम पर मनमानी व्याख्याएँ की जाएँ। उन्होंने उन लोगों का विरोध किया है जो 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की आध्यात्मिक व्याख्याएँ करते हैं अथवा मेघ की यात्रा को जीवात्मा का परमात्मा में लीन होने का साधन-पथ निर्दिष्ट करते हैं। काव्य की वर्ण्यवस्तु और वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से उन्होंने इस विषय का पर्याप्त विवेचन कर दिया है कि किस प्रकार की कविताएँ विशुद्ध रहस्यभावना को लेकर चलती हैं और किन कविताओं में केवल वादग्रस्त आडम्बर रहता है।[1] काव्य में रहस्यवाद की स्थिति स्पष्ट करने के लिए उन्होंने

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि दूसरा भाग, पृ० ८६।

इस बात पर विशेष जोर दिया है कि कवि-कर्म-विधान के विविध पक्षों में जितने भी विषय आयेंगे वे व्यक्त जीवन और जगत् के होंगे और केवल उन्हीं के द्वारा पूर्ण रस की अनुभूति हो सकेगी। उनका तो स्पष्ट कहना है कि जिस भाव की कवि व्यंजना करे उसमें वह स्वयं भी लीन हो जाय तथा पाठकों का भी उससे तादात्म्य करा दे। वास्तव में भावों का यह तादात्म्य ही पूर्ण रसानुभूति का रूप धारण करता है। हाँ वैसे मध्यम श्रेणी की रसानुभूति भी हुआ करती है।[1]

अन्यान्य वादों की चर्चा

२४ वैसे तो शुक्ल जी ने काव्य में रहस्यवाद की स्थिति का ही मुख्य विवेचन अपने प्रस्तुत निबन्ध में किया है, किन्तु प्रसंगवश उसमें अन्य विषयों का भी संयोजन होता गया है। उन्होंने भारतीय साहित्य शास्त्र की परम्परा में विकसित होने वाले रसवाद, अलंकारवाद ध्वनिवाद और रीतिवाद आदि साहित्यिक वादों का उल्लेख किया है किन्तु उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर चलने वाले अभिव्यंजनावाद की रहस्यवाद की भाँति ही कटु आलोचना की है। इस वाद में वे अनुभूति और भाव-क्षेत्र के उपकरणों के स्थान पर केवल बाह्य चित्र पाते हैं जिनका हमारे जीवन की गम्भीर अनुभूतियों के साथ में कोई संबन्ध नहीं है। अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण में विशेष विवेचन किया था अतः 'पुनरुक्ति दोष' से बचने के लिए हम उसका व्यापक विश्लेषण नहीं करेंगे। यहाँ तो हमारे कहने का मुख्य प्रयोजन यही है कि शुक्लजी छाया-वाद या रहस्यवाद के नाम से रची जाने वाली कविताओं में अभिव्यंजनावाद के द्वारा बेल-बूटे बनाने वाली प्रक्रिया का विरोध करते हैं क्योंकि उसमें अभिव्यंजना के बाह्य कौशल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी विवेचन के प्रसंग में उन्होंने यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रचलित क्लासवाद प्रतीकवाद, प्रभाववाद प्रकृतवाद और संवेदनावाद आदि और भी अनेक वादों का विवेचन किया है और अन्त में उनके अस्थायित्व की घोषणा कर उन्हें किसी भी रूप में आदर्श नहीं समझा है। उनका यह विश्लेषण इन वादों का पश्चिमी देशों में होने वाला क्रमिक विकास भी स्पष्ट करने में सहायक हुआ है।

२५. शुक्ल जी ने यूरोप के साहित्यिक क्षेत्र में उद्भूत होने वाले तथा मिटने वाले वादों में अधिकतर प्रतिवाद या प्रतिवर्तन का रूप देखा है जिसका अभिप्राय यह है कि उसमें जीवन का कोई चिरंतन सत्य अथवा स्थायी मूल्य नहीं होता।[2] यही कारण है कि उन्होंने उनके अनुगमन का विरोध किया है। प्रतीकवाद को अपना प्रेरणा-विषय बनाकर फ्रांस के काव्य-क्षेत्र में जिस प्रकार की गड़बड़ी मची और उसका प्रभाव इंगलैण्ड होता हुआ भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतीय साहित्यों तक चला आया उसका शुक्ल जी ने अपनी दृष्टि से तात्त्विक विश्लेषण किया है। सच तो यह है कि वे काव्य में प्रतीकों के प्रयोग की परम्परा बहुत पुरानी मानते हैं और उनके द्वारा काव्यार्थ स्वरूप में आने वाले चमत्कार या सौष्ठव की प्रशंसा भी करते हैं किन्तु भारतीय दृष्टि से उन्हें केवल अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत ही रखना पर्याप्त समझते हैं। वस्तुतः उनका विरोध तो उन प्रतीकों से है जिनका रहस्यवादी कवियों ने उपयोग करते हुए उन्हें ऐसी अतिरेकता में पहुँचा दिया है जहाँ काव्य की गम्भीर व्यंजना केवल खिलवाड़ मात्र बन गई है। अतः वे प्रतीक-वाद तथा रहस्यवाद के नाम पर केवल अज्ञात और अगोचर की मूर्ति खड़ी करने के लिए लिखित हुई कविता को केवल एक प्रवंचना मात्र समझते हैं।

---

१ पं॰ रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि दूसरा भाग, पृष्ठ ८८।
२ वही, पृष्ठ १०७।
३ वही पृष्ठ ११।

रहस्यवाद के दोष और भारतीय परम्परा से उसका विरोध

२६ शुक्लजी ने रहस्यवादी काव्य में सब-से अधिक विरक्तिजनक दो बातें बतलाई हैं—वे हैं, उनमें 'भावों की सचाई का अभाव तथा व्यंजना में कृत्रिमता'।[1] इन्हीं दोनों दुर्गुणों के कारण वे इस प्रकार की काव्यधारा में अनेक प्रकार की दोषोद्भावना भी कर सके हैं। उन्होंने काव्यगत रहस्यवाद के विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर बतलाया है कि फारस अरब तथा यूरोप के देशों में किस प्रकार भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई और वहाँ के ईसाई भक्तों ने साम्प्रदायिक रूपकों का सहारा लेकर अपनी भावनाओं का अभिव्यंजन किया जो मजहबी रुकावटों के कारण बहुत ही दबे स्वर में संभव हो सका। उन्होंने भारतीय भक्ति-काव्य को भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति के प्रति निस्संकोच भाव से आत्म-निवेदन करने वाला सिद्ध कर उस पर किसी भी प्रकार के रहस्यवाद, प्रतिबिम्बवाद या वेदांती वादों का प्रभाव नहीं माना है और सिद्ध किया है कि मुसलमानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो निर्गुण भक्ति की बानी चली वह बाहर से अरब और फारस की ओर से आई थी। वह देशी वेश में एक विदेशी वस्तु थी'।[2] इसी प्रकार वे आधुनिक हिन्दी काव्य के रहस्यवाद की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में लिखते हैं 'इधर अंग्रेजों के आने पर ईसाइयों के आन्दोलन के बीच जो 'ब्रह्म समाज' बंगाल में स्थापित हुआ उसमें भी पौत्तलिकता का भय कुछ कम न रहा। अतः उनकी विनय और प्रार्थना जब काव्योन्मुख हुई तब उसमें भी रहस्यवाद का सहारा लिया गया। सारांश यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं।"[3]

२७ शुक्लजी ने स्पष्ट रूप से इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारत में काव्य क्षेत्र इस प्रकार के वादों से बिलकुल अलग रखा गया। यहाँ 'रहस्य और गुह्य, योग तंत्र आदि के भीतर ही रहे। यहाँ के अवतारवाद के मूल में रहस्यवाद अवश्य था किन्तु आगे चलकर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप में पल्लवित हो गया।"[4] राम और कृष्ण के विशिष्ट रूप और लोक-विभूति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कला को लेकर ही हमारे यहाँ का भाव-काव्य अग्रसर हुआ है, जिसमें छिपे रहस्य की कोई गुंजाइश नहीं है। अतः शुक्ल जी के मतानुसार भारतीय भक्ति-पद्धति और काव्य-धारा में रहस्यवाद के लिए कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। शुक्ल जी इसी प्रसंग में उन लोगों को कड़ी फटकार देते हैं जो 'तुलसी सूर आदि भारतीय पद्धति के भक्तों में भी रहस्यवाद सूंघा करते हैं।' उनका स्पष्ट मंतव्य है कि "भारतीय भक्ति-काव्य अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही चला है। इसमें किसी वाद के द्वारा विपर्यय करके नहीं वह अभिव्यक्ति या प्रकाश की ओर उन्मुख है रहस्य या छिपाव की ओर नहीं।"[5]

स्वाभाविक रहस्यभावना का समर्थन और साम्प्रदायिक रहस्यवाद की निन्दा

२८ उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि शुक्ल जी रहस्यवाद के कट्टर विरोधी थे। सच तो यह है कि वे स्वाभाविक रहस्य भावना को अत्यन्त रमणीय और मधुर समझते थे।[6] उनका कहना था कि यह भावना मन की एक ऐसी अन्तर्दशा है जिसका अनुभव

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि दूसरा भाग, पृष्ठ १११।
२. वही, पृष्ठ ११५।
३ वही, पृष्ठ ११५।
४ वही, पृष्ठ ११५-११६।
५ वही, पृष्ठ ११०।
६. वही, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ११ ।

जैसे कवि अन्यान्य अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं' किन्तु उसे किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे काव्य का एक सिद्धान्तमार्ग स्वीकार करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।[1] इस प्रकार शुक्ल जी ने इसी प्रसंग में जहाँ साम्प्रदायिक या सिद्धान्ती रहस्यवादियों की निन्दा की है वहाँ उन कवियों के काव्यांशों की प्रशंसा भी की है जिनमें सुन्दर और स्वाभाविक रहस्यभावना मिलती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ और शैली को उन्होंने ऐसे कवि माना है जो रहस्य को 'वाद' के रूप में लेकर नहीं चले अपितु जिनकी रहस्य भावना स्वाभाविक पद्धति पर होने के कारण हृदय में सच्ची अनुभूति उत्पन्न करती है। उन्होंने बतलाया है कि वर्ड्सवर्थ की कविता बाह्य की प्रत्यक्ष विभूति प्रकृति से सीधा प्रेम सम्बन्ध रखती है और कोलरिज भी स्वाभाविक रहस्य भावना को लेकर चलने वाला कवि है। दोनों के काव्य में व्यंजित भावना अत्यन्त स्वाभाविक और भव्य है और उनमें किसी वाद के भीतर निरूपित तथ्य की व्यंजना प्रकृति के रूपों और व्यापारों से जबरदस्ती नहीं कराई गई है। इसी प्रकार शुक्ल जी ने शैली कीट्स और टेनिसन के काव्य की भी प्रशंसा की है और बतलाया है कि जो समीक्षक इनकी स्वाभाविक रहस्य भावना को साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध से दूषित समझते हैं वे सच्चे काव्य-पारखी नहीं हैं। कहना होगा आचार्य ने सूफी रहस्य भावना और यूरोपीय काव्य-कल्पना की प्रक्रिया को लेकर इसी निबन्ध में एक ऐतिहासिक निरूपण भी प्रस्तुत कर दिया है। उनके इस निरूपण से जहाँ उनके गम्भीर अध्ययन और उनकी मौलिक सूझ का पता चलता है वहाँ यह भी आभासित हो जाता है कि वे अपनी धारणा पर इतने अटल रहते थे कि उन्हें कोई विरोधी शक्ति नहीं हटा सकती थी। वे कलावाद और अभिव्यंजनावाद के जिन रूपों के कटु आलोचक रहे, वह सदैव उनकी प्रवृत्ति में बना रहा और वे बार-बार उन काव्यों और समीक्षाओं की निन्दा करते रहे, जो उनके भावों और विचारों से मेल नहीं खाते थे। सचमुच वे एक अत्यंत सधे हुए समालोचक थे।

पश्चिमी रहस्यवाद विषयक विचार

२९. शुक्ल जी ने विलायती रहस्यवाद की कविताओं की विशेषताओं का उल्लेख भी किया है, जिनमें प्रमुख हैं उसकी लाक्षणिक अप्रस्तुतता और वाग्वैचित्र्य।[2] वे छन्द-बंधन का त्याग और लय का रहस्यवाद और छायावाद से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। उन्होंने इस प्रकार की हवा को अमेरिका की ओर से आई हुई कहा है और अपने कथन के प्रमाण में अमेरिकी कवि वाल्ट ह्विटमैन की घास के पत्ते (लीव्स ऑफ ग्रास) नाम की कविता का उदाहरण दिया है। इस प्रकार उनका रहस्यवादी कवि निराला जी से प्रकट रूप से मतभेद है जो मुक्त छन्दों को विशुद्ध भारतीय परम्परा के अनुकूल मानते हैं। शुक्ल जी हिन्दी में आ निकले हुए छायावाद को 'विलायती चीजों का मुरब्बा'[3] कहते हैं। उनके मतानुसार छायावाद या रहस्यवाद काव्य-वस्तु (मैटर) से सम्बन्ध रखता है और अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध विधान-विधि से होता है। उन्होंने बतलाया है कि छायावाद के अन्तर्गत बहुत-सी रचनाएँ ऐसी भी हुई हैं जिनमें अभिव्यंजनावाद के प्रभाव अनुकरण के कारण बहुत सुन्दर लाक्षणिक चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। वे हिन्दी के छायावादी और रहस्यवादी कवियों को अपना सत्परामर्श देते हुए कहते हैं कि "यदि वे वाद का साम्प्रदायिक पथ छोड़ अपनी समस्त विशेषताओं के सहित प्रकृत काव्य-भूमि पर चलकर आयें और अंग्रेजी तथा बंगला आदि भाषाओं की अच्छी अनुकरण-वृत्ति को त्याग कर, लाक्षणिक प्रयोगों में सावधानी से

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १११।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि दूसरा भाग, पृष्ठ १४९।

३. वही, पृष्ठ १५०।

बसने भर में तो निश्चय ही उनकी काव्य धारा अधिक स्वाभाविक और सुष्ठु बन सकती है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से शुक्ल जी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में बने हुए विचारों का परिचय भली भाँति किया जा सकता है।

निष्कर्ष और मूल्यांकन

१ आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद और छायावाद को बहुत निकट रूप में देखा है। व जिस प्रकार चिन्तना-क्षेत्र के अद्वैतवाद को भावना-क्षेत्र में रहस्यवाद कहते हैं उसी प्रकार छायावाद को वेदांत के पुराने प्रतिबिम्बवाद के निकट ला रखते हैं। उनकी धारणा है कि यह प्रतिबिम्बवाद सूफियों के यहाँ से होता हुआ यूरोप में गया वहाँ कुछ दिन पीछे प्रतीकवाद से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे बंग साहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा। यह काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है। सारांश यह है कि आचार्य शुक्ल ने एक तत्त्वदर्शी समालोचक की भाँति समग्र काव्य में रहस्यवाद की व्याख्या की और उसे भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं की क्रोड में समझने का प्रयत्न किया। उनके विवेचन से सिद्ध होता है कि वे एक स्वतंत्र रुचि के व्यक्ति थे और विदेशी अन्धानुकरण को अत्यन्त हेय समझते थे। उन्होंने उस समय रहस्यवाद और छायावाद के नाम पर चलने वाली लम्बेदार पदावलियों का कड़ा विरोध किया है और उन्हें साहित्य के पवित्र मंदिर में गड़बड़झाला उत्पन्न करने वाली कहा है। साथ ही साथ वे इस बात से भी बड़े क्षुब्ध हुए हैं कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में सम्भ्रान्त समालोचक अंग्रेजी की पदावली के अनुवाद करके मनमाने ढंग से जो हिन्दी कवियों की काव्य-कृतियों की परख में मिड़ा देते हैं वे साहित्य का एक प्रकार से अनर्थ ही करते हैं। उनका यह लेख ऐसी प्रवृत्तियों को रोकने के निमित्त ही लिखा गया है। यद्यपि इस विस्तृत निबन्ध में एक ही बात पुनरावृत्ति के रूप में बार-बार आई है किन्तु इसमें शुक्ल जी को कोई दोष नहीं दिया जा सकता। इसका मूल कारण यह है कि उस समय की काव्य-विधाओं की अव्यवस्था उन्हें बहुत अखरती थी और उसको दूर करने के प्रसंग में एक ही बात को बार-बार कहकर सत्य का प्रकाश करने में उनका जी नहीं भरता था। इस कथन में दो मत हो ही नहीं सकते कि आचार्य के इस निबन्ध ने उस समय काव्य-जगत् और समीक्षण-क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति कर दी और उनके विपक्षियों का भी साहस नहीं हुआ कि वे खुलकर इसका विरोध करें। हाँ आगे चलकर उनकी मान्यताओं के खंडन-मंडन की परम्परा भी चली जिसमें उनकी कुछ बातों को ग्राह्य और कुछ को अग्राह्य कहा गया। उनका विवेचन हम यथाप्रसंग आगे करेंगे।

अभिव्यंजनावाद और कलावाद विषयक मान्यताएँ

इन्दौर का अभिभाषण और उसका उद्देश्य

११ शुक्ल जी ने इन्दौर में होने वाले चौबीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य परिषद् के सभापति-पद से जो भाषण दिया था वह हमारे समालोचना-साहित्य की एक स्थायी निधि बन गया है। वैसे तो उन्होंने उक्त भाषण में शुद्ध साहित्य के भीतर आने वाले समस्त वाङ्मय के सिंहावलोकन की चेष्टा की है किन्तु मुख्य रूप से उसमें काव्य तथा उसके क्षेत्र में प्रचलित अभिव्यंजनावाद का ही व्यापक विश्लेषण हुआ है। शुक्ल जी का यही भाषण 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के नाम से चिन्तामणि दूसरा भाग के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है, जिससे शुक्ल जी के समीक्षात्मक विचारों की उपलब्धि में पर्याप्त सामग्री मिलती है। इस भाषण में भी

---

१ पं रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि दूसरा भाग, पृष्ठ १४८-१४९।

शुक्ल जी ने काव्य-स्वरूप तथा उसके अंगोपांगों के सम्बन्ध में प्रायः वे ही बातें कही हैं जो उनकी अन्य रचनाओं में उपलब्ध होती हैं, किन्तु अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवेचन हुआ है। शुक्ल जी के मतानुसार "साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है, जिसमें अर्थ बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।"[1] इस परिभाषा के पश्चात् उन्होंने एक व्याख्याकार आचार्य के रूप में उपर्युक्त लक्षण में प्रयुक्त एक-एक शब्द को लेकर अपना स्पष्टीकरण किया है जिसको देखकर यह कहा जा सकता है कि वे भारतीय शास्त्र-पद्धति के अनुरूप पहले किसी विषय का पूर्ण रूप में लक्षण निर्धारित करते हैं और तदुपरान्त उसकी विवेचना करना समीचीन समझते हैं। उनकी यह पद्धति प्रायः सभी समालोचनाओं में मिलती है। उनके विवेचन की यह भी एक विशेषता है कि वे कहीं पर भी व्यर्थ की भावुकता के फेर में नहीं पड़ते और समालोचना के लिए भावात्मक बौद्धिक रसानुभूति का सर्वत्र निर्वाह करते चलते हैं। उनकी साहित्य की परिभाषा से स्पष्ट है कि वे साहित्य का लक्ष्य केवल अर्थबोध मात्र कराना नहीं मानते और रचना तथा समीक्षा इन दोनों का समाहार उसमें करते हैं।[2] उन्होंने श्रव्य-काव्य दृश्य काव्य तथा कथात्मक गद्य-काव्य के रूप में साहित्य-क्षेत्र में आने वाली रचनाओं का विवेचन कर काव्यात्मक गद्य प्रबन्ध या लेख तथा विचारात्मक निबन्ध या लेख के नाम से साहित्य के दो रूप और माने हैं जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य नाटक उपन्यास गद्य-काव्य तथा निबंध और समालोचना ये पाँच प्रमुख विषय साहित्य-विवेचन के अन्तर्गत आते हैं। शुक्ल जी ने अपने विवेचन में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन पाँचों प्रकार की रचनाओं के रूप तथा प्रकार में क्या अंतर है और वे भिन्न-भिन्न बातों में एक दूसरे से वैभिन्न्य रखते हैं। हाँ यह बात दूसरी है कि उन्होंने काव्य का विश्लेषण अत्यंत व्यापक विधान में किया है और अन्य रचनाओं पर केवल सामान्य सम्मतियाँ दी हैं जिसका कारण यह है कि उनकी मानसिक अभिरुचि काव्य की ओर ही विशेष थी और वे उसके रचनात्मक तथा समीक्षात्मक पक्ष का विवेचन करने में ही अधिक उल्लास पाते थे।

उक्त वाद विवेचना का मूल आधार

१२ शुक्ल जी ने काव्य-विश्लेषण में भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का यथेष्ट अनुगमन किया है। उन्होंने भाषा-शक्ति शब्द-योजना तथा अर्थ-व्यंजना में भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित वाक्य-कथन के आवश्यक पद योग्यता उपपन्नता या प्रकरण-सम्बद्धता आदि का निरूपण कर अभिधा लक्षणा और व्यंजना का भी महत्त्व निर्धारित किया है। वे शब्द शक्ति का काव्य-सौष्ठव के मूल में बड़ा महत्त्व मानते हैं, किन्तु उन्होंने उन समीक्षकों का विरोध भी किया है जो समालोचना के नाम पर व्यर्थ का अर्थशून्य वाग्जाल प्रसारित करते हैं। अपने अध्ययन के बल पर उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र में निरूपित शब्द-शक्ति का सामंजस्य पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ करते हुए उन आलोचकों की प्रशंसा की है जो समालोचना में विवेचना को प्रमुखता देकर वस्तु-विश्लेषण की ओर उन्मुख रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी समालोचकों में उन्हें आई ए रिचर्ड्स पर विशेष आस्था है क्योंकि उसने भी उन्हीं की भाँति समीक्षा-क्षेत्र में उत्पन्न अनेक प्रकार की भ्रांतियों के निवारण की चेष्टा की थी। उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे 'कला कला ही के लिए है' 'अभिव्यंजना ही सब कुछ है' 'अभिव्यंग्य कोई वस्तु नहीं' 'काव्य में अर्थ ध्यान देने की कोई वस्तु नहीं' 'काव्य में बुद्धि बाधक होती है' आदि साहित्यिक प्रवादों के घोर विरोधी हैं और उनको काव्य के प्रकृत

१ १ रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि-दूसरा भाग, नवीन आवृत्ति, १ १ मि० पृष्ठ १११ ।

२. वही, पृष्ठ १११ ।

क्षेत्र में कोई आवश्यकता नहीं समझते।[1] उनकी इसी प्रसंग में एक विशेष मान्यता यह भी है कि काव्य की रमणीयता लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में न होकर वाच्यार्थ में है चाहे वह वाच्यार्थ योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। साकेत की एक रसात्मक उक्ति[2] के आधार पर अपनी विवेचना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने इस मान्यता की पुष्टि भी की है। इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित कलावाद तथा अभिव्यंजनावाद आदि के प्रातिरेक्य का विरोध करने के लिए एक भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं। सच तो यह है कि उनकी दृष्टि में काव्य में जीवन के किसी गंभीर तथा वास्तविक तथ्य का उद्घाटन होना चाहिए, न कि केवल बाहरी चमक-दमक और कलाबाजी का। अपनी निर्भीक तथा स्वतन्त्र प्रकृति के कारण उन्होंने आचार्यत्व के बल पर, क्रोचे के सौन्दर्य-शास्त्र में निरूपित अभिव्यंजनावाद का कठोर शब्दों में खंडन किया है जो वाच्यार्थ को ही काव्य का सर्वस्व मानने के फलस्वरूप कई स्थलों पर पूर्वाग्रही सा बन गया है। कालांतर में उनकी इस प्रकार की मान्यताओं का विरोध जिन समालोचकों द्वारा किया गया उनका विवेचन हम प्रसारकालीन समालोचना के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ तो इस उल्लेख का मूल अभिप्राय यही है कि शुक्ल जी अपने सिद्धान्तों के कितने धनी थे और जो विचारधारा उनके मस्तिष्क में जम जाती थी उसका वे कितने प्रबल शब्दों में समर्थन करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के स्वभाव में भी यही बात थी किन्तु शुक्लजी की विवेचना के पीछे अपेक्षाकृत अध्ययन और गाम्भीर्य का विशेष बल था।

अभिव्यंजनावाद के प्रति दृष्टिकोण और उसका स्पष्टीकरण

११ शुक्ल जी की समालोचनाओं में यह भी एक विशेषता है कि वे किसी भी विषय पर अपना मत निर्णय प्रकट करने के पूर्व विवेच्य विषय की मान्यताओं के प्रमुख अंशों का निष्कर्ष पूर्व-पक्ष के रूप में प्रकट करते हैं और तदुपरान्त अपनी प्रतिक्रिया का आभास देते हैं। उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की एकांगी अयथार्थता सिद्ध करने के लिए प्रारम्भ ही से उसकी यह मान्यता ली है कि 'कला में अभिव्यंजना ही सब कुछ है अभिव्यंजना से अलग कोई और अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि क्रोचे की यह मान्यता ही शुक्ल जी के विषय प्रतिपादन अथवा क्रोचे का विरोध करने के लिए आधारशिला बन गई है। उनके विरोध का स्वर इसलिए भी तीव्र हो गया है कि क्रोचे ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की है। यहीं से इन दोनों आचार्यों में काव्य कला के स्वरूप-विषयक मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जिसके मूल में दोनों का विभिन्न देशीय दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक स्तर जितना अधिक उपादान कारण है उतना तात्त्विक निरूपण नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में भी अनेक ऊहापोह और विवादग्रस्त स्थल हैं, किन्तु शुक्ल जी ने उसे और भी अधिक अतिरंजना का रूप दे दिया है। दोनों आचार्यों में भ्रम का श्रीगणेश तभी से हो जाता है जब कि एक कला में अभिव्यंजना (व्यंग्यार्थ) को प्रमुखता देता है और दूसरा वाच्यार्थ की पुष्टि करता है। वैसे तो क्रोचे ने भी अपने विवेचन में सहजानुभूति को महत्व दिया था किन्तु शुक्ल जी की दृष्टि उस ओर बहुत कम गई। उन्होंने तो अपने 'प्रस्तुताप्रस्तुत' के द्वारा शीघ्र ही यह निर्णय कर दिया कि क्रोचे ने जगत् और जीवन से स्वतन्त्र कला की जिस आत्मा का अभिव्यंजन तथा विवेचन किया है वह पुराने ईसाई भक्त और संतों का प्रभाव है जो इस प्रकार

---

१ चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १६६।
२ वही, पृष्ठ १६६।
३ आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर आकर उनको लाऊँ। मैथिलीशरण गुप्त, 'साकेत'।

के बिम्ब आभास का अनुभव कराने की बातें प्रायः कहते रहते थे तथा जिनके अनुकरण पर लोक आदि अंग्रेजी कवियों ने उन्हीं 'सत्यों के आभास' वाली बात पकड़कर मनुष्य की कल्पना को इलहाम के दर्जे तक पहुँचा दिया था।[1]

१४ आचार्य शुक्ल में विषय-ग्रहण की एक अद्भुत क्षमता थी। अपने व्यापक अध्ययन और गंभीर चिन्तन के द्वारा वे किसी भी विषय की मूल विचारधारा को सहज भाव से हृदयंगम कर उसे अपनी बना लेते थे। पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित कल्पना की पुकार का समाहार उन्होंने भारतीय रसवाद में व्याख्यात भाव-बोध के अन्तर्गत करते हुए उसे "काव्य का क्रियात्मक बोध-पक्ष"[2] माना और जो लोग उसके लोक को आध्यात्मिक तथा निराला मानते हैं उनका विरोध किया। इसी प्रकार कला के साथ-साथ काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में चलने वाली सौन्दर्य की पुकार भी उन्हें अच्छी नहीं लगी और वे काव्य के स्वरूप-लक्षण में सौन्दर्य के स्थान पर 'रमणीय' शब्द को अधिक उपयुक्त समझने लगे। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे 'सौन्दर्य-शास्त्र" को किसी ठीक-ठिकाने का शास्त्र नहीं मानते थे और उसका काव्य के साथ तो किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं समझते थे।[3] उनका यह विश्लेषण निश्चय ही उनके इस सम्बन्ध में एकपक्षीय दृष्टिकोण का ही परिचायक है तभी तो वे सुन्दर शब्द में बाह्यार्थ का संकेत पाकर उसे काव्यानुभूति को संकुचित बनाने वाला कहते हैं क्योंकि उनके मतानुसार 'प्रत्येक कविता का ग्रहण सौन्दर्यानुभूति के रूप में नहीं होता। सम्भव है कालान्तर में उनकी एतद्विषयक विचारधारा में परिवर्तन भी हो जाता किन्तु उस युग की समीक्षा को देखते हुए उन्होंने जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही उनके प्रखर पांडित्य का परिचायक है। इसमें कोई सन्देह नहीं। कहा जा सकता है कि शुक्लोत्तर युग के समालोचकों ने कला अभिव्यंजना सौन्दर्य तथा विभिन्न काव्य-वादों की जो समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं, उनकी मूल प्रेरणा आचार्य शुक्ल जी के इन्हीं निबन्धों में सन्निहित रही है।

१५ शुक्ल जी की समालोचनाओं की यह भी एक विशेषता है कि वे अपनी धारणाओं तथा सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ऐसे विचारकों के भी मतोद्धरण करते चलते हैं, जिनमें उन्हें अपने पक्ष के अनुकूल ध्वनि मिलती है और जो विचारक ख्यातनामा और साहित्य-क्षेत्र के मेधावी व्यक्ति माने जाते हैं। क्रोचे तथा अन्य सौन्दर्यवादियों की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए उन्होंने इंग्लैण्ड के स्वर्गीय कवि रूपर्ट ब्रुक का उदाहरण दिया और तदुपरान्त भारतीय दृष्टि का उल्लेख करते हुए लिखा "हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद वक्रोक्तिवाद आदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार कलावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी कला शब्द की बहुत अधिक [illegible] होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका यह पकड़ना ठीक नहीं।[4]"

इस प्रकार 'कला' शब्द के बहिष्कार की बात कहकर उन्होंने क्रोचे तथा अन्य कलावादियों की उन बातों का विवेचन किया है जो काव्य-विषयक भारतीय भावनाओं के प्रतिकूल पड़ती हैं। उनका क्रोचे से पहला विरोध तो यही है कि वह कला में कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर उसका रूप 'ज्ञानात्मक' मानता है, जबकि 'भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार उसका मूल

---

१ चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १७० ।
२. वही, पृष्ठ १७१
३. वही, पृष्ठ १७७-७८ ।
४. वही, पृष्ठ १७८ ।
५. वही, पृष्ठ १८ ।

रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है।[1] उन्होंने अपने कथन की पुष्टि आधुनिक मनोविज्ञान के तत्त्वों के आधार पर भी की है। उन्हें क्रोचे द्वारा प्रतिपादित ज्ञानात्मकता में केवल साम्प्रदायिकता की ही गंध मिली है जिसे रहस्यात्मकता का पुट देकर यूरोप के अनेक कवियों ने अपनी काव्य रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। इस प्रसंग में उन्होंने फ्रांस के दार्शनिक बर्गसाँ के उस मत का भी खंडन किया है जिसमें उसने काव्य और कल्पना का सम्बन्ध 'पारमार्थिक ज्ञान' के साथ जोड़कर उन्हें आध्यात्मिक चेतना निर्दिष्ट किया था। क्रोचे के मत का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है 'जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव में बाह्य-जगत् से प्राप्त किये हुए रूप हैं।[2] इसी विवेचन में उनका स्वर इतना अधिक तीव्र हो जाता है कि वे भयंकर आक्रोश में आकर यहाँ तक लिख देते हैं कि 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हो गये। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।[3]

कलावाद तथा अन्यान्य मतों का खण्डन

३६ शुक्ल जी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा कलावाद का खण्डन करते हुए प्रासंगिक रूप से उन मत-मतान्तरों का भी विरोध किया है जो काव्य में नीति तथा सदाचार का कोई महत्त्व नहीं मानते और यह समझते हैं कि कला और आचार का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। उनके मतानुसार इस प्रकार की मान्यताएँ भी एकपक्षी और दूषित हैं, क्योंकि इनके समर्थक काव्य के व्यापक तथा वास्तविक क्षेत्र को केवल अपनी संकुचित दृष्टि में ही परिसीमित समझते हैं। शुक्ल जी ने इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध आलोचक आस्कर वाइल्ड तथा जे ई स्पिंगर्न की एतद्विषयक मान्यताओं का कट्टर विरोध किया है और आई ए रिचर्ड्स तथा टी के ह्निपल की उन धारणाओं की प्रशंसा की है जिनमें वे भारतीय साहित्य में निरूपित साधारणीकरण तथा सदसत्-विवेक के बहुत निकट वर्ती रहकर चले हैं। वस्तुतः उनका यह विश्लेषण भारतीय रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त में प्रतिपादित 'सत्त्वोद्रेकाद्-सूत्र पर पूर्णतया आधारित है। काव्य को मूलतः भावानुभूतिजन्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने मनोविज्ञान को भी प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया है और कुछ तर्कों के द्वारा क्रोचे के विचारों में भी अन्तर्विरोध बतलाकर अन्त में यही निर्णय दिया है कि 'सच्ची काव्यानुभूति भावानुभूति के ही रूप में होती है।[4]

३७. शुक्ल जी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा यूरोपीय काव्य-सृजन के क्षेत्र में प्रचलित कलावाद का तो विरोध किया ही है किन्तु इन्हें आदर्श मान कर चलने वाली समीक्षा-पद्धति को भी अग्राह्य और अवैज्ञानिक सिद्ध किया है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट झलकता है कि वे 'पल्लवग्राही पांडित्य' के प्रति कितनी उग्रप्रतिक्रिया रखते थे और जो लोग भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण रस अलंकार और वक्रोक्ति को समय-बाह्य निर्णीत कर तथा पाश्चात्य प्रणाली की नवीन समीक्षा में प्रयुक्त अनुभूति-भावना आदि को सर्वथा मौलिक मानकर उनका गुण-संस्तव करते थे उन्हें वे ज्ञान के स्तर में कितना अधिक हीन समझते थे। उनका तो स्पष्ट मत था कि जिसे नवीन समालोचक हृदय की अनुभूति कहते हैं, वही हमारे साहित्य में रस और भाव के रूप में व्याख्यात है और जो लोग केवल प्रभाववाद के फेर में पड़ कर किसी कविता की समीक्षा करते समय कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली का प्रयोग करते हुए हृदयवाद अथवा

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १८१।
२. वही, पृष्ठ १८३।
३ वही, पृष्ठ १८४।
४. वही, पृष्ठ १८८।

हृदय की अनुभूति की रट लगाते रहते हैं वे समालोचना के नाम पर ऐसा काल्पनिक महल खड़ा करने की चेष्टा करते हैं जो धुएँ का पसारा है।[1] उनका तो समीक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट कहना था कि केवल वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही सच्ची कला निरूपिणी समीक्षा है[2] और उसे कलावाद या अभिव्यंजनावाद की भाँति केवल चमत्कार और अर्थ-शून्य पदावलियों में उलझा कर चलना कदापि साहित्य-समीक्षा के लिए शोभनीय बात नहीं कही जा सकती। स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल का यह दृष्टिकोण आई० ए० रिचर्ड्स के अत्यंत निकट और कलावादी समालोचकों के प्रबल विरोध का सूचक है।

प्रतिपादन की शैली और उसका निरूपण

१८ आचार्य शुक्लजी की समालोचनाएँ अत्यंत गंभीर होने पर भी यथास्थान व्यंग्य और हास्य से भी संवलित हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति उन स्थलों पर विशेष रूप से मिलती है, जहाँ उन्हें किसी प्रतिकूल विचारक की मान्यता का विरोध करना होता है। काव्य में अभिव्यंजनावाद की वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते समय भी उनके सामने ऐसे अनेक अवसर आये हैं। मिस्टर स्पिगर्न ने समालोचना के लिंग भेद करते हुए उसे मरदानी (मेसक्युलीन) और जनानी (फेमिनिन) के भावों में विभक्त करने की भी चेष्टा की है उसकी उन्होंने खिल्ली उड़ाई है और समालोचकों को प्रथम प्रकार की समालोचनाएँ लिखने की सम्मति दी है। सच तो यह है कि शुक्ल जी अत्यंत स्वतन्त्र रुचि के मेधावी समालोचक थे जिन पर किसी भी नवीन वाद का बिना किसी ठोस आधार के प्रभाव पड़ना असंभव-सा था। उन्होंने अंग्रेजी की नकल पर चलने वाले बंगला के साहित्य समीक्षण-स्वरूप का सदैव विरोध किया और उसे हिन्दी की प्रकृति के भी विपरीत बतलाया। अपने इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने उन प्रवृत्तियों का विशेष रूप से उल्लेख किया है जो कलावाद और अभिव्यंजनावाद के प्रभाव को लेकर बंगला की अनुकृति पर हिन्दी काव्य-समीक्षा में आ धमकी हैं। उन प्रवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने केवल अपनी मान्यताओं और दृष्टि के अनुरूप किया है। सबसे पहले उन्होंने काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति को लिया है और उसका मूल स्वरूप तथा ऐतिहासिक विकास बतलाकर यह सिद्ध किया है कि यह प्रवृत्ति किस रूप में भारतीय काव्य परम्परा के लिए विदेशी वस्तु है, 'जिसमें प्रस्तुत धार्मिक रूप-विधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत विधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग'[3] किया जाता है। उस प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन हमने शुक्ल जी के "काव्य में रहस्यवाद" विषयक विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए कर दिया है अतः उसका पिष्टपेषण व्यर्थ है। दूसरी प्रवृत्ति अभिव्यंजनावाद से ही सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत शुक्लजी ने बतलाया है कि आजकल की हिन्दी कविता में "जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़ किस प्रकार केवल अभिव्यंजना या उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास" किया जाता है। शुक्ल जी का कहना है कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है।[4] उन्होंने इसी प्रवृत्ति के विश्लेषण में वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक की 'उक्ति की वक्रता' का उल्लेख कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति से काव्य में भावरणिक मूर्तिमत्ता तथा व्यंजन-प्रणाली में सजीवता और स्वच्छन्दता तो अवश्य आती है, किन्तु जब वक्रता या अभिव्यंजना को ही काव्य का सर्वस्व

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यंजनावाद पृष्ठ १६१।
२. वही, पृष्ठ १६१।
३ वही, पृष्ठ १६४।
४ वही, पृष्ठ २११।
५. वही पृष्ठ २११।

मान लिया जाता है तो उसके कारण अनिष्ट भी कम नहीं होते। शुक्ल जी ने बतलाया है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति का ही एक परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी में "जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध-काव्यों की ओर से उदासीनता और मुक्तकों—विशेषतः प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) की ओर साहित्यकारों का ध्यान अधिक जा रहा है"[1] जिसके कारण जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन साहित्य में नहीं हो पाता। उन्होंने आधुनिक काव्य में प्रचलित उस प्रवृत्ति का भी विरोध किया है जो 'असीम अनंत ऐसे शब्दों द्वारा रचनाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की'[2] भावना से चल पड़ी है। उन्होंने प्रसाद और पंत की काव्य-कृतियों में जहाँ रवीन्द्र बाबू के अनुकरण पर इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई है उसका उन्होंने विरोध किया है। वे काव्य में उस प्रवृत्ति को भी अच्छा नहीं समझते 'जिसमें कला शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्पवाली बेल-बूटे और नक्काशीवाली हलकी धारणा'[3] का प्रचार किया जाता है। इस प्रकार इन प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर अन्त में उन्होंने इस विषय पर हार्दिक खेद प्रकट किया है कि कलावादियों के प्रभाव से हिन्दी-समालोचना भी ठोस भूमिका त्याग कर जिस रूप में वायवी बनने की चेष्टा कर रही है, वह हमारे लिए गौरव की बात न होकर केवल विचारशीलता के ह्रास का ही विषय है। उनका तो इस विषय में बार-बार आग्रह है कि भारतीय काव्यशास्त्र की रसवादी पद्धति के आधार पर किसी भी देश अथवा काल का साहित्य सुचारु रूप से समीक्षित किया जा सकता है अतः उसके प्रति हमारा सौहार्द होना आवश्यक है।

१८. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है शुक्ल जी का इन्दौर वाला भाषण मुख्यतः कलावाद और अभिव्यंजनावाद के भले-बुरे प्रभावों का ही समीक्षण करता है, किन्तु उसमें साहित्य के इतर विषयों पर भी यत्किंचित् विवेचन अवश्य हुआ है। शब्द-शक्ति के अतिरिक्त शुक्ल जी ने इसमें भारतीय काव्य-समीक्षा-पद्धति में प्रयुक्त रस रीति और अलंकार सम्प्रदायों का भी विवेचन किया है जिनका विश्लेषण हम उनके समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ तो हमारे कहने का मूल आशय यही है कि शुक्ल जी के मेधावी व्यक्तित्व में तत्त्व-चिन्तन की कितनी अधिक कुशल शक्ति थी जिसके कारण वे प्रायः सभी स्थानों पर अपना मानसिक संतुलन रखते हुए मुख्य विषय से कहीं पर भी दिग्भ्रमित नहीं होते थे। उनके इस भाषण से हिन्दी-साहित्य का तो सामान्य सिंहावलोकन हो ही जाता है किन्तु साथ ही साथ यूरोपीय समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित कलावाद अभिव्यंजनावाद प्रकृतिवाद, मूर्तविधानवाद और संवेदनावाद आदि का भी परिचय मिल जाता है जिनका हमारे आधुनिक साहित्य-समीक्षण में यथेष्ट हाथ है।

आचार्य शुक्ल की समालोचना का सैद्धान्तिक पक्ष

चिन्तन-बुद्धि और काव्य विषयक धारणा

४ आचार्य शुक्ल जी के चिंतन की आधार-भूमि गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति अत्यंत मर्यादित और सधी हुई थी। वे जीवन और जगत से परे किसी अलौकिक क्षेत्र में काव्य की साधना के लिए कोई गुंजाइश नहीं समझते थे। उनका तो स्पष्ट मंतव्य था कि मुक्त हृदय की अवस्था में ही सच्चे काव्य की अनुभूति होती है और 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा। उनके मतानुसार "कविता हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए किया गया मनुष्य की वाणी का शब्द-विधान मात्र है और उसकी

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि दूसरा भाग, काव्य में अभिव्यंजनावाद पृष्ठ २१४।
२. वही, पृष्ठ २१८।
३ वही पृष्ठ २१५।

साधना ऐसे भाव-योग की साधना है जिसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष रखा जा सकता है।"[1]

४१. आचार्य शुक्ल जी की कविता-विषयक धारणा लोकपक्ष की आदर्शनिष्ठा से भी सबल सम्पन्न थी। वे कविता को बहुत ऊँचे धरातल पर स्वीकार करते थे क्योंकि उनके मतानुसार 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल के ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[2]

४२. शुक्ल जी ने जगत् की अनेक रूपात्मकता की भाँति हमारे हृदय की अनेक भावात्मकता मानी है। इन भावों के परिष्करण के लिए वे जगत् के विभिन्न रूपों के साथ हमारे हृदय की सामञ्जस्यपूर्ण अनुभूति आवश्यक समझते हैं। उनके मतानुसार मार्मिक स्वरूप में किया गया कवि का दृश्य-विधान ही सर्वथा काव्योपयोगी बनता है। जगत् के साथ भावों के इस तादात्म्य में उन्होंने हमारे वासनात्मक संस्कारों को बड़ा महत्त्व दिया है। वे काव्य का 'सृष्टि प्रसार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध' स्वीकार करते हैं जो कहीं तो नरक्षेत्र के भीतर ही अपना दृश्य-विधान करता है और कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि अथवा समस्त चराचर के अन्तर्गत आविर्भूत होता है।[3] उन्होंने अपने विवेचन को सर्वांगीण बनाने के लिए शास्त्रीय ज्ञान की अनुभूति के आधार पर अतीतकालीन साहित्य से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि भिन्न-भिन्न युगों में काव्य-सृष्टि अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताओं अथवा न्यूनताओं के साथ अपना प्रसार करती रही है। वे काव्य की नरक्षेत्र विषयक महत्ता स्वीकार तो अवश्य करते हैं किन्तु केवल उसी के सीमाबन्धन में काव्य की सर्वोच्च सफलता का आभास उन्हें नहीं मिलता। उनके मतानुसार मनुष्येतर बाह्य प्रकृति चिरंतन काल से इस चराचर विश्व के रूप में मानव हृदय को खींचती रही है और साहित्य के परिवेश-मंडल में कवियों ने उसे अपेक्षित महत्ता देने में कभी संकोच नहीं किया है। उन्होंने संस्कृत-साहित्य के आदिकवि महर्षि वाल्मीकि काव्य-गुरु कालिदास तथा करुण रस के सर्वस्व कविवर भवभूति आदि के ग्रन्थों से उदाहरण देकर सविवेचन सिद्ध किया है कि प्रकृति का स्वरूप उन्हें कितनी गंभीरता और व्यापकता में आकर्षित करता रहा था और उनकी साधना में उसके अनंत रूपों की झलक साधारण अथवा असाधारण प्रकारों में किस भाँति समन्वित होकर अभिव्यक्त हुई थी। शुक्ल जी का यह विवेचन सर्वथा मार्मिक और विचारपूर्ण है। वे काव्य के लिए जिस रागात्मक तत्त्व का विवेचन करते हैं, वह उनकी काव्य-विषयक धारणा को पूर्ण स्पष्टता के साथ व्यक्त करने में समर्थ है।

काव्य, सूक्ति, कल्पना, मनोरंजन और सौन्दर्य पर विचार

४३. आचार्य शुक्ल ने काव्य और 'सुभाषित अथवा सूक्ति' में अन्तर माना है।[4] 'सूक्ति में जहाँ केवल अभिव्यक्ति का अनूठापन रचना-वैचित्र्य का चमत्कार तथा ऊपरी वाक्-चातुर्य होता है, वहाँ काव्य में हमारे भावात्मक हृदय का प्रकृत विषय के साथ समन्वय रहता है।" अत उनकी दृष्टि में सूक्तिकार की अपेक्षा काव्यकार की महत्ता सर्वतोभावेन अधिक है। उनके विवेचन में जीवन और जगत् का जिस रूप में तथ्यान्वेषण हुआ है, वह निश्चय ही उनकी आदर्शवादी दृष्टि

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल रस मीमांसा। प्रथम संस्करण, पृष्ठ २।
२. वही, काव्य की साधना पृष्ठ ३।
३. रामचन्द्र शुक्ल रस मीमांसा प्रथम संस्करण पृष्ठ ८।
४. वही, काव्य और सृष्टि-प्रसार, पृष्ठ १४।

और मध्यवर्गीय विचारधारा का निदर्शन है। वे ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार मानते हैं और काव्य का व्यावहारिकता से सम्बन्ध स्थापित कर उसे मनुष्यता की ऐसी उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं जहाँ सच्चे भावयोगी कवि का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है तथा जिसके हृदय की विश्वजनीन एकता में उसके हृदय की कोई अलग भावसत्ता नहीं रहती। वस्तुतः उस स्थिति में "उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।[1]

४४ आचार्य शुक्ल ने काव्यान्तर्गत भावों के प्रवर्तन के लिए भावना या कल्पना की वांछनीयता उसी रूप में स्वीकार की है जिस रूप में भक्ति के क्षेत्र में उपासना या ध्यान स्वीकृत किये जाते हैं। वे काव्य में कल्पना का प्रयोग वहीं तक सौष्ठवपूर्ण मानते हैं, जहाँ तक वह भावों को मार्मिक सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान की अवस्था तक प्रस्थापित कर दे। उनके मतानुसार कवि में जहाँ 'विधायक कल्पना' अपेक्षित है, वहाँ श्रोता या पाठक में अधिकतर 'ग्राहक कल्पना'। वे कल्पना को काव्य का साधनमात्र मानते हैं और जो पश्चिमी साहित्यालोचक उसे भाव-लोक से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं उन्हें वे अपना आदर्श नहीं स्वीकार करते, क्योंकि कल्पना के आधार पर केवल विचित्र मूर्ति-विधान प्रस्तुत करना उसे कदापि रस कोटि तक नहीं पहुँचा सकता।[2]

४५ शुक्ल जी कविता में मनोरंजन का महत्त्व एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं। यदि काव्य का उद्देश्य मनोरंजन मात्र ही होता तो वह भी केवल कलाओं की भाँति हमारे विलास की एक सामग्री मात्र बनकर रह जाता। अतः वे उसका अन्तिम लक्ष्य मनोरंजन के स्थान पर जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापन मानते हैं।[3] उन्होंने रीतिकाल के उन कवियों के काव्य की निंदा की है जो काव्य का उद्देश्य केवल कामोत्तेजना ही समझते थे। वे काव्य में सौन्दर्य की उपयोगिता यूरोपीय कला समीक्षा की उस मान्यता तक नहीं स्वीकार करते जिस मात्रा तक वहाँ के तत्त्व-मीमांसकों ने उसे खींच-तान कर वायवी स्थिति की ऐकान्तिक सीमा में पहुँचा दिया है। वे सौन्दर्य को बाहर की वस्तु न मानकर मन के भीतर की वस्तु मानते हैं और पश्चिमी विचारकों की सौन्दर्य विषयक धारणा उन्हें भाषा के पदविन्यास के सिवा और कुछ नहीं लगती।[4] उनका सौन्दर्य-विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। उसके अन्तर्गत बाह्य और आभ्यन्तरिक जगत् के समस्त रूप-रंग तो आते ही हैं, साथ ही साथ कर्म और मनोवृत्ति का सौन्दर्य भी अपनी दिव्य विभूति के साथ समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार उनके सौन्दर्य-पथ में कोरी बाह्य-शोभा-निरूपिणी एकांगिता न होकर जीवन-व्यापिनी ऐसी सर्वांगीणता है, जिसमें काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों शोभा-सम्पन्न बनते हैं। यही कारण है कि उन्होंने तुलसी के काव्य में चित्रित राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य छटा, प्रकृति की छटा चित्रकूट एवं रम्य स्थानों से अधिक अनुपम और दिव्य मानी है।

ऐकान्तिक चमत्कार का विरोध तथा भाषा और अलंकार के प्रति दृष्टिकोण

४६ शुक्ल जी चमत्कार को मनोरंजन की सामग्री कहकर भी चमत्कार मात्र को ही काव्य नहीं मानते। उनका चमत्कार से अभिप्राय केवल प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है अपितु चमत्कार से उनका अभिप्राय उक्ति के उस

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल 'रस-मीमांसा' प्रथम प्रकरण पृष्ठ ११।
२ वही, पृष्ठ १६।
३ वही, पृष्ठ १६।
४ वही, पृष्ठ १६

चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता शब्दों की क्रीड़ा वाक्य की वक्रता या अनमर्मेली अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना इत्यादि बातें आती हैं।[1] यदि कोई भावुक कवि किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए चमत्कार का प्रयोग करता है तो वे उसे बुरा नहीं समझते किन्तु जहाँ चमत्कार केवल कुतूहलवर्द्धन या वैचित्र्य मात्र के रूप में प्रयुक्त होता है, वहाँ वह भावों को रस-परिपाक की अवस्था में कभी नहीं पहुँचा सकता ऐसी उनकी दृढ़ धारणा है। उनके मत से काव्य की गति में रसपूर्ण संवेदना या मार्मिक भावना की महत्ता कोरी चमत्कारपूर्ण सूक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक रहती है। अनेक बार तो केवल *उक्ति का अनूठापन भावों के भास्वर स्वरूप को आच्छादित कर रस निष्पत्ति के मार्ग में एक प्रकार का अवरोध सा उत्पन्न कर देता है।* अतएव आचार्य ने रीतिकालीन कवियों विशेषतः बिहारी के काव्य की केवल चमत्कारवादिनी उक्तियों को विशुद्ध काव्य की श्रेणी से हीन माना है क्योंकि उनसे भावों का तादात्म्य और बिम्ब ग्रहण न होकर केवल मनोरंजन मात्र होता है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल एक ओर जहाँ *यूरोप के अभिव्यंजनावाद के प्रति अपना आक्षेप व्यक्त करते हैं, वहाँ दूसरी ओर भारतीय वक्रोक्तिवाद को भी अतिरेकता में नहीं स्वीकार करते।*

४७ आचार्य शुक्ल ने काव्य के अभिव्यक्त-पक्ष के अन्तर्गत जगत् और जीवन का अनंत प्रसार मान कर तदनन्तर उसके अभिव्यक्ति-पक्ष भाषा को लिया है जिसके कलेवर में भाव-चित्र साकार बनते हैं। उन्होंने काव्य भाषा की प्रथम विशेषता का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि *भाषा अभिव्यक्ति का साधन अवश्य है किन्तु काव्य में उसके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है,* वह अर्थ-ग्रहण मात्र की न होकर बिम्बग्रहण तथा पूर्ण दृश्य-विधान की होनी चाहिए क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उसकी साधना के लिए कवि को वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक वृत्तियों के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा ही नहीं लेना पड़े। उन्होंने कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह मानी है कि 'उसमें जाति-संकेत वाले शब्दों की *अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं जिससे भावनाओं का मूर्ति-विधान अधिक* कौशल के साथ हो जाता है। इसी प्रकार काव्य-भाषा की तीसरी विशेषता 'वर्ण-विन्यास की सुष्ठुता'[2] और चौथी विशेषता कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप या गुण या कार्य-बोधक शब्दों का व्यवहार' है।[3] आचार्य ने इन विशेषताओं के विवेचन का आधार यद्यपि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र ही रखा है और इन विशेषताओं का निरूपण भी उसीके अनुरूप किया है *फिर भी अपने व्यक्तित्व की छाप विषय-स्पष्टीकरण पर अवश्य अंकित कर दी है।*

४८. काव्य विवेचन के अन्तिम अंग के रूप में शुक्लजी ने अलंकारों को लिया है। वे काव्य में उन्हें केवल साधन-रूप में ही ग्राह्य समझते हैं, साध्य रूप में नहीं क्योंकि उनके प्रयोग द्वारा प्रस्तुत भाव या भावना का उत्कर्ष केवल साधन मात्र ही होता है। आचार्य ने अलंकार-योजना की विविध प्रणालियों का विवेचन कर अपने मत की पुष्टि की है और बतलाया है कि काव्य के साध्य पक्ष की अवहेलना कर जब साधन पक्ष को ही सर्वस्व मान लिया जाता है तो उसके द्वारा कविता में रसापकर्षक विकृति का समावेश हुए बिना नहीं रहता। उन्होंने आचार्य-कवि केशव तथा "गागर में सागर भरने वाले" बिहारी के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमांसा पृष्ठ ११-१४
२. वही, पृष्ठ ४१
३ वही, पृष्ठ ४८
४ वही, पृष्ठ ४७

उनकी अनेक स्थलों पर की गई अलंकार-योजना द्वारा दूर की सूझ भले ही प्रकट हो किन्तु उसमें प्रस्तुत सौन्दर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती। अभिप्राय यह है कि आचार्य शुक्ल की मान्यता में अलंकार वर्णन-शैली या कथन-पद्धति के ऐसे रूप हैं, जिनसे काव्य में भावोत्कर्ष या रमणीयता की वृद्धि होती है। अतः जो अलंकार किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त रहते हैं, वे केवल चमत्कार या खिलवाड़ मात्र हैं। अपनी इसी मान्यता के बल पर उन्होंने स्वभावोक्ति उदात्त तथा अत्युक्ति आदि को अलंकार ही नहीं माना है, क्योंकि इनमें वर्णन करने की प्रणाली न होकर प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु से सम्बन्धित सामग्री रहती है। उदाहरणार्थ उनके मतानुसार 'स्वभावोक्ति अलंकार में प्रयुक्त बालक की रूप चेष्टाओं आदि के वर्णन के कारण उसे अलंकार कोटि में न मानकर वात्सल्य के विभाव-पक्ष के अन्तर्गत मानना अधिक समीचीन है। वे अपने आचार्यत्व का उद्घोष करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि "बालक आदि की रूप-चेष्टाएँ आदि का वर्णन रस-क्षेत्र के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए और उसे घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में ले जाना उचित नहीं है।"[1] स्मरण रखने की बात है कि वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने भी 'स्वभावोक्ति' को अलंकार नहीं माना था।

आनन्द की साधनावस्था और सिद्धावस्था के अनुसार काव्य की श्रेणियाँ

४६ आचार्य शुक्ल ने सत्‌चित् और आनन्द, ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में काव्य और भक्ति-मार्ग के लिए केवल उसके 'आनन्द' स्वरूप को स्वीकार्य समझा है। लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की उन्होंने दो अवस्थाएँ मानी हैं, जिनको दृष्टिगत रखकर वे काव्य के दो विभाग करते हैं:—(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य (२) आनन्द की *सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य।* कहा जा सकता है कि यह विभाग पश्चिमी विचारक डंटन की 'पोएट्री एण्ड दि रिनेसां ऑव वण्डर' नामक पुस्तक में वर्णित शक्ति काव्य (पोएट्री एज एन एनर्जी) तथा कला-काव्य (पोएट्री एज एन आर्ट) के विभाजन के बहुत निकट है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में उन्होंने संस्कृत में रामायण महाभारत रघुवंश शिशुपाल-वध तथा किरातार्जुनीय की गणना की है और हिन्दी में पृथ्वीराज रासो' 'रामचरित मानस' 'पद्मावत' (उत्तरार्द्ध) हम्मीर रासो' तथा 'छत्र प्रकाश आदि प्रबन्ध' काव्यों तथा भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीतों की। इसी प्रकार वे इस प्रयत्न-पक्ष वाले काव्यों में यूरोपीय भाषा के इलियड ओडेसी पैराडाइज लास्ट रिवोल्ट ऑव इस्लाम तथा पुराने बैलेड्स की गणना करते हैं। उर्दू के वीर रसात्मक मरसियों को भी उन्होंने इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा है। आचार्य ने विवेचन के इसी प्रसंग में आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में संस्कृत में आर्या सप्तशती गाथासप्तशती अमरुशतक गीत-गोविन्द तथा शृंगार के फुटकल पद्य माने हैं और हिन्दी में सूरसागर, कृष्णभक्त कवियों की पदावली बिहारी-सतसई, रीतिकालीन कवियों के फुटकल शृंगारी पद्य रासपंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताओं को स्थान दिया है। फारसी उर्दू की शेर गजलें तथा अंग्रेजी की लीरिक कविताओं को भी उन्होंने इसी विभाग के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। इस प्रकार विश्व-साहित्य के प्रमुख काव्य ग्रन्थों का इन दो विभागों में परिगणन कर शुक्ल जी ने दोनों पक्षों की अवस्थाओं का विशद विवेचन उनकी मौलिक विषमताओं का उद्घाटन करते हुए किया है।[2]

१ रस-मीमांसा: काव्य के विभाग पृष्ठ ६१ ६२।
२. रस-मीमांसा वही, पृष्ठ ६७-६८।

१० कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल ने काव्य की कर्मभूमि और भोगभूमि के आधार पर उसके जो उपयुक्त विभाग किए हैं उनमें उन्हें आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में अधिक उदात्त भावना मिली है। गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं के प्रति उनका अनन्य भाव केवल इसी विशेषता के कारण है। रामचरितमानस को शुक्ल जी द्वारा निरूपित साधनावस्था वाले प्रयत्न-पक्ष का आदर्श कहा जा सकता है। उनके द्वारा आनन्द की साधनावस्था का किया गया सैद्धान्तिक विवेचन मुख्यतः तुलसी के 'मानस' की उत्कृष्टता का ही परोक्ष रूप में स्तवन है। यह बात दूसरी है कि आचार्य ने उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित कर उसे सर्वसामान्य धरातल पर अधिक व्यापक और बहुग्राह्य बना दिया है। उनकी तो यह धारणा है कि 'मंगल-अमंगल के द्वन्द्व में कवि लोग अन्त में मंगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं, उसमें सदैव शिष्टाचार या अस्वाभाविकता की गन्ध समझ कर नाक भौं सिकोड़ना ठीक नहीं।'[1] वे राम और कृष्ण के कर्म-सौन्दर्य और रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा कर उनके प्रति बने हुए वासनात्मक स्वाभाविक आकर्षण की काव्याभिव्यक्ति ऐसी चिरंतन शक्ति के रूप में मानते हैं जिसकी दीप्ति शाश्वतभाव से मानव-हृदय को आकर्षित करती रहेगी। यही कारण है कि उन्होंने "अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्ष काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र-मंदिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना"[2] बताया है। शुक्ल जी की यह मान्यता उनके परम्परागत संस्कारों की भित्ति पर आधारित है। इसी आधार पर वे उन कवियों की भर्त्सना करते हैं जो केवल अपने समय की परिस्थिति-विशेष को लेकर प्राचीन आदर्शों को विकृत कर नए आख्यानों और नये पात्रों की उद्भावना में पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने का दम्भ भरते हैं। बंग भाषा के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त तथा नवीनचन्द्रराय ने क्रमशः 'मेघनाद-वध' और 'कुरुक्षेत्र' में उनके नायकों का चरित्र जिन नवीन रूपों में चित्रित किया है उन्हें शुक्ल जी हमारी चिरंतन संस्कार-सापेक्षता के अधिक अनुकूल नहीं मानते हैं। शुक्ल जी की इस आस्था को लेकर भले ही कोई नवीनतावादी विचारक इसे उनकी परम्परायुक्त मान्यता का ही प्रतिफल सिद्ध करे, किन्तु साहित्य का संस्कृति के साथ जो एक चिरन्तन तथा अपरिहार्य सम्बन्ध है, उसकी सत्यता शुक्ल जी की उक्त धारणा में निहित है, ऐसा मेरा मत है। सच तो यह है कि प्रत्येक देश की एक सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा होती है, जिसको युगवर्तिनी बनाते हुए उसे नया रंग भले ही प्रदान किया जाय किन्तु उसके मूलाधार आदर्शों को विकृति प्रदान करना किसी स्थिति में शोभनीय नहीं कहा जा सकता।

११ आचार्य शुक्ल ने साहित्य की अंतःप्रेरणा में स्थित मूल मनोभावों का विवेचन कर करुणा और प्रेम को मंगल-विधान के अनन्य साधनों के रूप में स्वीकार किया है। वे लोक में रंजन की क्षमता से रक्षण को प्राथमिकता देते हैं और उसकी प्रतिष्ठा में करुणा की स्थिति स्वीकार कर साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों को सौन्दर्य की सत्यात्मकता के कारण अधिक ग्राह्य समझते हैं। उन्होंने मनुष्य के शरीर के दक्षिण और वाम पक्षों की भाँति हृदय के भी कोमल और कठोर तथा मधुर और तीक्ष्ण पक्ष निर्दिष्ट कर इन दोनों के समन्वय में काव्य की रमणीयता अथवा मंगल-सौन्दर्य का विकास अनुभव किया है। यही कारण है कि टाल-स्टाय की एकांगी आदर्शवादिता और भ्रातृभाव-प्रचार की भावना भी उन्हें एक प्रकार से साम्प्रदायिक-सी लगी है और वे उससे निर्मित आध्यात्मिकता की काव्य-क्षेत्र में कोई महत्ता नहीं समझते। उनका तो स्पष्ट मंतव्य है कि विदेशी धर्म में प्रचलित आध्यात्मिक शब्द का जो प्रचार हमारी

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमांसा पृष्ठ ११।
२ वही, पृष्ठ १४

ऐसी भाषाओं में हो रहा है उसके नितांत बहिष्कार की आत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि "अध्यात्म" शब्द की काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।[1]

५२ जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने करुणा को लोक-मंगल की साधनावस्था का मूल भाव सिद्ध किया है उसी प्रकार प्रेम को सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष का आदि कारण। वे उपभोग-पक्ष की पुष्टि को ही काव्य की व्यापक रसात्मकता न मानकर उसे केवल काव्य का एकांत लक्ष्य-मात्र समझते हैं। उनका करुणा-विषयक विवेचन इतना अधिक व्यापक है जिसके अन्तर्गत प्रेम-तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। वे करुणा और प्रेम में कोई तत्त्वभेद न मान कर केवल दृष्टि-भेद मानते हैं और इस प्रकार काव्य की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष के भीतर ही सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष का अन्तर्भाव कर लेते हैं।[2] करुणा को उन्होंने प्रत्येक सात्त्विक कार्य की मूल-वृत्ति और काव्य रचना की आदि प्रेरणा सिद्ध किया है और बतलाया है कि जिसके प्रति करुणा का भाव होगा उसके प्रति निश्चय ही प्रेमवृत्ति भी रहेगी ही। यही कारण है कि वे रक्षण और रंजन की प्रवृत्तियों में रक्षण को प्राधान्य देते हैं और उन्हें राम का लोकरक्षक रूप उनके लोकरंजक रूप से अधिक मनोमुग्धकारी लगता है। करुणा और प्रेम तथा रक्षण और रंजन की आधाराधेयता पर ही उन्होंने विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को एक निश्चित सीमा में ही अनुपम और अद्वितीय माना है। विवेचन के इसी प्रसंग से हमें यह भी पता चलता है कि आचार्य शुक्ल तात्त्विक विश्लेषण की अखंड एकता के कितने प्रबल समर्थक थे और जो समीक्षक या काव्यकार अपने रूप-वैविध्य के आधार पर वाद-सरणियों की सृष्टि कर अपने दृष्टिकोण के सीमित प्रतिमान से काव्य के सम्पूर्ण क्षेत्र का मूल्यांकन करना चाहते थे उन्हें वे किसी रूप में सम्यक्-दृष्टि-सम्पन्नता से विहीन समझते थे।

५३ शुक्ल जी ने आनन्द की सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्यों के विधान पक्ष में असामान्य शोभा दीप्ति माधुर्य प्रफुल्लता कोमलता और सुकुमारता आदि के द्वारा अद्भुत या अलौकिक रंजन को महत्त्व देकर बतलाया है कि इसकी भावभूमि में केवल मन और इन्द्रियों के सुखद विषय ही आते हैं। एक प्रकार से इनका विवेच्य विषय केवल बाहरी चमक-दमक और बनावट-सजावट की विचित्रता अथवा अनुपमता से युक्त होता है जिसे आचार्य काव्य के प्रकृत और व्यापक क्षेत्र के लिए एकपक्षीय मानते हैं। फ्रांस और इटली के प्रभाव से यूरोप में जिस कलावाद या अभिव्यंजनावाद की सृष्टि हुई अथवा भारत में विश्व-कवि रवीन्द्र की साहित्य-धारा ने काव्य को लोकोत्तरता प्रदान की उसे उन्होंने इसी पक्ष का एक अंग सिद्ध किया है और इस प्रकार काव्य के इस माधुर्य पक्ष में रमणीयता की व्यापकता नहीं मानी है जो सब अवस्थाओं में अपना अस्तित्व रखती है।

काव्य-समीक्षण : समालोचना का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

५४ आचार्य शुक्ल ने साहित्य की अन्यान्य विधाओं की अपेक्षा काव्य पर ही अधिक विवेचन किया है। नाटक उपन्यास कथा-साहित्य आदि पर उन्होंने चलते हाथ कुछ कह दिया है पर काव्य के लक्षण गुण और वैशिष्ट्य का निर्देश कर उसके लक्ष्य का सैद्धान्तिक निरूपण करते हुए उसे तीन भागों में विभक्त किया है जैसे शब्द-विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना, पदार्थों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना तथा नाना भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना।[4] वे तीसरे लक्ष्य को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं क्योंकि इसमें कवि की रागात्मिका वृत्ति को अधिक

---

१ रस-मीमांसा : पृष्ठ ११।
२. वही : पृष्ठ ७१।
३ वही : पृष्ठ ७४।
४. वही : पृष्ठ ८८।

तत्त्वपूर्ण भाव-तल्लीनता मिलती है तथा इसमें रस-निष्पत्ति के अधिक अवकाश रहते हैं। उन्होंने बतलाया है कि लक्ष्य की दृष्टि से वही काव्य अधिक प्रभावपूर्ण या व्यापक हो सकता है जिसका विभावपक्ष अधिक से अधिक मानव-जाति के भावों को संस्पर्श करने वाला हो तथा जिसमें आलम्बन की उत्कृष्टता विशेषत्व को लिए हुए हो। उनके मतानुसार रामायण महाभारत तथा पौराणिक उपाख्यानों में वर्णित महापुरुषों के जीवन को लेकर जिन महाकाव्यों का सृजन हुआ है वे अपने आलम्बन की सर्वग्राह्यता के कारण ही हमारा अधिकाधिक भाव प्रसादन कर पाते हैं। रीति-ग्रन्थों की रूढ़िग्रस्तता ने जीवन की व्यापकता को वासना की संकीर्ण नालियों में आबद्ध कर उसका काव्य की लोक-व्यापक भावभूमि से जो सम्बन्ध-विच्छेद करा दिया था उसका आचार्य ने सोदाहरण समीक्षण कर सिद्ध किया है कि यह प्रवृत्ति किसी भी रूप में कल्याणकारी नहीं कही जा सकती है। शुक्ल जी का स्पष्ट वक्तव्य है कि रीति-काल की कविता को केवल बाह्य मनोरंजन तथा अमीरों के शौक तथा विलास की सामग्री बनाने के फलस्वरूप कवियों द्वारा उसका जो दुरुप्योग किया गया वह उसे काव्य के पावन लक्ष्य से भ्रष्ट बनाने का कारण बना और उसमें रसात्मक प्रतीति का वह स्वरूप नहीं आ सका जिससे पूर्ण रस की निष्पत्ति तथा विभावन-व्यापार का साधारणीकरण होता है। उन्होंने रीतिकालीन कवियों की चमत्कारवादिनी उक्तियों को ऊहात्मक होने के कारण उन्हें सूक्तिमात्र कहा है और उनकी अधुमुखता में काव्य-सौरस्य का अभाव माना है। इसी प्रकार वे काव्य का लक्ष्य केवल असाधारण व्यापारों में ही संकेन्द्रित न कर उसका क्षेत्र साधारण-असाधारण दोनों के सामञ्जस्यपूर्ण संगठन में निरूपित करते हैं। यदि ऐसा न हो तो केवल असाधारणत्व का आग्रह काव्य-क्षेत्र को केवल तमाशाखाना या मुसाहबगाह बना दे। इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के मतानुसार काव्य का आभ्यंतर स्वरूप आत्मभाव या रस है और अलंकार उसके बाह्य अंग बन कर आते हैं। अतः कवि को वस्तुतः अपने हृदय को मुक्त दशा में मग्न कर लोक-सामान्य भावभूमि पर जीवन तथा जगत् के अन्तर्गत ही अपने विषय का प्रसार करने का सद्प्रयत्न करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी का इस प्रकार काव्य-विश्लेषण एक ऐसी आधार-भूमि है जिस पर उनकी रस-मीमांसा अवलम्बित है।

विभाव और भाव का आपेक्षिक क्षेत्र तथा उनके विविध पक्ष

२५ शुक्ल जी की इस विषय में स्पष्ट धारणा थी कि कोई भी साहित्य-मीमांसक काव्य के उपादान-तत्त्व को लेकर चाहे जितनी कलाबाजी और अलौकिकता का स्वांग भरे, किन्तु कवि कर्म विधान विभाव और भाव-पक्ष के परिवेशमंडल से अलग भिन्न सत्ता में हो ही नहीं सकता।[1] उन्होंने विभाव-पक्ष में तो मनुष्य से लेकर सृष्टि के छोटे-बड़े सभी प्राणियों और पदार्थों को परिगणित किया है किन्तु भाव-पक्ष में केवल हृदय-सम्पन्न मनुष्य को ही।[2] उन्होंने प्राकृतिक दृश्य विधान को काव्य के उद्दीपन रूप में ही नहीं अपितु आलम्बन रूप में भी ग्राह्य बतला कर उसके संश्लिष्ट चित्रण व बिम्बग्रहण की शक्ति मानी है और कहा है कि उसकी गोद में मानव-जीवन का जो तादात्म्य होता है वही हमारे हृदय को मुक्त दशा में प्रतिष्ठित कर उसका साधारणीकरण करा सकता है। वे प्राकृतिक वर्णन के मूल में भी रसोद्बोधक रतिभाव निर्दिष्ट कर उसका स्वतंत्र रूप भी सिद्ध करते हैं क्योंकि उसके दृश्य अथवा चित्रण से जो हर्षोद्भावन होता है वह उस रतिभाव का अंग बनकर ही आता है। जिन रीतिवादी विचारकों ने प्रकृति-चित्रण को केवल उद्दीपन या अलंकार विधान के रूप में ही सीमित कर दिया था उन्हें वे संकीर्ण दृष्टि से परिव्याप्त सिद्ध करते हैं और उनके विवेचन को रस-विवेचन के विस्तार-क्षेत्र में अवरोधोत्पादक कहते हैं।

---

१ 'रस-मीमांसा' पृष्ठ १६।
२. वही, पृष्ठ १६

५६ आचार्य शुक्ल का 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' विधान विषयक जो अभिमत था उसका विस्तारपूर्वक विवेचन तो उन्होंने अपने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक समालोचनात्मक निबन्ध में किया है[1] किन्तु उसके प्रमुख अंगों के प्रति अपने निर्धारित दृष्टिकोण की झलक यथावसर प्रत्येक समालोचना ग्रन्थ में दी है। वे काव्य में प्राकृतिक दृश्य विधान को व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित करना अधिक समीचीन समझते हैं। यही कारण है कि उन्हें उसके मधुर और भीषण दोनों पक्ष समान रूप से मुग्ध करने वाले विषय लगे हैं। उन्होंने फारस की उस काव्य-पद्धति की निंदा की है जिसमें यूरोप और भारत की भाँति मनुष्य को प्रकृति के विशाल प्रांगण में विचरण करने का बहुत कम अवकाश दिया गया है तथा जो केवल ऊपरी चटक-मटक और कलाबाजी को ही अपना कर चली है।

५७ शुक्ल जी भाव-पक्ष के अन्तर्गत केवल अभ्यासजन्य प्रदर्शन की रुचि को सच्ची सहृदयता की पहिचान नहीं समझते।[2] उन्होंने प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरण करने वाली मानव जाति की वंशपरम्परागत वासनाओं के विकास में ही सहृदयता का स्वरूप निर्दिष्ट किया है और बतलाया है कि जो व्यक्ति अपनी रागात्मिका वृत्ति का जितना अधिक सत्वपूर्ण समन्वय उसके साथ कर पाता है वही उतना अधिक काव्य की रस-कोटि को पहुँच सकता है। जिन महाकवियों की वाणी में जीवन जगत् और प्रकृति का संश्लिष्ट विधान मिलता है, उनकी कृतियों की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। महर्षि वाल्मीकि कालिदास और भवभूति इसी कारण उन्हें अधिक लुभा सके हैं। इस विवेचन से शुक्ल जी की प्रकृति से सम्बन्धित काव्य की विभाव विषयक धारणा का सहज ही बोध हो जाता है। उन्होंने बतलाया है कि विभाव को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए जिस अप्रस्तुत-विधान या अलंकार-विधान को महत्त्व दिया जाय वह अधिक से अधिक बिम्ब ग्रहण कराने वाला हो। केवल नाम-परिगणन की परम्परायुक्त प्रणाली से आधार-आधेय की वह संश्लिष्ट योजना नहीं प्रस्तुत की जा सकती जो हमें रसोद्बोधन करा सके।

५८ आचार्य शुक्ल को हिन्दी काव्य के प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वह सुक्ष्मता नहीं मिलती जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में उपलब्ध है। रीति-काव्य में प्रकृति-चित्रण को जो विकृति प्रदान की गई थी उसकी तो उन्होंने बड़ी कुत्सा की है। एक प्रकार से उस काल के कवियों ने प्रकृति के स्वतंत्र आलम्बन-स्वरूप को तो पूर्णतः क्षत-विक्षत कर उसे केवल अपनी भोगवृत्ति का निष्क्रिय साधन मात्र बना लिया था। सूर, तुलसी केशव और जायसी के काव्यों में विभाव-पक्ष के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्यों का जैसा विधान हुआ है, उसका उन्होंने सर्वांगीण विवेचन किया है। वे इसी विवेचन के ऐतिहासिक अनुक्रम से बढ़ते-बढ़ते भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तक चले आये हैं और उन्होंने सम्यक रूप से इस विषय का यथेष्ट स्पष्टीकरण कर दिया है कि हिन्दी काव्य में प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपों का उद्घाटन कहाँ तक संश्लिष्ट चित्रण के रूप में है और कहाँ तक परम्परायुक्त अथवा चमत्कारोत्पादक अलंकार-प्रणाली के रूप में। वे बार-बार इस सिद्धान्त का आग्रह करते हैं कि काव्य में आलम्बन विभाव को सर्वतोभावेन प्राधान्य मिलना चाहिए और जो कवि वर्ण्य-विषय से सम्बन्धित वस्तुओं और व्यापारों के रूप-चित्र अंकित कर पाठक या श्रोता को भाव-जागृति करा देता है वही सफल काव्यकार है। इस प्रकार शुक्ल जी का विभाव-पक्ष रहस्यवादी और छायावादी कवियों की अलौकिकता और अमूर्तता से भिन्न केवल जीवन और जगत् की परिधि में समावेष्टित ऐसा साकार और स्थूल विधान है, जिसमें वायवी लोक की हवाई कल्पना के लिये अवकाश नहीं है।

---

१ माधुरी, जनवरी-जुलाई सन् १९२२।
२. रस-मीमांसा पृ० ११७।

५९ जहाँ तक काव्य के भाव-पक्ष का सम्बन्ध है शुक्ल जी 'काव्य का लक्ष्य भावों के उपयुक्त विषयों को सामने रख कर सृष्टि के नाना रूपों के साथ मानव-हृदय का सामंजस्य स्थापित करना' मानते हैं।[1] उन्होंने भाव को ही 'कर्म के मूल प्रवर्तक और शील संस्थापक'[2] कहा है और उनके प्रतीक मानव-जीवन की सच्ची झलक देना ही काव्य का चरम लक्ष्य सिद्ध किया है। भाव और वासना के मौलिक अंतर को स्पष्ट कर शुक्ल जी ने मनोविज्ञान के आधार पर साहित्य की मूलभित्ति की विवेचना की है और बतलाया है कि भाव को 'मन की वेगयुक्त अवस्था-विशेष' कहा जा सकता है जो क्षुत्पिपासा कामवेग आदि शरीर वेगों से भिन्न है।[3] वे सभ्यता और ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ मानव-व्यापार की जटिलता और भावों की संकुलता में स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित कर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हैं कि सभ्यता की वृद्धि काव्य की आवश्यकता और कवि-कर्म की कठिनता की सम्वादी है। उनका तो यह विश्वास है कि भाव का सभ्यताभिमानी मनुष्य अपने आपको प्रकृतिजन्य स्वाभाविक संस्कारों से चाहे कितना ही दूर रखने का प्रयास करे, किन्तु काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषय के मूल और आदिम रूपों तक जाना ही होगा और वे रूप निश्चय ही मूर्त और गोचर होंगे। इस प्रकार उनके मतानुसार भाव में प्रत्यय-बोध अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों का गूढ़ संश्लेषण अवश्य रहना चाहिए जिससे चेतना के भीतर वासना आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित हो सकें[4]।

६० शुक्लजी ने रस निष्पत्ति से सम्बन्धित भावों के मुख्य उपादान उनके स्थायित्व और संचारित्व तथा वर्गीकरण आदि का विवेचन शास्त्रीय परम्परा और आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर किया है। वे भावों की स्थायी दशा का निर्देश कर उसके अनुक्रम में भारत और पश्चिम का मौलिक विभेद भी स्पष्ट कर सके हैं और दोनों तत्त्व-चिन्तकों की विशिष्टता को भी पहिचान सके हैं। उनका भावों को प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को लेकर किया गया 'शील-दशा' का विवेचन अपने निजी दृष्टिकोण से हुआ है और इस प्रकार भावों की भाव दशा स्थायी दशा और शीलदशा का पारस्परिक संबन्ध भी उनके द्वारा स्थिर कर दिया गया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि काव्य में इन तीनों दशाओं का उपयोग किस प्रकार होता है और विशेषत: गोस्वामीजी के रामचरित मानस में उनका किस प्रकार से सम्यक् निर्वाह हुआ है।[5]

६१ आचार्य शुक्ल ने जिस दृष्टिकोण से भावों का वर्गीकरण किया है, वह भारतीय विचारधारा के अधिक अनुकूल है। साथ ही साथ उसमें पाश्चात्य मनोविज्ञान का भी पुट है। सर्वप्रथम उन्होंने भावों (इमोशन्स) को सुखात्मक और दुखात्मक इन दो वर्गों में विभक्त कर उनके चेतन कारण या आलम्बन (कागनिशन) इच्छा या संकल्प (कानेशन) कायिक गति या प्रवृत्ति (टैन्डेन्सी) शारीरिक लक्षण (सिम्पटम्) आदि का निरूपण किया है और इस प्रकार सुखात्मक वर्ग में राग हास उत्साह और आश्चर्य को रखा है तथा शोक क्रोध भय और जुगुप्सा को दुखात्मक वर्ग, के अन्तर्गत।[6] उन्होंने काव्य को रसात्मक कहकर रस को भावात्मक सिद्ध किया है और उनके साथ जीवन की संवेदना अथवा सहानुभूति को अविच्छेद्य भाव से स्वीकार किया है। उनके निरूपण-क्रम में संचारी भावों का भी व्यापक विश्लेषण हुआ है और वे पाश्चात्य विचारक

---

१ रस-मीमांसा भाव विश्लेषण पृष्ठ १६१।
२ वही, पृष्ठ १६२।
३ रस-मीमांसा पृष्ठ संख्या १६४।
४ वही, पृष्ठ संख्या १६८।
५ वही, पृष्ठ संख्या १७०-१७८।
६ रस-मीमांसा भावों का वर्गीकरण पृष्ठ १९१ १९१।

भेद की विचारधारा का भी विवेचन कर सके हैं। उन्होंने स्वतंत्र विषय वाले भावों मन के वेगों अन्य अन्तःकरण-वृत्तियों तथा मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं की भी सोदाहरण व्याख्या की है और अन्त में यह बतलाया है कि काव्य में असंबद्ध भावों का रसवत् ग्रहण किस प्रकार होता है। आश्रय आलंबन और श्रोता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रस-विरोध होता है, उनका विचार-विमर्श करते हुए आचार्य ने कतिपय उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है कि साहित्य में इस प्रकार की परम्परा किस रूप में रही है और काव्यकारों ने उनका किस प्रकार निरूपण किया है।

भावों का आलम्बन-विस्तार और उसके रूप-विधान

१२ शुक्ल जी की इस विषय में यह सुदृढ़ धारणा है कि हमारे प्रेम भय आश्चर्य क्रोध और करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् से भिन्न किसी अलौकिक तथा अतीन्द्रिय जगत् के नहीं हो सकते और जो लोग कल्पना या सम्भावना के द्वारा मानसिक रूप-विधान भी करते हैं, वह भी बाह्य जगत से सम्भूत होकर ही व्यक्त होता है।[1] उन्होंने प्रत्यक्ष स्मृत और संभावित या कल्पित सत्ता से तीन प्रकार के रूप विधानों का उल्लेख किया है और बतलाया है कि इन तीनों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है जिससे वे रस-कोटि में आ सकें।[2] उनके मतानुसार संभावित या कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र काव्यानुभूति या रसानुभूति मानी जाती है किन्तु प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में ही रसानुभूति की कोटि में आ सकती है।[3] आचार्य ने इन तीनों रूप-विधानों का व्याख्यात्मक और निदर्शनपूर्वक विवेचन कर बतलाया है कि 'भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान प्रत्यक्ष रूप ही हैं और इनमें जिनमें जितनी अधिक मार्मिक अनुभूति होती है उतने ही अधिक रसानुभूति के उपयुक्त सिद्ध होते हैं।'[4] *आचार्य के दृष्टिकोण से काव्य में रूप विधान की महत्ता* वास्तव भाव से स्वीकार्य समझी जानी चाहिए अन्यथा केवल चामत्कारिक विधान और कलापूर्ण चटक-मटक साहित्य को क्रीड़ा-वृत्ति मात्र बना देगी। वे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'कला' शब्द की व्याख्या से चिढ़कर उसका साहित्य-चर्चा के विषयों से शीघ्रातिशीघ्र बहिष्कार करना चाहते हैं और उसे काव्य कोटि से अवर श्रेणी का समझते हैं, जिसका ज्वलंत प्रमाण तो यही है कि हमारे प्राचीन साहित्य-मीमांसकों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना उचित नहीं समझा।

१३ आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष रूप-विधान के अन्तर्गत रसानुभूति की उस विशेषता पर भी विचार किया है जो उसे प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति से पृथक करती हुई प्रतीत होती है। इस विशेषता का निरूपण उन्होंने साधारणीकरण के अन्तर्गत किया है और बतलाया है कि जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह *सामान्यतः* सब के उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।[5] शुक्ल जी इस सिद्धांत-निरूपण के पश्चात् सच्चा कवि केवल उसे ही मानते हैं जिसे लोक-हृदय की पहिचान हो तथा जो अनेक विशेषताओं

---

१ रस-मीमांसा, पृष्ठ २६६ ६६

२. वही पृष्ठ २६ ।

३ वही, पृष्ठ २६ ।

४. रस-मीमांसा, "प्रत्यक्ष-रूप-विधान" पृष्ठ २६० ।

५. वही, पृष्ठ संख्या २६६ ।

और विभिन्नताओं के बीच से मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को अलग करके देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा को ही वे रस-दशा कहते हैं।[1]

साधारणीकरण' और रसानुभूति के विविध स्वरूप

§४ शुक्ल जी का साधारणीकरण विषयक विवेचन इस बात का आभास देता है कि वे सत्ता या व्यक्ति के स्थान पर प्रभाव का साधारणीकरण' मानते हैं।[2] उनका मत है कि भाव और विभाव के सामंजस्य के अभाव में सच्ची और पूर्ण रसानुभूति हो ही नहीं सकती। भावपूर्ण काव्यों में श्रोता या पाठक को अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलंबन का आरोप करना ही पड़ता है। वे साधारणीकरण स्वरूप का ही मानते हैं व्यक्ति या वस्तु का नहीं। उनका साधारणीकरण से सीधा अभिप्राय यही है कि किसी काव्य में वर्णित आलंबन केवल भाव की व्यंजना करने वाले भाव (आश्रय) का ही न रह कर प्रत्येक पाठक या श्रोता का आलंबन हो जाय और वह निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय से उनका रसात्मक अनुभव कर सकें।[3] शुक्ल जी का मंतव्य है कि यह स्थिति पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (इमपरसनेलिटी एण्ड डिटेचमेण्ट) की स्थिति कहलाती है, जिसे चाहे रस का लोकोत्तरत्व कह दिया जाय अथवा ब्रह्मानन्द सहोदरत्व।[4] वस्तुतः रहता उसमें विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व ही है। वे इस अलौकिकत्व का सीधा-सादा यही अर्थ लेते हैं कि वह हृदय की मुक्त दशा से सम्बन्धित हो। पाश्चात्य समीक्षा में क्रोचे आदि ने लच्छेदार पदावलियों में 'कला कला के लिए' के प्रसंग में काव्य की लोकोत्तरता की जो व्याख्या की है, उसे वे "अर्थशून्य वाग्डम्बर' से अधिक महत्व नहीं देते और बंग-भाषा के प्रभाव में हिन्दी में भी जो इस प्रकार के मधुर आलाप प्रसार पा रहे हैं, उन्हें साहित्य समीक्षा के ठोस धरातल के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानते हैं। वे तो बार-बार इस बात का उल्लेख करते हैं कि "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक इसमें पूर्णतया रसलीन करने की शक्ति नहीं रहती।[5]

§५ आचार्य शुक्ल जी ने रति हास करुणा क्रोध भय जुगुप्सा शोक तथा प्रकृति के नाना रूपों को लेकर बतलाया है कि वे किस प्रकार हमें विभावानुसार संचारियों के संयोग से रसानुभूति कराते हैं। इस प्रसंग में वे करुण-रस को लेकर अपनी एक मान्यता का निर्देश करते हुए लिखते हैं कि जो लोग करुणरस-प्रधान नाटकों के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं वे एक प्रकार से बात टालते हैं।[6] शुक्ल जी की तो मान्यता है कि दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं, किन्तु हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है। सारांश यह है कि शुक्ल जी के मत से 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा भिन्न कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है और वस्तुतः वासना रूप में स्थित भाव ही रस-रूप में आया करते हैं। अतः इन भावों का

---

१ रस-मीमांसा "प्रत्यक्ष रूप विधान" पृष्ठ संख्या २६६

२. वही, पृष्ठ संख्या २६६।

३ रस-मीमांसा पृष्ठ २६८–२६९।

४ वही, पृष्ठ २६९।

५ वही, पृष्ठ २७०।

६. वही, पृष्ठ २७२।

आमरित अवस्था में लाना ही एक सफल काव्याकार का प्रमुख कार्य होना चाहिए और इसे ही साधारणीकरण की अवस्था कहना चाहिए।[1]

स्मृत रूप-विधान

६६ आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष रूप-विधान की भाँति स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति मानी है। स्मृति के अन्तर्गत उन्होंने विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित (मिश्रित) स्मृति या प्रत्यभिज्ञान नामक दो उप-विभाग किए हैं। उन्होंने बतलाया है कि वैसे तो स्मरण संचारी भावों के अन्तर्गत आता है, किन्तु जब उसका सम्बन्ध किसी स्थायीभाव से हो जाता है तो वही रस-कोटि में पहुँच जाता है। विशुद्ध स्मृति में उन्होंने प्रिय-जन बाल्य-काल यौवन-काल तथा अतीत जीवन के स्मरण को रखा है और प्रत्यभिज्ञान में अस्पष्ट रूप में स्मृति का प्रत्यक्ष रूप तथा अधिकांश रूप में स्मरण रूप निर्दिष्ट किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों के काव्यांशों के उदाहरण देकर बतलाया है कि वे किस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वरूप का बराबर विधान करते रहे हैं। उनके मतानुसार प्रसिद्ध अंग्रेज कवि गोल्डस्मिथ की ऊजड़ ग्राम (डेज़र्टेड विलेज) नामक रचना हमें प्रत्यभिज्ञान द्वारा ही रसात्मक अनुभूति कराती है। आचार्य का मत है कि स्मृत रूप-विधान के अतिरिक्त हमारी स्मृत्याभास कल्पना भी रसानुभूति का साधन बनती है जिसका आधार या तो आप्त वचन या इतिहास होता है अथवा शुद्ध अनुमान-मात्र। उन्होंने आप्त वचन या इतिहास द्वारा ज्ञात बातों की मूर्त भावना तथा शुद्ध अनुमान मात्र से प्राप्त कल्पना इन दोनों में जीवन की मार्मिकता और तल्लीनता के तत्त्व पाये हैं और इनमें भी रसानुभूति की अवस्था का उल्लेख किया है। इस प्रकार शुक्ल जी के मत से 'स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति प्रदान करने की अपूर्व शक्ति है'।[2]

कल्पित रूप-विधान

६७ शुक्ल जी के मतानुसार कल्पित रूप विधान रसानुभूति की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके निर्माण में कल्पना-शक्ति का प्रयोग वांछनीय है। कल्पना का यह क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें प्रस्तुत रूप-विधान तथा अप्रस्तुत रूप-विधान इन दोनों का समावेश हो जाता है। आचार्य शुक्ल उसी कल्पना को काव्य के लिए उपयोगी समझते हैं जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर प्रस्तुत का सम्यक् विधान करती है। उनके मतानुसार सारा रूप-विधान कल्पना ही के द्वारा होता है और अप्रस्तुत योजना में भी उसका यथेष्ट हाथ रहता है। इसके द्वारा भाषा-शैली में व्यंजकता मार्मिकता और चमत्कारपूर्णता की वृद्धि होती है। आधुनिक काव्य-धारा में जिस लाक्षणिकता का समावेश हुआ है उसमें भी कल्पना का यथेष्ट हाथ है। आचार्य शुक्ल ने कविवर जयशंकर प्रसाद तथा श्री सुमित्रानंदन पंत के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि उनके काव्य में लाक्षणिकता तथा व्यंजना शक्ति का प्रसार किस प्रकार संवलित है और उनकी कल्पना भिन्न-भिन्न रूप-बिम्बों द्वारा हमें भावों का बिम्ब ग्रहण कराती है।

प्रस्तुत रूप-विधान

६८. रस-मीमांसा के विषय में आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत रूप-विधान पर भी पर्याप्त विवेचन किया है। इसके विभाव-पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने आलम्बन और उद्दीपन को प्रतिष्ठित कर बतलाया है कि कवि-कल्पना उसमें किस प्रकार का रूप-विधान कैसी-कैसी अभिव्यंजनाओं से करती है। वे इसमें प्रयुक्त कल्पना को केवल उसी अंश तक ग्राह्य समझते हैं जिस अंश

---

१ रस-मीमांसा, पृष्ठ १७५।
रस-मीमांसा पृष्ठ १७८ ।

तक वह श्रोता या पाठक के मन में कोई भावना जगा सके और जीवन या जगत् का कोई मार्मिक रहस्य सामने रख सके। वे प्रस्तुत विभाग के अन्तर्गत प्रयुक्त कल्पना और व्यक्तित्व की उस अतिरेकता का कठोर विरोध करते हैं जो पश्चिमी साहित्य-समीक्षा-शास्त्र में अपनी एकांगितावश अनेक प्रकार का बहुरूपियापन दिखाता रही है तथा जिसके कारण काव्य का विशुद्ध क्षेत्र राजनीति की भाँति वादों का अखाड़ा बन रहा है। वे क्रोचे आदि के कलावाद और अभिव्यंजनावाद के आडम्बरपूर्ण पक्ष का उद्घाटन कर उनकी एकदेशीयता सिद्ध करते हैं और वर्तमान हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में समीक्षा की यथार्थता के स्थान पर कलाप्रियता आदि से सम्बन्धित जो प्रमाद शैली चल पड़ी है, उसे इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण कह कर साहित्य के स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए विघटनकारी समझते हैं। उनकी तो यह दृढ़ धारणा है कि साहित्य में वैयक्तिकता को महत्त्व देने वाले समालोचक कुछ भी कहें, किन्तु इस तथ्य का कदापि निषेध नहीं किया जा सकता कि काव्य में जिसे साधारणीकरण कहा गया है वह विभावन व्यापार का ही होता है और उसमें मनुष्य की लोक-सामान्य का तत्त्व पूर्णतया सन्निहित रहता है। हाँ यह बात अवश्य है कि काव्य का विषय सदा विशेष ही और वह व्यक्ति ही सामने लायेगा न कि सामान्य जाति।[1] वे आधुनिक कला-समीक्षा के इस सिद्धान्त का साम्य हमारे यहाँ प्रतिपादित साधारणीकरण से करते हुए लिखते हैं कि साधारणीकरण का अभिप्राय भी यही है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है।[2] इस प्रकार वे साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि "आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।[3]

व्यक्तिवाद की एकांगिता

१६ साधारणीकरण के विवेचन के समानान्तर आचार्य शुक्ल ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्र में पुनरुत्थान-काल के पश्चात् उद्भूत "व्यक्तिवाद" की एकांगिता और अग्राह्यता की पर्याप्त मात्रा में निन्दा की है। इस व्यक्तिवाद को वे साधारणीकरण से सर्वथा विपरीतगामी निर्दिष्ट करते हैं। उनका कहना है कि यही व्यक्तिवाद स्वच्छंदता के आन्दोलन (रोमैन्टिक मूवमेन्ट) के उत्तर-काल में इतना अधिक विकृत हो गया था कि उसके द्वारा यूरोपीय काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में उन्मत्त प्रलाप सा होने लगा। उसके समकालीन युग में नवीनता और मौलिकता के नाम पर और भी अनेक वाद वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित होते रहे किन्तु उनकी वास्तविकता थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् ही प्रकट होती गई और वे अस्तित्वहीन बनते गये। आचार्य शुक्ल ने ऐसे क्षणिक धारा विकीर्ण करने वाले वादों में रहस्यवाद, प्रतीकवाद मुक्तकवाद तथा कलावाद की गणना की है। उनका कथन है कि आज भी वहाँ के समीक्षा-क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज्म), वाग्वैचित्र्य-प्रवृत्ति (विपो-विवेनिज्म) मूर्तिमत्तावाद (इमेजिज्म) उत्प्रेरणावाद (इम्प्रेशनिज्म) और नवीन अभिजातवाद (न्यू क्लासिसिज्म) आदि प्रमुख वाद चल रहे हैं, जो अपनी अल्पकालीन चमक-दमक दिखाकर एक दिन नष्ट हो जायेंगे। शुक्ल जी के मतानुसार इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में वादों का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को नष्ट कर देता है और लोग कविता न लिख कर वाद लिखने लगते हैं।[4] उन्हें इस बात का हार्दिक क्षोभ है कि 'पश्चिम में जो साहित्य प्रवाद नष्ट भी हो गये उनके

१ रस मीमांसा, पृष्ठ ६८।
२ वही, पृष्ठ १११ ११२।
३ वही, पृष्ठ ११३।
४. वही, पृष्ठ ११६।

आधारित अवस्था में लाना ही एक सफल काव्यकार का प्रमुख कार्य होना चाहिए और इसे ही साधारणीकरण की अवस्था कहना चाहिए।[1]

स्मृत रूप विधान

६६ आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्ष रूप-विधान की भाँति स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति मानी है। स्मृति के अन्तर्गत उन्होंने विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित (मिश्रित) स्मृति या प्रत्यभिज्ञान नामक दो उप-विभाग किए हैं। उन्होंने बतलाया है कि वैसे तो स्मरण संचारी भावों के अन्तर्गत आता है किन्तु जब उसका सम्बन्ध किसी स्थायीभाव से हो जाता है तो वही रस-कोटि में पहुँच जाता है। विशुद्ध स्मृति में उन्होंने प्रिय-जन बाल्य-काल यौवन-काल तथा अतीत जीवन के स्मरण को रखा है और प्रत्यभिज्ञान में अल्पांश रूप में स्मृति का प्रत्यक्ष रूप तथा अधिकांश रूप में स्मरण रूप निर्दिष्ट किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों के काव्यांशों के उदाहरण देकर बतलाया है कि वे किस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वरूप का बराबर विधान करते रहे हैं। उनके मतानुसार प्रसिद्ध अंग्रेज कवि गोल्डस्मिथ की ऊजड़ ग्राम (डेजर्टेड विलेज) नामक रचना हमें प्रत्यभिज्ञान द्वारा ही रसात्मक अनुभूति कराती है। आचार्य का मत है कि स्मृत रूप विधान के अतिरिक्त हमारी स्मृत्याभास कल्पना भी रसानुभूति का साधन बनती है जिसका आधार या तो आप्त वचन या इतिहास होता है अथवा शुद्ध अनुमान-मात्र। उन्होंने आप्त वचन या इतिहास द्वारा ज्ञात बातों की मूर्त भावना तथा शुद्ध अनुमान मात्र से प्राप्त कल्पना इन दोनों में जीवन की मार्मिकता और तल्लीनता के तत्त्व पाये हैं और इनमें भी रसानुभूति की अवस्था का उल्लेख किया है। इस प्रकार शुक्ल जी के मत से 'स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति प्रदान करने की अपूर्व शक्ति है'।[2]

कल्पित रूप-विधान

६७ शुक्ल जी के मतानुसार कल्पित रूप विधान रसानुभूति की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके निर्माण में कल्पना-शक्ति का प्रयोग वांछनीय है। कल्पना का यह क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें प्रस्तुत रूप-विधान तथा अप्रस्तुत रूप-विधान इन दोनों का समावेश हो जाता है। आचार्य शुक्ल उसी कल्पना को काव्य के लिए उपयोगी समझते हैं जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर प्रस्तुत का सम्यक् विधान करती है। उनके मतानुसार सारा रूप-विधान कल्पना ही के द्वारा होता है और अप्रस्तुत योजना में भी उसका यथेष्ट हाथ रहता है। इसके द्वारा *भाषा-शैली में व्यंजकता मार्मिकता और चमत्कारपूर्णता की वृद्धि होती है।* आधुनिक काव्य-धारा में जिस लाक्षणिकता का समावेश हुआ है उसमें भी कल्पना का यथेष्ट हाथ है। आचार्य शुक्ल ने कविवर पंत तथा श्री सुमित्रानंदन पंत के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि उनके काव्य में लाक्षणिकता तथा व्यंजना-शक्ति का प्रसार किस प्रकार समन्वित है और उनकी कल्पना भिन्न-भिन्न रूप-चित्रों द्वारा हमें भावों का बिम्ब ग्रहण कराती है।

प्रस्तुत रूप विधान

६८. रस-मीमांसा के विषय में आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत रूप विधान पर भी पर्याप्त विवेचन किया है। इसके विभाव-पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने आलम्बन और उद्दीपन को प्रतिष्ठित कर बतलाया है कि कवि-कल्पना उनमें किस प्रकार का रूप-विधान कैसी-कैसी अभिव्यंजनाओं से करती है। वे इसमें प्रयुक्त कल्पना का केवल उसी अंश तक ग्राह्य समझते हैं, जिस अंश

१ रस-मीमांसा, पृष्ठ १७८।
२ रस-मीमांसा पृष्ठ २७१।

तक वह श्रोता या पाठक के मन में कोई भावना जगा सके और जीवन या जगत् का कोई मार्मिक रहस्य सामने रख सके। वे प्रस्तुत विधान के अन्तर्गत प्रयुक्त कल्पना और व्यक्तित्व की उस अतिरेकता का कठोर विरोध करते हैं जो पश्चिमी साहित्य-समीक्षा-शास्त्र में अपनी एकांगिताचश अनेक प्रकार का बहुरूपियापन दिखाता रही है तथा जिसके कारण काव्य का विशुद्ध क्षेत्र राजनीति की भाँति वादों का अखाड़ा बन रहा है। वे क्रोचे आदि के कलावाद और अभिव्यंजनावाद के आडम्बरपूर्ण पक्ष का उद्घाटन कर उनकी एकदेशीयता सिद्ध करते हैं और वर्तमान हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में समीक्षा की यथार्थता के स्थान पर कलाप्रियता आदि से सम्बन्धित जो प्रलाप फैली चल पड़ी है, उसे इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण कह कर साहित्य के स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए विघटनकारी समझते हैं। उनकी तो यह दृढ़ धारणा है कि साहित्य में वैयक्तिकता को महत्त्व देने वाले समालोचक कुछ भी कहें किन्तु इस तथ्य का कदापि निषेध नहीं किया जा सकता कि काव्य में जिसे साधारणीकरण कहा गया है वह विभावन व्यापार का ही होता है और उसमें मनुष्य की लोक-भावना का तत्त्व पूर्णतया सन्निहित रहता है। हाँ यह बात अवश्य है कि 'काव्य का विषय रहेगा सदा विशेष ही और वह व्यक्ति ही सामने लायेगा न कि सामान्य जाति।'[1] वे आधुनिक कला-समीक्षा के इस सिद्धान्त का साम्य हमारे यहाँ प्रतिपादित साधारणीकरण से करते हुए लिखते हैं कि "साधारणीकरण का अभिप्राय भी यही है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है।"[2] इस प्रकार वे साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि "आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।[3]

व्यक्तिवाद की एकांगिता

१२ साधारणीकरण के विवेचन के समानान्तर आचार्य शुक्ल ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्र में पुनरुत्थान-काल के पश्चात् उद्भूत "व्यक्तिवाद' की एकांगिता और अयथार्थता की पर्याप्त मात्रा में निन्दा की है। इस व्यक्तिवाद को वे साधारणीकरण से सर्वथा विपरीतगामी निर्दिष्ट करते हैं। उनका कहना है कि यही व्यक्तिवाद स्वच्छन्दता के आन्दोलन (रोमैण्टिक मूवमेण्ट) के उत्तर-काल में इतना अधिक विकृत हो चला था कि उसके द्वारा यूरोपीय काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में उन्मत्त प्रलाप सा होने लगा। उसके समकालीन युग में नवीनता और मौलिकता के नाम पर और भी अनेक वाद वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित होते रहे किन्तु उनकी वास्तविकता थोड़े-थोड़े समय के पश्चात ही प्रकट होती गई और वे अस्तित्वहीन बनते गये। आचार्य शुक्ल ने ऐसे क्षणिक आभा बिखेरने वाले वादों में रहस्यवाद प्रतीकवाद मुक्तकंदवाद तथा कलावाद की गणना की है। उनका कथन है कि आज भी वहाँ के समीक्षा-क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज्म) पार्थक्य प्रवृत्ति (सियो-सिसेमिज्म) मूर्तिमत्तावाद (इमेजिज्म) संवेदनावाद (इम्प्रेशनिज्म) और नवीन मर्यादावाद (न्यू क्लासिसिज्म) आदि प्रमुख वाद चल रहे हैं जो अपनी अल्पकालीन चमक-दमक दिखाकर एक दिन नष्ट हो जायेंगे। शुक्ल जी के मतानुसार इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में वादों का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को नष्ट कर देता है और लोग कविता न लिख कर वाद लिखने लगते हैं।[4] उन्हें इस बात का हार्दिक क्षोभ है कि 'पश्चिम में जो साहित्य-प्रवाद नष्ट भी हो गये उनके

१ रस मीमांसा पृष्ठ ९८।

२ वही, पृष्ठ १११ ११२।

३ वही, पृष्ठ ११३।

४. वही, पृष्ठ ११२।

प्रेत संभला और उसके माध्यम से हिन्दी-जगत् में उत्पात मचाने से बाज नहीं आते।[1] वे लोक मंगल और काव्य की साधना-स्थली में उनका यह पद-निक्षेप काव्य-रचना तथा आलोचना के लिए अत्यन्त भयावह समझते हैं क्योंकि इनमें मानव-सत्ता की सर्वांगता तथा भावों की पवित्र भूमि को खंडित तथा पंकिल बनाने का एकांगी दुराग्रह जीवन-विनाशक बनकर सामने आता है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्रों में प्रचलित इन वादों का सामान्य परिचय देकर उनके प्रति अपनी अभिज्ञता बतलाई है और कहा है कि पार्नेकास की प्रवृत्ति को स्पर्ट मूक हेरास्ड मोनरो तथा डी ला मेयर ने किस प्रकार प्रकृति का फिर से आश्रय लेना कहकर निरूपित किया तथा मूर्तिमत्तावाद के विवेचक एफ एस फ्लिण्ट और एल्डिंगटन तथा बाट्सडटन आदि ने किस प्रकार मूर्त-भावना खड़ी करने वाले तथ्य को ही काव्योपयोगी बतलाया। इसी प्रकार संवेदनावाद के विवेचन में उन्होंने ई० ई० कमिंग्स की "सन सेट" कविता को लेकर उनकी विचार-सरणि उपस्थित की। अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी ने पश्चिमी जगत में प्रचलित इन काव्यवादों का स्वरूप-विधान विवेचित कर इस बात का भी इंगित कर दिया है कि ये वाद आजकल किस प्रकार पश्चिमी संसार में भी अपना सम्मान खोने लगे हैं और उनकी एकांगी अपूर्णता वहाँ के मीमांसक किस प्रकार पहिचानने लगे हैं। प्रस्तुत रूप विधान-विवेचन के अन्तर्गत आचार्य का यह निर्णय हमें तो सर्वग्राह्य सा प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने लिखा है कि "कविता या उसकी समीक्षा जब तक भेद भाव का आधार हटाकर अभेद-भाव के आधार पर न प्रतिष्ठित होगी तब तक उसका स्वरूप उसी प्रकार अस्पष्ट और खींचतान में पड़ा रहेगा। अभेद भाव की भूमि तैयार करने का नाम ही साधारणीकरण है।"[2]

काव्य में वास्तविक रूप-विधान-पक्ष

७ आचार्य शुक्ल जी की काव्य के रूप-विधान-पक्ष के विषय में यह सुदृढ़ मान्यता थी कि अभिव्यंजनावादी भले ही काव्य में कोई वस्तु या विषय न स्वीकार करें और कलावाद तथा उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य का सर्वस्व मानते रहें किन्तु इस तथ्य का कदापि निषेध नहीं किया जा सकता कि काव्य में जगत् या जीवन से सम्बन्धित कोई न कोई वस्तु अथवा तथ्य अवश्य रहता है। जो लोग काव्य की स्थिति वस्तु अथवा तथ्यविहीन बातों में देखते हैं उन्हें वे "बैठकबाजी से अधिक और कुछ नहीं कहते। वे काव्य के प्रभाव को अधिक से अधिक गम्भीर और मर्मस्थल-स्पर्शी मानकर उसे जीवन की एक शक्ति सिद्ध करते हैं, जिसके अन्तर्गत जगत् या जीवन का कोई तथ्य तथा उसके प्रति किसी प्रकार की अनुभूति का सन्निवेश अवश्यमेव रहता है। यहाँ तक कि शुक्ल जी के मतानुसार तो आध्यात्मिक कविताएँ भी अव्यक्त की ओर संकेत करने वाले किसी तथ्य का निरूपण अवश्य करती हैं। इस प्रकार उनके मत से काव्य में जगत् या जीवन को लेकर प्रस्तुत *विधान तो होना ही चाहिए। हाँ यदि उसके अतिरिक्त उसकी दीप्ति के लिए अप्रस्तुत विधान भी हो जाय तो बुरा नहीं है*, क्योंकि वह अलंकार अथवा लक्षणा के रूप में आकर काव्य के भाव सौन्दर्य अथवा वस्तु-निरूपण को अधिक उत्कर्ष प्रदान करता है।

७१ आचार्य शुक्ल ने अप्रस्तुत रूप-विधान के अन्तर्गत बतलाया है कि इनमें उपमा रूपक उत्प्रेक्षा सन्देह अप्रस्तुत प्रशंसा इत्यादि अलंकारों को लेकर जो वस्तु-योजना की जाती है उसका आधार या तो सादृश्य होता है या साधर्म्य। साथ ही साथ इन दोनों में प्रभाव-साम्य भी अन्तर्निहित रहता है। उनके मतानुसार सिद्ध कवियों में ऐसी प्रतिभा होती है, जिसके द्वारा वे प्रस्तुतों समान ही अप्रस्तुतों के सौन्दर्य कोमलता प्रचण्डता इत्यादि का विधान करते हैं और जिनमें केवल

१ रस-मीमांसा पृष्ठ ११७.
२ वही, पृष्ठ ११६।

बाह्य साम्य न होकर आन्तरिक प्रभाव साम्य रहता है। उन्होंने बतलाया है कि आभ्यन्तर प्रभाव साम्य को लेकर जो अप्रस्तुत रूप-विधान होता है वह या तो उपलक्षण के रूप में रहता है या प्रतीकवत्। इसी प्रकार कभी-कभी अप्रस्तुत की योजना एकदेशीय सूक्ष्म तथा धूमिल किन्तु मर्म व्यंजक साम्य के धुंधले आधार को लेकर भी की जाती है। इन दोनों प्रकार के विधानों के शुक्ल जी ने उदाहरण दिये हैं जैसे प्रतीकवत् अप्रस्तुत विधान में सुख के लिए 'प्रभात' तथा यौवन के लिए मधुकाल', इसी प्रकार एकदेशीय रूप में सरस कोमल भावना के लिए लहर का प्रयोग आदि। पंत के काव्य में उन्हें इस प्रकार के अप्रस्तुत-विधान बहुत अधिक मिले हैं।

वाग्वैचित्र्य और अप्रस्तुत रूप-विधान

७२ शुक्ल जी ने अप्रस्तुत रूप-विधान के उन मनमाने आरोपों को भावोत्कर्ष के लिए हीन कोटि का माना है जो मर्मस्पर्शी न होकर केवल वैचित्र्य या कुतूहल-मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। उन्हें यह बात कम जँची है कि आँसुओं का 'नयनों के बाल' कहा जाय और प्रकृति के नाना रूपों के सौन्दर्य की व्यंजना सर्वत्र स्त्री-सौन्दर्य का आरोप करके ही की जाय। उनका तो स्पष्ट मन्तव्य है कि जब प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का अपना अलग-अलग सौन्दर्य है तो उसे एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के आरोप द्वारा अभिव्यक्त करना उसे संकीर्णता प्रदान करना है। हिन्दी की नवीन काव्य-धारा में अन्योक्ति-पद्धति के रूप में जो साम्य दिखाया जाता है, उसे शुक्ल जी ने उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के साँचों में ढली हुई अप्रस्तुत-योजना से अधिक परिष्कृत पद्धति स्वीकार किया है।[1]

७३ अप्रस्तुत रूप-विधान के विवेचन के अन्तर्गत शुक्ल जी ने बतलाया है कि अलंकारों को लेकर जो सादृश्य-योजना हो वह या तो स्वरूप-बोध के लिए होनी चाहिये या भाव को तीव्र करने के लिए। उसके द्वारा जहाँ प्रस्तुत-विधान के प्रकृत स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है वहाँ सादृश्य वस्तु के कथन द्वारा अगोचर तथा आध्यात्मिक तथ्यों का भी सरलतापूर्वक स्पष्टीकरण हो जाता है, जैसे माया को ठगिनी कहना अथवा संसार को नायका और ईश्वर का पति बतलाना। अतः आचार्य के मतानुसार यथासंभव रसात्मक प्रसंगों में प्रयुक्त अप्रस्तुत (उपमान) भी उसी प्रकार के भाव के उत्तेजक हों जिस प्रकार के भाव के उत्तेजक प्रस्तुत होते हैं। इस कार्य में प्राचीन परम्परा में प्रसिद्ध उपमान भी रसानुभूति में बहुत सहायता करते हैं, यदि उन्हें अतिरेकता और पुनरावृत्ति की नीरसता में न प्रयुक्त किया जाय। शुक्लजी ने सच्ची कवि-कल्पना इसी बात में मानी है कि प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाय वह दिखाकर्षक और प्राकृतिक हो और अपनी व्यापार समष्टि में उसी प्रकार का भाव जगाने वाला हो जिस प्रकार का प्रस्तुत।[2] इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार कवि-परम्परा में प्रसिद्ध अप्रस्तुत वस्तु की योजना में अनेक बार ऐसा भाव-सौष्ठव नहीं आ पाता जैसा मार्मिक स्वरूप किसी रस-संबद्ध उक्ति में पाता है। स्पष्ट है कि आचार्य ने केवल बिहारी आदि के काव्यों में अप्रस्तुत विधान की जहाँ कहीं केवल परम्परा-पूर्ति अथवा अत्युक्ति के रूप में योजना पाई है, वह उन्हें अनेक स्थलों पर भावोत्कर्ष अथवा रसानुभूति के स्थान पर केवल ऊहात्मक ही लगी है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि कवि नायिका की वियोग शृंगार-दशा का चित्रण करना चाहता है, किन्तु वह हमें उसकी संवेदना देने के स्थान पर आश्चर्य में अवस्थित कर देता है। उर्दू-फारसी की शायरी में इस प्रकार की प्रवृत्ति बहुत पाई जाती है। इसी प्रकार जो कमर की उपमा भिड़ या तरैया से देते हैं वह भी उन्हें कोई मोहक नहीं लगती

---

१ रस मीमांसा पृष्ठ ३३८-३९

२ रस मीमांसा पृष्ठ ३४८ ३६

क्योंकि उसमें भावोत्कर्ष अथवा रुचि की कमनीयता का बिम्ब नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार शृंगार के अन्तर्गत विरह-दशा का चित्रण करते समय फारस के साहित्य में मवाद चून हड्डी फफोले आदि के जो बीभत्स दृश्य सामने लाए जाते हैं, वे भी रसापकर्षक ही होते हैं। अभिप्राय यह कि शुक्ल जी की दृष्टि से काव्य में अप्रस्तुत रूप-विधान के लिए चाहे अलंकार प्रणाली का प्रयोग किया जाय चाहे लक्षणा-शक्ति का वह वस्तुतः होनी ऐसी चाहिए जिसके द्वारा साहित्य का चरम लक्ष्य सिद्ध हो। यही कारण है कि आचार्य ने अधिकता या न्यूनता सूचित करने के लिये ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक शैली का विधान कवियों में तीन प्रकार का मानकर ही उस शैली को अधिक ग्राह्य समझा है जिसमें ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य रहे, किन्तु उसके हेतु की कल्पना की गई हो। वे कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध ऊहा की आधारभूत वस्तु के असत्य को लेकर बिहारी के उन काव्यांशों के उदाहरण देते हैं जिनमें नायिका के विरह-ताप के चित्रण में पड़ोसियों को भी जाड़े की रातों में बेचैन करने की बात कही गई है। इसी प्रकार ऊहा की आधारभूत वस्तु के स्वरूप को सत्य या स्वतः सम्भवी कह कर बिना किसी कल्पना के उसका चित्रण उनकी दृष्टि से मध्यम श्रेणी की शैली का काव्य है [1]।

रस-मीमांसा से सम्बन्धित अन्य विचार

७४ आचार्य शुक्ल ने रस-मीमांसा का विषय काव्य के लक्षण विभाग तथा उसके सैद्धान्तिक स्वरूप का निरूपण कर भाव विभाव के व्यापक विवेचन के साथ स्पष्ट किया है और बतलाया है कि रसानुभूति के प्रमुख तात्त्विक आधार कौन-कौन से होते हैं। 'रस-मीमांसा' के अनन्तर उन्होंने शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुरूप विवेचन कर अभिधा लक्षणा और तात्पर्य-वृत्ति का भी समीक्षण किया है। उनका यह विवेचन प्राचीन लक्षण ग्रन्थों पर आधारित है। वे 'साहित्य-दर्पण' तथा 'काव्य प्रकाश' के उदाहरणों द्वारा उनकी पुष्टि करते हैं। साथ-ही-साथ पश्चिमी समीक्षा और मनोविज्ञान की झलक भी उनके विवेचन-प्रसंग में यथास्थान पाती रही है। उनका व्यंजना सम्बन्धी विवेचन सर्वथा परम्परानुकूल-सा है और ध्वनि-निरूपण भी शास्त्रीय है। संकर और संसृष्टि ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के पश्चात् उन्होंने बतलाया है कि व्यंजना की स्थापना किस प्रकार होती है और आधुनिक मनोविज्ञान उसे किस विधान से ग्रहण करता है। शुक्ल जी का रस-निर्णय तथा रस-चक्र सम्बन्धी विवेचन भी पठनीय है। रस-मीमांसा के परिशिष्ट में उनके उद्धरण के लिए दिये हुए उदाहरण तथा काव्य वाली पुस्तक के लिए मनोविज्ञान सम्बन्धी टिप्पणियाँ भी दर्शनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुक्ल इस विषय को अधिक-से अधिक व्यापक और पूर्ण बना कर अभिव्यक्त करना चाहते थे किन्तु उनके असामयिक निधन से उनकी यह योजना उनके जीवन के साथ ही समाप्त हो गई। वे पाश्चात्य और भारतीय विचारकों की साहित्यिक समीक्षाओं और विवेक-बुद्धि का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के आकांक्षी भी थे। वस्तुतः वे ऐसा कर पाते तो हमारा आधुनिक समालोचना-साहित्य अपूर्व आभा से आलोकित हो उठता। उन्होंने अपनी कार्य-परिणति की योजना में जो अंग्रेजी के फुट-नोट तैयार किये थे उनका भी एक स्थायी महत्त्व बना हुआ है और वह विवेचन भावी समालोचकों के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य करता है। वस्तुतः उसके अन्तर्गत समालोचना के भावी विकास के तन्तु गुम्फित हैं और यदि उनके अन्तेवासी उनके इस अपूर्ण कार्य को विकसित तथा पूर्ण बनाने में सक्रिय प्रयत्नशील हों तो निश्चय ही वे आचार्य के प्रति अपने वास्तविक शिष्यत्व का निर्वाह कर सकेंगे।

रस-मीमांसा का मूल्यांकन

७५. आचार्य शुक्ल में साहित्य के तात्त्विक निरूपण की एक अद्भुत प्रज्ञा थी।

---

१ रस-मीमांसा पृष्ठ ४२१।

उन्होंने सन् १६२२ के आस-पास काव्य-मीमांसा सम्बन्धी विभिन्न शीर्षकों में अपने फुटकर लेख लिखे थे जिनका पारस्परिक सम्बन्ध भी था।[1] आगे चलकर उनके इन निबन्धों की बहुत सामग्री बृहदाकार बनकर प्रकाशित हुई किन्तु उसके अनेक अंश अप्रकाशित ही रहे। उन्होंने शब्द-शक्ति का विचार भी टिप्पणियों के रूप में किया था और वे टिप्पणियाँ अंग्रेजी में थीं। उनकी इस उपादेय सामग्री का यथोचित संयोजन उनके सुयोग्य शिष्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'रस-मीमांसा' नामक पुस्तक के रूप में किया जिसमें शुक्ल जी की रसोन्मुखी काव्य-सम्बन्धी विचारधारा की सारी सामग्री आ सकी। कहा जा सकता है कि शुक्लजी की सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रायः सम्पूर्ण विधान इस ग्रन्थ में आ गया है और इसके अध्ययन के पश्चात् यह जानने की कम अपेक्षा रहती है कि आचार्य का साहित्य के प्रतिमान के विषय में क्या दृष्टिकोण था और वे भारतीय तथा पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र को रस तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से कितना निकट ला सके थे। यह एक उलझन की बात है कि उनके कुछ अध्येताओं ने उन्हें एक रूढ़िवादी और परम्परा-युक्त विधान में रखकर उनके स्वच्छन्द चिन्तक के रूप को धूमिल बना दिया है तो उनके कुछ प्रशंसक उनकी सीमाओं और मर्यादाओं का विचार किये बिना ही उन्हें सर्वांगपूर्णता से ओत-प्रोत सिद्ध करते हैं। उभय पक्षों में अपने-अपने समर्थन की मात्रा का ही आग्रह विशेष है अतः आज की बड़ी आवश्यकता यह भी है कि शुक्ल जी के साहित्यिक मूल्यांकन का निष्पक्ष निर्णय किया जाय और हमारी प्रस्तुत गवेषणा का यह प्रयास हो कि उन्होंने समालोचना को जिस स्तर पर लाकर छोड़ दिया है उसे किस प्रकार प्रगतिमान और प्रौढ़ बनाया जा सकता है।

शुक्ल जी की समालोचना का व्यावहारिक क्षेत्र

(अ) 'गोस्वामी तुलसीदास' और उसकी समीक्षा-शैली

७६. शुक्ल जी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक समीक्षा-ग्रन्थ में विशुद्ध आलोचनात्मक दृष्टि से गोस्वामी जी के काव्य-विषयों से सम्बन्धित जिन प्रश्नों का व्याख्यात्मक प्रणाली से विवेचन किया है, वे उनकी व्यावहारिक समीक्षा के उच्च धरातल के प्रतीक हैं। उक्त पुस्तक के प्रथम संस्करण में गोस्वामी जी का जीवन-वृत्तान्त भी सम्मिलित था किन्तु संशोधित संस्करण (राम नवमी सन् १६६) में उसे स्थान नहीं दिया गया है, जिसका कारण यह है कि शुक्ल जी की मुख्य प्रवृत्ति गोस्वामी जी के साहित्य-पक्ष-विवेचन की ओर ही अधिक थी। यद्यपि शुक्लजी ने अपनी शालीनता और विद्वज्जन-सुलभ विनय-भावनावश अपनी इस समीक्षा-कृति को 'गोस्वामी जी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न मात्र'[2] कहा है, किन्तु उसमें विवेचित गोस्वामी जी की भक्तिपद्धति' 'प्रकृति और स्वभाव' 'लोक-धर्म' धर्म और जातीयता का समन्वय' 'मंगलाशा' लोकनीति और मर्यादावाद' 'शील-साधना और भक्ति' 'ज्ञान और भक्ति' 'तुलसी की काव्य-पद्धति' 'तुलसी की भावुकता' शील-निरूपण और चरित्र चित्रण' 'बाह्य दृश्य-चित्रण 'अलंकार-विधान' उक्ति-वैचित्र्य' 'भाषा पर अधिकार' 'कुछ खटकने वाली बातें' तथा 'हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान' विषयों पर जो गम्भीर और तात्त्विक विश्लेषण हुआ है, वह हमारे समालोचना साहित्य का गौरव है। इस विवेचन में शुक्लजी ने शास्त्रीयता व्याख्यात्मकता तुलनात्मकता निर्णयात्मकता और प्रभावाभिव्यंजकता आदि विभिन्न शैलियों के नाम से परिगणित होने वाली समीक्षा-पद्धतियों का यथोचित संयोजन और समन्वय करने की प्रशंसनीय चेष्टा की है। तुलसी की भक्ति-पद्धति के विश्लेषण में उन्होंने ऐतिहासिक प्रणाली का अनुगमन कर वेद की तत्कालीन

१ पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'रस-मीमांसा' वक्तव्य पृष्ठ ४।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी तुलसीदास, संशोधित संस्करण का वक्तव्य।

राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के मध्य होने वाले भक्ति के विकास को उसकी पूर्व-परम्परा का अनुसन्धानपूर्ण विवेचन कर स्पष्ट किया है और बतलाया है कि विशुद्ध भारतीय दृष्टि से भक्ति का क्या स्वरूप है और गोस्वामी जी की काव्य-कृतियों में उसका किस रूप में निर्वाह हुआ है। शुक्ल जी के इस विवेचन से उनके शास्त्रीय अध्ययन और मौलिक चिन्तन का भी सहज ही आभास हो जाता है। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी सगुण भक्ति की ओर विशेष अभिरुचि थी और वे निर्गुण भक्ति-परम्परा में अपने मानसिक उल्लास के उपयुक्त बहुत कम सामग्री पाते थे। गोस्वामी जी के भक्ति विषयक विश्लेषण को पूर्ण बनाने के लिए उन्होंने निर्गुण भक्तों और सूफियों की साधना-पद्धतियों का भी यथाप्रसंग विवेचन किया है। उनके मतानुसार 'भक्ति रागात्मिका वृत्ति है हृदय का एक भाव है। प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुण समूह पर टिक सकता है जो हमें दृश्य जगत् की ओर आकर्षित करता है।'[1]

गोस्वामी जी के साहित्य-विश्लेषण के विविध पक्ष

७७ शुक्ल जी ने गोस्वामी जी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध में अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के अवचेतन तथा उपचेतन का भले ही वाक्य-विधान न हो, किन्तु उनके द्वारा कवि की प्रकृति और काव्य-निर्माण के अन्तर्वर्ती सूत्र का उद्घाटन अत्यन्त प्रांजलता से उपलब्ध होता है। इसी विवेचन में उन्होंने उन भ्रान्तियों का भी निराकरण करने का प्रयत्न किया है जो गोस्वामी जी की मन्द प्रकृति का सम्यक विचार किये बिना साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित हो गई हैं। शुक्ल जी का लोक-धर्म विषयक विवेचन तो अत्यन्त ही प्रौढ़ और शास्त्र-सम्मत है। उन्होंने कर्म ज्ञान और उपासना को लोक-धर्म के प्रमुख अवयव निर्धारित कर[2] इस विषय का ऐतिहासिक अनुसंधान किया है कि भारतीय जीवन परम्परा में उनके संतुलित और मर्यादित विकास का किस रूप में विधान रहा है और गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में उनका किस प्रकार निर्वाह किया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि गोस्वामीजी ने 'भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिकता के साथ सम्मिश्रित करके एक ऐसा रसायन तयार किया जिसके सेवन से धर्ममार्ग में कष्ट और श्रान्ति न जान पड़े और लोग आनन्द तथा उत्साह के साथ उसकी ओर स्वतः प्रवृत्त हों'।[3] वस्तुतः उन्हें गोस्वामी जी की रचनाओं में धर्म और जातीयता का ऐसा सुन्दर समन्वय मिला है जिसके कारण मंगलाशा की उपलब्धि और लोकनीति तथा मर्यादावाद की पुष्टि हुई है। उन्होंने इसी विवेचन में उन लोगों का खण्डन किया है जो 'सिद्धान्त और अर्थवाद में भेद न समझने के कारण गोस्वामी जी की उक्तियों को लेकर उनमें परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं'। सच तो यह है कि शुक्ल जी को गोस्वामी जी के काव्य में शील साधना और भक्ति का ऐसा अपूर्व सामंजस्य प्रदर्शित हुआ है जिसके द्वारा उन्होंने शील शक्ति और सौन्दर्य के लोकमंगलकारी स्वरूप की भव्य प्रतिष्ठा की है। शुक्ल जी का ज्ञान और भक्ति विषयक विवेचन भी समन्वयपूर्ण है। उनका यह सारा विश्लेषण इतना अधिक तारतम्यपूर्ण है कि उसमें कहीं पर भी अस्पष्टता नहीं आ सकी है और विद्वान् समालोचक ने गोस्वामी जी को विशुद्ध भक्ति-मार्गी सिद्ध किया है "जिनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूंढना ही अधिक फलदायक होगा ज्ञान मार्ग के सिद्धान्तों का ढूंढना नहीं।[4] आगे

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'गोस्वामी तुलसीदास' संशोधित संस्करण पृष्ठ ६।
२. वही पृष्ठ ११।
३. वही, पृष्ठ १२।
४. वही, पृष्ठ ३०।
५. वही, पृष्ठ ७४।

चलकर शुक्ल जी ने काव्य के अनुकृत या प्रकृत (इमीटेटिव और रियलीस्टिक) तथा अतिरंजित या प्रगीत (एग्जाग्रेटेटिव और लीरिकल) नामक दो स्वरूप निर्धारित कर प्रथम रूप में कवि की भावुकता की सच्ची झलक मानी है[1] और इसी के आधार पर गोस्वामीजी की काव्य-पद्धति का विवेचन किया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी अपनी मान्यताओं के प्रति कितने दृढ़ थे और उन्हें जहाँ अपने मनोनुकूल विचारों और भावधाराओं का प्रभाव मिलता था वहाँ वे उसका विरोध करने के लिए कितने अधिक तीव्र हो जाते थे। वास्तव में शुक्ल जी को गोस्वामी जी के काव्य में उच्च कोटि की भावुकता मिली है, जिसका परीक्षण उन्होंने अपने इस सिद्धान्त पर किया है कि प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से लग सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहिचान सका है या नहीं।[2]

रससिद्ध समालोचना और निर्णयात्मक प्रवृत्ति

७८. शुक्लजी की व्यावहारिक समालोचनाओं में रससिद्ध समालोचक की भावुकता का भी समावेश है, किन्तु वे कहीं पर भी उसके प्रवाह में ऐसे नहीं बह गए हैं कि उनकी शैली में 'वाहवाही' अथवा महफ़िली ढंग आ गई हो और उनका समालोचक-व्यक्तित्व कुंठित हो गया हो। जो लोग प्रभावाभिव्यंजकता को समालोचना का प्रधान गुण मानते हैं उन्हें उसका प्राचीन स्वरूप शुक्ल जी द्वारा लिखे गए 'तुलसी की भावुकता' शीर्षक विवेचन में मिलेगा। न जाने शुक्ल जी कितनी बार इस विवेचन में आत्मलीन से हो गए हैं। उन्होंने गोस्वामीजी की भावुकता का स्पष्टीकरण करने के लिए 'राम का अयोध्या-त्याग' और 'पथिक के रूप में वन-गमन' 'चित्रकूट में भरत और राम का मिलन' 'शबरी का आतिथ्य' 'लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप' तथा 'भरत की प्रतीक्षा' आदि प्रमुख स्थल चुने हैं और उन पर उन्होंने गोस्वामी जी की भावुकता का रंग चढ़ा कर अपनी मानसिक अभिरुचि व्यक्त की है। इसी विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने गोस्वामीजी द्वारा किए गए शब्द-शोधन और व्यापार-शोधन का भी विश्लेषण किया है और इस दृष्टि से भी उन्हें महान् कवि सिद्ध किया है। शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो गोस्वामी जी उन्हें हिन्दी के अद्वितीय कवि प्रतीत हुए हैं। उन्होंने 'मानस' के विविध पात्रों को लेकर अपने कथन की पुष्टि की है और बतलाया है कि उनके विश्लेषण में गोस्वामी जी ने कितने व्यापक क्षेत्र में अपनी जीवन-अनुभूति का सफलतापूर्वक संचार किया है। शुक्ल जी के ये सारे विवेचन गोस्वामी जी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का अभिव्यंजन करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें बाह्य दृश्य चित्रण के रूप में गोस्वामी जी द्वारा वर्णित प्रकृति चित्रण का बिम्ब-विधान भी अत्यन्त सजीव और आकर्षक लगा है क्योंकि उसमें केवल वस्तु-नाम परिगणन की प्रणाली न होकर दृश्य का मूर्त-विधान करने का प्रमुख प्रयास है। इसी प्रकार शुक्लजी ने 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है'[3] कहकर इसी दृष्टि से गोस्वामी जी का अलंकार विधान स्पष्ट किया है। जिस उक्ति-वैचित्र्य को कुछ विद्वान् काव्य का सर्वस्व मान कर उसकी विवेचना करते हैं, उसका संयमित स्वरूप विवेचित कर शुक्ल जी ने गोस्वामी जी में उसका भी आभास पाया है। इसी प्रकार उन्होंने गोस्वामी जी का भाषा पर असाधारण अधिकार सिद्ध कर उनके काव्य में ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता भक्ति सम्प्रदाय वालों की इधर की कुछ भक्तमाली कथाओं पर उनकी आस्था नाम-प्रताप को राम-प्रताप से बड़ा कहने की प्रवृत्ति दोहों और सवैयों में भावा-बोध तथा अंगद और रावण संवाद में राजसभा के गौरव तथा सभ्यता का अभाव आदि कुछ

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल, गो० तुलसीदास, संशोधित संस्करण, १९६६ ई० पृष्ठ ७५।
२ वही, पृष्ठ ८८।
३ वही, पृष्ठ १६१।

राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के मध्य होने वाले भक्ति के विकास को उसकी पूर्व-परम्परा का अनुसंधानपूर्ण विवेचन कर स्पष्ट किया है और बतलाया है कि विशुद्ध भारतीय दृष्टि से भक्ति का क्या स्वरूप है और गोस्वामी जी की काव्य-कृतियों में उनका किस रूप में निर्वाह हुआ है। शुक्ल जी के इस विवेचन से उनके शास्त्रीय अध्ययन और मौलिक चिन्तन का भी सहज ही आभास हो जाता है। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी सगुण भक्ति की ओर विशेष अभिरुचि थी और वे निर्गुण भक्ति-परम्परा में अपने मानसिक उल्लास के उपयुक्त बहुत कम सामग्री पाते थे। गोस्वामी जी के भक्ति विषयक विश्लेषण को पूर्ण बनाने के लिए उन्होंने निर्गुण भक्तों और सूफियों की साधना-पद्धतियों का भी यथाप्रसंग विवेचन किया है। उनके मतानुसार 'भक्ति रागात्मिका वृत्ति है हृदय का एक भाव है। प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुण समूह पर टिक सकता है जो हमें इस जगत् की ओर आकर्षित करता है।"[1]

गोस्वामी जी के साहित्य विश्लेषण के विविध पक्ष

७७ शुक्ल जी ने गोस्वामी जी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के अवचेतन तथा उपचेतन का भले ही वस्तु-विधान न हो, किन्तु उनके द्वारा कवि की प्रकृति और काव्य-निर्माण के अन्तर्वर्ती सूत्र का उद्घाटन अत्यन्त प्रांजलता से उपलब्ध होता है। इसी विवेचन में उन्होंने उन भ्रान्तियों का भी निराकरण करने का प्रयत्न किया है जो गोस्वामी जी की अन्तः प्रकृति का सम्यक् विचार किये बिना साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित हो गई हैं। शुक्ल जी का लोक-धर्म विषयक विवेचन तो अत्यन्त ही प्रौढ़ और शास्त्र-सम्मत है। उन्होंने कर्म ज्ञान और उपासना को लोक-धर्म के प्रमुख अवयव निर्धारित कर[1] इस विषय का ऐतिहासिक अनुसंधान किया है कि भारतीय जीवन-परम्परा में उनके सन्तुलित और मर्यादित विकास का किस रूप में विधान रहा है और गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में उनका किस प्रकार निर्वाह किया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि गोस्वामीजी ने 'भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका के साथ सम्मिश्रित करके एक ऐसा रसायन तयार किया जिसके सेवन से धर्ममार्ग में कष्ट और श्रान्ति न जान पड़े और लोग आनन्द तथा उत्साह के साथ उसकी ओर स्वतः प्रवृत्त हों'।[2] वस्तुतः उन्हें गोस्वामी जी की रचनाओं में धर्म और जातीयता का ऐसा सुन्दर समन्वय मिला है जिसके कारण मंगलाशा की उपलब्धि और लोकनीति तथा मर्यादावाद की पुष्टि हुई है। उन्होंने इसी विवेचन में उन लोगों का खण्डन किया है जो 'सिद्धान्त और अर्थवाद में भेद न समझने के कारण गोस्वामी जी की उक्तियों को लेकर उनमें परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं'।[4] सच तो यह है कि शुक्ल जी को गोस्वामी जी के काव्य में शील-साधना और भक्ति का ऐसा अपूर्व सामंजस्य प्रदर्शित हुआ है जिसके द्वारा उन्होंने शील शक्ति और सौन्दर्य के लोकमंगलकारी स्वरूप की भव्य प्रतिष्ठा की है। शुक्ल जी का ज्ञान और भक्ति विषयक विवेचन भी समन्वयपूर्ण है। उनका यह सारा विश्लेषण इतना अधिक तारतम्यपूर्ण है कि उसमें कहीं पर भी अस्पष्टता नहीं आ सकी है और विद्वान् समालोचक ने गोस्वामी जी को विशुद्ध भक्ति-मार्गी सिद्ध किया है "जिनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूंढ़ना ही अधिक फलदायक होगा ज्ञान मार्ग के सिद्धान्तों का ढूंढ़ना नहीं।"[5] आगे

१. पं. रामचन्द्र शुक्ल : 'गोस्वामी तुलसीदास' संशोधित संस्करण पृष्ठ ६।
२. वही, पृष्ठ ११।
३. वही, पृष्ठ १६।
४. वही, पृष्ठ ५७।
५. वही, पृष्ठ ७४।

मानकर शुक्ल जी ने काव्य के अनुकृत या प्रकृत (इमीटेटिव और रियलीस्टिक) तथा प्रतिबिंबित या प्रगीत (एस्थाबेरेटिव और लीरिकल) नामक दो स्वरूप निर्धारित कर प्रथम रूप में कवि की भावुकता की सच्ची झलक मानी है[1] और उसी के आधार पर गोस्वामीजी की काव्य-पद्धति का विवेचन किया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी अपनी मान्यताओं के प्रति कितने दृढ़ थे और उन्हें जहाँ अपने मनोनुकूल विचारों और भावधाराओं का अभाव मिलता था वहीं वे उसका विरोध करने के लिए कितने अधिक तीव्र हो जाते थे। वास्तव में शुक्ल जी को गोस्वामी जी के काव्य में उच्च कोटि की भावुकता मिली है, जिसका परीक्षण उन्होंने अपने इस सिद्धान्त पर किया है कि 'प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से लग सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहिचान सका है या नहीं।"[2]

रससिद्ध समालोचना और निर्णयात्मक प्रवृत्ति

७८. शुक्लजी की व्यावहारिक समालोचनाओं में रससिद्ध समालोचक की भावुकता का भी समावेश है, किन्तु वे कहीं पर भी उसके प्रवाह में ऐसे नहीं बह गए हैं कि उनकी शैली में 'वाहवाही' अथवा महफ़िली तर्ज आ गई हो और उनका समालोचक-व्यक्तित्व कुंठित हो गया हो। जो लोग प्रभावाभिव्यंजकता को समालोचना का प्रधान गुण मानते हैं, उन्हें उसका शालीन स्वरूप शुक्ल जी द्वारा लिखे गए 'तुलसी की भावुकता' शीर्षक विवेचन में मिलेगा। न जाने शुक्ल जी कितनी बार इस विवेचन में आत्मलीन से हो गए हैं। उन्होंने गोस्वामीजी की भावुकता का स्पष्टीकरण करने के लिए 'राम का अयोध्या-त्याग' और 'पथिक के रूप में वन-गमन' 'चित्रकूट में भरत और राम का मिलन' 'शबरी का आतिथ्य' 'लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप' तथा 'भरत की प्रतीक्षा' आदि प्रमुख स्थल चुने हैं और उन पर उन्होंने गोस्वामी जी की भावुकता का रंग चढ़ा कर अपनी मानसिक अभिरुचि व्यक्त की है। इसी विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने गोस्वामीजी द्वारा किए गए दृश्य-योजन और व्यापार-योजन का भी विश्लेषण किया है और इस दृष्टि से भी उन्हें महान् कवि सिद्ध किया है। शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो गोस्वामी जी उन्हें हिन्दी के अद्वितीय कवि प्रतीत हुए हैं। उन्होंने 'मानस' के विविध पात्रों को लेकर अपने कथन की पुष्टि की है और बतलाया है कि उनके विश्लेषण में गोस्वामी जी ने कितने व्यापक रूप में अपनी जीवन-अनुभूति का सफलतापूर्वक प्रसार किया है। शुक्ल जी के ये सारे विवेचन गोस्वामी जी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का अभिव्यंजन करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें बाह्य दृश्य चित्रण के रूप में गोस्वामी जी द्वारा वर्णित प्रकृति चित्रण का बिम्ब-विधान भी अत्यन्त सजीव और आकर्षक लगा है क्योंकि उसमें केवल वस्तु-नाम परिगणन की प्रणाली न होकर दृश्य का मूर्त-विधान करने का प्रमुख प्रयास है। इसी प्रकार शुक्लजी ने भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है[3] कहकर इसी दृष्टि से गोस्वामी जी का अलंकार विधान स्पष्ट किया है। जिस उक्ति-वैचित्र्य को कुछ विद्वान् काव्य का सर्वस्व मान कर उसकी विवेचना करते हैं उसका संयमित स्वरूप विवेचित कर शुक्ल जी ने गोस्वामी जी में उसका भी आभास पाया है। इसी प्रकार उन्होंने गोस्वामी जी का भाषा पर असाधारण अधिकार सिद्ध कर उनके काव्य में ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता भक्ति सम्प्रदाय वालों की इधर की कुछ अनावश्यक कथाओं पर उनकी आस्था नाम प्रताप को राम-प्रताप से बड़ा कहने की प्रवृत्ति दोहों और सवैयों में भावा-रोप तथा संभव और उचित शृंगार में राजसभा के गौरव तथा सभ्यता का अभाव आदि कुछ

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल या तुलसीदास, संशोधित संस्करण १९५१ ई० पृष्ठ ८५।

२. वही, पृष्ठ ८८।

३ वही, पृष्ठ १९१।

खटकने वाली बातें[१] भी बतलाई हैं किन्तु उनके द्वारा गोस्वामी जी की प्रगाध रस-राशि में उन्हें कोई न्यूनता नहीं मिलती जिससे उनके गौरव में कमी आती हो। अपने व्यापक विश्लेषण और गम्भीर चिंतन के बल पर ही शुक्ल जी ने अन्त में हिन्दी साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान निर्धारित करते हुए यह निर्णय दिया है 'यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय भारती-कंठ भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।[२]

(आ) 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका और उसकी समीक्षा-पद्धति

७६. शुक्ल जी की व्यावहारिक समालोचनाओं में 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका का भी *अत्यन्त महिमामय स्थान है। इसका प्रथम संस्करण कृष्ण-जन्माष्टमी संवत् १९८१ में* उस समय प्रकाशित हुआ जब हिन्दी-समालोचना में इस प्रकार की विस्तृत और गम्भीर समीक्षाएँ लिखने के बहुत कम प्रयत्न हुए थे। शुक्ल जी ने प्राचीन उपलब्ध प्रतियों के आधार पर आवश्यक टिप्पणियाँ देते हुए उसके मूल पाठ का सम्पादन तो किया ही है, किन्तु उसके प्रारम्भ में भूमिका के रूप में जो विस्तृत समालोचना जोड़ी है उससे न केवल जायसी का काव्य-सौरस्य ही साहित्य जगत् के सम्मुख प्रकट हो सका है अपितु उसके द्वारा प्रेमगाथा की परम्परा और सूफी काव्य की विभिन्न विशेषताओं का भी सम्यक् उद्घाटन हो गया है। अन्य समीक्षा-कृतियों की भाँति इस समालोचना में भी शुक्ल जी अत्यन्त संतुलित और सुगम्भ हुए हैं। *प्रारम्भ में जायसी की अवतारणा* के पूर्व हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कर शुक्लजी ने एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर दी है जिसके आधार पर उन्हें जायसी का वास्तविक मूल्यांकन करने में अधिक सुविधा पड़ी है। उनके मतानुसार वैसे तो और भी भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे किन्तु जायसी का महत्त्व उनमें इसलिए विशेष है कि 'कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास अवश्य दिया किन्तु प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की जो आवश्यकता बनी हुई थी वह जायसी द्वारा पूरी हुई।'[३]

८. शुक्ल जी ने प्रेमगाथा की परम्परा का विकास लोक-जीवन के साथ *संयोजित* कर उसकी कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है और तदुपरान्त प्राप्त सूत्रों के आधार पर जायसी का जीवन-वृत्त भी प्रस्तुत किया है। 'पद्मावत की कथा' तो केवल कहानी का सारांश उपस्थित करने के लिए लिखी गई है जिसके बीच-बीच में उसके ऐतिहासिक सूत्रों का अन्वेषण करने का *भी प्रयत्न है। वस्तुतः उनकी समालोचना का व्यवस्थित पथ तब से प्रारम्भ होता है,* जब वे पद्मावत की प्रेम-पद्धति का निरूपण करने के पूर्व कवियों द्वारा वर्णित दाम्पत्य प्रेम के आविर्भाव की विभिन्न प्रणालियों का विवेचन करने के लिए उद्यत हुए हैं। शुक्ल जी ने पद्मावत को उस प्रणाली *के अन्तर्गत माना है जिसमें 'गुण-श्रवण चित्र-दर्शन स्वप्न-दर्शन आदि से बैठे-बिठाए प्रेम उत्पन्न होता* है और नायक या नायिका को वह संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है।[४] उनके मतानुसार जायसी शृंगार के चित्रण में मानसिक पक्ष को प्रधानता तथा शारीरिक पक्ष को गौणता देकर उस प्रेम-पद्धति में विशेषता भी ला सके हैं।[५] वे जायसी के प्रेम-चित्रण में केवल इश्क के दास्तान वाली मसनवी

---

१ ५ रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी तुलसीदास, संशोधित संस्करण सन् १९५१, पृष्ठ १८८-८९।
२. वही पृष्ठ १९१।
३ पं रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली भूमिका प्रथम संस्करण सं २ ८ वि० १ ।
४. वही, पृष्ठ ४ ५।
५. वही, पृष्ठ १८।
६. वही, पृष्ठ १८।

पद्धति ही नहीं पाते अपितु उन्हें उसमें भारतीय जीवन के लोकपक्ष का भी दर्शन हुआ है।[1] 'बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता' यह कह कर शुक्ल जी ने पहले से ही रहस्यवाद के अन्तर्गत वर्णित की जाने वाली अज्ञात के प्रति लालसा का खण्डन करने के लिए एक प्रकार से भूमिका-सी प्रस्तुत कर ली है। उन्होंने जायसी के संभोग-शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार का शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक प्रणाली में विवेचन किया है और बतलाया है कि जायसी के वर्णन में अत्युक्ति होने पर भी किस प्रकार गाम्भीर्य पक्ष बना रह सका है और वे बिहारी आदि कवियों की भाँति केवल ऊहात्मक चमत्कार के फेर में क्यों नहीं पड़े हैं। अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए शुक्ल जी ने 'आधिक्य या न्यूनता सूचित करने के लिए ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक शैली का कवियों में पाए जाने वाले विधान' का भी विवेचन किया है[2] और जायसी में पाए जाने वाले ऊहा के उस स्वरूप की प्रशंसा की है जिसकी आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य होता है किन्तु जिसमें उसके हेतु की कल्पना कर ली जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के काव्य-समीक्षण प्रतिमान में इस प्रकार की मान्यता का भी विशेष महत्त्व था और वे सभी कवियों का काव्य-परीक्षण करते समय इस मान दण्ड का प्रायः सर्वत्र प्रयोग किया करते थे। उन्होंने अपने कथन की पुष्टि के लिए विवेचन के प्रसंग के अन्तर्गत जायसी के अनेक काव्यांशों के व्याख्या-पुरस्सर उद्धरण देकर उनका औचित्य स्पष्ट किया है। उन्होंने नागमती के विरह-वर्णन में प्रयुक्त बारहमासा को 'आधिक आधुकों का निर्लज्ज प्रलाप न मानकर हिन्दू गृहिणी की विरह वाणी मानी है जिसका सात्त्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।[3] इसी प्रकार शुक्ल जी ने संभोग-शृंगार के विश्लेषण में षट् ऋतु-वर्णन का विवेचन उसके उद्दीपन स्वरूप के अन्तर्गत किया है और पद्मावत में उसकी स्वरूप-संगति सिद्ध की है।

जायसी की समीक्षा के मुख्य उपादान और उनका विवेचन

८१ जायसी की समीक्षा में शुक्ल जी ने पद्मावत में प्रयुक्त 'ईश्वरोन्मुख प्रेम' की विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि 'एक प्रबन्ध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र में जाता दिखाई पड़े जायसी का लक्ष्य है।'[4] उनका एतद्-विषयक उत्तरवर्ती विवेचन केवल इस कथन की पुष्टि के लिए हुआ है और उन्होंने अंग्रेजी के कवि बर्क सवर्थ तथा अन्य भारतीय आख्यानकारों द्वारा गृहीत प्रणालियों का तुलनात्मक विश्लेषण कर जायसी के मर्यादित प्रेम-तत्त्व की बड़ी प्रशंसा की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने पद्मावत में प्रयुक्त पात्रों के मनोभावों का विश्लेषण जिस सूक्ष्म बुद्धि और सरस भावुकता से संवलित होकर किया है, वह वस्तुतः पठनीय है। इसी प्रकार किसी भी श्रेष्ठ महाकाव्य के लिए आवश्यक प्रबन्ध-कल्पना और सम्बन्ध-निर्वाह के लिए भी उन्होंने अपना एक निकष प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार किसी भी श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य-विधान करने के लिए उसमें 'घटनाओं की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश रहना चाहिए।[5] उन्होंने प्रबन्ध-कल्पना के सम्बन्ध-निर्वाह के लिए भी माघ का आदर्श ग्रहण किया है।[6] सच तो यह है कि शुक्ल जी के मत से प्रबन्ध-कल्पना के सम्बन्ध-निर्वाह के लिए

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली : भूमिका भाग, पंचम संस्करण सं० २००८ वि० पृ० १ ।
२. वही, पृष्ठ १८ ।
३ वही, पृष्ठ ३८ ।
४ वही, पृष्ठ ५५ ।
५ वही पृष्ठ ६ ।
६ बह्वपि स्वेच्छया कामं, प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः । माघ, शिशुपाल वध, द्वितीय सर्ग ।

आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं की इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता के मध्य ऐसा सन्तुलन रहना चाहिए जिससे इस विषय का स्पष्ट निरूपण हो सके कि कवि द्वारा वस्तु-वर्णन तथा पात्र द्वारा भाव-व्यंजना में किस प्रकार का संतुलन हो सका है और कथा-क्रम में किस प्रकार का प्रवाह आ सका है। अपने इसी प्रतिमान के आधार पर शुक्ल जी ने 'पद्मावत' महाकाव्य का व्यापक रूप से परीक्षण किया है जो समालोचना के व्यावहारिक पक्ष का अत्यन्त भव्य निदर्शन है।

८२ शुक्ल जी ने जायसी के पद्मावत की विवेचना में काव्य के बहिरंग पक्ष से सम्बन्धित अलंकार-विधान का भी व्यापक विवेचन किया है। उनकी काव्य में अलंकार-विषयक क्या धारणा थी इसका विवेचन उनकी समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत किया ही जा चुका है, अतः उसके पिष्टपेषण की हम यहाँ आवश्यकता नहीं समझते। यहाँ तो हमारे कथन का मूल अभिप्राय इतना ही है कि शुक्ल जी ने जायसी के काव्य में सादृश्य-मूलक अलंकारों के अन्तर्गत परिलक्षित होने वाले उपमा रूपक उत्प्रेक्षा के भेदोपभेदों का विवेचन केवल शास्त्रीय पद्धति पर ही नहीं किया है, अपितु उसे नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा है। उनके विवेचन में अतिशयोक्ति तद्गुण अन्योक्ति अर्थान्तरन्यास व्यतिरेक, विरोध प्रत्यनीक दृष्टान्त आदि अलंकारों की विवेचना भी हुई है और वे जायसी के काव्य में इनकी युक्ति-संगति का शास्त्रीय आधारों पर मूल्यांकन भी कर सके हैं। जायसी ने इन अलंकारों के प्रयोग में जहाँ केवल ऊहात्मक चमत्कार ही प्रदर्शित किया है, वहाँ शुक्ल जी को उनमें रस रमणीयता नहीं मिली है और वे इस विवेचन में प्राचीन तथा समकालीन कवियों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर सके हैं। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य में स्वभाव-व्यंजना की विधियों का उल्लेख कर जायसी को इस क्षेत्र में अधिक सफल नहीं माना है, क्योंकि उनकी मानवी प्रकृति-विश्लेषण की ओर कदाचित प्रवृत्ति ही नहीं थी। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का मूल मंतव्य गोस्वामी जी की एतद्विषयक सफलता का विवरण देकर यही सिद्ध करना रहा है कि जायसी में भिन्न भिन्न परिस्थितियों की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण बहुत कम है।[1]

८३ शुक्ल जी ने जायसी के मत और सिद्धान्त का विवेचन करने के पूर्व उन आधार सूत्रों का क्रमिक विकास स्पष्ट किया है जिनका जायसी की धारणाओं के निर्माण में हाथ रहा है। इस विवेचन में एक ओर भारतीय अद्वैतवाद तथा तात्विक विचारधारा का विश्लेषण है तो दूसरी ओर पैगम्बरी एकेश्वरवाद तथा सूफी भावनाओं का। शुक्ल जी ने तथ्यग्राहिणी बुद्धि द्वारा दोनों प्रकार की मूल भावनाओं का अन्तर स्पष्ट करते हुए यह स्पष्ट करने की पूर्ण चेष्टा की है कि जायसी के मत और सिद्धान्त के निर्माण में इन दार्शनिक प्रवृत्तियों का कितना योग है। प्रसंगवश उन्होंने पाश्चात्य दर्शन तथा कुछ अंग्रेज कवियों की काव्य-कृतियों का उल्लेख कर उनमें अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने की चेष्टा भी की है। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने ज्ञान, कर्म तथा उपासना के अलग-अलग क्षेत्रों का निरूपण कर रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रायः वे ही बातें कही हैं जो उनके 'इतिहास' 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'रस-मीमांसा' के अन्तर्गत विवेचित हैं। सच तो यह है कि शुक्ल जी को इस विषय में दृढ़ विश्वास है कि 'ज्ञानकांड के निर्गुण ब्रह्म को यदि उपासना-क्षेत्र में ले जायेंगे तो उसे सगुण करना ही पड़ेगा।'[2] उन्होंने जायसी के ग्रन्थों से विभिन्न अवतरणों का चयन कर यह भी स्पष्ट किया है कि उन पर भारतीय तथा सूफी भावना का भिन्न भिन्न स्थलों पर कैसा प्रभाव है। जो लोग काव्य में रहस्यवाद का निरूपण करते हुए उसके अन्तर्गत उपनिषदों के अद्वैतवाद की स्वाभाविकता अनिवार्य समझते हैं उनके प्रति इस विवेचन में भी शुक्लजी के कठोर व्यंग्य हैं। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'अद्वैतवाद मूल में दार्शनिक सिद्धान्त है, कवि कल्पना या

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल जायसी ग्रंथावली की भूमिका पंचम संस्करण २००८ पृष्ठ १११
२ पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पंचम संस्करण, २००८, पृ० १६८।

भावना का विचार नहीं।[1] इस निर्णय द्वारा उन्होंने रहस्यवाद की अद्वैत प्रवृत्तियों के प्रति अपना विरोध प्रकट किया है जिसका विवेचन उनके 'काव्य में रहस्यवाद' विषयक विचारों के प्रसंग में किया जा चुका है।

जायसी के काव्य-समीक्षण के अन्यान्य प्रसंग

८४ जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका का अध्ययन करने से पता चलता है कि शुक्ल जी ने उसके प्रमुख प्रसंगों के साथ-साथ फुटकल प्रसंगों की भी चर्चा की है। जैसे पद्मावत में वर्णित नाम महिमा, द्रव्य-महिमा तथा विनय इत्यादि। इस प्रकार के विवेचन का उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि शुक्ल जी जायसी की बहुज्ञता का आभास देकर यह बतलाना चाहते थे कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने बहुश्रुत ज्ञान का किस प्रकार प्रयोग किया है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने पूर्व प्रचलित काव्य-पद्धतियों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किस रूप में किया और उनसे किन किन स्थानों पर भूलें भी हो गईं। वैसे तो पंडित पद्मसिंह शर्मा ने भी बिहारी की बहुज्ञता सिद्ध करने के लिए अनेक विषयों के प्रति उनका ज्ञान प्रदर्शित किया था किन्तु उनके विश्लेषण में खींच-तान की मात्रा ही अधिक थी। शुक्लजी ने ऐसा कहीं पर भी नहीं किया। जायसी की साहित्य विषयक अभिज्ञता पौराणिक वृत्तों और ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी भौगोलिक ज्ञान आदि के सम्बन्ध में शुक्लजी ने जहाँ उनकी प्रशंसा की है वहाँ उनके एतद्विषयक अज्ञान की ओर भी संकेत किया है। यह सारा विश्लेषण इस बात का द्योतक है कि शुक्ल जी अपनी शक्ति और प्रतिभा के अनुरूप सत्य का प्रकाशन करने में कदापि नहीं हिचकिचाते थे और उन्हें समीक्षा-क्षेत्र में उच्च गौरव प्रदान करने में उनकी यह प्रवृत्ति भी एक प्रमुख कारण थी।

८५. शुक्ल जी ने जायसी की भाषा के सम्बन्ध में जो विवेचन किया है वह भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि जायसी ने अपनी काव्य-रचना अवधी भाषा में की थी अतः उन्होंने प्रारम्भ में अवधी भाषा की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का विवेचन संज्ञा सर्वनाम विशेषण क्रिया लिंग वचन और अव्यय आदि व्याकरणांगों की दृष्टि से किया है और तदुपरान्त यह बतलाया है कि जायसी की भाषा में विशुद्धता के प्रतिमान से इसका किस प्रकार परिपालन हुआ है। उनका यह विवेचन इस बात का निर्देशक है कि शुक्लजी न केवल काव्यात्मा के ही पारखी थे अपितु भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी अपना व्यापक अधिकार रखते थे। आजकल सूर तथा तुलसी आदि कवियों के भाषा-विषयक शोध प्रबन्धों में भले ही विस्तार का स्वरूप अधिक मिले किन्तु उनमें शुक्लजी के एतद्विषयक विवेचन की ठोसता तथा गम्भीरता का अभाव ही मिलेगा। इसी विवेचन में उन्होंने *तुलसी की भाषा के साथ जायसी की भाषा की तुलना कर* भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए मानो प्रेरणा सूत्र प्रदान किया है। अंत में कहा जा सकता है कि प्रायः २ ६ पृष्ठों में जायसी के काव्य की विस्तृत समीक्षा कर शुक्ल जी ने संक्षिप्त समीक्षा के रूप में जायसी के उन गुणों और विशेषताओं का भी सार-तत्त्व प्रस्तुत कर दिया है जो उनके काव्यों में उपलब्ध हैं।[2] अन्यान्य कवियों की आलोचनाओं की भाँति इस आलोचना में भी उनकी निर्णयात्मक प्रवृत्ति परिलक्षित हुई है और उन्होंने "प्रबन्ध के भीतर आई हुई मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा सके वही पूरा और सच्चा कवि है"[3] के सिद्धान्त के आधार पर प्रबन्ध क्षेत्र में गोस्वामी जी को तो सर्वोच्च स्थान दिया ही है किन्तु अन्त में यह निर्णय भी कर

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल जायसी ग्रन्थावली : भूमिका पंचम संस्करण ? पृ० १२१।
२. वही, पृष्ठ २ १।
३ वही, पृष्ठ ११।

दिया है कि जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है पर प्रेम-वेदना उनकी अत्यन्त गूढ़ है।[1]

(इ) 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका और सूर का काव्य-विश्लेषण

८६ शुक्ल जी ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका के रूप में महाकवि सूरदास की विशेषताओं का अन्वेषण करने के लिए एक समालोचनात्मक निबन्ध लिखा था जो उनकी व्यावहारिक समालोचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस समीक्षा में भी शुक्ल जी की वही समीक्षा-पद्धति है जो तुलसी तथा जायसी का काव्य-विवेचन करते समय प्रयुक्त हुई थी। इस विवेचन में भी शुक्ल जी ने सर्व प्रथम ऐतिहासिक प्रणाली का अनुगमन कर सूर के पूर्ववर्ती तथा समकालीन वातावरण का एक सामान्य चित्र प्रस्तुत कर कृष्णोपासक वैष्णव कवियों की यह विशेषता बतलाई है कि उन्होंने "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर जीवन के प्रति अनुराग दिखाया या कम-से-कम जीने की चाह बनी रहने दी।"[2] ऐसा लिखते हुए शुक्ल जी ने सूर काव्य के भाव-पक्ष का विश्लेषण करने के लिए एक पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत कर दी है, क्योंकि इसके अनन्तर ही वे बाल्यकाल तथा यौवन काल की मनोहारिता के प्रति अपना सहज आकर्षण प्रकट कर अपना यह निर्णय दे सके हैं कि "वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये। उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।[3]

८७ कहा जा सकता है कि शुक्ल जी का सूर के सम्बन्ध में यह निर्णय उनकी सूर विषयक आलोचना का मूलाधार है और आगे चल कर उन्होंने विविध तर्कों और उदाहरणों द्वारा इसी निर्णय का एक प्रकार से भाष्य किया है। इस विवेचन के बीच उन्होंने परोक्ष रूप से उन कवियों के काव्य के प्रति भी व्यंग्य किया है जो केवल "मिलाये हुए संचारियों" के अन्तर्गत ही काव्य-धारा का प्रवाह मानते थे तथा जिन्हें उसकी व्यापक भाव-धारा के प्रति आस्था नहीं थी। शुक्ल जी का यह समीक्षण अत्यंत भावप्रवण और विचारपूर्ण दोनों है विवेक-दृष्टि उनके हाथ से कहीं पर भी नहीं छूटी है जिससे प्रभाव वादी समालोचकों के एकांगी दृष्टिकोण का विधान उसमें नहीं हो सका है। शुक्लजी ने अपने विवेचन को शास्त्रीय बनाने की भावना से भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं के स्वरूपों का विवेचन कर यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि सूर के काव्य में उनका किन रूपों में और किस स्तर पर निर्वाह हुआ है। इस विवेचन में वे यह भी स्पष्ट कर सके हैं कि किन-किन कारणों से सूर ने अपने काव्य के लिए परिमित क्षेत्र चुना और उस में भी वे किस प्रकार का अद्वितीय कौशल अभिव्यक्त कर सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के इस विवेचन में व्याख्यात्मक प्रणाली का पर्याप्त संयोजन है जिसके द्वारा वे सूर काव्य के वर्ण्य विषय तथा उसकी परिमितता का विश्लेषण और अधिक तार्किकता से कर सके हैं। इस विवेचन के अन्तर्गत उनका ध्यान अपने मानस प्रिय महाकवि तुलसीदास की व्यापकता की ओर बराबर बना रहा है, जिनका काव्य शुक्लजी के साहित्य-प्रतिमान का मूलाधार था।

सूर-काव्य की विशेषताएँ तथा उनका निरूपण

८८. शुक्लजी ने सूर की रचनाओं की सामान्य दृष्टि से परीक्षा करने के पश्चात् उनकी

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल: जायसी ग्रन्थावली भूमिका पंचम संस्करण पृष्ठ ११

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल, भ्रमरगीतसार की भूमिका प्रथम संस्करण, पृष्ठ १

३ वही पृष्ठ १०१

उन विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया है जिनके कारण सूर को हिन्दी साहित्य में इतना ऊँचा स्थान दिया जाता है।[1] इस विवेचन में उन्होंने सूर की भाषा के साथ-साथ उन प्रसंगों का विशेष रूप से उद्घाटन किया है, जिनमें सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है।[2] कृष्ण-जन्म की आनन्द-बधाई से लेकर उनके मथुरा-गमन के बीच कृष्ण द्वारा जो-जो लीलायें की गई उनका सूर-काव्य की आधार शिला पर विवेचन कर शुक्ल जी ने एक रसग्राही समालोचक के रूप में सूर काव्य के सौन्दर्य का जो भावपरक और विचारपूर्ण चित्रण किया है वह समीक्षा के संतुलित पक्ष का निर्वाह करने के साथ-साथ पाठकों को भी अपनी विवेचन कला में रससिक्त बना लेता है। वस्तुतः यह विवेचन उन पाठकों के लिए भी पठनीय है जो शुक्ल जी को शुष्क विचारक तथा उनकी शैली को 'ऊँघ दिलाने वाली शैली' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने 'तुलसी की भावुकता' का विश्लेषण करने में भी इसी शैली का प्रयोग किया था। इस विवेचना की एक विशेषता यह भी है कि शुक्ल जी सूर के भावगत सौन्दर्य के विश्लेषण के बीच-बीच समीक्षा के निर्धारित मूल्यों का भी विवरण देते चले हैं, जिससे पाठक इस विषय को न भूल जायें कि उनका मूल उद्देश्य सूर-काव्य की समालोचना करना है और ये रस-सीकर तो उनकी यात्रा में आने वाले ऐसे तुहिन-कण हैं जो जागरूकता से यात्रा करने वाले व्यक्तियों को मार्ग में पड़ने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेते हुए अपने गंतव्य पथ की ओर उल्लासपूर्ण भाव से अग्रसर होने के लिए स्फूर्ति तथा प्रेरणा देते रहते हैं।

८६. भाव-पक्ष के विवेचन के साथ-साथ शुक्ल जी को भाषा-पक्ष का भी असाधारण ज्ञान था। उन्होंने सूर-काव्य में वर्णित संयोग-पक्ष की विस्तृत विवेचना के पश्चात् उसके विप्रलम्भ पक्ष का जो विश्लेषण किया है उसके अन्तर्गत इसका आभास सहज ही मिल जाता है। उन्होंने रस-सिद्धान्त में विवेचित भावों का विश्लेषण करते हुए नंद-यशोदा के वार्तालाप में सूर द्वारा रचित पद 'तब तू मारबोई करति" का उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है

'यह झुँझलाहट वियोगजन्य है प्रेमभाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है। आगे देखिये गहरी "उत्सुकता' और अधीरता के बीच विरक्ति (निर्वेद) और तिरस्कार मिश्रित "खिझलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है।[3] इसी प्रकार शुक्लजी ने यशोदा की एक उक्ति "नंद ब्रज लीजै ठोंकि बजाय" का विवेचन करते हुए लिखा है

"ठोंकि बजाय" में कितनी व्यंजना है। एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो तीन भावों से लदा हुआ है। इसमें कुछ निर्वेद कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र-व्यंजना जिसे भावशबलता ही कहने से सन्तोष नहीं होता पाई जाती है।"

समीक्षा का मूल्यांकन और महत्व

९ अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी ने सूर-काव्य के विविध पक्षों का उद्घाटन करते हुए सूर की सहृदयता तथा साहित्यिक निपुणता का विश्लेषण हृदय-पक्ष और कला-पक्ष के विविध अंगों के आधार पर जिस रूप में किया है, उसका रसास्वादन केवल उनकी समालोचना को ही पढ़कर किया जा सकता है। इस विषय में उन्होंने सूर-काव्य में प्रयुक्त रीति अलंकार, छंद आदि

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : भ्रमरगीतसार की भूमिका, प्रथम संस्करण पृष्ठ १
२. वही, पृष्ठ ११
३. वही, पृष्ठ २१
४. वही पृष्ठ २१

का भी विवेचन किया है और सूर की सहृदयता तथा भावुकता के साथ-साथ उनकी चतुरता और वाग्विदग्धता का भी विश्लेषण किया है। अपने विवेचन की पुष्टि के लिए उन्होंने 'सूरसागर' से ऐसे अनेक रत्न खोज निकाले हैं जो सूर-काव्य के प्राण और भावुकजनों के लिए सर्वस्व हैं। अन्त में उन्होंने सूर-काव्य के सम्बन्ध में अपना मत भी स्थिर किया है और उपासना-पद्धति की दृष्टि से उनकी तुलसी के साथ तुलना कर उन प्रसंगों का भी विवेचन किया है जो सूर तथा तुलसी के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं के कारण बने हुए थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विवेचन में भी शुक्लजी का ध्यान फिर एक बार सूर के काव्य-सौन्दर्य को छोड़ कर तुलसी की ओर चला गया है और तुलसी के प्रति भक्त बना हुआ उनका मन "सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है"[1] कहने से भी नहीं सकुचाया है। तदनन्तर सूर काव्य के संगीत की प्रशंसा कर शुक्ल जी ने सूर के भ्रमर गीत के विविध पदों का सौन्दर्य विवेचित किया है। सारांश यह कि शुक्लजी का यह विवेचन उनकी व्यावहारिक समीक्षा का अत्यन्त भव्य स्वरूप है और हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि शुक्ल जी ने एक ओर जहाँ काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन कर अपनी तत्त्वग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया था वहाँ दूसरी ओर वे अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं द्वारा भी समालोचना का प्रतिमान बहुत उच्च और व्यापक बना सके थे।

शुक्ल युग के प्रमुख समालोचक

१ डा० गुलाबराय

समालोचक दृष्टि और उसके क्षेत्र

६१ बाबू गुलाबराय जी (अब डाक्टर) का आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-क्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हें शुक्ल-युग के प्रमुख समालोचक कहा जा सकता है। अपने जीवन-काल में उन्होंने द्विवेदी-युग से लेकर अद्यावधि चलने वाली साहित्य-धाराओं का अत्यधिक मनस्विता से अवगाहन किया है और आधुनिक युग की प्रायः समस्त साहित्य-प्रवृत्तियों और प्रतिभाओं पर एक तटस्थ नीतिपरक अध्येता के रूप में अपनी गम्भीर गवेषणाएँ प्रस्तुत की हैं। यह उनके अध्ययन और चिन्तन का ही परिणाम है कि वे प्रत्येक विषय को अधिकाधिक स्पष्टता से समझने के पश्चात् ही उसे लेखबद्ध करना समीचीन समझते हैं जिससे न तो उनके पाठकों को ही मतिभ्रम होता है और न उनके मन में ही ऐसी कोई कुण्ठा रह जाती है जिसके कारण वे पूर्णतया खुलकर अपनी मान्यताओं का स्पष्ट विवेचन न कर सकें। अपने जीवन के विविध कार्य-क्षेत्रों की भाँति उनकी साहित्याराधना में भी प्रारम्भ ही से समन्वयवादी नीति रही है। वैसे तो वे शुक्ल-युग की उपज हैं किन्तु उसके परवर्ती काल में विकसित होने वाली रचना और समालोचना की विभिन्न विधाओं के साथ भी उनकी अपेक्षित सहानुभूति रही है। उनकी समालोचनाओं में कदाचित् ही ऐसा कोई अवसर आया हो जब उन्होंने अत्यन्त तीव्र शब्दों में किसी साहित्यकार अथवा उसकी कृति का आत्यंतिक विधि से विरोध किया हो। उन्हें हिन्दी का भक्ति-काव्य भी उतना ही प्रिय है, जितना छायावादी युग। इसी प्रकार वे प्रगतिवादियों की भी मर्यादित प्रशंसा करते रहे हैं तो प्रयोगवादियों के सम्बन्ध में भी कई स्थलों पर अपना शालीन मनोभाव व्यक्त कर उनके अनागत की उज्ज्वल उपलब्धि की आशा रख कर मौन हो जाते हैं। उनके हृदय में भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रति भी आदर है और पश्चिमी विचारधारा के प्रति भी। ज्ञान राशि की उपलब्धि कहीं से हो वे उसे प्राप्त करने के लिए सदैव तत्पर रहे हैं। यदि उन्हें किसी विचारधारा का विरोध भी करना पड़ा है तो उसे उन्होंने अत्यन्त मृदुल शब्दों में व्यक्त किया है। फिर भी उनके साहित्य के अध्ययन से यह तो

---

१ दे० रामचन्द्र शुक्ल : भ्रमर गीत सार की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६।

स्पष्ट हो ही जाता है कि वे शुक्ल जी के अधिकांशतः अनुगामी हैं, किन्तु परिवर्तित युग की विकासमान परम्पराओं के साथ रहकर वे उनसे अधिक उदार और संवेदनशील भी बन गये हैं।

१२ बाबूजी की समालोचनाएँ एक कुशल अध्यापक की परिष्कृत लेखनी से निकली हुई समालोचनाएँ हैं। यद्यपि उनमें वय-क्रम के विकास के साथ-साथ अध्ययन चिन्तन और मनन में भी उत्तरोत्तर वृद्धि और प्रौढ़ि पायी गई है फिर भी उनमें अन्तर्भूत एक व्यापक दृष्टिकोण का सूक्ष्म आभास पा लेना तत्त्वदर्शी पाठकों के लिए सर्वथा सुगम कार्य है। समालोचना जैसे बौद्धिक और तत्त्व-निरूपक विषय को उन्होंने जिस सुबोध सरल सरस और स्पष्ट अभिव्यंजन-शैली में विवेचित किया है वह उनके तथ्य निर्णायक स्वभाव का ही प्रतिफल है। वे अपनी मान्यताओं में कहीं पर भी उलझे हुए नहीं हैं और उन्हें जो विषय जिस रूप में दृष्टिगोचर हुआ है उसे उन्होंने बड़ी सचाई और ईमानदारी से विश्लेषित किया है। उनमें न तो मिथ्याभिमान की प्रवृत्ति है और न पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन करने की ही भावना। यही कारण है कि वे हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं के छात्रों को भी उतने ही प्रिय हैं जितने गम्भीर विचारकों को। उनके विवेचन में पर्यवसित ज्ञान राशि का उपयोग उसे मौलिक का सा रूप देकर किया गया है। एक उदार और सुसंस्कृत समालोचक के हृदय में समालोच्य विषय के प्रति जिस प्रकार की सहानुभूति और निष्पक्षता होनी चाहिए, वह बाबूजी में पर्याप्त मात्रा में है। उनकी समालोचनाओं की मूल भित्ति उनका अध्यवसायपूर्ण अध्ययन ही है, जिसके द्वारा वे विभिन्न विचारकों की मान्यताओं में सन्तुलन अथवा समन्वय स्थापित करने में भी समर्थ हुए हैं। *उन्होंने अपने इसी अध्ययन के बल पर ही अपने प्रतिपादन में यथासम्भव नवीनता* और परम्परा का आधार लिया है। वे शुक्ल जी की भाँति साहित्य-शास्त्र का मन्थन कर किन्हीं नवीन उद्भावनाओं की सृष्टि तो बहुत कम कर सके फिर भी उन्होंने साहित्य-समीक्षण की सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता में एक सुलझा हुआ दृष्टिकोण अवश्य दिया है। उनकी समालोचनाओं से यह स्पष्ट झलकता है कि बाबूजी के मन में तथ्योपलब्धि की तीव्र लालसा है और वे उसका निष्कर्ष अपने पाठकों तक पहुँचाने के लिए विशेष रूप से लालायित हैं। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन ने उन्हें तत्त्व-ग्रहण की जो परिमार्जित प्रज्ञा प्रदान की है उसका उपयोग उन्होंने अपनी प्रायः समस्त समालोचनाओं में भी किया है। इन सब बातों के होने पर ही बाबूजी को 'अध्यापक-समालोचक' कहना ही उचित प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने आचार्य के सिंहपीठ पर आसीन होकर कहीं पर भी अपने फतवे नहीं दिये हैं। हाँ यह बात अवश्य है कि उनकी समालोचनाएं भावी अध्येताओं और समीक्षकों के लिए प्रेरणा तथा उनके द्वारा सुझाये हुए क्षेत्र में विकासमान बनने का कारण रही हैं।

१३ बाबूजी की समालोचनाओं में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का सम्मिलन है। 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' उनकी सैद्धान्तिक समालोचना के परम निदर्शन हैं। इनकी रचना कर बाबूजी ने 'साहित्यालोचन' की शृंखला में एक नवीन कड़ी जोड़ी है। इन समालोचना ग्रन्थों का प्रयोजन उन्होंने अपने दृष्टिकोण में प्रकट कर दिया है। डा० श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' के पश्चात् उनके इन्हीं ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें भी बाबूजी का समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। इनके कुछ परिच्छेद तो विशुद्ध समालोचनात्मक निबन्ध हैं और कुछ शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्यामात्र। यद्यपि बाबूजी ने विवेचन के अन्तर्गत अपनी वैयक्तिक अभिरुचि भी प्रकट की है, किन्तु वह कहीं पर भी शास्त्रीयता से विहीन नहीं है। इसका मूल कारण उनकी आस्तिक बुद्धि और शास्त्र-निष्ठा है। उन्होंने अपने विश्लेषण में पश्चिमी साहित्य शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है और भारतीय काव्यालोचन की परम्पराओं में भी उनकी झलक देखी है। उनकी मान्यता है कि "भारतीय मनीषियों ने जो सैद्धान्तिक चिन्तन किया है, वह किन्हीं अंशों में तो नवीन सिद्धान्तों से आगे बढ़ा हुआ है और कम-से-कम उनके साथ

टक्कर लेने में समर्थ है।"[1] कहना होगा बाबूजी की इस धारणा को सम्पुष्टि सबश्री एस० के० डे काने कीथ संकरन दासगुप्त राघवन् जैसे संस्कृत-साहित्य के आधुनिक विद्वानों तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे हिन्दी-समीक्षकों के विवेचन से भी मिली है।

शुक्ल-युग की मान्यताओं में उदार दृष्टिकोण का समावेश

१४ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि गुलाबराय की आधुनिक हिन्दी समालोचना के शुक्ल-युग की उपज हैं किन्तु अपने दृष्टिकोण में विशेष उदार भी हैं। उनकी समालोचना का सैद्धान्तिक पक्ष मुख्यतः साहित्य के स्वरूप-विवेचन से सम्बन्धित है जिसमें दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य की विभिन्न विधाओं का विश्लेषण हुआ है। 'काव्य के रूप' की अपेक्षा 'सिद्धान्त और अध्ययन' में उनका विवेचन अधिक गम्भीर है क्योंकि इसमें उन्होंने केवल काव्य की विधाओं पर ही सर्वमान्य सैद्धान्तिक निरूपण ही नहीं किया है अपितु प्रसंगानुसार अपनी मान्यताओं का एक दृष्टिकोण भी प्रकट किया है। 'काव्य के रूप' की रचना में तो उनकी छात्र-हितकारी भावना ही अधिक झलकी है। एक प्रकार से 'काव्य के रूप' को उनके 'सिद्धान्त और अध्ययन' का पूर्वार्द्ध भी कहा जा सकता है। इसमें बाबूजी ने समालोचना की सर्वार्जित ज्ञान-राशि का पूरा-पूरा उपयोग करने का प्रयत्न किया है।

१५. बाबू गुलाबरायजी की समालोचना-विषयक मान्यताओं में उनके जीवन-दर्शन और संस्कारों का भी बड़ा हाथ है। अपने पारिवारिक जीवन और शिक्षा-दीक्षा से भी उन्होंने साहित्य परीक्षण का मानदण्ड निर्धारित किया है। उनमें समालोचकोचित सहानुभूति और उदारता भी कम नहीं है यहाँ तक कि उन्हें दूषित कृतियों में भी कुछ-न-कुछ सार मिल ही जाता है। उन्होंने यथासम्भव शास्त्रीय आधारों पर अपना समीक्षण-कार्य किया है किन्तु उसमें व्याख्यात्मक प्रणाली का समावेश कर उसे अपना वैशिष्ट्य प्रदान कर दिया है। एक कुशल अध्यापक में कठिन-से-कठिन विषय को भी सरस और सुबोध बनाने की जो क्षमता होनी चाहिए, वह बाबूजी में पर्याप्त मात्रा में है। आधुनिक समालोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में चलने वाली प्रायः समस्त प्रवृत्तियों का यथोचित विवेचन उन्होंने 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादन-काल में तथा फुटकर निबन्ध रचनाएँ करते हुए भी किया था किन्तु उन सब में उनका सुलझा हुआ दृष्टिकोण अन्य समालोचकों से विशिष्ट श्रेणी का ही रहा है। उनकी समालोचना प्रणाली में यथाप्रसंग शास्त्रीयता प्रभावाभिव्यंजकता व्याख्यात्मकता और ऐतिहासिकता का प्रयोग भी है जिसके द्वारा वे समालोच्य-विषय की गहराई में जाने के लिए सदैव सचेष्ट रहे हैं। उनकी समालोचना-प्रणालियों में एकांगिता अथवा रूढ़िग्रस्तता तो कहीं पर भी देखने को नहीं मिलती। उन्होंने ज्ञान-चेतना का यथा-सम्भव प्रयोग अपनी सभी प्रकार की समालोचनाओं में किया है। वे शुक्लोत्तर-युग में विशेष रूप से प्रचलित समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषणवादी समालोचना-पद्धतियों के भी निन्दक नहीं है, किन्तु उनकी सीमाओं से भी अनभिज्ञ नहीं है। अपनी सारग्राहिणी प्रज्ञा के बल पर उन्होंने इन पद्धतियों से भी तत्त्व चयन कर अपनी समालोचना के शास्त्रीय पक्ष को और अधिक सम्पुष्ट बनाया है और इस प्रकार उनके द्वारा हिन्दी-समालोचना की प्रणालियों में भी समन्वय लाने की चेष्टा हुई है। बाबूजी में शुक्ल-युग की समालोचना का किस स्तर तक परिष्कार हो सका है इसका ज्वलन्त निदर्शन उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समालोचनाएँ हैं। कहा जा सकता है कि बाबूजी ने अपना समालोचक-व्यक्तित्व बहुत अधिक अंशों में शुक्ल-युग की मनोवृत्तियों से निर्मित करते हुए भी उसमें यथासम्भव व्यापक

---

१ डा० गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन' 'काव्य दृष्टिकोण'।

महत्त्व का क्षेत्र रखा है। यही कारण है कि वे शुक्ल जी की भाँति केवल प्रबन्ध-काव्य सगुणवाद और लोक-पक्ष के एकांगी दृष्टिकोण तक ही अपने को सीमित न रखकर मुक्तक काव्य-परम्परा निर्गुण भक्ति तथा काव्य की आध्यात्मिक स्थिति की भी प्रशंसा कर सके हैं। निस्सन्देह बाबूजी में सौन्दर्य-बोध और कला-परीक्षण की स्वच्छन्द दृष्टि भी है किन्तु वह कहीं पर भी पाश्चात्य जगत् में चलने वाले साहित्यिक वादों-प्रवादों से निर्मित न होकर भारतीय आदर्श के नैतिक मूल्यों पर अधिक आधारित है जिसमें प्राचीनता का सम्य-भावन अधिक सफलता के साथ हो सका है।

१६ बाबू साहब ने 'रस और मनोविज्ञान' के विश्लेषण में भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं का निरूपण कर अपना अभिमत प्रकट किया है। उन्होंने अपने विवेचन का मूल आधार भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र' को माना है और बतलाया है कि हमारे जीवन में भाव और मनोवेगों का कितना अधिक महत्त्व है। वस्तुतः वे रस को 'मनोवेग नहीं वरन् मनोवेगों का आस्वादन'[1] मानते हैं और साधारणीकरण द्वारा दुःख में भी जो सुख की अनुभूति होती है उसे विभावन व्यापार का ऐसा रसायन बतलाते हैं जिसके द्वारा मनोवेगों से 'ममेति वा परस्येति' का सुगन्ध दूर कर दिया जाता है।"[2] उन्होंने रस के साथ मनोविज्ञान का सहज सम्बन्ध जोड़कर पाश्चात्य विद्वान् विलियम जेम्स मैकडूगल तथा शैंड आदि की मान्यताओं का भी विवेचन किया है और उनका भारतीय रस-सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यही निर्णय प्रदान किया है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल रस-सिद्धान्त की पूरी-पूरी व्याख्या नहीं हो सकती है क्योंकि आज का मनोविज्ञान केवल सायक या आत्म-विज्ञान के सीमित रूप तक ही रह जाता है जबकि हमारे यहाँ रस का सम्बन्ध आत्म-दर्शन के सहज आनन्द के साथ है।[3] रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भट्ट लोल्लट शंकुक भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त की मान्यताओं का समीक्षण करते हुए उन्होंने भारतीय साहित्य की सामान्य मान्यता के अनुरूप यही स्वीकार किया है कि 'वह (रस) तो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्बोधित एवं रजोगुण तमोगुण-विमुक्त सतोगुण प्रधान आत्मप्रकाश से चमचमाते हुए सहृदय के वासनारूप स्थायीभाव का आस्वादजन्य आनन्द है।" इसी प्रकार साधारणीकरण के विषय मे भी उन्होंने भट्टनायक के विभावन व्यापार पर की गई आचार्य शुक्ल तथा डा. श्यामसुन्दरदास की विवेचनाओं का सारांश उपस्थित कर इस सम्बन्ध में पश्चिमी साहित्य-शास्त्रियों के भाव-तादात्म्य (एम्पथी) का विश्लेषण कर अन्त में अपना यही निष्कर्ष दिया है कि 'साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। उनमें न ममत्व जन्य दुःख और न परत्वजन्य ईर्ष्यादि भावों की गुंजाइश रहती है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर लोक सामान्य भाव-भूमि में आ जाता है। भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'मम निज परो वा' की भावना जाती रहती है।[4]

१७ समालोचना-साहित्य के विकास मे यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि बाबू गुलाबराय जी ने भी इन्दौर में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य-परिषद् में पढ़े जाने के लिए 'रहस्यवाद' पर भी एक निबन्ध लिखा था जो अनवकाशवश पढ़ा नहीं जा सका। उनके

१ डा गुलाबराय "सिद्धान्त और अध्ययन" प्रथम संस्करण पृष्ठ १५।
२. वही, पृष्ठ १५।
३ वही, पृष्ठ २।
४ वही, पृष्ठ ४०।
५ वही, पृष्ठ ६४।

उसी निबन्ध का परिवर्द्धित और डा० शम्भुनाथ पाण्डेय द्वारा सोदाहरण व्याख्या समन्वित-स्वरूप 'रहस्यवाद और हिन्दी कविता' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है जिससे पता चलता है कि बाबूजी में उस समय की रहस्यवाद के मूल सिद्धान्त का विश्लेषण करने की कितनी अधिक प्रतिभा थी। रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है

"रहस्यवाद उस भाव-प्रधान मनोदशा की वाचिक अभिव्यक्ति को कहते हैं जो व्यक्ति और विश्व के मूल में स्थित चरम सत्ता के अव्यक्त या व्यक्त रूप के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने पर या करने की इच्छा से प्राप्त होती है।" [1]

१८ बाबूजी की इस परिभाषा में रहस्यवाद के भाव-पक्ष की प्रायः सभी विशेषताओं का सामान्य उल्लेख हो गया है और उससे यह ध्वनित होता है कि उनकी यह परिभाषा बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के रहस्यवाद का विशुद्ध स्वरूप विवेचित करने में पर्याप्त समर्थ है। उन्होंने प्रारम्भ ही में रहस्यवाद को भाव प्रधान मनोदशा कह कर उसका सम्बन्ध चरम सत्ता के अव्यक्त और व्यक्त इन दोनों रूपों के साथ जोड़कर जिस रागात्मक सम्बन्ध का संकेत किया है, वह उसे बौद्धिकता के स्थान पर हृदय की संवेदनाओं के साथ निकटतर रखने वाला है, जिसका अभिप्राय यह है कि वे काव्य की इस धारा के नैसर्गिक विधान के प्रति किसी भी प्रकार की कोई शंका नहीं रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्ल जी ने कविता का सम्बन्ध केवल ब्रह्म की व्यक्त सत्ता अथवा चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् के साथ जोड़कर अव्यक्त सत्ता से उसका कोई प्रयोजन नहीं रखा था [2] और यही धारणा उन्हें रहस्यवाद की प्रणालियों का विरोध करने के लिए बाध्य कर रही थी जबकि बाबूजी ने अत्यन्त उदारता से अव्यक्त का समावेश भी रहस्यवादी कविता के लिए आवश्यक निर्दिष्ट कर अपने विवेचन को और अधिक व्यापक बना दिया। उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे रहस्यवाद को मूलतः अनुभूतिजन्य और भावाश्रित मानते हैं तथा तन्त्र-साधना और हठयोग की क्लिष्ट और अस्पष्ट प्रणालियों को उसकी कला तथा अभिव्यंजना में कोई स्थान नहीं देते। उन्होंने रहस्यवाद के स्वरूप तथा उसकी साहित्यिक परम्परा का विश्लेषण करने में वेदों उपनिषदों तथा संतों और सूफी कवियों के जीवन-दर्शन का भी विश्लेषण किया है जिससे भारतीय साहित्य में रहस्यवादी परम्परा का विकास और अधिक वैज्ञानिक तथा तारतम्य पूर्णविधि से हो सका है।

१९ बाबूजी द्वारा लिखी हुई समालोचना का फुटकर स्वरूप उनके उन लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों में मिलता है जो उन्होंने 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादन-काल में लिखे थे। उन लेखों में सम-सामयिक साहित्य चर्चाओं के साथ-साथ प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन का भी यथोचित प्रयास हुआ है। उनमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समालोचना का समावेश है। आधुनिक काव्य में प्रचलित वाद-समीक्षा के साथ-साथ उन्होंने प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित समालोचना के मानदण्डों का भी विश्लेषण किया है। ऐसी आलोचनाओं में आचार्य द्विवेदी तथा शुक्ल जी के कार्यों का मूल्यांकन प्रसाद जी की काव्य-प्रतिभा तथा विवेचन शक्ति हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की प्रमुख प्रवृत्तियों कुछ प्रमुख कृतियों का काव्य-सौन्दर्य कतिपय साहित्य-शास्त्र में प्रचलित सूक्तियों का स्पष्टीकरण आदि अनेक विषयों का समावेश है जिनसे उच्चतम कक्षाओं के छात्रवर्ग का भी कम कल्याण नहीं हुआ है। इन सभी विवेचनाओं में बाबूजी का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट और सधा हुआ है। अभिप्राय यह है कि बाबूजी शुक्ल-युग के एक समन्वयकारी समालोचक हैं जिनके विचारों में सधी हुई शालीनता और संयम-भावना का सुन्दर समावेश है और वे अपनी मानसिक भूमिका के अनुरूप सर्वत्र आस्तिक-भावना को हृा लेकर चलते

१ बा गुलाबराय : रहस्यवाद और हिन्दी कविता प्र संस्करण १ १६, पृष्ठ १।
२. प रामचन्द्र शुक्ल 'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ ११।

है जिनके फलस्वरूप उनका किसी भी प्रकार के मतवादों से कोई स्पष्ट विरोध नहीं है।

२ पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

समालोचना में प्रवेश

१० पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का समालोचना-क्षेत्र में आगमन उसी समय से समझना चाहिए जब विश्व-विद्यालयों की उच्चतम परीक्षाओं में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को पाठ्यक्रम में स्वीकार किया गया था। यह समय आज से प्रायः ३२ वर्ष पूर्व का था। इन्हीं दिनों बाबू श्यामसुन्दर दास और पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे साहित्य-मीमांसक अपने निरन्तर अध्यवसाय के द्वारा हिन्दी-साहित्य को समालोचनात्मक विभिन्न विषयों से पूर्ण बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। आचार्य द्विवेदी की प्रौढ़ प्रतिभा इन्हीं दिनों अपनी प्रखर रश्मियाँ विकीर्ण कर रही थी। शिलीमुख जी ने ऐसे ही समय में पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर में समालोचनात्मक निबन्धों के द्वारा अपनी विचार धारा का अभिव्यंजन किया जिसमें उस युग को देखते हुए अत्यधिक मौलिकता के अंश समाविष्ट थे। उन्होंने प्राचीन कवियों के साथ-साथ आधुनिक जीवित साहित्यकारों पर भी अपने विचार निर्भीक भाव से व्यक्त किये जिनमें उनकी अपनी सूझ-बूझ और अन्तर्दृष्टि की उद्भावना मिलती है। प्रसाद के नाटकों और प्रेमचन्द के उपन्यासों पर अपनी विस्तृत समालोचना प्रस्तुत करने के साथ साथ उन्होंने [illegible] न कवियों की समीक्षाएँ प्रस्तुत की उनकी प्रशंसा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में की है।[1] अपनी प्रारम्भिक कृतियों के रूप में शिलीमुख जी जिस प्रकार की समालोचक-दृष्टि लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे उसका यदि उनकी लेखनी द्वारा क्रमिक विकास किया जाता तो वे साहित्य-जगत् तथा समालोचना-क्षेत्र में और भी उच्च स्थान के अधिकारी हो सकते थे।

१०१ शिलीमुख जी की समालोचनाओं में सिद्धान्त-पक्ष और प्रयोग-पक्ष का सुन्दर समन्वय हुआ है। वे किसी भी आलोच्य कृति के गुण-दोष का निरूपण करने के पूर्व उसके उपयुक्त एक प्रतिमान प्रस्तुत कर लेते हैं जिसके आधार पर विवेचित कृति का समीक्षण अधिक स्पष्ट रीति से हो जाता है। उदाहरणार्थ उन्होंने गोपालशरण सिंह की 'माधवी' की समालोचना[2] करने के पूर्व काव्य की सब पर 'सिद्धि' और 'सबों सिद्धि' नामक दो श्रेणियाँ बनाकर माधवी में प्रथम श्रेणी के काव्य की प्रधानता मानी है और उसे चमत्कारी काव्य की उस श्रेणी से उच्चतर सिद्ध किया है जिसका प्रस्फुटन उन्हें रीति-काल की भाँति आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी कम नहीं मिलता।[3] निश्चय ही उनका 'माधवी'-समीक्षण कवि की काव्य-दृष्टि और प्रतिभा भाव-चित्रण और रस-व्यंजना अलंकार-विधान और भाषा-सौष्ठव शब्दार्थ-माधुर्य और कवि-कल्पना आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से अत्यन्त सारग्राहिणी प्रवृत्ति में हुआ है, जिससे 'माधवी' के गुण-विवेचन के साथ-साथ समालोचना की अनेक सैद्धान्तिक चर्चाओं का भी बोध हो जाता है।

१०२ शिलीमुखजी के समीक्षात्मक निबन्धों का प्रचुर अंश हिन्दी के वर्तमान साहित्य के अन्तर्गत प्रेमचन्द-साहित्य की विवेचना को ही उद्देश्यगत रख कर निर्मित हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिलीमुख जी का प्रेमचन्द जी के प्रति उदार दृष्टिकोण न था और वे उन्हें प्रचारात्मक साहित्य-स्रष्टा से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। उन्होंने उनके 'सेवासदन' उपन्यास की समालोचना[4]

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवां संस्करण पृ० ५११।
२ माधुरी पत्रिका भाग ६' संख्या ४
३ पं० रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख' 'शिलीमुखी' प्र० संस्करण सन् १९५१ पृष्ठ ११-१६
४ सम्मेलन-पत्रिका भाग १ अंक ३ और ४।

करते हुए उसमें ऐसे साहित्य का प्रभाव पाया है जो मानव-जीवन की चिरंतन शक्तियों और रहस्यों का उद्घाटन करता हुआ चलता है। वस्तुतः उन्हें प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में उस समय देश में चलने वाले असहयोग आन्दोलन का ही प्रभाव प्रधानतः दृष्टिगोचर हुआ है जिसके कारण प्रेमचन्द जी अन्य समालोचकों द्वारा अपने युगधर्मी साहित्य के कारण अधिक प्रशंसा प्राप्त कर सके थे। शिलीमुख जी का दृष्टिकोण अन्य समालोचकों से भिन्न है। वे भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से किसी भी श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ अथवा साहित्य-कृति का विश्लेषण करते के मूल में साहित्यकार की सजग चेतना कल्पना और मनोवेग को अधिक महत्त्व देते हैं।[1] यही कारण है कि प्रेमचन्द जी उन्हें अधिक नहीं लुभा सके और उन्हें उनमें उपदेश-वृत्ति अहंमन्यता दुराग्रह और ब्राह्मण-विरोधी भावना ही मिली। प्रेमचन्द जी की कहानियाँ तो शिलीमुख जी को फिर भी ठीक जमी हैं किन्तु उनका उपन्यास-साहित्य तो उन्हें हल्की श्रेणी का ही प्रतीत हुआ है। इसी प्रकार 'चाँद' के अग्रलेख में प्रकाशित प्रेमचन्द जी का 'कहानी की उपयोगिता' शीर्षक लेख भी उन्हें किन्हीं तथ्यपूर्ण रहस्यों का विश्लेषक नहीं प्रतीत हुआ है। हाँ नाटक-साहित्य के क्षेत्र में किये गये प्रेमचन्द जी के प्रयोग को उन्होंने जिस रूप में असफल बतलाया है वह पूर्वाग्रहरहित और अधिक प्रामाणिक है।

१०२ विवेचन के प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि जिस समय शिलीमुख जी ने प्रेमचन्द जी के विषय में आलोचनाएँ लिखीं उस समय (सन् १६१ के आसपास) प्रेमचन्दजी के साहित्य को लेकर समालोचना-क्षेत्र में एक बड़े जोर का संघर्ष चल रहा था जिसमें एक ओर तो उनका प्रशंसक समाज मुंशी जी की सृजन-प्रतिभा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने में नहीं अघाता था तो दूसरी ओर उनका विरोधी दल उनमें अनेक प्रकार की धर्मवादी और साम्प्रदायिक भावनाएँ पाता था। प्रेमचन्द जी के 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के विज्ञापनों और बाबू रामदास गौड़ की लिखी हुई प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की भूमिकाओं को लेकर अनेक प्रकार की प्रशंसात्मक और विरोधात्मक समालोचनाएँ साहित्य-जगत में चल रही थीं। इन आलोचनाओं में विशुद्ध आलोचना-प्रवृत्ति का अभाव और वैयक्तिक आक्षेपों का प्राधान्य होता था। उन दिनों की पत्र पत्रिकाओं में प्रेमचन्द-साहित्य बड़ी हलचल का विषय था। पंडित अवध उपाध्याय ने पत्रिका के जिन्हों द्वारा हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का एक नया ढंग निकालकर प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की तुलना पाश्चात्य कृतियों से की तो पं हेमचन्द्र जोशी इलाचन्द्र जोशी तथा रायबहादुर लमगोड़ा आदि ने उनके साहित्य की अपने ढंग से प्रशंसा की। श्री रामचन्द्र टंडन ने भी इस प्रकार के वाद विवाद में भाग लिया किन्तु वे इन सबकी अपेक्षा अधिक संयत और साधु शैली में विवेचन करते हुए चले। शिलीमुख जी के समालोचक-व्यक्तित्व को तत्कालीन समालोचना के इस ज्वलंत विषय (प्रेमचन्द-साहित्य) से विशेष प्रेरणा मिली और वे और अधिक विस्तार के साथ प्रेमचन्द-साहित्य की विवेचना करने के लिए उद्यत हुए। उन्होंने 'प्रेमचन्द जी की कला'[2] में अपनी मानसिक प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया कि किसी भी साहित्यकार के लिए साहित्य को निर्विकार स्वरूप में ग्रहण करते हुए चलना ही अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि प्रेमचन्द जी हमारे साहित्य के प्रमुख साधक हैं, किन्तु उनमें ऐसी अनेक अपूर्णताएँ भी हैं जिनका विश्लेषण किये बिना हम उनके साथ न्याय भावना का निर्वाह नहीं कर सकते। उन्होंने प्रेमचन्द जी की 'उच्च वयवृत्ति' और 'शीलसाहट' का आभास उनकी उन लेखमालाओं के स्मरण देकर दिया जो प्रेमचन्द जी ने 'समालोचक' आदि पत्रों में लिखी थीं। जैसे मैं क्या टामस हार्डी से कुछ कम हूँ मैं कोई लड़का या नया लेखक नहीं पुराना पुरोहित हूँ आदि। अन्त में शिलीमुख जी

---

१ ९ रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुखी' प्रथम संस्करण पृष्ठ ११।
२. १ रामकृष्ण रामन : 'सरस्वती' भाग १ संख्या १।

ने प्रेमचन्द जी को एक हितचिन्तक समालोचक के रूप में यही परामर्श दिया है कि वे अपनी साधारण त्रुटियों और कष्टदशाओं से ऊपर उठकर और अधिक उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आयें और झूठी भावुकता में अपना समय और शक्ति नष्ट न करें।[1] कहना होगा शिलीमुखजी के इस निर्देश का प्रेमचन्द जी पर आगे चलकर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभाव भी पड़ा जिसका आभास हमें उनकी उत्तरवर्ती कृतियों के अध्ययन से मिल सकता है।

१४ शिलीमुख जी ने प्रेमचन्द जी के पाँचवें उपन्यास "कायाकल्प" की समालोचना प्रायः तीस पृष्ठों में की है, जिसमें विद्वान समालोचक ने अपनी साहित्य-विश्लेषण की व्यापक दृष्टि से प्रेमचन्द जी की लेखन कला का समीक्षण किया है। उस युग में इस प्रकार की समालोचनाएँ बहुत कम निकलती थीं। शिलीमुख जी ने काव्य का रसात्मक दृष्टिकोण अभिव्यक्त कर पहले समालोचना की पृष्ठभूमि के रूप में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-कला और कल्पना का सामंजस्य-पूर्ण निरूपण किया है और तदुपरान्त 'कायाकल्प' उपन्यास के कथानक को लेकर उसके सामाजिक पक्ष का स्पष्टीकरण हुआ है। उन्होंने उपन्यास के प्रमुख चरित्रों (चक्रधर और मनोरमा) के साथ-साथ *अन्य गौण चरित्रों का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर 'कायाकल्प' की उन साधारण भूलों पर भी* दृष्टिपात किया है जो लेखक द्वारा थोड़ी सावधानी रखने पर दूर की जा सकती थीं। उपन्यास में प्रयुक्त सुन्दर लोकोक्तियों और मुहावरों की साधारण जानकारी कराते हुए शिलीमुख जी ने उसकी भाषा-विषयक त्रुटियों का भी विवरण दिया है। शिलीमुख जी को तो उपन्यास का नामकरण 'कायाकल्प' भी उपयुक्त नहीं जँचा है क्योंकि उपन्यास के कथानक का विषय काया कल्प शब्द की सार्थकता सिद्ध करने में असमर्थ है।[2] इस प्रकार हमें 'कायाकल्प' पर उस युग में शिलीमुख जी की प्रस्तुत समालोचना अपना वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान रखती हुई प्रदर्शित होती है।

१५ प्रेमचन्द जी के उपन्यास-साहित्य के साथ-साथ शिलीमुख जी ने उनके कथा-साहित्य का भी समीक्षण किया है। उन्होंने प्रेमचन्द जी के 'प्रेम प्रमोद' संग्रह की पहली कहानी "विस्वास" की मर्मस्पर्शी खरी और कटु आलोचना की है।[3] उन्होंने हालकेन के प्रसिद्ध उपन्यास 'इटर्नल सिटी' की छाया पर इसका वस्तुतत्व निर्दिष्ट कर पर्याप्त उदाहरणों द्वारा उन दोनों का साम्य प्रदर्शित किया है, जिसका मुख्य आशय यही है कि प्रेमचन्द जी ने उस प्रसिद्ध उपन्यास के कथानक को उठाकर ही इसकी रचना की है, जिसमें किसी प्रकार की मौलिक विशेषतायें नहीं हैं। शिलीमुख जी का दावा है कि "प्रेमचन्द जी उसका आधार लेकर भी देशकालीन परिस्थिति के अनुसार उन्हें नहीं ढाल सके और उनकी यह कृति कई अंशों में दोषपूर्ण ही रही।[4] साथ-ही-साथ शिलीमुखजी ने 'प्रेम-प्रमोद' की दूसरी प्रधान कहानी "कौशल"[5] को भी फ्रांस के कथाकार 'मोपासाँ' का अनुवाद-मात्र कहा है जिसमें कोई मौलिक विशेषता नहीं है। अपने कथन की पुष्टि में शिलीमुख जी ने अनेक प्रमाण भी उद्धृत किये हैं।

१०६ शिलीमुखजी द्वारा "प्रेमचन्द जी की समाज-भावना और उनके आदर्शवाद"[6] को लेकर लिखा गया समालोचनात्मक निबन्ध विशेष गंभीर और पठनीय है। उसका मूल अभिप्राय यही सिद्ध करने का है कि प्रेमचन्द जी में किसी व्यापक मानव-समाज की कोई स्पष्ट भावना नहीं

---

१ पं रामकृष्ण शुक्ल : 'शिलीमुखी' प्र संस्करण पृष्ठ ४०।
२. सरस्वती, भाग २८, संख्या १-४।
३ पं रामकृष्ण शुक्ल : शिलीमुख, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७८।
४. "सुधा" वर्ष १ खंड १ संख्या १।
५. पं रामकृष्ण शुक्ल : शिलीमुख, पृष्ठ ११।
६. "सुधा" वर्ष १ खंड १ संख्या ४ पृष्ठ ४२९।
७. सम्मेलन पत्रिका, भाग ८, संख्या १।

थी और उनके विधान में समाज केवल सिद्धान्तों का ही बना हुआ है।[1] उनके आदर्शवाद को शिलीमुख जी ने काल्पनिक और परोक्ष वस्तु ही माना है और उन्हें प्रेमचन्दजी की यथार्थ भावना भी अत्यन्त संकीर्ण लगी है। शिलीमुख जी के मतानुसार प्रेमचन्द जी का आदर्शवाद वास्तव में एक पेशेवर का आदर्शवाद है जिसमें किसी स्वास्थ्यप्रद मानसिक विकास का स्वरूप उपलब्ध नहीं है।"[2] इस प्रकार शिलीमुख जी का यह निबन्ध प्रेमचन्द-साहित्य की विचारधारा को रूढ़िग्रस्तता से अलग हटकर समीक्षण करने की प्रेरणा देता है। वस्तुतः इसमें ऐसी अनेक विवादग्रस्त बातें हैं जिनको स्वीकार करने के पूर्व एक बार प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य को निष्पक्ष-भाव से टटोलने की आवश्यकता है।

अन्य समालोच्य निबन्ध और 'प्रसाद जी की नाट्य-कला'

१०७. शिलीमुखजी ने उच्च कोटि के आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी दृष्टि से भी कुछ निबन्ध लिखे हैं, किन्तु उनका समालोचना-साहित्य के संवर्धन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। ऐसे निबन्धों में 'वर्तमान हिन्दी' 'तुलसीदास जी का रामचरितमानस में सुन्दर कांड' राष्ट्रभाषा का प्रश्न 'भारतीय नाट्यकला' 'साहित्य और साहित्य-शास्त्र' साहित्य में कहानी और उपन्यास' 'नाटक की सामाजिकता' और 'हिन्दी में छायावाद' आदि प्रमुख हैं। इन निबन्धों में अधिकांशतः छात्रोपयोगी दृष्टि से ही विवेचन किया गया है और इनका संग्रह "निबन्ध प्रबन्ध" नामक पुस्तक में हो चुका है। इनके अतिरिक्त शिलीमुख जी ने काव्य में रस-निष्पत्ति की प्रणाली तथा साधारणीकरण पर भी कुछ विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं जिनमें शास्त्रीय पद्धति से प्रमुख आचार्यों के मतों का निष्कर्षमात्र दिया गया है। इनमें मौलिकता का समावेश बहुत कम है, अतः हमें उनकी विवेचना की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। "निबन्ध-प्रबन्ध" के अतिरिक्त "कला और सौन्दर्य" नामक पुस्तक में शिलीमुख जी के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक लेखों का संग्रह है जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे थे। इनमें पुरातत्त्व विषय के साथ-साथ साहित्य-शिक्षा अध्यात्म और संस्कृति-विषयक निबन्ध भी हैं। इन निबन्धों में 'कला और सौन्दर्य' साहित्य के गुण' 'शिक्षा और संस्कृति' 'जीवन और साहित्य' आधुनिक कहानी' 'पाश्चात्य देशों में वेदोंका अध्ययन' आदि हैं। शिलीमुखजी के इन निबन्धों का इस दृष्टिसे भले ही महत्त्व स्वीकार कर लिया जाय कि वे जिस समय लिखे गये थे उस समय उनका पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर में विशेष स्थान रहा हो किन्तु आधुनिक युग की विकसित परम्परा में वे बहुत पीछे रह गये हैं। हाँ इन निबन्ध संग्रहों की समता में उनके शिलीमुखी" में संकलित निबन्धों का अवश्य ही विशेष महत्त्व है, क्योंकि उनमें उनके समालोचक-व्यक्तित्व का गंभीर पक्ष अधिक स्पष्टता से व्यक्त हो सका है।

१०८. शिलीमुख जी द्वारा लिखी गई समालोचनाओं में 'प्रसाद की नाट्य-कला' नामक कृति व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। इसके लिखने की मूल प्रेरणा यद्यपि उन्हें इण्टरमीजियेट तथा बी ए के विद्यार्थियों से मिली थी[3] किन्तु विद्वान् समालोचक ने इसमें यथास्थान गम्भीर विवेचना भी प्रस्तुत की है। इसके प्रारम्भ में प्राच्य और पाश्चात्य नाट्यकला पर जो सामान्य विवेचन हुआ है, वह दोनों प्रकार की नाटक-रचना प्रणालियों का सामान्य चित्र उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। शिलीमुख जी ने अनुकरण' को नाटक की मूल प्रवृत्ति बतलाकर कथोपकथन नृत्य और संगीत को नाटक के तीन मूल तत्त्व माने हैं और वे भी

---

१ पं रामकृष्ण शुक्ल : शिलीमुख, प्र संस्करण पृष्ठ ११।

२. वही, पृष्ठ ११।

३ पं रामकृष्ण शुक्ल : शिलीमुखी, 'प्रसाद की नाट्यकला' प्र संस्करण निवेदन।

भारतीय परम्परा के अनुसार वस्तु, नेता और रस को नाटक के तीन प्रधान अंग मानते हैं। उन्होंने वस्तु के प्रकार, अर्थ प्रकृतियाँ, पंचसंधियाँ, नाट्य-वस्तु के विविध प्रसंग आदि का भी सामान्य परिचय दिया है और पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में निरूपित कमिडी और ट्रैजिडी आदि का भी सामान्य विश्लेषण किया है। जिस समय उनकी 'प्रसाद की नाट्य-कला' नामक कृति का प्रकाशन हुआ इस प्रकार की समालोचनाएँ बहुत कम लिखी जाती थीं अतः इस दृष्टि से शिलीमुखजी की इस रचना का विशेष महत्त्व है। उन्होंने प्रसादजी की नाट्यकला का विश्लेषण तथा रचना-शैली का विकास विचारधारा रहस्यवाद वस्तु और घटना-संघठन अप्रस्तुत और विविध कथोपकथन चरित्र-चित्रण काव्य और अभिनय आदि दृष्टियों से किया है और अंत में 'अजात शत्रु' नाटक की समालोचना विशेष रूप से की है। इस विवेचन में भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों प्रकार की नाट्य-समीक्षा-पद्धतियों का प्रयोग किया गया है। प्रसाद जी की विचारधारा का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उनके दुखान्त का आधार निराशावाद माना है और उसके विभिन्न रूपों का भी विवेचन किया है[1]। इसी प्रकार शिलीमुख जी प्रसाद के आदर्शवाद का यथार्थ रूप पारमार्थिक आदर्शवाद मानते हैं। प्रसाद के नाटकों को 'प्रसादांत' कहने की परम्परा का प्रवर्तन उन्होंने ही किया है, जिसका उल्लेख आज भी हमारे सुधी समालोचक सम्मानपूर्वक करते हैं।

३ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

१०९. पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र के समालोचक-व्यक्तित्व का निर्माण द्विवेदी-युग और शुक्ल-युग के पूर्वाग्रही रंगीली सूत्रों के संयोजन से हुआ है। वे इन दोनों युगों के बीच की एक ऐसी विचारधारा लेकर चले हैं जो नवीन युग की अपेक्षा मध्यकालीन और स्वच्छन्दता की अपेक्षा शास्त्रीयता के अधिक निकट है। मिश्र जी के साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में लाला भगवानदीन जी की मान्यताओं का अधिक प्रभाव रहा और तदुपरान्त वे पं रामचन्द्र शुक्ल के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। अतः इन दोनों आचार्यों के कृतित्व और व्यक्तित्व का उनके मानसिक संस्थान पर स्थिरस्थायी प्रभाव पड़ा। उस प्रभाव से वे आज भी मुक्त नहीं हैं, जिसका एक सशक्त प्रमाण तो यही है कि उनकी समालोचनाओं में युग-परिस्थिति के अनुरूप विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है और वे छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के प्रति आज भी वे ही आस्थाएँ रखते हैं जो उनके प्रवर्तन-काल के समय उनके मानस में थीं।[2]

११ विश्वनाथप्रसाद जी की समालोचनाओं का अधिकांश क्षेत्र मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य का मूल्यांकन रहा है। भूषण, बिहारी, केशव, पद्माकर, रसखानि, भिखारीदास और घनानंद उनके प्रिय कवि हैं। इन कवियों के काव्य में जिस प्रकार का रचना-कौशल और भाव-सौन्दर्य प्रतिष्ठित है, उसी के अनुरूप उन्होंने अपने समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण किया है। मिश्र जी किसी भी कृति का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिये संस्कृत-साहित्य शास्त्र में निर्धारित प्रतिमानों को अधिक उपयुक्त समझते हैं और उन्हें पाश्चात्य पद्धति के कला-विवेचन तथा सौन्दर्य-विधान में किसी भी प्रकार का समीचीन विधान नहीं मिलता। अपनी समालोचना के मानदंड के आधार उन्होंने भाव, भाषा, अलंकार, छंद, रस, ध्वनि, गुण और दोष आदि ही रखे हैं। 'बिहारी की वाग्विभूति' नामक इनकी समालोचना-कृति ऐसे ही निर्धारित खंडों में अनुक्रमित होकर विवेचना का विषय बनी है। उसमें मिश्र जी ने बिहारी की संक्षिप्त जीवनी, तत्कालीन लोकरुचि शृंगार-

1. अविनाश उपाध्याय शुक्ल 'शिलीमुखी' पृष्ठ ९९।
2. पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', पृष्ठ ९२ तथा 'वाङ्मय-विमर्श', प्रथम संस्करण पृष्ठ १७५–१७८।

भावना मुक्तक रचना फारसी प्रभाव सतसई की परम्परा प्रबंध-विधान दोहे की समासपद्धति बिहारी की भावकारी अलंकार-योजना और अप्रस्तुत-विधान रूप-चित्रण और अनुभाव-विधान प्रेम का संयोग-पक्ष विप्रलंभ एवं विरहवर्णन भक्ति-भावना भाव-व्यंजना वाग्वैदग्ध्य और उक्ति वैचित्र्य भाषा दोष-दर्शन बिहारी का प्रभाव बिहारी-सम्बन्धी साहित्य तथा बिहारी का महत्त्व आदि विषयों पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों के आधार पर विवेचन किया है। उनकी इस प्रकार की समालोचनाओं से स्पष्ट है कि वे समालोचना में भी रचनात्मक साहित्य की भाँति स्पष्टता और सुबोधता चाहते हैं, अतः उन्होंने अपने दृष्टिकोण से जिस विषय को जिस विधान में ग्राह्य समझा है, उसका विश्लेषण उसी के अनुसार कर दिया है। इन्हें व्यर्थ के उद्धरणों में पड़ना समालोचना के क्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न करना लगता है। यही कारण है कि अपनी व्यंजना में स्पष्ट भावभूमि पर प्रतिष्ठित कवि ही इन्हें विशेष सुभा सके हैं। यह एक बड़े महत्त्व की बात है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल भी काव्यांतर में स्वाभाविक रहस्य-भावना को अत्यंत रमणीय और मधुर मानकर चलने लगे थे और उसकी वास्तविक अनुभूति केवल उच्च भक्तियों के कवियों के वश की ही बात समझते थे किन्तु मिश्र जी ने उसे शुक्ल जी के ज्ञात और अज्ञात का सहारा लेकर केवल दर्शन-शास्त्र के विषय तक ही सीमित रखा है।[1] वे आज भी अपनी मान्यताओं के प्रति दृढ़ हैं, जिसका प्रमुख कारण उनकी विशिष्ट मनोदशा ही है, अन्यथा ऐसी कोई बात नहीं कि युग-परिस्थिति के अनुरूप विभिन्न मोड़ लेने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सके।

१११ हिन्दी के रीतिकाल के विवेचन में मिश्र जी की समालोचनाओं की विशेष देन है। इसे उन्होंने युग की प्रधान भावना के अनुरूप 'शृंगारकाल'[2] की संज्ञा दी है। शुक्ल जी के सम्मुख भी इस काल को रस की दृष्टि से 'शृंगारकाल' कहने का आधार था और उन्होंने अपने इतिहास में इस ओर संकेत भी किया था[3] किन्तु उस काल की परम्परागत प्रणाली और विशेष प्रकार की शिल्प-विधियाँ उसे उन्हें 'रीतिकाल' कहना ही समुचित प्रतीत हुआ। मिश्र जी ने शुक्ल जी की मान्यताओं के निकट रह कर भी रीतिकाल को 'शृंगार-काल' की संज्ञा दी है और अपने पक्ष समर्थन में अनेक तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार उनका वीरगाथा-काल का विवेचन भी कई अंशों में शुक्ल जी के विचारों की ही उद्धरणी-मात्र है। आज इतिहास के शोधकर्ताओं द्वारा हिन्दी साहित्य के आदिकाल या वीरगाथाओं की परम्परा के पूर्व जिस सिद्ध-साहित्य जैन-साहित्य और अपभ्रंश-साहित्य के नवीन उपकरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका मिश्रजी ने कोई विशेष विवेचन नहीं किया है। उनका साहित्य के इतिहास के प्रति कई स्थलों पर ऐसा दृष्टिकोण बन गया है जिससे उसकी अनेक प्रवृत्तियों के समीकरण में अपूर्णताएँ भी रह गई हैं।

११२ मिश्र जी की समालोचनाओं पर लाला भगवानदीन की मान्यताओं और पद्धतियों का भी बहुत प्रभाव है। इन्होंने भी अपने गुरु की भाँति 'गीतावली' 'कवितावली' और 'सुदामा चरित' आदि काव्य-पुस्तकों की टीकाएँ लिखी हैं जिनका उपयोग छात्र-वर्ग के लिए विशेष रूप से है। इन टीकाओं के प्रारम्भ में मिश्र जी ने विवेच्य कवियों के सम्बन्ध में भूमिकाएँ भी लिखी हैं, जिससे उनके काव्य का सामान्य परिचय प्राप्त हो जाता है। मिश्र जी की समालोचनात्मक कृतियों में 'घनानन्द-कवित्त' 'पद्माकर-पंचामृत' 'घनानन्द और आनन्दघन' 'भिखारीदास-ग्रन्थावली' 'केशव ग्रन्थावली' 'भूषण-ग्रन्थावली' 'बिहारी-सतसई' और 'हमीर हठ' की भूमिकाएँ तथा उनका स्वतन्त्र विश्लेषण

---

१ पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : वाङ्मय विमर्श, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११०।
२ वही पृष्ठ १८५।
३ पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवाँ संस्करण पृष्ठ २३२।

महत्त्वपूर्ण प्रमाण कहे जा सकते हैं। इनमें भी समालोच्य-विषयक कार्य का विशेष महत्त्व है। 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' का सम्पादन करते हुए भी उन्होंने अनेक प्रकार की साहित्य-सामग्री का संकलन किया है जिसमें उनका शोध विषयक दृष्टिकोण झलकता है। हाँ कहीं-कहीं पर उनके शोध विषयक निकाले गये निष्कर्ष उनकी निजी मान्यताओं का पोषण विशेष रूप से करते हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने आधुनिक युग की विविध प्रवृत्तियों का अध्ययन कर उसे जो प्रेम-काल' की संज्ञा दी है और सभी प्रकार की रचनाओं को प्रेम-व्यंजना से संवलित सिद्ध किया है, वस्तुतः यह मिश्र जी का एक दृष्टि कोण-मात्र है, क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा तो ऐसा सामान्य नामकरण किसी भी काल का किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल जी ने इस काल में गद्य की प्रमुखता देखकर उसे 'गद्यकाल' कहा है [२] तथा अपने पक्ष-समर्थन में अनेक प्रमाण भी दिये हैं। इसी प्रकार मिश्र जी ने छायावाद को केवल पद्यभाग तक ही सीमित कर उसके क्षेत्र को सीमित बना दिया है। सच तो यह है कि छायावाद अपने युग की एक ऐसी प्रवृत्ति रही है जिसका प्रभाव पद्य-काव्य की भाँति साहित्य की अन्यान्य विधाओं पर भी कम नहीं रहा है। छायावादी कवियों और उनके समर्थक समालोचकों द्वारा भी इस विषय का यथेष्ट विवेचन किया जा चुका है, फिर भी मिश्र जी अपनी धारणाओं पर दृढ़ और विश्वस्त हैं और उन्हें उससे दूर ले जाना बड़ा कठिन है।

१११ पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने वाङ्मय-विमर्श में वाङ्मय शब्द का व्यवहार पुष्ट साहित्य के अर्थ में करते हुए उसके विमर्श के लिए काव्य शास्त्र साहित्य का इतिहास भाषा-विज्ञान तथा नागरी लिपि इन पाँच अंगों का विवेचन अत्यन्त सुबोध और स्पष्ट शैली में किया है। इस ग्रन्थ में मिश्रजी की विचारधाराओं और मान्यताओं का प्रांजल स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, क्योंकि उन्होंने इसका मूल प्रयत्न यही रखा है कि 'शास्त्र के आलोडन काव्य के अनुशीलन इतिहास के अवलोकन भाषा के विवेचन और लिपि के संवर्धन में अपने छात्रों को हिन्दी के परम्परागत स्वरूप का आभास मिल सके और भारतीय एवं अभारतीय प्रवृत्तियों की रूपरेखा उनके समक्ष खिंच सके।'[३] प्रवेश के अनन्तर काव्य के स्वरूप प्रयोजन भेद हेतु, व्यतिरेक सम्बन्ध और कर्ता के विवेचन में शास्त्रीय परम्परा का पालन है और उसके द्वारा मिश्र जी की काव्य के प्रति बनी हुई धारणाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार उन्होंने पद्य के विश्लेषण में पद्य की विशेषताएँ, पद्य-शैली की रचनाएँ, महाकाव्य एकार्थ-काव्य खंडकाव्य काव्य-निबन्ध मुक्तक, गीत और प्रगीत पर अपने विचार प्रकट किये हैं, तो गद्य शैली की रचनाओं के अन्तर्गत उपन्यास नाटक कहानी आदि के अवयवों का निरूपण है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि मिश्रजी वाङ्मय के इन अंगों का उदात्त स्वरूप भारतीय काव्य-शास्त्र में निरूपित लक्षणों और प्रयोगों का परिपालन करने में ही पाते हैं और हिन्दी में इधर जो नवीन प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियाँ आई हैं, उनके प्रति उनकी कोई सहानुभूति नहीं है। सच तो यह है कि मिश्र जी को प्राचीन भारतीय समीक्षा में ऐसे अनेक तत्त्व उपलब्ध हुए हैं जिनमें आधुनिक प्रवृत्तियों का समावेश कर वे आत्मतोष-सा प्राप्त कर लेते हैं। उन्होंने शास्त्र-पक्ष का विवेचन करते हुए अलंकार-व्यंजना रस और उससे सम्बन्धित काव्यानुभूति रसों के अवयव भेद तथा रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न आचार्यों के मत आदि का सारांश उपस्थित कर पिंगल में परिगणित होने वाले छंद गण शुभाशुभ-विचार, यति संख्या तुक और प्रस्तर आदि पर भी विचार किया है। समीक्षा का विकास समझाते हुए उन्होंने भारतीय समीक्षा के प्रधान मान दण्ड अलंकार, रस रीति वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायों का विवेचन किया है और तदनन्तर पाश्चात्य समीक्षा के स्वरूप तथा मानदण्ड पर भी अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। इस विश्लेषण में

१ पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र वाङ्मय विमर्श पृष्ठ १०।
२ पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास आधुनिक, नया संस्करण पृष्ठ १।
३ पं० विश्वनाथ मिश्र, वाङ्मय-विमर्श वक्तव्य पृष्ठ १।

काव्य-स्वरूप और समालोचना से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओं और मान्यताओं का भी सामान्य रेखाचित्र उपस्थित हो गया है। इस विवेचन में प्रसंग प्राप्त विधि में काव्य और कला काव्य और सौन्दर्य काव्य और अध्यात्म काव्य की अलौकिकता काव्य और व्यक्ति काव्य की अभिव्यंजना काव्य और रहस्यवाद, काव्य और लोकजीवन तथा काव्य के अन्यान्य विषयों पर मिश्रजी के विचारों का सारांश है जिनका अध्ययन करने पर इस विषय का पूर्ण प्रमाण मिल जाता है कि उनकी विचारधारा के निर्माण में पं रामचन्द्र शुक्ल के दृष्टिकोण का कितना अधिक हाथ रहा है और वे शुक्ल जी की मान्यताओं के कितने अधिक निकट हैं। वस्तुतः काव्य-शास्त्र का यह सैद्धान्तिक पक्ष हमें मिश्र जी के 'वाङ्मय विमर्श' के समर्पण की उन पंक्तियों का स्मरण दिला देता है, जो उन्होंने स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को समर्पित करते हुए लिखी थी कि 'तेरा तुझ को सौंपते क्या जाये है मोर । आगे चलकर मिश्र जी ने साहित्य का इतिहास भाषा-विज्ञान और नागरी लिपि के सम्बन्ध में जो विमर्श किया है वह विवेचन शैली की दृष्टि से भले ही मौलिक कहा जा सके किन्तु उसमें सामान्यतः वे ही प्रसिद्ध बातें हैं जिनका उल्लेख समालोचना के साधारण स्वरूप-विश्लेषण में किया जाता है। अभिप्राय यह है कि मिश्र जी का 'वाङ्मय विमर्श' इस दृष्टि से तो अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि उसमें एक ही स्थान पर वाङ्मय के विभिन्न अंगों के विषय में सुलझे हुए विचार मिल जाते हैं किन्तु उनके द्वारा समालोचना को विकास की कोई नवीन दिशा मिली है ऐसा सहसा नहीं कहा जा सकता।

११४ मिश्र जी द्वारा लिखित 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' उनके समय-समय पर लिखे गये सामयिक साहित्य से सम्बन्धित लेखों का संकलन है जिसमें वर्तमान साहित्य के सामान्य स्वरूप का सिंहावलोकन करने की चेष्टा की गई है। चूंकि इसमें भिन्न-भिन्न समय के लेख हैं अतः कई स्थानों पर पुनरुक्ति भी होती गई है। उन्होंने अपने लेखों के प्रस्तुत संकलन के 'निवेदन' में उन लेखकों पर व्यंग्य भी किया है जिनके दूध के दांत नहीं गिरे किन्तु उनके संग्रह-संकलन धड़ल्ले से निकल रहे हैं और उनके भी ग्राहक-पाठक हैं। ऐसी स्थिति में मिश्र जी ने अपने मित्रों के आग्रह पर प्रस्तुत संकलन का प्रकाशन करना समुचित समझा है। इस संकलन के विवेच्य विषय साहित्य और लोकजीवन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी बाबू श्यामसुन्दर दास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हरिऔध जी की लोकदृष्टि, गुप्तजी की साहित्य-साधना वर्तमान काव्य-धारा महादेवी जी का रहस्य काव्य जयशंकर प्रसाद प्रगतिवाद कथा-कहानी स्केच या रेखाभाव निबन्ध पुस्तकालोचन और निबन्ध कविता आदि है। परिशिष्ट के अन्तर्गत काव्य-पुरुष व नाटक वक्रोक्ति और अभिव्यंजना हिन्दी भाषा लिपि क्रम तथा साहित्य में व्यष्टि और समष्टि का विचार किया गया है। लेखों का आकार-प्रकार अत्यन्त सीमित और व्यवस्थित है जिसमें मिश्र जी ने अपनी सुलझी हुई दृष्टि से साहित्य-जिज्ञासुओं के लिए मनन करने योग्य सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इन निबन्धों द्वारा भले ही नवीन उद्भावनाओं को मूर्त स्वरूप न मिला हो किन्तु समालोचनाओं में जिस प्रकार का स्पष्ट प्रतिमान होना चाहिए वह भली भाँति अभिव्यक्त है। निस्सन्देह मिश्र जी का शुक्ल-युग के समालोचक के रूप में प्रमुख व्यक्तित्व है। वे केवल समालोचक ही नहीं अपितु अपने विषय के अत्यन्त कुशल अध्यापक भी हैं। अपने शालीन और मधुर व्यक्तित्व द्वारा वे अनेक उदीयमान लेखकों को निरन्तर प्रोत्साहन देते रहते हैं। उनकी मान्यताओं पर शुक्ल जी की विचारधारा का पूर्ण प्रभाव है और वे उनकी निष्पत्तियों का आप्तवचन की भाँति सम्मान करते हैं। उनके द्वारा मध्यकालीन कवियों के साहित्य का पाठालोचन तथा समीक्षण अत्यन्त भव्य स्वरूप में हुआ है। एक वाक्य में उन्हें शुक्ल जी का वास्तविक उत्तराधिकारी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा क्योंकि इस कथन में उनके व्यक्तित्व का मूलभूत तत्त्व प्रकट हो जाता है।

४ श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

११५ सुधांशु जी आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-काल के ऐसे सैद्धान्तिक समालोचक हैं जिनकी विचारधारा पर भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का संतुलित प्रभाव पड़ा है। उनकी समीक्षा-जगत् में प्रतिष्ठा का प्रारम्भिक कारण उनकी 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक कृति है जिसमें उन्होंने इटली के क्रोचे के सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कर उनका भारतीय सिद्धान्तों के साथ विनियोग प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यद्यपि इसकी प्रस्तुत पुस्तक में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का सर्वांगीण विवेचन नहीं हो सका है, फिर भी सहजानुभूति तथा रसानुभूति के तत्त्व और अभिव्यंजना एवं कला-विषयक निरूपण में क्रोचे की प्रमुख मान्यताओं का उद्घाटन अवश्य हो गया है। ऐसा लगता है कि सुधांशु जी को क्रोचे के सौन्दर्य-शास्त्र तथा अभिव्यंजनावाद में जो विश्लेषण भारतीयता के निकट प्रतीत हुआ उसका तो उन्होंने विस्तृत विवेचन कर दिया और शेष पर केवल सामान्य सम्मतियाँ देकर ही उसे समाप्त कर दिया। काव्य में अभिव्यंजनावाद का स्वरूप निर्धारित करने के पूर्व सुधांशु जी ने संस्कृत के साहित्य-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि उसके कौन-कौन से सैद्धान्तिक पक्ष हैं और उनसे आधुनिक काल के अभिव्यंजनावाद का भिन्न-भिन्न अर्थों में साम्य तथा वैषम्य है। वे भी आचार्य शुक्ल की भाँति अभिव्यंजनावाद को पश्चिमी साहित्य की उपज कह कर उसका भारतीय साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के साथ पूरा-पूरा मेल नहीं पाते और यदि उन्हें भारतीय ध्वनि तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त में अभिव्यंजनावाद का कुछ साम्य दृष्टिगोचर भी हुआ है तो उसे उन्होंने स्वतन्त्र रूप में ही विवेचित किया है।[1] वास्तव में सुधांशु जी यूरोपीय अभिव्यंजनावाद में भारतीय अलंकार-शास्त्र तथा रस-सिद्धान्त के समकक्ष गुरुता और व्यापकता नहीं पाते अतः उन्होंने उसका विवेचन अधिकांशतः वहीं तक सीमित रखा है जहाँ तक उसने हिन्दी काव्य-जगत् को प्रभावित किया है। उनका 'सहजानुभूति का तत्त्व' विषयक विवेचन काव्य का स्वरूप निर्दिष्ट करने के साथ-साथ इस विषय का भी स्पष्टीकरण करता है कि काव्य में सहजानुभूति का क्या महत्त्व है और इस सम्बन्ध में क्रोचे के अतिरिक्त लॉक अरिस्टॉटल बर्कले ह्यूम तथा डेकार्ट आदि पाश्चात्य विचारकों के क्या अभिमत हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने भारतीय दृष्टि का विश्लेषण कर सहजानुभूति से सम्बन्धित कला के बोध-पक्ष तथा कल्पना-पक्ष का सामान्य आभास देकर भारतीय काव्य-रचनाओं के उदाहरणों द्वारा उनकी उपयोगिता स्पष्ट की है और क्रोचे ने वस्तु, आकृति तथा अभिव्यंजना में जो अन्तःसूत्र विवेचित किया है उसका भी स्पष्टीकरण किया है। सुधांशु जी का यह विवेचन काव्य-सृजन में स्वप्न विधान अनुभूतिवाद, अध्यात्मवाद इन्द्रियबोध संवेदन प्रभाव और यथार्थ आदि का सामान्य परिचय प्रस्तुत करने वाला है जिसके द्वारा वे मत में सहजानुभूति और अभिव्यंजना में एकात्मकता सिद्ध करने में सफल हुए हैं।

११६ सुधांशु जी का अभिव्यंजना और कला-विषयक निरूपण अधिकांशतः क्रोचे के अनुरूप है। वे अभिव्यक्ति और मानव-प्रकृति का अटूट सम्बन्ध मानते हैं क्योंकि सृष्टि का सारा प्रसार मुख्यतया इन्हीं से सम्बन्धित होकर चला है। उन्होंने प्राकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अन्तर स्पष्ट कर अरस्तू के अनुकरणवाद, हीगेल के कलावाद रिचर्ड्स के मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद तथा विश्वकवि रवीन्द्रनाथ तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के एतद्विषयक विचारों का सामान्य विश्लेषण कर अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद का अंतर स्पष्टतया स्पष्ट किया है। उनका यह समस्त विवेचन पठनीय है, क्योंकि इसके द्वारा अभिव्यंजना और कला से सम्बद्ध अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का निवारण हो जाता है। अपने रसानुभूति के तत्त्व-विषयक विवेचन में

१ लक्ष्मीनारायण सुधांशु 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', द्वि० संस्करण, पृष्ठ २

सुधांशु जी ने सौन्दर्य और आनन्द, सौन्दर्य में निरपेक्ष काव्यानुभूति और साधारणीकरण, काव्यानुभूति और रसानुभूति, काव्य में जातीयता, संस्कार और रसानुभूति, रसानुभूति के योग्य कथानक, प्रकृति-वैचित्र्य और आलम्बनत्व धर्म का काव्यगत पात्र के साथ तादात्म्य, तादात्म्य और शील-दर्शन, तात्कालिक रसानुभूति और अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य, प्रतिभाजन्य सौन्दर्य और रसानुभूति, वैचित्र्य का साक्षात्कार, आश्चर्यपूर्ण प्रस्तावन तथा प्रत्यवसान, रसानुभूति के स्वरूप आदि विभिन्न पक्षों का पाश्चात्य तथा भारतीय विचारकों के उद्धरणों द्वारा उद्घाटन कर इस विषय का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है कि रस का मूल प्रयोजन क्या है और उसके नवीन ढंग से विवेचन की कैसी आवश्यकता है। इसी प्रकार उन्होंने अलंकार और प्रभाव का निरूपण, अलंकार का उद्भव और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उसका प्रवेश बतलाकर क्रोचे के उस मत का स्पष्टीकरण किया है जिसके अनुसार वह अलंकार और अलंकार्य में कोई भेद नहीं मानता।[1] वे क्रोचे के इस प्रकार के विवेचन से सहमत नहीं हैं, क्योंकि भारतीय दृष्टि से अलंकार वाणी के केवल उत्कर्ष-विधायक और शोभाकारक बाह्य धर्म ही सिद्ध होते हैं। उन्होंने सूर, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त, निराला और पंत के काव्यांशों के उद्धरण देकर अलंकारों की उपयोगिता और उनका प्रभाव विवेचित किया है और कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये हैं जिनसे अलंकारों की प्रभाव-हीनता भी सिद्ध होती है। उनका अन्योक्ति, रूपक और उपमा अलंकार-विषयक निरूपण विशेष महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि सुधांशु जी अलंकार को रस के सहायक-मात्र मानते हैं और यदि किसी अलंकार से रसानुभूति में बाधा पहुँचती है तो उसे अलंकार की संज्ञा देना व्यर्थ समझते हैं।[2] उन्होंने आधुनिक काव्य में प्रचलित प्रतीक-योजना और उपमानों के भेदोपभेद तथा उनकी विशेषताएँ निरूपित कर बतलाया है कि उनके द्वारा काव्य में किस प्रकार लाक्षणिकता और प्रभावान्विति की वृद्धि हुई है। वस्तुतः वे काव्य में नवीन प्रतीकों और उपमानों की अत्यन्त आवश्यकता समझते हैं जिससे उसकी रसाभिव्यंजना में और अधिक सौष्ठव का संचार हो सके।[3] इस दृष्टि से उन्हें पंत और प्रसाद का काव्य अत्यन्त भव्य और प्रभावपूर्ण प्रतीत हुआ है। आधुनिक काव्य में लाक्षणिक प्रयोगों को महत्त्व प्रदान करते हुए जिस प्रकार की मूर्तिमत्ता का चित्रण किया जाता है, उसे सुधांशु जी लाक्षणिक विकास का प्रशस्त स्वरूप मानते हैं और उस पर विदेशी साहित्य की प्रवृत्तियों का भी आधार स्वीकार करते हैं। सच तो यह है कि उन्हें काव्य में प्रयुक्त मूर्त का अमूर्त विधान और अमूर्त का मूर्त विधान लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से उचित लगा है किन्तु वे भी आचार्य शुक्ल जी की भाँति उसकी अतिरेकता में विश्वास नहीं करते। आजकल विदेशी साहित्य के अनुकरण पर हमारे काव्य में जिस प्रकार की अभिव्यंजना-विषयक प्रवृत्तियों की वृद्धि हो रही है, उसका विश्लेषण सुधांशु जी ने अनेक काव्यांशों के उदाहरण देकर किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुधांशु जी का यह समस्त विवेचन क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के ही अनुगमन पर न होकर भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति के अनुरूप ही हुआ है और इसके द्वारा वे हिन्दी-काव्य की लाक्षणिक विशेषताओं का अधिकाधिक विश्लेषण कर सके हैं। अपने प्रायः डेढ़ सौ पृष्ठ के विवेचन में सुधांशु जी ने काव्य में अभिव्यंजनावाद से सम्बन्धित जो विचार-सामग्री प्रदान की है, वह अत्यन्त गम्भीर है और सन् १९३६ के आसपास इस प्रकार के विश्लेषण में तो इसका प्रमुख महत्त्व रहा है। उनकी इस कृति का आज भी कम उपयोग नहीं है, क्योंकि इसमें पूर्वाग्रह-रहित बुद्धि से विवेचन को अधिकाधिक सन्तुलित बनाने की चेष्टा लेखक का प्रधान उद्देश्य रहा है।

११७ सुधांशु जी ने "जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त" नामक समीक्षा-ग्रन्थ की

---

१ लक्ष्मीनारायण सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद : तृतीय संस्करण, सन् १९५९, पृ० ७६-७८।
२. वही, पृष्ठ १११।
३. वही, पृष्ठ १२१।

रचना "हिन्दी में जीवन की प्रतिष्ठा पर काव्य के विश्लेषक समीक्षा ग्रन्थों का अपेक्षाकृत अभाव देखकर उसकी पूर्ति की भावना से की।" इस पुस्तक में उन्होंने काव्य या साहित्य के मूल सिद्धान्तों का विवेचन मानव-जीवन के शाश्वत तत्त्वों के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ते हुए किया है। ऐसा करने में उन्हें साहित्य-शास्त्र मनोविज्ञान शरीर विज्ञान तथा भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों से भी सहायता मिली है। इस पुस्तक में दस अध्याय हैं जिनमें क्रमशः नौ अध्यायों में भाव-विन्यास और जीवन जीवन का वातावरण और प्रकृति आत्मभाव और काव्य-विधान मन का योग और रस काव्य का मर्म-बोध काव्य की प्रेरणा-शक्ति लय और छन्द ग्राम-गीतों का मर्म तथा कला गीत की प्रवृत्तियों का सैद्धान्तिक विवेचन है और अन्तिम अध्याय में मन्वन्तर दर्शन शीर्षक से हिन्दी के नौ आधुनिक कवि सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त माखनलाल चतुर्वेदी जयशंकरप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' सुमित्रानन्दन पन्त रामधारीसिंह 'दिनकर' महादेवी वर्मा और हरिवंशराय 'बच्चन' की प्रवृत्तिमूलक मान्यताओं का विवेचन हुआ है। इन विषयों पर इस प्रकार की लघु किन्तु तथ्यपूर्ण समीक्षाएँ उस समय बहुत कम लिखी जाती थीं। शुक्ल-युग के समालोचकों में सुधांशु जी को इसी दृष्टि से विशेष महत्त्व दिया जाता है। उनकी विचारधारा और विवेचन-पद्धति पर शुक्ल जी का पर्याप्त प्रभाव है और वे अधिकांशतः उन्हीं की मान्यताओं को लेकर चले हैं किन्तु कला और अभिव्यंजना के विषय में उनकी कुछ अपनी विचारणाएं भी हैं, जिन्हें देकर उन्होंने अत्यन्त नम्र शब्दों में आचार्य के दृष्टिकोण के प्रति ईषत् विरोध भी प्रकट किया है।

११८. सुधांशु जी का भाव-विन्यास और जीवन-विषयक विवेचन भारतीय दर्शन और पश्चिमी मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रतिफल है। वे भी अन्य आचार्यों की भाँति सुख और दुख को जीवन के मूल भाव मानते हैं "जिनसे उद्भूत राग तथा द्वेष आश्रय और आलम्बन के विचार से मनोविकारों के कई रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं।"[1] वस्तुतः उनके मतानुसार ये ही साहित्य-शास्त्र में प्रतिपादित रस-निष्पत्ति के मूल तत्त्व हैं जो जीवन की क्रियाशील प्रवृत्ति में अन्यान्य भावों का समवाय लेकर चलते रहते हैं। उन्होंने भावों और क्रियाओं के विधान में भारतीय तथा पश्चिमी दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि भारत जहाँ भावों की प्रेरक स्थिति को महत्त्व देता है वहाँ पश्चिमी मत उसके परिणाम का प्राधान्य स्वीकार करता है।[2] सुधांशु जी का यह कथन उचित है क्योंकि दोनों दृष्टियों में आदर्श और यथार्थ तथा आध्यात्मिक और भौतिक भावों में जो अन्तर मिलता है वह इसी दृष्टि-भेद का परिणाम है। वास्तव में देखा जाय तो काव्यकार के जीवन-दर्शन के निर्माण में उसके आन्तरिक संस्कारों और बाह्य परिस्थितियों का कम प्रभाव नहीं होता जिसके कारण उसकी काव्य प्रकृति बनती है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसी दृष्टि से काव्य को जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना माना है। सुधांशु जी ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है किन्तु वे उसके साथ साथ यह भी मानते हैं कि "काव्य में प्राकृत जीवन की सत्ता एक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है और जिस जीवन में प्रभाव की जितनी क्षमता रहती है काव्य में उसे वैसा ही स्थान प्राप्त होता है।"[3] उन्होंने उन कारणों का भी विवेचन किया है जिनसे काव्यकार का जीवन प्रभावित होता चलता है और वह वर्तमान तथा अतीत के बीच एक अटूट शृंखला का संयोजन करने में सफल होता है। इस विवेचन में वे काव्य में नैतिकता का पक्ष भी स्वीकार करते हैं, किन्तु केवल उसी के कारण उसे महान् नहीं मानते क्योंकि उसमें जीवन की क्रियाओं का ही मूल रूप में

---

१. लक्ष्मीनारायण सुधांशु : जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण सन् १६५ पृष्ठ ५।
२. वही, पृष्ठ ११।
३. वही पृष्ठ १०।

प्रवर्तन-सूत्रों का पर्याप्त अंश उनकी इस पुस्तक में मिलता है। उनकी भाषा-शैली पर भी पश्चिमी विचारकों और विश्व-कवि रवीन्द्र का प्रभाव अनुलक्षित है। काव्य नाटक, कथा-साहित्य और निबन्ध-समालोचनाओं के विश्लेषण में उन्होंने अपनी 'मधुपवृत्ति' का ही सामान्यतः परिचय दिया है, जिससे उनकी बहु प्रवीत प्रवृत्ति का जितना परिचय मिलता है, उतना स्वतन्त्र चिन्तन का नहीं। अनेक स्थलों पर तो वे अपने प्रकृत विषय विवेचन का सम्यक निर्वाह भी नहीं कर सके हैं।

१२५. बख्शीजी ने कई वर्षों तक 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन भी किया है अतः उनके सम्पादक-व्यक्तित्व के आगे उनका समालोचक-व्यक्तित्व दब भी गया है। सम्पादन-कार्य से उन्हें यह लाभ अवश्य हुआ कि वे सम-सामयिक परिस्थितियों से बराबर परिचित रहे और उन्हें साहित्य-क्षेत्र में समीक्षित करने की ओर भी ध्यान दे सके। यद्यपि उनका मानस में भारत के स्वर्णिम अतीत के प्रति विशेष मोह रहा है फिर भी वे पाश्चात्य साहित्य की गरिमा को भी बराबर स्वीकार करते हुए चले हैं। अपने दृष्टिकोण की उदारतावश ही उन्होंने उस युग की मान्यताओं से आगे बढ़कर छायावादी कवियों की यथोचित अभ्यर्थना की है। सन् १९३ के आसपास उन्होंने सरस्वती पत्रिका के जो सम्पादकीय लेख लिखे हैं उनमें अभिव्यक्त विचारधारा से वे आज भी अधिक विकासोन्मुख नहीं है। 'विश्व-साहित्य' के अतिरिक्त 'प्रबन्ध-पारिजात' 'साहित्यशिक्षा', 'हिन्दी कथा-साहित्य' 'पंचपात्र' 'कुछ' प्रदीप और 'कुछ' आदि उनके साहित्यिक निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनसे उनकी समालोचना-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। बख्शीजी की समीक्षा-साहित्य को कोई विशेष मौलिक देन नहीं है किन्तु द्विवेदी-युग के अवसान और शुक्ल-युग के प्रारम्भ में जो समालोचक अपना स्थान बना रहे थे उनकी समता में इनका भी महत्त्व है, अतः शुक्ल-युग के समालोचकों की नाम-गणना से उन्हें पृथक् नहीं समझा जा सकता।

६ डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

१२६ डा बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य की निर्गुण भक्ति-धारा' पर अपना गवेषणात्मक प्रबन्ध अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत कर हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से डी लिट् की उपाधि सन् १९३३ में प्राप्त की। उसके पश्चात् भी उन्होंने अनेक आलोचनात्मक और शोधपूर्ण निबन्ध लिखे जो उनके पुराने कागज-पत्रों के बीच अस्त-व्यस्त रूप में पड़े हुए थे। डा भगीरथ मिश्र ने उस बिखरी हुई सामग्री का संग्रह 'मकरन्द' नामक निबन्ध-संकलन में किया है, जिसमें छोटे-बड़े सब मिलाकर तेईस लेख हैं। संग्रह के सम्पादक ने अपने वक्तव्य में संकलित लेखों के विषय में सामान्य परिचय दिया है और स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि इन लेखों को किसी विशेष तारतम्य से न सजाकर उपलब्ध सामग्री के क्रम से प्रकाशित किया गया है। सभी लेखों के शीर्षक डा बड़थ्वाल के ही दिए गये हैं केवल पुस्तक के अन्तिम लेख को सम्पादक महोदय ने विषय सामग्री के अनुरूप 'हिन्दी काव्य की निरंजन-धारा' से अभिहित किया है।

१२७ मकरन्द में संकलित निबन्धों की सामग्री प्रकीर्णक समालोचना के रूप में श्रेणी बद्ध की जा सकती है। भावपक्ष में योग ग्रन्थों का सहज ज्ञान उत्तराखण्ड के मन्दिरों में गोरखनाथ चौरंगीनाथ तथा हिन्दी काव्य की निरंजन धारा शीर्षक निबन्धों में डा बड़थ्वाल की साहित्यिक गवेषणा और शोधपूर्ण चेतना प्रदर्शित है। वस्तुतः स्वर्गीय डा साहब का मापदण्ड और सत्यमार्ग का विशेष अध्ययन था। यही कारण है कि इन विषयों पर वे जो कुछ सामग्री प्रदान कर सके हैं, उसका आज भी अनुसन्धानगत महत्त्व बना हुआ है।

१२८. 'गांधी और कबीर' शीर्षक निबन्ध में डाक्टर बड़थ्वाल ने तुलनात्मक समालोचना का एक आदर्श प्रस्तुत किया है। 'भूल गोसाईं चरित और रामचरित मानस' नामक निबन्ध में समालोचना की खंडन-मंडन प्रवृत्ति का आधिक्य है। 'आचार्य कवि कपवराव' 'भूषण का सबसी

व्यापार है जिसके द्वारा हम भिन्न-भिन्न भावों को विकसित करने में समर्थ होते हैं।[1] महाकाव्यों की महत्ता उन्होंने इसीलिए मानी है कि उनके द्वारा हम जीवन की विविधताएँ ग्रहण करते हैं जिनके द्वारा हमें विश्व-जीवन को आत्मसात् करने की प्रेरणा मिलती है। उनके मत से सच्चा कवि आनन्द और विषाद को अलग-अलग मानसिक वृत्तियों के रूप में चित्रण करने की अपेक्षा दोनों में एक जैसा अनुभूत रागात्मिक मिश्रण लाने की चेष्टा करता है, जिससे पाठक का मन उनमें अन्तर्लीन होकर तादात्म्य का अनुभव करने लगता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुधांशु जी की इस प्रकार की काव्य रस-ग्रहण-विषयक मान्यता आचार्य शुक्ल जी की भावभूमि के अत्यन्त निकट है।

१२१ सुधांशु जी अपने सैद्धान्तिक विवेचनमें अत्यन्त स्पष्ट हैं। वे गम्भीर से गम्भीर विषय का विश्लेषण दृष्टान्तों की योजना करते हुए सहज भाव से कर देते हैं। काव्य के मर्मबोध के सम्बन्ध में उन्होंने बुद्धितत्त्व की अपेक्षा हृदय तत्त्व को महत्त्व दिया है क्योंकि अनेक रचनाओं का भले ही हमें पूर्ण-मर्मबोध न हो किन्तु वे हमारे हृदय के साथ आत्मसात् करती हुई सी प्रतीत होती हैं। सुधांशु जी ने 'किसी रचना का प्रिय लगना ही जीवन के साथ उसके हार्दिक सम्बन्ध का द्योतक' बतलाया है और इस कथन की पुष्टि करते हुए यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जो वस्तुतः हृदय के भाव हैं वे किसी-न-किसी रूप में हृदय में स्थान पाने का प्रयत्न अवश्य करते हैं।[2] वे काव्य के आनन्द का सम्बन्ध हमारे जीवन की अन्तर्वृत्ति के साथ जोड़कर तर्कवादपूर्ण मर्मबोध को उसका कोई प्रधान पक्ष नहीं मानते क्योंकि उसके द्वारा हमारा मन केवल वैचित्र्य भाव से ग्रस्त होकर केवल हेत्वाभास ही कर सकता है सच्ची रस प्रतीति नहीं। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि संस्कार या विचार-पद्धति के अनुकूल ही काव्य का बोध होता है अतः सुधांशु जी के मत से 'नवीन और तीव्र अनुभूतिपूर्ण काव्य के मर्म को समझने के लिए केवल विद्वत्ता या उच्च शिक्षा की अपेक्षा नहीं रहती अभिव्यक्ति करने वाले हृदय के साथ जिसकी पूर्ण सहानुभूति रहेगी वही उस कविता के मर्म को अच्छी तरह समझ सकता है।"[3]

१२२ काव्य की प्रेरणा-शक्ति प्रायः सभी देशों के साहित्य में समीक्षकों के विचार का विषय रही है, जिस पर उन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने अभिमत प्रकट किये हैं। सुधांशु जी ने जीवन और उसके रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए आत्म-विस्तार को ही जीवन का लक्ष्य बतलाया है जो पुरुषार्थ-अभ्युदय के रूप से विषयानंद से ब्रह्मानन्द की उपलब्धि के लिए अग्रसर होने का प्रयत्न करता है। साधारण दृष्टि से प्रत्येक का कार्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही होता है किन्तु यही उसका एकमात्र लक्ष्य नहीं है। वास्तव में व्यक्ति की आत्म प्रसार की भावना में विश्व-बन्धुत्व अथवा चराचर-एकत्व का दृष्टिकोण भी रहता है अतः सुधांशु जी ने काव्य दृष्टि तथा साधारणीकरण का काव्य गत तात्पर्य यही बतलाया है कि व्यक्ति उसके द्वारा अपने आत्म-विस्तार को मानवता की एक सामान्य कोटि में सन्निहित करने की चेष्टा करे और वह अनेकत्व में एकत्व दर्शन के लिए अग्रसर हो।[4] वस्तुतः सुधांशु जी के मतानुसार काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा स्रष्टा के अन्तस्तल में निहित आत्म-विस्तार की भावना ही है। उन्होंने अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का विवेचन कर भावों की विभिन्न कोटियाँ निर्धारित की हैं और बतलाया है कि प्रथम जीवन और काव्य में भावों की

---

१ लक्ष्मीनारायण सुधांशु जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त द्वितीय संस्करण १९५ पृष्ठ ७१।

२ वही पृष्ठ ७४।

३ वही, पृष्ठ ७९।

४. वही, पृष्ठ ५९।

प्रवर्त्तन-सूत्रों का पर्याप्त अंश उनकी इस पुस्तक में मिलता है। उनकी भाषा-शैली पर भी पश्चिमी विचारकों और विश्व-कवि रवीन्द्र का प्रभाव अनुलक्षित है। काव्य नाटक कथा-साहित्य और निबन्ध-समालोचनाओं के विश्लेषण में उन्होंने अपनी मधुपवृत्ति' का ही सामान्यतः परिचय दिया है, जिससे उनकी बहु-पठीत प्रवृत्ति का जितना परिचय मिलता है उतना स्वतन्त्र चिन्तन का नहीं। अनेक स्थलों पर तो वे अपने प्रकृत विषय विवेचन का सम्यक् निर्वाह भी नहीं कर सके हैं।

१२५. बख्शीजी ने कई वर्षों तक सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन भी किया है अतः उनके सम्पादक-व्यक्तित्व के आगे उनका समालोचक-व्यक्तित्व दब भी गया है। सम्पादन-कार्य से उन्हें यह लाभ अवश्य हुआ कि वे सम-सामयिक परिस्थितियों से बराबर परिचित रहे और उन्हें साहित्य-क्षेत्र में समीक्षित करने की ओर भी ध्यान दे सके। यद्यपि उनके मानस में भारत के स्वर्णिम अतीत के प्रति विशेष मोह रहा है फिर भी वे पाश्चात्य साहित्य की गरिमा को भी बराबर स्वीकार करते हुए चले हैं। अपने दृष्टिकोण की उदारतावश ही उन्होंने उस युग की मान्यताओं से आगे बढ़कर छायावादी कवियों की यथोचित अभ्यर्थना की है। सन् १९१ के आसपास उन्होंने सरस्वती पत्रिका के जो सम्पादकीय लेख लिखे हैं उनमें अभिव्यक्त विचारधारा से वे आज भी अधिक विकासोन्मुख नहीं है। 'विश्व-साहित्य' के अतिरिक्त प्रबन्ध-पारिजात' 'साहित्यशिक्षा' 'हिन्दी कथा-साहित्य' 'पंचपात्र' कुछ' प्रदीप 'और कुछ' आदि उनके साहित्यिक निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनसे उनकी समालोचना-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। बख्शीजी की समीक्षा-साहित्य को कोई विशेष मौलिक देन नहीं है किन्तु द्विवेदी-युग के अवसान और शुक्ल-युग के प्रारम्भ में जो समालोचक अपना स्थान बना रहे थे उनकी समता में इनका भी महत्त्व है अतः शुक्ल-युग के समालोचकों की नाम-गणना से उन्हें पृथक् नहीं समझा जा सकता।

६ डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

१२६ डा बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य की निर्गुण भक्ति-धारा' पर अपना गवेषणात्मक प्रबन्ध अंग्रेजी भाषा म प्रस्तुत कर हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से डी लिट् की उपाधि सन् १९३३ में प्राप्त की। उसके पश्चात् भी उन्होंने अनेक आलोचनात्मक और शोधपूर्ण निबन्ध लिखे जो उनके पुराने कागज-पत्रों के बीच अस्त-व्यस्त रूप में पड़े हुए थे। डा० भगीरथ मिश्र ने उस बिखरी हुई सामग्री का संग्रह 'मकरन्द' नामक निबन्ध-संकलन में किया है जिसमें छोटे-बड़े सब मिलाकर तईस लेख हैं। संग्रह के सम्पादक ने अपने वक्तव्य में संकलित लेखों के विषय में सामान्य परिचय दिया है और स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि इन लेखों को किसी विशेष तारतम्य से न सजाकर उपलब्ध सामग्री के क्रम से प्रकाशित किया गया है। सभी लेखों के शीर्षक डा बड़थ्वाल के ही दिए गये हैं केवल पुस्तक के अन्तिम लेख को सम्पादक महोदय ने विषय-सामग्री के अनुरूप हिन्दी काव्य की निरंजन-धारा' से अभिहित किया है।

१२७ मकरन्द में संकलित निबन्धों की सामग्री प्रकीर्णक समालोचना के रूप में अंगीकार की जा सकती है। नाथपंथ में योग सन्तों का सहज ज्ञान उत्तराखण्ड के सन्तों म गोरखनाथ चौरंगीनाथ तथा हिन्दी काव्य की निरंजन धारा शीर्षक निबन्धों में डा बड़थ्वाल की साहित्यिक गवेषणा और शोधपूर्ण चेतना प्रदर्शित है। वस्तुतः स्वर्गीय डा साहब का नाथपंथ और सन्तमार्ग का विशेष अध्ययन था। यही कारण है कि इन विषयों पर वे जो कुछ सामग्री प्रदान कर सके हैं, उसका आज भी अनुसन्धानपरक महत्त्व बना हुआ है।

१२८. 'गांधी और कबीर' शीर्षक निबन्ध में डाक्टर बड़थ्वाल ने तुलनात्मक समालोचना का एक आदर्श प्रस्तुत किया है। 'मूल गोसाईं चरित और रामनरेश त्रिपाठी' नामक निबन्ध में समालोचना की खंडन-मंडन प्रवृत्ति का आधिक्य है। आचार्य कवि कृपाराम' 'भूषण का असली

नाम' तथा 'भूषण की शृंगारी कविता' में रीतिकालीन सामान्य प्रवृत्तियों के विमर्दन के पश्चात् उक्त कवियों की विशेषताओं का उल्लेख है। बड़थ्वालजी ने भूषण की शृंगारी कविता की विवेचना करते हुए अपनी नवीन खोज के द्वारा इस मान्यता का संस्थापन किया है कि जो लोग भूषण को केवल वीर-रस का ही कवि समझते हैं, वे भ्रान्ति में हैं क्योंकि रीतिकालीन शृंगारी प्रवृत्तियों से वे भी अनाक्रान्त नहीं रह सके थे और उनके फुटकल छन्दों में तत्कालीन युग चेतना की झलक शृंगारी छन्दों में झलक ही गई थी। 'वीरता की भाषा' 'ब्रजभाषा और रसकलस' 'न' का हिन्दी उच्चारण बड़वाली भाषा के परवाणा' और 'मेल्णो की जीवन कथा' शीर्षक निबन्धों को साहित्यिक समालोचना की अपेक्षा भाषा-वैज्ञानिक प्रक्रिया के अधिक निकट रखा जा सकता है। स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल' निबन्धकार द्विवेदी' डाक्टर हीरालाल 'बाबू श्यामसुन्दरदास की हिन्दी-सेवा' और 'तारा पाण्डेय शीर्षक निबन्ध परिचयात्मक समालोचना के नमूने हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को एक नवीन रस के उद्भावक कह कर उन्हें देशभक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत सिद्ध किया गया है। 'हमारी कला और शिक्षा' उनका १९४ ई० की कोटद्वार ग्रामसुधार प्रदर्शिनी के अवसर पर शिक्षा-विभाग की प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय दिया गया लिखित भाषण है जिसमें डा० बड़थ्वाल ने सभ्यता और संस्कृति के तारतम्य को लेकर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। अभिप्राय यह है कि मकरन्द' के संकलित निबन्धों में यद्यपि हमें डा० बड़थ्वाल का साहित्य-समीक्षण विषयक साहित्यिक दृष्टिकोण तो नहीं ज्ञात होता किन्तु गवेषणा की दृष्टि से इन निबन्धों का संचयन आलोचना के क्षेत्र में अपनी यत्किंचित् देन रखता अवश्य है। इन निबन्धों की विवेचना-शैली और चिन्तन-शक्ति से इतना अवश्य अनुमान किया जा सकता है कि यदि डा० बड़थ्वाल हमारे बीच आज तक विद्यमान रहते और उन्हें अल्पायु में ही काल-कवलित न होना पड़ता तो वे निश्चय ही समालोचना के शोध-क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की प्रौढ़ि लाकर अपना और भी महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकते थे।

१२९ डा० बड़थ्वाल के नाथ-पन्थ और सन्त-मार्गी आलोचनात्मक निबन्धों का एक महत्त्व यह भी है कि वे उनके शोध-कार्य के द्वारा हमें निर्गुणी सन्त कवियों की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर ऐतिहासिक समालोचना की अभिवृद्धि में सहयोग देते हैं। वस्तुतः उस समय तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इन क्षेत्रों में बहुत कम काम किया था अतः इतिहास-निर्माण में भी इन लेखों का अत्यधिक महत्त्व सिद्ध होता है। 'गुरु गोसाईं चरित' और 'ड' के उच्चारण को लेकर बड़थ्वालजी ने जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट होता है कि उनमें सामयिक साहित्य अभावों और समस्याओं को लेकर व्यंग्यपूर्ण विधि से विरोधी पक्ष की अपूर्णताओं को अभिव्यक्त करने की जितनी अधिक क्षमता थी वे तुलनात्मक दृष्टि का निर्वाह भी उतनी ही प्रखरता से किया करते थे। इन निबन्धों से उनकी सहज भावुकता का भी पता चलता है और संस्मरण लिखने की योग्यता का भी। निश्चय ही उनमें एक अद्भुत विवेक-शक्ति थी जिसके कारण वे सत्य की खोज में कभी पीछे नहीं हटते थे और डा० धर्मेन्द्र मिश्र ने उनमें एक साहित्यिक तपस्वी को जो साधना देखी है वह यथार्थ है। वस्तुतः डा० बड़थ्वाल के देहावसान से हिन्दी-साहित्य के समालोचना-जगत् को बड़ी हानि हुई है इसमें मतभेद हो ही नहीं सकता।

७ डा० रामकुमार वर्मा

११ डा० रामकुमार वर्मा आजकल हिन्दी एकांकीकारों की श्रेणी में अपना अन्यतम स्थान रखते हैं, किन्तु इनका कवि और समालोचक का व्यक्तित्व भी अपने ढंग का अनुपम है। वर्माजी का साहित्य-क्षेत्र में सर्वप्रथम आगमन रहस्यवादी कवि के रूप में हुआ था किन्तु शनैः-शनैः वे विश्वविद्यालयी अध्ययन-अध्यापन के द्वारा समालोचना के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शित

करते गये। 'साहित्य-समालोचना' उनकी प्रारम्भिक समीक्षा-कृति है जिसमें उन्होंने काव्य, नाटक उपन्यास और समालोचना आदि विभिन्न साहित्यांगों पर सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है। इनके विश्लेषण पर पाश्चात्य समालोचना-पद्धति का अधिक प्रभाव है और उनकी यह पुस्तक भी एक प्रकार से विश्वविद्यालयों के स्नातकों के लिए ही लिखी हुई प्रतीत होती है। इसमें गंभीर गवेषणा के स्थान पर साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों का ही सुबोध विश्लेषण हुआ है। हाँ रामकुमारजी की भावप्रवण भाषा शैली का प्रभाव उस पर अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

१११ डा० वर्मा के समालोचक-स्वरूप का परिष्करण हमें उनकी 'कबीर का रहस्यवाद' नामक पुस्तक में मिलता है। वस्तुतः कबीर-साहित्य के अनुशीलन ने ही उन्हें साहित्य-जगत् का समालोचक बनाया था। उसमें कबीर का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत करने का तो प्रयत्न है ही किन्तु उसके साथ-साथ उनके काव्य के आधार पर रहस्यवाद, आध्यात्मिक विवाह, हठयोग सूफीमत तथा गुरु और विभिन्न चक्रों का भी अत्यन्त सुलझा हुआ विवरण है। इस पुस्तक की रचना में वर्माजी ने अंग्रेजी तथा बंगला के अनेक ग्रन्थों का भी आधार लिया है, यह उनके उद्धरणों और प्रमाणों से सिद्ध होता है। आज कबीर के जीवन-दर्शन और साहित्य-समीक्षण को लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने एतद् विषयक अध्ययन की दिशा को बहुत आगे बढ़ा दिया है, किन्तु किसी समय रामकुमारजी का 'कबीर का रहस्यवाद' कबीर-विषयक समीक्षाओं में सर्वोपरि स्थान रखता था। इसके अतिरिक्त वर्माजी ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' भी लिखा है जिसके सात प्रकरणों में हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास सिद्ध जैन साहित्य चारणकाल और भक्तिकाल की प्रवृत्तियों और कृतिकारों का अत्यन्त विशद विवेचन किया गया है। उन्होंने अपने इस इतिहास ग्रन्थ से पूर्व किए गए साहित्येतिहासों का क्रमबद्ध विश्लेषण कर इतिहास ग्रन्थ से सम्बन्धित प्रायः समस्त उपलब्ध सामग्री का संकलन एक ही पुस्तक में कर दिया है, जिसके कारण साहित्यानुशीलक को इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती। उनके पूर्व इस प्रकार का प्रयत्न किसी अन्य विद्वान् द्वारा नहीं किया गया था। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९३८ में हुआ और उन्हें इसी पर नागपुर विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि भी प्रदान की। हमें आशा थी कि वर्माजी इसी प्रकार का विवरण प्रधान विवेचन हिन्दी साहित्य के अवशिष्ट भाग रीति-काल और आधुनिक काल पर भी करेंगे किन्तु अभी तक उनकी लेखनी से इस ओर किसी भी रचना के रूप में इसके पूरक ग्रन्थ का प्रकाशन नहीं हुआ है। इस प्रकार उनके इतिहास-लेखन का यह कार्य अपूर्ण-सा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्माजी ने किन्हीं विशेष प्रकार की परिस्थितियों से अभिभूत होकर ही इस आलोचनात्मक इतिहास की रचना की थी किन्तु कालान्तर में उन्हें इसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होने की कोई आवश्यकता नहीं अनुभव हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके इस ग्रन्थ में साहित्य के इतिहास-लेखन की किसी व्यवस्थित प्रमाण-संपुष्ट शैली का निर्वाह बहुत कम हुआ है अतः इसे साहित्येतिहास-विषयक आदर्श रचना कहने में संकोच पड़ता है।

११२ 'साहित्य-शास्त्र' डा० वर्मा के युद्धोत्तर-युग की समालोचना-कृति है। इसमें उन्होंने 'पूर्व और पश्चिम के आलोचना सिद्धान्तों की संधि में हिन्दी-साहित्य की मूल प्रकृति पर मौलिक विवेचना' प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्य के इतिहास तथा समालोचना का एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करने के साथ-साथ यह भी प्रतिपादित करना है कि हिन्दी-साहित्य में समालोचना की अन्तर्दृष्टि क्या होनी चाहिए। लेखक ने अपने बीस वर्षों के समालोचना-सिद्धान्तों के अध्यापन की अनुभूति का निचोड़ इस पुस्तक में भर दिया है। इसका प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः साहित्य है जिसका सम्बन्ध जीवन से और विज्ञान से जोड़ने के पश्चात् इस विषय की भी विवेचना की गई है कि उसकी मूलभूत सृजन

नाम' तथा 'भूषण की शृंगारी कविता' में रीतिकालीन सामान्य प्रवृत्तियों के दिग्दर्शन के पश्चात् उक्त कवियों की विशेषताओं का उल्लेख है। बड़थ्वालजी ने भूषण की शृंगारी कविता की विवेचना करते हुए अपनी नवीन खोज के द्वारा इस मान्यता का संस्थापन किया है कि जो लोग भूषण को केवल वीर रस का ही कवि समझते हैं, वे भ्रान्ति में हैं, क्योंकि रीतिकालीन शृंगारी प्रवृत्तियों से वे भी अनाक्रान्त नहीं रह सके थे और उनके फुटकल छन्दों में तत्कालीन युग-चेतना की झलक शृंगारी छन्दों में झलक ही गई थी। 'कीर्तिलता की भाषा' 'ब्रजभाषा और रसकलश' 'ज्ञ' का हिन्दी उच्चारण' 'गढ़वाली भाषा के परवाड़ा' और 'मेल्हणी की जीवन कथा' शीर्षक निबन्धों को साहित्यिक समालोचना की अपेक्षा भाषा-वैज्ञानिक प्रक्रिया के अधिक निकट रखा जा सकता है। 'स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल' 'निबन्धकार द्विवेदी' 'डाक्टर हीरालाल' 'बाबू श्यामसुन्दरदास की हिन्दी-सेवा' और 'तारा पाण्डेय' शीर्षक निबन्ध परिचयात्मक समालोचना के नमूने हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को एक नवीन रस के उद्भावक कह कर उन्हें देशभक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत सिद्ध किया गया है। 'हमारी कला और शिक्षा' उनका १९४० ई० की कोटद्वार ग्रामसुधार प्रदर्शिनी के अवसर पर शिक्षा-विभाग की प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय दिया गया लिखित भाषण है जिसमें डा० बड़थ्वाल ने सभ्यता और संस्कृति के तारतम्य को लेकर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। अभिप्राय यह है कि 'मकरन्द' के संकलित निबन्धों में यद्यपि हमें डा० बड़थ्वाल का साहित्य-समीक्षण विषयक साहित्यिक दृष्टिकोण तो नहीं ज्ञात होता किन्तु गवेषणा की दृष्टि से इन निबन्धों का विचार सघन आलोचना के क्षेत्र में अपनी अल्पकिंचित् देन रखता अवश्य है। इन निबन्धों की विवेचना-शैली और चिन्तन-शक्ति से इतना अवश्य अनुमान किया जा सकता है कि यदि डा० बड़थ्वाल हमारे बीच आज तक विद्यमान रहते और उन्हें अल्पायु में ही काल-कवलित न होना पड़ता तो वे निश्चय ही समालोचना के शोध-क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की प्रौढ़ि लाकर अपना और भी महत्वपूर्ण स्थान बना सकते थे।

१२१ डा० बड़थ्वाल के भाव-पक्ष और सन्त-मार्गी आलोचनात्मक निबन्धों का एक महत्व यह भी है कि वे उनके शोध-कार्य के द्वारा हमें निर्गुणी सन्त कवियों की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर ऐतिहासिक समालोचना की अभिवृद्धि में सहयोग देते हैं। वस्तुतः उस समय तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इन क्षेत्रों में बहुत कम काम किया था अतः इतिहास-निर्माण में भी इन लेखों का अत्यधिक महत्व सिद्ध होता है। 'मूल गोसाईं चरित' और 'ज्ञ' के उच्चारण को लेकर बड़थ्वालजी ने जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट होता है कि उनमें सामयिक साहित्य-प्रश्नों और समस्याओं को लेकर व्यंग्यपूर्ण विधि में विरोधी पक्ष की अपूर्णताओं को अभिव्यक्त करने की जितनी अधिक क्षमता थी वे तुलनात्मक दृष्टि का निर्वाह भी उतनी ही प्रखरता से किया करते थे। इन निबन्धों से उनकी सहज भावुकता का भी पता चलता है और संस्मरण लिखने की योग्यता का भी। निश्चय ही उनमें एक अद्भुत विवेक-शक्ति थी जिसके कारण वे सत्य की खोज में कभी पीछे नहीं हटते थे और डा० भगीरथ मिश्र ने उनमें एक साहित्यिक तपस्वी को जो साधना देखी है, वह यथार्थ है। वस्तुतः डा० बड़थ्वाल के देहावसान से हिन्दी-साहित्य के समालोचना-जगत् को बड़ी हानि हुई है इसमें मतभेद हो ही नहीं सकता।

७ डा० रामकुमार वर्मा

१२ डा० रामकुमार वर्मा आजकल हिन्दी एकांकीकारों की श्रेणी में अपना अग्रगण्य स्थान रखते हैं, किन्तु इनका कवि और समालोचक का व्यक्तित्व भी अपने ढंग का अनुपम है। वर्माजी का साहित्य-क्षेत्र में सर्वप्रथम आगमन रहस्यवादी कवि के रूप में हुआ था किन्तु शनैः-शनैः वे विश्वविद्यालयी अध्ययन-अध्यापन के द्वारा समालोचना के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शित

राजस्थान के प्राचीन साहित्य की खोज और ख्यातों तथा वार्तों का चयन करने की ओर ही विशेष रहा है। डॉ० उन्होंने 'साकेत' के नवम सर्ग का 'काव्य वैभव' जिस व्याख्यात्मक प्रणाली में लिखा है वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'कामायनी-दर्शन' प्रो० विजयेन्द्र स्नातक के साथ लिखी हुई उनकी समीक्षा-कृति है जिसमें प्रसादजी के साहित्य का विश्लेषण अत्यन्त व्याख्यापूर्वक किया गया है। वैसे राजस्थान की कहावतों पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उन्होंने अन्य प्रान्तीय साहित्यों की कहावतों पर भी इसी प्रकार का शोध कार्य करने की एक प्रेरणा दी है।

११५ श्री कृष्णशंकर शुक्ल की प्रसिद्धि का मूल कारण उनका आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास है जिसमें उन्होंने पं रामचन्द्र शुक्ल के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए ही आधुनिक युग की विभिन्न प्रवृत्तियों और साहित्यधाराओं का विवेचन किया है। साहित्यकारों के विवेचन में उनकी दृष्टि आचार्य शुक्ल जी से ही अधिक प्रभावित है और शैली में भी उसी का अनुकरण है। हाँ छायावादी और रहस्यवादी कवियों के प्रति वे आचार्य से कुछ उदार रह सके हैं। वैसे इनकी मान्यताएँ भी शास्त्रीय और नवीन की सम्मिसंधि से संरक्षित हैं। 'केशव की काव्य-कला' नामक कृति तो शुक्ल-युग में विशेष सम्मान प्राप्त पुस्तक रही है और आज भी उसका महत्त्व है। 'कविवर रत्नाकर' का भी इन्होंने जो विशुद्ध विवेचन किया है, वह विकास-काल की समालोचना के उदात्त मानदण्ड का प्रतीक है।

११६ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का प्रमुख क्षेत्र सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् भारतेन्दु-युग तक के साहित्य का शोधपूर्ण और तथ्यपरक अध्ययन करना रहा है। विश्व-विद्यालयों के स्नातकों ने आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए जिस प्रकार की तथ्यपरक ऐतिहासिक पद्धति को अपनी समालोचनाओं का विषय बनाया था उनमें वार्ष्णेय जी का स्थान प्रमुख है। फोर्ट विलियम कालेज (१८२ से १८२४ तक) पर सब से अधिक सामग्री इन्होंने ही प्रदान की है। सन १७५७ से १८५७ तक विकसित होने वाले हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका का विश्लेषण कर इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की है। आधुनिक हिन्दी साहित्य तो उनकी डी० फिल की थीसिस का ही हिन्दी रूपान्तर है। जिसमें सन् १८५ से १९०० तक हिन्दी साहित्य की प्रमुख साहित्य-विधाओं के विकास का विश्लेषण किया गया है। शोध-कार्य के लिये जिस प्रकार की व्यवस्थित और संयत शैली होनी चाहिए, वह वार्ष्णेय जी की रचनाओं में उपलब्ध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी विचारधारा पर भी इन्होंने महत्त्वपूर्ण समीक्षण किया है। 'साहित्य-चिन्तन' और 'निबन्ध-नवनीत' उनके भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गये निबन्धों के संग्रह हैं जिनका प्रमुख विषय आधुनिक हिन्दी साहित्य ही है। वस्तुतः वार्ष्णेय जी का विवेच्य क्षेत्र भी हमारा आधुनिक काल ही है। उन्होंने 'भारतदुर्दशा' और 'चन्द्रावली नाटिका' का सम्पादन कर भारतेन्दु-युग की नाट्य-परम्परा और इन कृतियों का विश्लेषण भी किया है। अभी हाल ही में उनका फ्रांसीसी विद्वान् तासी द्वारा लिखे गए हिन्दी साहित्य के इतिहास का अनुवाद 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

११७ इसी प्रसंग में डा० श्री कृष्णलाल का नामोल्लेख करना भी आवश्यक है। डा० वार्ष्णेय ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास को अपने शोध-कार्य द्वारा सन् १९ तक लाकर छोड़ दिया था उसको आगे बढ़ाने का कार्य डा० लाल ने किया है। "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" उनकी डी० फिल० की थीसिस है जिसमें सन् १९०० से १९२५ तक की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन हुआ है। उनकी अन्य समीक्षा-कृतियों में 'मानस-दर्शन' 'मीराबाई' आदि हैं। वैसे 'हिन्दी कहानियाँ' शीर्षक कहानी-संग्रह की भूमिका भी पठनीय है।

११८ पं० नरोत्तमदत्त त्रिवेदी वैसे तो शुक्ल-युग के समालोचक हैं, किन्तु उनकी विचार

प्रेरणा क्या है और उसमें रस तथा मनोविज्ञान की स्थिति किस रूप में रहती है। इनके अतिरिक्त इसमें साहित्य का प्रयोजन और इष्ट साहित्य की शैली तथा उसके विस्तार की दृष्टि का भी विश्लेषण हुआ है। इसका 'अतिवित साहित्य' शीर्षक प्रकरण भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इस कृति में गम्भीर गवेषणा और सूक्ष्म चिन्तना तो नहीं मिलती जिसके आधार पर वर्माजी ने समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष में कोई अभिनव मान्यताओं का प्रस्फुरण किया हो किन्तु इसके प्रतिपादन में शिव भावमयी मधुरिमा का सरस प्रवाह है वह निश्चय ही मौलिक और हृदयहारी है। उनका साहित्य का मूल्यांकन विषयक दृष्टिकोण भी अत्यन्त व्यापक है और इसके अध्ययन में कई स्थलों पर तो काव्य का सा आनन्द उपलब्ध होता है। वर्माजी की एक अन्य समालोचना पुस्तक 'विचार दर्शन' के नाम से भी प्रकाशित हुई है किन्तु उनके एकांकी नाटककार के व्यक्तित्व के आगे उनकी समालोचक-प्रतिभा हतप्रभ है। वैसे वे प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक होने के कारण समयानुकूल साहित्यालोचन करने में यथावसर उद्यत रहते हैं।

अन्यान्य समालोचक

११३ विकास-काल के अन्य समालोचकों में डा० केसरीनारायण शुक्ल डा कन्हैया लाल सहल श्री कृष्णानन्द गुप्त श्री कृष्णशंकर शुक्ल डा लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय डा श्रीकृष्णलाल श्री गणेशशंकर द्विवेदी पं चन्द्रबली पाण्डेय डा जगन्नाथ प्रसाद शर्मा डा० दीनदयाल गुप्त पं परशुराम चतुर्वेदी डा धीरेन्द्र वर्मा डा भगीरथ मिश्र श्री प्रभुदयाल मित्तल डा माता प्रसाद गुप्त डा सोमनाथ गुप्त डा मुन्शीराम शर्मा डा देवराज उपाध्याय डा० देवराज श्री राहुल सांकृत्यायन डा० रामरतन भटनागर पं रामनरेश त्रिपाठी पं रामदहिन मिश्र व्योहार राजेन्द्रसिंह गौड़ प्रो विश्वनाथ डा सत्येन्द्र डा सुधीन्द्र पं गिरिजादत्त शुक्ल आदि प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश विद्वान् विश्वविद्यालयों में हिन्दी-साहित्य के प्राध्यापक हैं और उन्होंने शोध-कार्य के माध्यम से ही हिन्दी-समालोचना को विकसित बनाने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक ऐतिहासिक और विवेचनात्मक प्रणाली से समालोच्य विषय का तथ्यपरक विश्लेषण करने का क्षेत्र है, इन विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। डा केसरीनारायण शुक्ल ने युग-युगीन मान्यताओं और परम्पराओं का अनुगमन करते हुए 'आधुनिक काव्यधारा' नामक अपनी शोध-कृति प्रस्तुत की है, जिसमें आधुनिक युग के विभिन्न उत्थानों का देश की राजनीतिक सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति का ध्यान रखते हुए विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का डी लिट के प्रारम्भिक अभिनिबन्धों में विशेष महत्त्व है। यद्यपि इसके विश्लेषण में लेखक अधिक गहराई तक नहीं गया है, फिर भी प्रतिपादन की स्पष्टता और सुबोधता की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके अतिरिक्त केसरीनारायणजी ने 'आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत' भारतेन्दु के निबन्ध 'कितलय' नामक की रूसी भूमिका' तथा 'रूसी साहित्य' नामक अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं। इनमें कुछ तो निबन्धों के संकलन और सम्पादन हैं तथा कुछ आधुनिक साहित्य की गतिविधियों को निर्दिष्ट करने वाली रचनाएँ हैं।

११४ डा कन्हैयालाल सहल राजस्थान के एक उदीयमान समालोचक हैं। वे कई वर्षों से 'साहित्य-सन्देश' पत्र में अपने स्फुट समालोचनात्मक निबन्ध लिखते रहे हैं, जिनके अधिकांश निबन्धों के संग्रह पुस्तकों के रूप धारण कर चुके हैं। 'आलोचना के पथ पर' 'समीक्षायण' 'दृष्टिकोण' तथा 'विवेचन' इसी प्रकार के निबन्धों के संग्रह हैं, जिन में उनकी स्फुट समालोचक-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनकी समालोचना के विषय सामयिक तथा छात्रोपयोगी ही अधिक हैं। साधारणीकरण रसानुभूति तथा वाद-समीक्षाओं पर भी उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु उनमें मौलिक उद्भावनाएँ बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि सहल जी का अधिकतर ध्यान

प्रथम अध्याय

समालोचना का प्रसार-काल—१

(शुक्लोत्तर-युग)

प्रसार की विकासमान दिशा

१ 'शुक्लोत्तर-युग' वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रसार-काल है। इस युग के समालोचकों में शुक्लजी के कृतित्व और व्यक्तित्व के समान भले ही प्रौढ़ि न मिले किन्तु इस तथ्य का भी निषेध नहीं किया जा सकता कि उनके द्वारा जीवन के विकासमान दृष्टिकोणों को साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण करने की स्वतन्त्र चेष्टाएँ की गई हैं। वर्तमान जीवन दर्शन के अन्तर्गत सौष्ठव-विधान-संयोजन तथा समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषणवादी व्यवस्थाओं का प्रस्फुरण जिस रूप में हुआ है वह इस युग की समालोचना का मूलाधार है। इसके साथ ही साथ इस युग ने साहित्य-धारा को रूढ़ि-परम्परा से मुक्त कर उसे एक सौन्दर्य-विधायक प्रतिमान से समीक्षित करने का भी दृष्टिकोण प्रदान किया है जो कतिपय समालोचकों की दृष्टि से सौष्ठववादी विधान कहा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग की प्रवृत्तियों द्वारा शुक्ल-युग का विकास प्रसारित हुआ और उसमें व्यापकता भी आई किन्तु समालोचना के क्षेत्र में जिसे प्रौढ़-अविच्छिन्न का निर्माण कहा जा सकता है, वैसा कतिपय तत्त्वाभिनिवेशी समालोचकों की कृतियों को छोड़कर अधिक नहीं हो सका। माना कि इस युग ने प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं की संकीर्णता को दूर करने में अथक प्रयत्न किये किन्तु साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी जो सम्मिलन और समन्वय की भावभूमि का महत्त्व होता है, वह वादपरताओं की प्रबलता के कारण अधिक अंशों में उद्घाटित नहीं हो सका। इसका एक प्रमुख कारण तो यही प्रतीत होता है कि इस युग के समालोचकों के मानसिक धरातल के मूल में अध्ययन का विशेष बल तो है किन्तु उसमें चिन्तन और मनन की उस पर्यवेक्षण-शक्ति की न्यूनता है जो उन्हें स्वतन्त्र प्रतिमान-सृजन के लिए भावन-भूमि प्रदान करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग की मान्यताओं का स्पष्टीकरण अधिकांशतः समालोचनात्मक निबन्धों के कलेवर में ही संकेन्द्रित हो गया जिनमें पिष्ट पेषण और पुनरावृत्ति के अंश भी समाविष्ट हैं, किन्तु सब कुछ होते हुए भी इस युग की समालोचना को प्रसारपूर्ण मानना सर्वथा युक्तिसंगत ही है क्योंकि उसके द्वारा हमारा समालोचना-साहित्य निश्चय ही अपने विकास की परवर्ती स्थिति उपलब्ध कर सका है।

नामकरण और प्रसार-काल के दृष्टि बिन्दु

२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार काल को 'शुक्लोत्तर-युग' के नाम से अभिहित करने का प्रमुख कारण यही है कि इस युग में शुक्लजी के समकक्ष ऐसा कोई व्यक्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता जिसकी समन्वयकारिता और प्रभविष्णुता के आधार पर यह कह दिया जाय कि उसमें युग-संचालन की पूर्ण क्षमता है। इस युग के अधिकांश समालोचक अपनी-अपनी मान्यताओं और जीवन आस्थाओं में संग्रस्त होकर केवल एकपक्षीय प्रतिमानों से ही साहित्य-समीक्षण करते हैं, जिसका स्पष्ट आशय यही है कि उनमें युग-नेतृत्व की शक्ति की न्यूनता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक विचारक की भाँति समालोचक का भी एक मानसिक धरातल होता है जिसका

धारा मध्यकालीन साहित्य का तत्त्वान्वेषण करने में अधिक सहानुभूति पा सकी है। वीर-काव्य संत-काव्य और प्रेमगाथा-काव्यों के संग्रहों की भूमिकाएँ इसका प्रमाण हैं। उनकी प्रतिपादन-शैली में समालोचना की उस सर्वग्राह्य पद्धति का ही परिपालन हुआ है, जिसमें किसी भी समालोचक अथवा कृति का विश्लेषण शास्त्रीय परम्परा के प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी को भी मध्यकालीन साहित्य-कोष का ही पारखी समालोचक कहा जा सकता है। 'सूफी काव्य' 'संत-काव्य' 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' 'हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम प्रवाह' 'कबीर-साहित्य की परख' तथा 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा' इनकी समालोचनात्मक पुस्तकें हैं। वैसे 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' लिखकर इन्होंने इस क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

११९. भक्ति काल की कृष्णभक्ति धारा के प्रमुख अंग वल्लभ सम्प्रदाय और अष्ट छाप का दो भागों में व्यापक अध्ययन प्रस्तुत कर डा० दीनदयाल गुप्त ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनके पूर्व इस प्रकार के अध्ययनों की कोई समृद्ध परम्परा नहीं थी। उन्हीं के क्षेत्र में श्री प्रभुदयाल मित्तल का 'अष्टछाप-परिचय' भी सम्मान्य विवेचन है। 'ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद' तथा 'ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य' मित्तल जी की महत्त्वपूर्ण समीक्षा कृतियाँ हैं। सूरदास के सम्बन्ध में की गई खोजों का सदुपयोग करते हुए इन्होंने 'सूर-निर्णय' नामक पुस्तक भी लिखी है जिसमें शोध प्रिय छात्रों को सूर विषयक सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री का समन्वय मिल जाता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी अष्टछाप और सूरदास-साहित्य को वैज्ञानिकदृष्टि से प्रस्तुत करने का अच्छा प्रयास किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने तुलसी-साहित्य डा० मुन्शीराम शर्मा ने सूर-साहित्य और डा० भगीरथ मिश्र ने रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के अच्छे अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। डा० सत्येन्द्र की 'गुप्त जी की कला' और 'साहित्य की झाँकी' भी विकास-काल की अच्छी रचनाएँ हैं। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने *प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन* प्रस्तुत कर इस दिशा में कार्य करने वाले अनुसन्धाताओं को नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शुक्ल युग में हिन्दी-समालोचना का जो विकास हुआ है उसे अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी अभिरुचि और क्षमता के अनुसार सहयोग दिया है। इन समालोचकों और शोध-कर्त्ताओं का समीक्षण-कार्य अब भी चल रहा है किन्तु अपनी विचारधाराओं और विश्लेषण-प्रवृत्तियों में वे शुक्ल-युग के अधिक निकट होने के कारण ही इस विकास-काल के अन्तर्गत ही विवेचित किये गये हैं जिन पर तिथि निर्धारण की सीमा का कठोर सिद्धान्त के रूप में संगठन करना समुचित नहीं है।

के प्रसार-काल की प्रमुख प्रवृत्ति माना है। इस श्रेणी की समालोचना ने हमारी विकास-परम्परा को किस प्रकार आगे बढ़ाया इसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा। यहाँ पर तो केवल इसी तथ्य का सामान्य संकेत करना अभीष्ट है कि जीवन-दर्शन और काव्य-निर्माण के स्वाभाविक क्रम के अनुरूप ही हिन्दी-समालोचना को भी 'विकास' से 'प्रसार' की विशेषोपलब्धि हुई है।

प्रसार-काल की अन्तश्चेतना और उसके विभिन्न स्वरूप

४ शुक्ल-युग की मान्यताओं को उसके परवर्ती शुक्लोत्तर-युग ने जिन कारणों से स्वीकार नहीं किया, उसका एक सांस्कृतिक, साहित्यिक और सामाजिक आधार भी है। बात यह है कि समालोचना-क्षेत्र में शुक्ल-युग का प्रवर्तन जिन जीवन-आस्थाओं के अनुरूप हुआ था उनमें देश की परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार उत्क्रान्ति होने लगी थी। राजनीतिक वातावरण में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन ने जिस प्रकार की विचारधारा को अधिक प्रश्रय दिया उसका साहित्य-रचयिताओं के मानस पर भी अपेक्षित प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप साहित्य की मनोभूमिका में अन्तर आने लगा। साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण और जीवन प्रतिमानों ने भी उसमें परिवर्तन के कारण उपस्थित कर दिये जिसकी प्रतिक्रिया साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी हुई। यही समय था जब विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की धूम साहित्य-संसार में मच गई, जिससे अप्रभावित रहना साहित्यकारों के लिए असम्भव सा था। इस समय तक शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी धारा के कवियों जैसे वर्ड्सवर्थ कीट्स शैली तथा टेनीसन आदि काव्य-कृतियों का जादू सर पर चढ़कर बोलने लगा था अतः वे स्वभावतः इनकी भाव-माधुरी और कल्पनाशीलता की ओर आकर्षित होने लगे। अपने भौतिक जीवन की प्रताड़ना और विश्व की वेदनात्मक विषमता ने काव्यकारों को अंतर्जगत् की ओर विशेष उन्मुख किया, जिसके कारण वे कल्पनाजीवी बनकर अज्ञात लोक से अपना सम्बन्ध जोड़ने लगे। इन काव्यकारों को भौतिक जीवन की स्वार्थपूर्ण दृष्टि में ऐसी शुष्कता मिली जिसके कारण वे अपने को भुलावा देकर अध्यात्म लोक की ओर बढ़ चले। कहना होगा इस आध्यात्मिकता में वास्तविकता की अनुभूति तो बहुत कम लोगों में थी किन्तु युग-प्रवाह में वैयक्तिक अनुभूति का दुरुपयोग भी कम नहीं हुआ। इस प्रकार का परिवर्तित वातावरण साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में भी किसी अभिनव मार्ग को ग्रहण करने की प्रेरणा का कारण बना जिसके फलस्वरूप एक नूतन भाव-शैली और रचना-प्रक्रिया की सृष्टि अनिवार्य हो गई। शुक्ल-युग के उत्तरवर्ती युग की समीक्षाओं में विकास की इस दिशा का अनुसन्धान स्वाभाविक-क्रम में किया जाना सर्वथा सम्भव है।

५ आधुनिक हिन्दी-समालोचना के प्रसार-काल में जिन प्रमुख समालोचकों को स्थान दिया गया है, वे आज भी अपने समीक्षण-कार्य में संलग्न हैं और उनके द्वारा सामयिक साहित्यालोचन के उपयुक्त मार्गानुसन्धान के प्रयास अब भी निरन्तर गति से किये जा रहे हैं। वैसे तो इन समालोचकों का साहित्य-क्षेत्र में आगमन द्विवेदी-युग तथा शुक्ल-युग में ही हो गया था, किन्तु उन युगों में इनके व्यक्तित्व का ऐसा निर्माण नहीं हो सका जो प्रौढ़ तथा स्थायी कहा जा सके। द्विवेदी-युग में तो इन समालोचकों ने कलम पकड़नी सीखी ही थी और शुक्ल-युग में वे पं० रामचन्द्र शुक्ल की प्रखर प्रतिभा के आगे हतप्रभ से थे अतः वे समालोचना-साहित्य को उस समय ऐसी उपलब्धि नहीं प्रदान कर सके जो साहित्य के मूल्यांकन का महत्त्वपूर्ण प्रतिमान बन सकने में असमर्थ हो। इन समालोचकों में स्वच्छन्दतावादिता की प्रवृत्ति प्रारम्भ ही से रही किन्तु प्रारम्भिक वर्षों में वह स्वच्छन्द चेतना के प्रौढ़ निर्माण का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकी। शनैः-शनैः देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों ने उसे अपनी नवीन दिशा में ही विकासोन्मुख बनने की प्रेरणा दी जिसको परिपुष्ट बनाने में तत्कालीन रचनात्मक साहित्य भी सहयोगी बना।

वैशिष्ट्य उसकी विचारणाओं और मान्यताओं में प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रहता किन्तु उसे एक उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का सामर्थ्य भी उसमें प्राप्त न किया जा सके ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जिन आचार्य शुक्ल को आधुनिक हिन्दी-समालोचना का युग निर्माता और प्रधान स्तम्भ कहा जाता है, उनकी भी ऐसी अनेक मान्यताएँ थीं जिनमें उनकी आदर्शवादी मर्यादा और सगुण भावना का स्थल-स्थल पर प्रतिपादन हुआ किन्तु सब शुभ होने पर भी उनके व्यक्तित्व की प्रखरता के आगे अन्य शक्तियाँ कांतिहीन सी हो गईं। यह भी एक स्पष्ट सत्य है कि वे कई अंशों में अपने युग की विकासमान प्रगति के साथ नहीं चल सके और रहस्यवाद प्रतीति तथा मुक्तक-काव्य धाराओं के साथ उनका समानुभूतिमूलक दृष्टिकोण नहीं रहा फिर भी उनमें ऐसी प्रज्ञा अवश्य थी जिसके द्वारा उनके युग-संचालन के कार्य में कोई कमी नहीं आई। यह एक अद्भुत सत्य है कि जिन समालोचकों ने उनकी मान्यताओं के कतिपय स्थलों का विरोध भी किया वे भी उनकी मौलिकता और चिंतन-शक्ति से अभिभूत रहे तथा उनकी सीमाओं का निर्देश करते हुए भी वे उनकी यथाप्रसंग प्रशंसा करते रहे। ऐसी परिस्थिति में उनके परवर्ती युग को 'शुक्लोत्तर-युग' कहना समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि इस युग के निर्माण में भी शुक्ल-युग के तत्त्वों का यथेष्ट समावेश है। सम्भव है आज के अभ्युदयशील समालोचकों में किसी का व्यक्तित्व अपनी साहित्य-साधना और तपस्या के द्वारा निकट भविष्य में ही किसी अभिनव युग का निर्माण कर दे जिसमें मानवता की भावभूमि पर साहित्य का परीक्षण अधिक उदात्त विधि में हो किन्तु जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक समालोचना के प्रसार-काल को 'शुक्लोत्तर-युग' की संज्ञा से ही अभिहित करना समीचीन है, क्योंकि इसके निर्माण में शुक्लजी की मान्यताओं के उपकरणों का संयोजन निश्चित रूप में हुआ है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-काल के रूप में शुक्ल-युग ने साहित्य-समीक्षण की परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया और उसे विवेचन की एक नूतन दृष्टि प्रदान की किन्तु कालान्तर में उसमें भी शास्त्रीयता और परम्परावादिता के तत्त्व-कण संनि-हित होने लगे। बात यह हुई कि शुक्ल-युग में जिन प्रतिमानों को आधार बनाकर समीक्षण-कार्य हुआ वह स्वच्छन्दतावादिता की ओर एक ललक रखता हुआ भी अपनी मर्यादा, नैतिकता और आदर्श-निष्ठा के कारण आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सका। यही कारण था कि शुक्ल-युग ने जहाँ तुलसी जैसे मध्यकालीन भक्त कवियों द्वारा निरूपित वर्णाश्रम-व्यवस्था और नीति मर्यादा की प्रशंसा की वहाँ वह उन्हीं के युग में होने वाले कबीर और केशव जैसे अन्य कवियों को केवल उच्छृंखल प्रवृत्ति तथा हृदयहीनता से अधिक महत्त्व नहीं दे सका। इस युग ने गोस्वामी तुलसीदास जी को जिन मूलभूत आधारों पर हिन्दी-काव्य का चूड़ामणि सिद्ध किया था उसके युग में भी उनकी अन्तश्चेतना का क्रम लोप नहीं था। ऐसी स्थिति में कलात्मक सौष्ठव और सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यंजना को लेकर अवतीर्ण हुआ रहस्यवादी और छायावादी काव्य अपनी वायवी सृष्टि में उसका सौहार्द कैसे प्राप्त कर सकता था? फलतः शुक्लजी के समकालीन धरातल पर प्रसारित होने वाले तथा अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले काव्य-साहित्य ने शुक्ल-युग के प्रतिमानों को अपने लिए अपर्याप्त समझा जिसकी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हिन्दी-समालोचना जगत् में व्यष्टि और समष्टि तथा वस्तुपरकता और आत्मपरकता को लेकर एक संघर्ष सा उपस्थित हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल-युग ने अपनी समालोचनागत मान्यताओं में यदि समष्टिपरक वस्तुन्मुखी विचारधारा को प्रधानता दी थी तो उसके परवर्ती शुक्लोत्तर-युग ने व्यष्टि-प्रधान आत्माभिव्यक्ति की मान्यताओं को भी प्रश्रय प्रदान किया। सुतराम् हिन्दी-समालोचना में भी विकास की अन्तिम कोटि 'प्रसार' के ज्योतिष्कण संचरित होने लगे और कालान्तर में छायावादी काव्य ही के समाना-न्तर छायावादी समालोचना ने भी अपना स्वरूप धारण किया जिसे हम आधुनिक हिन्दी समालो

परिस्थिति में काव्य-क्षेत्र में नहीं जमने दिया। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए छायावादी कवियों को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा अन्यान्य समालोचकों से यथेष्ट संघर्ष लेना पड़ा और वे अनवरत परिश्रम और निरन्तर अध्यवसाय के बल पर ही अपनी सत्ता स्थापित कर सके। छायावादी कवियों की विचारणा और मान्यताओं में वस्तुतः आत्मानुभूति की व्यंजना का प्राधान्य था और उनके स्वर में नैतिकता आदर्श और सुधारवादिता की अतिरेकपूर्ण वस्तुपरकता के प्रति विद्रोह-सा था। अतः युग की बोधनीयता को इसमें स्वेच्छावादिता के प्रति एक समर्थ-सी मिली और तत्कालीन साहित्यानुशीलक-वर्ग अपने सहज भाव से उसकी ओर उन्मुख हो गया। फलतः छायावाद के नाम पर साहित्य में रचनात्मक और विचारात्मक साहित्य की वृद्धि होने लगी जिसके द्वारा विचार-क्षेत्र और भाव-लोक में क्रान्ति का सृजन हुआ। निश्चय था कि इस छायावादी प्रवृत्ति के जन्म से हमारा समालोचना-साहित्य भी गति पाता और उसके दृष्टिकोण में नवीनता का संचार होता और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। छायावाद ने अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के द्वारा रूढ़िग्रस्त शास्त्रीयता को एक कोने में धकेल कर अपना डिण्डिमनाद करना प्रारम्भ किया और उसकी स्थिति सुदृढ़ बनती गई। कहना होगा इस युग की रचनात्मक प्रवृत्तियों के साथ-साथ समालोचनात्मक मान्यताओं में ऐसे भाव-स्फुलिंग प्रोद्भासित हो उठे थे जिनमें आध्यात्मिकता काव्य-सौष्ठव स्वच्छंदतावादिता और सौन्दर्य भावना की व्यापकता और प्रौढ़ि थी। अतः उसने निश्चय ही हम विकास के चिह्न प्रदान किए। अभिप्राय यह है कि छायावादी काव्य द्विवेदी-युग की साहित्य प्रक्रियाओं को विकासोन्मुख बनाने का एक सुन्दर प्रयास था जिसका सूत्र-संचालन काव्यकारों के रूप में प्रसादजी पंतजी निरालाजी और महादेवीजी ने किया तो उनके प्रवर्तक समालोचकों के रूप में पं० नन्ददुलारे बाजपेयी और श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि प्रमुख व्यक्ति आए।

८. छायावाद-युग के प्रवर्तन से जैसे नवीन कविता द्विवेदी-युग का अंचल छोड़ कर अपने रूप-रंग वेष भूषा और आकृति-प्रकृति में अपने पूर्ववर्ती युग से भिन्न प्रणाली धारण कर सकी वैसे ही उसके समानान्तर चलने वाली समालोचना ने भी अपना नूतन परिवेश ग्रहण किया। रचनात्मक साहित्य की भाँति समालोचना-साहित्य भी इस समय सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता की नई मान्यताओं और विवेचन की नूतन शैलियों के रूप में प्रस्फुटित हुआ। यद्यपि अपने प्रारम्भिक रूप में छायावादी काव्य-दृष्टि में कोई शास्त्रीय आधार अथवा सर्वमान्य प्रवृत्ति नहीं आ सकी थी किन्तु कालक्रम से उसका विकास अवश्य होता गया और विभिन्न आलोचकों ने जिनमें प्रमुखता छायावादी कवियों की भी थी—अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं का आन्तरिक लेखा-जोखा करते हुए उन्हें निर्मलता की एक निश्चित अवस्थिति देने का प्रयास किया। उनके सिद्धान्त-निरूपण में वैभिन्न्य और समीक्षा-दृष्टि में अवान्तर मर्मभेद होते हुए भी काव्य-परीक्षण का ऐसा सर्वग्राह्य प्रतिमान अवश्य प्रदर्शित होने लगा जिसमें वैयक्तिकता की परिधि को व्यापक किया मे प्रमुख बनाने का जो प्रयत्न किया गया वह कोरी शास्त्रीयता से बोझिल न होकर अपनी अनुभूतिजन्य विशुद्ध सौन्दर्य भावना और विकासोन्मुख सांस्कृतिकता के आश्रय पर अवलम्बित था। वस्तुतः इन आलोचकों ने काव्य का निरूपण किसी नीति अथवा आदर्श को उपलक्षण बना कर नहीं किया अपितु उसे प्रकृत स्वरूप में ही परिभाषित करने की चेष्टा की। उनकी विवेचना में एक ओर जहाँ जगत और जीवन से सामंजस्य-स्थापन का प्रयत्न था तो दूसरी ओर उसे आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित करने की सक्रिय चेष्टा भी थी। यदि इस युग के रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य का अ कलन विशेष व्यापक दृष्टि से किया जाय तो यह सत्य सहज भाव से ज्ञात हो जायगा कि इस युग के स्रष्टा और विचारक दोनों-वर्ग द्विवेदीजी और शुक्लजी के निर्धारित प्रतिमानों से दूर रह कर किसी व्यापक धरातल की ओर अग्रतिमान हैं, जिसमें सौन्दर्य और कला को उसकी विशुद्ध प्रकृति में स्वीकार करने का अधिक आग्रह है। उनके विवेचन में साहित्य-परीक्षण

कहना होगा शुक्ल-युग के अवसान के कुछ पूर्व साहित्य में जिस सौन्दर्य-विधायिनी और प्रगतिवादी विचारधारा का प्रचलन होने लगा था उसने इन समालोचकों को परम्परा का परित्याग कर साहित्य के प्रति मानव जीवन की मूल भावनाओं को लेकर चलने का दृष्टिकोण प्रदान किया और वे समीक्षक यथार्थ की मनोभूमि में उतर कर अपना सौन्दर्य-परक समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने लगे। इन समालोचकों ने केवल भारतीय साहित्य-शास्त्र की सैद्धान्तिक परम्परा को ही पूर्ण नहीं माना, अपितु वे पाश्चात्य साहित्यालोचन की ओर भी महती जिज्ञासा से अनुप्राणित हुए। यद्यपि इन समालोचकों में अधिकांश केवल पश्चिम की नवीन चमक-दमक से चकित होकर उन्हीं के प्रचारों को साहित्य-समीक्षण का अंगी मानकर चलने लगे किन्तु कतिपय ऐसे समालोचक भी रहे जिन्होंने अपनी भावुकता और विश्लेषण पर विवेक का अंकुश रखते हुए दोनों में अपेक्षित समन्वय और सन्तुलन लाने का भी प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि तब तक विश्वालोक में विकसित होने वाली समालोचना-प्रणाली पर भी विविध प्रकार की मान्यताओं की छाया प्रतिबिम्बित होने लगी थी अतः इन समालोचकों ने भी अपने मानसिक स्तर के अनुरूप उससे उपयोगी विचार-सामग्री ग्रहण की। इन समालोचकों ने अधिकतर साहित्यालोचन की निबन्ध-प्रणाली में ही अपनी समीक्षाएँ प्रस्तुत की थीं अतः उनमें शुक्लोत्तर-युग की विभिन्न धाराओं का यथाक्रम आभास मिला। यही कारण है कि मैंने प्रसार-युग की प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ उन समालोचकों का अलग-अलग मूल्यांकन कर इन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के पश्चात् ही उनका समीक्षण किया है जिसके द्वारा इस विषय की अभिज्ञता में कोई कठिनाई नहीं हो कि उनकी विचारधारा पर मनोविश्लेषणवाद का अधिक प्रभाव है या समाजशास्त्रीय अर्थविचार का। वैसे तो समालोचना के इस प्रसार-काल की भांति समालोचकों की संख्या में भी पर्याप्त प्रसार हुआ है किन्तु उनकी मौलिक उपलब्धि हमारी आधुनिक समालोचना की एक विचारणीय विषय-सरणि बनी हुई है। अतः मैंने केवल उन्हीं समालोचकों पर विमर्श किया है जो अपनी किन्हीं विशेष मान्यताओं अथवा धारणाओं द्वारा समालोचना-साहित्य के सृजन में अपना स्थान बना सके हैं।

१ प्रसार-काल की समालोचनाओं का मूल प्रेरक भी काव्य-साहित्य ही रहा है, जिसका उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर यथेष्ट प्रभाव है। यद्यपि नाटक उपन्यास और कथा-शिल्पों पर भी इस युग में सैद्धान्तिक निरूपण हुआ है, किन्तु प्राधान्य काव्य-साहित्य का ही है। एक प्रकार से इस युग की समालोचनात्मक मान्यताओं और शिल्प-प्रणालियों का निर्माण भी काव्य साहित्य के माध्यम से ही हुआ। अतः मैंने उनको अपने विवेचन का केन्द्र-बिन्दु बनाकर इस युग की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानी हैं, जिन्हें छायावादी प्रगतिवादी मनोविश्लेषणवादी और प्रयोगवादी प्रवृत्तियाँ कहा गया है। इन प्रवृत्तियों द्वारा हिन्दी समालोचना को जो कुछ भी उपलब्धि हुई है, उसमें कुछ तो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और कुछ केवल अनुकरणमूलक हैं। इनमें कुछ प्रवृत्तियाँ तो अब भी अपना स्वरूप-निर्माण करने की ओर उन्मुख हैं। आगे के पृष्ठों में इन प्रवृत्तियों का सामान्य विश्लेषण कर यही स्पष्ट किया जायगा कि उनकी कौन-कौन सी विशेषताएँ अथवा न्यूनताएँ हैं तथा वे हमारे साहित्यालोचन के विकास में कहाँ तक सहायक बनी हैं।

छायावाद-युग और सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी समालोचना

स्वच्छन्दतावादी समालोचना का जन्म और उसका अभिनव परिवेश

• द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और बाह्य निष्ठा की प्रतिक्रिया में जिस छायावाद का जन्म हुआ उसे प्रारम्भ में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए बड़ी कठिनाई झेलनी पड़ी क्योंकि उसके विरोध में समालोचकों का ऐसा प्रबल दल उठ खड़ा हुआ था जिसने उसे किसी भी

विशेष प्रकार की आत्मविभोरता और भावमग्नता का पुट भी स्थान-स्थान पर है, जिसे केवल प्रभाववादी समीक्षा के क्षेत्र तक ही परिसीमित नहीं किया जा सकता अपितु जिसमें अनुभूति और संवेदना के माध्यम से शनैः-शनैः विश्लेषण-प्रवृत्ति के द्वारा शास्त्रीय संस्थापनों के निष्कर्ष तक पहुँचने की भी चेष्टा है। उनके विश्लेषण में काव्य के अंतरंग और बहिरंग पृष्ठियों का भावमय संस्पर्श भी है और उसके वस्तु-संगठन और रचना-कौशल का विवेचन भी। अभिप्राय यह है कि छायावाद-युग की समालोचना अपने रूप और प्रकार में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को आगे बढ़ाने वाली और प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता की ओर अधिक परिमाण में उन्मुख है और उसके द्वारा जहाँ एक ओर रचनात्मक साहित्य को सौष्ठव-विधि से समझने और हृदयग्राही बनाने का कार्य हुआ है वहाँ दूसरी ओर नवीन सृजना और प्रेरणा का प्रादुर्भाव भी होने से नहीं बच सका है। अतः इस प्रणाली की समालोचना को शुक्लोत्तर युग अथवा आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप से मान्यता प्रदान करना सर्वथा न्यायसंगत है।

११ छायावाद युग की स्वच्छन्दतावादी साहित्य-समीक्षा मुख्यतः काव्यालोचन के रूप में ही रही है। इस युग के प्रतिमान बहुत कुछ स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमांटिक हैं किन्तु इसका रोमांचक स्वरूप किसी पाश्चात्य परिपाटी का प्रतिफल न होकर भारतीय जीवन के अधिक निकट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के समालोचकों की दृष्टि में साहित्य के भौतिक उपकरण बहुत स्थूल जँचने लग थे और वे मानव-अंतरालवर्ती मर्म भेदों के रहस्योद्घाटन की प्रज्ञा लेकर समीक्षण-क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रतिमान-निर्धारण में जीवन की व्यापक संवेदना को महत्व दिया और शास्त्रीयता का समावेश भी उनकी मूल्यांकन की कसौटी में युग-प्रवृत्ति के अभिव्यंजन के स्थान पर एक शाश्वतकालीन मनोभूमिका के संगठन में हो सका जिसमें निश्चय ही युक्त-युग की अपेक्षा अधिक लचीलापन था।

१२ छायावाद-युग की समीक्षा में उसके रचनात्मक साहित्य की प्रायः समस्त सद्भावनाओं का समावेश है। उसका विवेचन द्विवेदी-युग की स्थूल मान्यताओं की आदर्शवादी धारणा के स्थान पर अंतर की सूक्ष्मता को अपनी पीठिका बना कर चला है जिसमें कल्पना स्वच्छंदता भावुकता आत्माभिव्यक्ति तथा अखिल जीवन-दर्शन और नूतन मूल्यांकन की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के निर्माण में उस युग के सांस्कृतिक वातावरण और गांधीवाद की रूपरेखा का भी बड़ा हाथ है जिससे वे छायावादी काव्य-समीक्षक किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सके हैं। इस युग के कवि-समीक्षकों ने काव्य-दर्शन पर आध्यात्मिकता का एक हल्का सा आवेष्टन डाल रखा है, जिसका प्रमाण उनकी काव्य-सर्जनाएँ और उनकी भावक-शक्तियाँ हैं। वैसे तो इस युग के छायावादी समालोचकों की दृष्टि में यथावत् मतभेद भी है किन्तु सब मिलाकर वे साहित्य-दर्शन के उद्भावन में एक-सी भाव-संवेदना पाते हैं।

१३ छायावादी काव्य-समीक्षा में अपने युग की अन्य प्रवृत्तियों की ओर झाँकने की अभिरुचि है। इस प्रकार की समीक्षा का प्रतिपाद्य विषय रागात्मिक शैली में काव्य-साहित्य का सौष्ठव निर्दिष्ट कर उसे कला की दृष्टि से सार्वभौमिक उच्च श्रेणी प्रदान करना रहा है। वे समीक्षक युग-परिस्थिति की महत्ता एक सीमा तक ही स्वीकार कर चल सके हैं। आधुनिक साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों की ओर भी इनका ध्यान गया है और वे उनके वैज्ञानिक और व्यावहारिक पक्षों के विवेचन की ओर भी उन्मुख हुए हैं। काव्य की गीति तथा मुक्तक प्रवृत्ति की ओर इनकी विशेष रुझान है। प्रगतिवादियों और मनोविश्लेषण-वादियों के यथार्थ से इनका विरोध है। इन्हें अपना काव्य-प्रवर्तन सभी दृष्टियों से स्वाभाविक और सहजभाव भूमि पर आधारित लगता है। पश्चिमी काव्य-शास्त्र में प्रचलित कला और अभिव्यंजना के सिद्धान्तों का भी इन पर प्रभाव है। वे समालोचक काव्य प्रेरणा को हृदय के स्वाभाविक मनोवेगों की भाँति एक नैसर्गिक स्फूर्ति के रूप

का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोण भी है अवश्य किन्तु उसमें वैसा उभार नहीं मिलता जैसा उसके परवर्ती काल में दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं इस युग के विवेचकों ने काव्य के परम साध्य रस और आनन्द को भी किसी मतवाद की संकीर्णकारा में आबद्ध न समझकर उसके चिरन्तन स्वरूप में देखने का प्रयास किया है। वस्तुतः इन आलोचकों की अभिव्यक्तियों में साहित्य को सामाजिकता और राजनीतिकता के बाह्य परिवेश में न ग्रहण कर भाव और कला की ऐसी पीठिका में विवेचित किया गया है जिससे कोई भी साहित्य और संस्कृति अमर बन सकती है।

९. यह तो एक स्पष्ट सत्य है कि छायावाद-युग की समालोचना अपने रचनात्मक साहित्य की भाँति रूढ़िग्रस्त शास्त्रीयता का निर्मोक छोड़ कर चली है किन्तु उसकी उद्भावना स्वयं कालान्तर में अपना शास्त्रीय-आधार निर्माण कर सकेगी ऐसा अनुमान अवश्य किया जा सकता है। आज छायावाद का युग समाप्त हो चला है किन्तु उसका एक निश्चित स्वरूप और निर्धारित प्रतिमान भी बन सका है इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि छायावादी समीक्षण के अंतराल से ऐसे मूलभूत तथ्यों की उपलब्धि अवश्य की जा सकती है जो भले ही रस और अलंकार की प्राचीन शैली का परित्याग कर चली हो किन्तु जिसके मूल में भावात्मकता और मनोवैज्ञानिकता की ऐसी दीप्ति अवश्य है जिसके आधार पर उसका परिष्कृत सैद्धान्तिक निरूपण शास्त्रीयता की बानगी धारण कर सका है। इस युग की समालोचना का मार्ग-दर्शन हमें रस अलंकार की स्थूल प्रणाली तथा निर्धारित लक्षण-वृत्ति का भले आभास न दे सके किन्तु उसके अन्तर्गत समीक्षित साहित्य के कल्पना-पक्ष भाव-सौन्दर्य और कला-वैशिष्ट्य का सांस्कृतिक मनोभावनाओं के अनुरूप जो विश्लेषण हुआ है, वह निश्चय ही अपनी अभिव्यंजना में अत्यन्त मनोरम और ग्राह्य है। इस युग की समीक्षा का एक सत्य तो यही है कि उसके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती समालोचकों ने उसके एकांगी और पलायनवादी दृष्टि-बिन्दु का जो संकेत अनेक स्थलों पर भर्त्सनापूर्ण शब्दों में किया था उसका क्रमात्मक परिहार इस युग के समीक्षकों ने प्रस्तुत कर दिया है। वे अपने युग की स्वच्छंदतावादी भावुकता और अतश्चेतना का आधार सांस्कृतिक सामाजिक और राजनीतिक धरातल से भी स्पष्ट कर सके हैं।

१ छायावाद की समालोचना का विकास उसकी रचनात्मक साहित्य प्रक्रिया के समानान्तर ही हुआ है। जैसे इस युग की साहित्य-कृतियों में काव्य की वस्तुपरकता कृत्रिम अलंकारिता शास्त्रीयता रूढ़िवादिता का एकांत अभाव है वैसे ही इस युग की समालोचना में भी विषयों की नवीनता भावों की स्वच्छंदवादिता भाषा की लाक्षणिकता और कल्पना की प्रचुरता तथा अभिव्यंजना की विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस युग की रचनात्मक और विचारात्मक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को पाश्चात्य साहित्य-धारा और चिरन्तन भावना ने भी प्रभावित किया और साहित्य के विविध विषयों की भाँति समालोचना के प्रतिमानों में भी नवीनता और व्यापकता का समावेश हुआ। काव्य-दृष्टि में आत्माभिव्यंजना और व्यक्तिपरकता का समावेश भी इस युग की एक विशिष्ट देन है। प्रबन्ध-काव्य के स्थान पर मुक्तक-काव्य और इतिवृत्त के स्थान पर गीति परम्परा का ग्रहण भी इसी युग में हुआ था। इस युग के समालोचकों ने अपने आपको केवल सामयिक साहित्य तक ही सीमित रखा हो ऐसी बात भी नहीं है। वे परम्परागत साहित्य प्रतिमानों को नवीन दीप्ति में ग्रहण करने की ओर भी उन्मुख हुए हैं और उनके द्वारा प्राचीन साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन भी किया गया है। प्राचीन कवियों की कृतियों में उन्हें जहाँ भाव प्रवणता और सौष्ठव की मात्रा अपने विशुद्ध स्वरूप में मिली है उनके काव्य-सौष्ठव से भी वे आत्म-विभोर होते हुए चले हैं। यह इस युग के समीक्षकों की ही देन है कि समालोचना से प्रेम प्रगीतों और जीवन की मूल प्रवृत्तियों का चित्रण करने वाले काव्य को प्रबन्ध-काव्यों और नीतिवादी साहित्य-सृष्टि से उच्चतर स्थान प्रदान किया गया है। उनकी समीक्षण-पद्धति में एक

सत्ता को अध्यात्म की कोटि में प्रतिष्ठित कर तथा कवि को ऋषि की समता में उपस्थित कर वे एक ओर उसे बाह्य मूर्त और अमूर्त की सीमित परिधि से उच्च स्थान प्रदान करते हैं, वहाँ दूसरी ओर कामसूत्र में वर्णित संगीत चित्र तथा अन्यान्य कलाओं के साथ 'काव्य-समस्यापूर्ति' की संयोजना कर उसे कला की साधारण श्रेणी में भी निर्दिष्ट करते हैं जिसका स्पष्ट आशय यही है कि काव्य और कला के स्वरूप-विधान के विषय में पाश्चात्य विचारधारा और भारतीय दृष्टिकोण में तात्त्विक अन्तर की वस्तुस्थिति का उन्हें पूर्ण अवबोध है।

काव्य की परिभाषा और कलाओं का क्षेत्र

२१ प्रसाद का काव्य और शास्त्र-विषयक विवेचन अत्यन्त सुलझा हुआ है। उसका एक शास्त्रीय तथा दार्शनिक आधार है। काव्य को 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति'[1] कह कर वे उसे विश्लेषण विकल्प तथा विज्ञान से भिन्न मानते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि 'शास्त्र में श्रेय का आत्मात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धांतों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है, क्योंकि आत्मा को मनोमय वाङ्मय और प्राणमय माना गया है।'[2]

२२ काव्य की परिभाषा में प्रसादजी द्वारा प्रयुक्त आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति पद विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण में किसी प्रकार का तात्पर्य-भ्रम न हो जाय, अतः उन्होंने स्वयं इसकी विवेचना कर दी है। उनके मतानुसार आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेयसत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।[3] इस विश्लेषण में असाधारण अवस्था का उल्लेख इसलिए किया गया है कि वह (असाधारण अवस्था) युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है क्योंकि सत्य अथवा श्रेयज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं वह एक शाश्वत-चेतनता है या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।

२३ प्रसादजी ने यद्यपि ज्ञान की अखंड सत्ता स्वीकार की है और वे देशकाल और परिस्थिति के कारण अद्भुत सांस्कृतिक रुचि भेद के अनुसार इसके व्यावहारिक भेद भी स्वीकार समझते हैं, किन्तु उन्हें भारतीय दृष्टि में जो मौलिक-चिंतन और प्रतीक-विधान मिला है वह पश्चिमी विचारकों की मान्यताओं से निश्चय ही बहुत ऊँचा है। हमारे यहाँ ब्रह्म की मूर्त और अमूर्त इन दोनों रूपों में कल्पना होने के कारण उसे जिस आध्यात्मिक आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया है, वह प्रसादजी की शैव-दर्शन और आनन्दवादी विचारधारा के अत्यंत निकट है। यही कारण है कि वे मूर्त और अमूर्त की दृष्टि से कलाओं का श्रेणी-विभाजन उचित नहीं समझते, क्योंकि कलाओं के मूल्यांकन का यह कोई सर्वग्राह्य प्रतिमान नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में उनका यह निर्णय अत्यन्त गम्भीर और तथ्यपूर्ण है कि "सौन्दर्यबोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उसका प्रतीक बनाने के

---

१ जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ११।
२ वही, पृष्ठ १०।
३ वही, पृष्ठ १५।
४ वही, पृष्ठ १५।

में स्वीकार करते हैं और अन्तर्जगत् का बहिर्जगत् के साथ साम्य-संस्थापन काव्यगत उच्चता का एक मुख्य उपादान मानते हैं। इन समीक्षकों में यत्र-तत्र भावुकता भी दृष्टिगोचर होती है और शैली-सौष्ठव तथा अभिव्यंजन-कौशल भी मिलता है। प्रभाववादी समालोचना की गरिमा भी इन काव्य-समीक्षकों को ग्राह्य है। कृतिकार की मनःस्थिति का निरूपण कर उसमें भाव विभोर होते हुए इन समीक्षकों ने अपनी समीक्षाओं का एक उद्देश्य यह भी रखा है कि उसका प्रेषण स्वयं पाठक के हृदय तक अधिक से अधिक संवेदनात्मक अनुभूति से करा दिया जाय। समालोचना के सैद्धान्तिक निरूपण की सामग्री ये समालोचक शास्त्र-ग्रन्थों से न लेकर जीवन से लेते हैं क्योंकि उनमें रस-ग्रहण की एक ऐसी शक्ति है जिससे जीवन-सत्य का सहज भाव प्राप्त किया जा सकता है। इस मान्यता में कदाचित् ही किसी को आपत्ति हो कि छायावाद-युग की समीक्षा-दृष्टि द्विवेदी-युग और शुक्ल-युग की परम्परागत मान्यताओं और आदर्शवादी धारणाओं से अधिक विकसित है, जिसमें समालोचना को मौलिक रसानुभूति प्रदान करने का पुष्ट, प्रयास है।

१४ छायावाद-युग और उसके काव्यालोचन के सम्बन्ध में जो कुछ पूर्वोक्त पक्ष-समर्थन किया गया उसका यह अभिप्राय नहीं कि इस युग की काव्य-विषयक मान्यताएँ और सर्जनात्मक प्रवृत्तियाँ विशुद्ध काव्य-दृष्टि से इतने उच्च स्तर की थीं कि उसमें किसी प्रकार की एकांगिता का अवकाश ही न था। वास्तविकता तो यह है कि इस युग की साहित्य-समीक्षा ने काव्यालोचन के मानदण्ड को कहीं-कहीं इतना अधिक आत्मपरक और अध्यात्ममूलक बना दिया जिससे उसका समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक पक्ष दब सा गया। वस्तुतः इस युग की समीक्षा-दृष्टि कलात्मक और सौन्दर्यपूर्ण अधिक थी जिससे जीवन की यथार्थ ठोसभूमि को अधिक उपलब्धि नहीं हुई। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि छायावादी काव्य की भाँति उसकी समालोचना भी कई स्थलों पर दुरूह और आध्यात्मिक कुहरे से व्याप्त केवल धूमिल भावमूर्ति सी बन गई जिसमें तथ्य-प्रकाशन का अंश झिलमिलाते तारकी तन्तुओं के बीच सिमट कर रह गया जिसमें उसके विरोधी समालोचकों को आ मुकाबला देने की प्रवृत्ति ही अधिक मिली और उन्होंने उसे पलायनवादी कह कर सामाजिक-दर्शन अथवा सामाजिक-आदर्श से विहीन सिद्ध किया। यह आक्षेप छायावादी काव्य और उसकी समीक्षा प्रवृत्ति की अतिरेकवादवश ही किया गया था। यदि छायावादी काव्य-समीक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता कुछ स्थिर धरातल पर होती तो संभवतः उससे शिकायत करने का कम अवसर होता पर परिस्थितिवश ऐसा नहीं हो सका। यही कारण है कि छायावादी काव्य प्रवृत्ति और समीक्षा-दृष्टि के विपरीत चलने वाली समालोचना ने छायावाद को सर्वथा व्यक्तिवादी दृष्टि से देखा है और उस काव्य में उसे रहस्य और रहस्यवाद के महत्त्व का कोई संकेत नहीं मिला है। उसके विरोधी समालोचकों ने उसे दैवी या पारलौकिक धरातल पर स्वीकार करना किसी भी तर्क पर समुचित नहीं समझा है, क्योंकि वे प्रकृति में चेतनता का आरोप और प्रेम-निरूपण को रहस्य विषयक अभिव्यक्ति स्वीकार करना किसी भी आधार पर उचित नहीं समझते और उन्हें छायावादी काव्य इहलौकिक प्रेम और सौन्दर्य भावना से अलग ही नहीं लगता।

१५ छायावादी कवियों ने अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं तथा स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत समालोचना का विकास करने में महान् योग दिया है। इनकी समालोचनाएँ शास्त्रीयता की परम्परागत रूढ़िबद्ध प्रवृत्ति से विहीन और कोरी लक्षण निरूपण पद्धति से रहित हैं। इन कवियों के काव्य-समीक्षण का दृष्टिकोण साहित्य को उसके विशुद्ध संवेदनशील स्वरूप में ग्रहण करने का रहा है और वे अन्तर्मुखी साधना की स्वच्छन्दतावादिता को सौष्ठवपूर्ण विधि से अभिव्यक्त करने में ही साहित्य की चरम सिद्धि समझते रहे हैं। इन कवियों की समालोचना का एक पक्ष अपनी मान्यताओं और विचार धाराओं को जीवन के चिरंतन सत्य के साथ संबंधित कर उन्हें व्यक्त करना तथा अपने-अपने

रहस्यवाद का उद्गम और उसकी भारतीय प्रवृत्ति

२६ सैद्धांतिक समालोचना की दृष्टि से प्रसादजी का रहस्यवाद विषयक विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ और शास्त्रसम्मत है। इसके विवेचन का मूल प्रयोजन रहस्यवाद को काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा निर्दिष्ट कर इस भ्रान्ति का निराकरण करना है कि उसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्म भावना है और इसीलिए भारत के लिए यह बाहर की वस्तु है।[1] सामी धर्मों में रहस्यवाद की आध्यात्मिक भूमि अद्वैत भावना के लिए कोई स्थान नहीं था अतः जब वहाँ की धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध चलने का साहस ईसा सरमद तथा मंसूर जैसे तत्त्वदर्शियों ने अपने को ईश्वर का पुत्र तथा 'अनलहक़' घोषित करते हुए किया तो उन्हें प्राण-दण्ड दिए गए, क्योंकि उनकी विचारधारा भारतीय रहस्य-भावना के अधिक निकट थी। अतः प्रसादजी की दृष्टि में भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है यह कहना वैसा ही है जैसा वेदों को 'सुमेरियन डाकुमेण्ट' सिद्ध करने का प्रयास।[2] इससे यह अभिप्राय नहीं कि प्रसादजी जातियों के पारस्परिक साहचर्यवश विचार-विनिमय के क्षेत्र में होने वाले आदान प्रदान के क्रम को अस्वीकार करते हैं। उनका तो स्पष्ट आशय यही है कि जिस धर्म में रहस्यवाद को विदेशी प्रवृत्ति कहा जाता है वह असमीचीन है क्योंकि वैदिक काल की ऋचाओं से लेकर अद्यतन युग के साहित्य निर्माण पर्यन्त उसके विकास-तंतुओं का अन्वेषण भारतीय साहित्य की क्रमागत निधि में स्वाभाविक विधान में किया जा सकता है।

२७ रहस्यवाद के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत प्रसादजी ने ऐतिहासिक अनुशीलन के आधार पर विभिन्न भारतीय ग्रन्थों और विचारकों की उद्धरणियाँ प्रस्तुत कर भारतीय चिन्ता-धारा के अन्तर्स्रोतों में आने वाले परिवर्तनों का जो तथ्यपरक विश्लेषण किया है वह उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य तथा मौलिक चिंतन का परिचायक है। उसके द्वारा इस विषय की उपलब्धि में हमें विशेष आयास नहीं करना पड़ता कि रहस्यवादी काव्यधारा भारत की निजी सम्पत्ति है। उन्होंने घोषपूर्ण दृष्टि विधान से शास्त्रानुमोदित प्रमाण जुटा कर हिन्दी के उन मान्यमान आलोचकों की मान्यताओं का भी खण्डन किया है जो रहस्यवाद की वर्तमान प्रवृत्ति को विदेशी प्रमाणित करने के लिए उससे सम्बद्ध अन्यान्य विषयों पर भी विदेशी छाया का प्रभाव निर्दिष्ट करते हैं। यद्यपि प्रसादजी ने अपनी प्राचीनतावश ऐसे समालोचकों के नाम निर्दिष्ट करते हुए प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत आक्षेप नहीं किए हैं किन्तु उन्होंने उनकी जिन उपपत्तियों को भ्रान्तिग्रस्त बतलाया है, वे साहित्य समीक्षण में उस युग से ही इतना अधिक गौरव प्राप्त करती आ रही हैं कि अध्ययनशील साहित्य जिज्ञासुओं को उनकी यथेष्ट विवृत्ति का ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक विस्तृत निबन्ध में लोकसामान्य भावभूमि की मूल विचारणा के आधार पर रहस्यवाद की अतस्चेतना में जिन विदेशी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया था उनका समाहार प्रसादजी के प्रस्तुत विवेचन में मुख्य रूप से किया है। ऐसा करने में उनका अनुत्पन्न व्यक्तित्व और शास्त्र ज्ञान बहुत सहायक हुआ है।

रहस्यवाद विषयक भ्रान्त मान्यताएँ

२८. प्रसादजी ने रहस्यवाद को मूलतः भारतीय काव्य-परम्परा में स्थान देने के लिए उन प्रश्नों का भी विवेचन किया है, जिनको उपजीव्य बनाकर उनके विरोधी विचारकों ने उस साम्प्रदायिक और विदेशी छाया में पनपने वाला सिद्ध किया था। सबसे पहले उन्होंने रहस्यवाद

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ संख्या १।
२. वही, पृष्ठ ४८

लिए बाध्य है। इसलिए अमूर्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।"[1] इस प्रसंग में उनका पाश्चात्य तत्व-दर्शन का मूर्त और अमूर्त विषयक विवेचन अत्यन्त पठनीय बन गया है और वे काव्य-दर्शन के विषय में एक प्रकार से मूर्त और अमूर्त का झगड़ा ही समाप्त कर सकने में असमर्थ हुए हैं।[2]

२४ 'कला' के सम्बन्ध में भारतीय मान्यता का क्या दृष्टिकोण है, इसका सामान्य निर्देश प्रसादजी ने कई प्राचीन आचार्यों के मतानुसार किया है। वस्तुतः भारतीय दृष्टि कला को उपविद्या के अन्तर्गत संयोजित कर उसे विज्ञान के निकट उपस्थित कर देती है जिसका प्रमाण हमारे यहाँ काव्य-समस्या-पूरण छन्दशास्त्र तथा पिंगल के नियमों को "काव्योपयोगी कला के शास्त्र" के निकट रख कर देखना है। इसी प्रकार दण्डी ने भी नृत्य-गीत-प्रभृति कलाओं को कामार्थ संश्रय कलाएँ कहा है और भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त भी कलाओं की श्रेणी में गीत वाद्य आदि की ही गणना करते हैं। आचार्य भामह भी काव्य का विषय सम्बन्धी विभाजन करते हुए यही प्रतिपादित करते हैं कि काव्य का एक विषय कला भी हो सकता है। प्रसादजी ने इन आचार्यों के मतों का उल्लेख तो किया ही है, किन्तु साथ ही साथ वे शैवागमों के छत्तीस तत्वों में प्रतिपादित कलात्मक तत्व की महत्ता पर विशेष बल देते हैं क्योंकि उसके विवेचक क्षेमराज ने शिवसूत्र विमर्शिनी में "कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कलाव्यापार." कह कर उसका सम्बन्ध आत्मानुभूति के साथ जोड़ दिया है। प्रसादजी ने आत्मानुभूति की व्यंजना में 'स्व को कलन करने का उपयोग अनुकूल प्रतिकूल और अद्भुत नामक तीन प्रतीक-विधानों में निर्दिष्ट किया है जो उनके मतानुसार क्रमशः आदर्शवाद यथार्थवाद और व्यक्तिवाद के मूल उद्गम' कहे जा सकते हैं।[3] इस प्रकार कला के सम्बन्ध में उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त गम्भीर और दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है कि कला और आत्मानुभूति दो अभिन्न सत्ताएँ हैं जिनके लिए "शब्द विन्यास-कौशल तथा छन्द आदि की अत्यन्त आवश्यकता नहीं।

२५. काव्य और कला का इस प्रकार भारतीय स्वरूप निर्धारित कर प्रसादजी ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। वह यह कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की।"[4] इसके उत्तर में उन्होंने महाकवि सूर और तुलसी के काव्य विषय को लेकर यही मान्यता स्थापित की है कि काव्य-सृजन में आत्मानुभूति की ही प्रधानता होती है और उसी के कारण अभिव्यक्ति में भी चारुता तथा पूर्णता का संचार हो जाता है। सूर के वात्सल्य-वर्णन में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता थी जिसके कारण वे कृष्ण के शिशु रूप का अधिक मर्मस्पर्शी चित्र अंकित कर सके जबकि गोस्वामीजी के हृदय में भगवान राम की "भक्त शरण समर्थ दयालुता और न्यायपूर्ण ईश्वरता' का प्राचुर्य था जिसके कारण वे उनका केवल मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप ही चित्रित कर सके। अतः प्रसादजी के मतानुसार अनुभूति और अभिव्यक्ति काव्य के अन्तरंग और बहिरंग हैं जिनका सम्बन्ध अपरिहार्य है और कला को केवल अलंकार, वक्रोक्ति रीति तथा शब्द-विन्यास-कौशल में ही सन्नेपित करना उसके प्रधान तत्व की अव हेलना करना है क्योंकि "काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है।[5]

---

१ जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृष्ठ १५।
२. वही, पृ० ३१।
३ वही, पृष्ठ ४३ ४०
४. वही, पृष्ठ ४४-४५।
५ वही, पृष्ठ ४४।

अभ्युत्थान होने के कारण जब उसमें द्वैत भावना और समर्पण-बुद्धि का आधिक्य रहा तो मिलनोत्सुक प्रेममूलक रहस्यवाद के विकास के लिए अधिक अवसर उपस्थित हुए। शनैः-शनैः रहस्यवाद कई धाराओं में विभक्त होकर हिन्दी काव्य धारा की कृतियों में विकसित हुआ जिसका आदि-स्वरूप सिद्धों नाथपंथियों और कबीर आदि संतों की वाणियों में मिलता है। इस प्रकार प्रसादजी ने रहस्यवाद को काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा सिद्ध कर भारतीय साहित्य में उसका नैसर्गिक विकास प्रतिपादित किया है। ऐसा करने में उनके काव्य के प्रति बने हुए आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने पूर्वपीठिका प्रस्तुत की है।

विरोधी समालोचकों को प्रत्युत्तर और रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप

११ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि प्रसादजी रहस्यवाद को काव्य की प्रकृत धारा मानते थे अतः उनके विरोधी समालोचकों ने जब उन पर कई प्रकार के आक्षेप किये तो उन्होंने अपने शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर उनका निराकरण करने का प्रयत्न किया। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल रहस्यवाद की कई प्रवृत्तियों को विदेशी मानते थे जिनका प्रत्युत्तर प्रसादजी ने अपने विवेचन के प्रसंग में दिया। उदाहरणार्थ उन्होंने कबीर आदि संतों को अटपटी बानी का प्रयोग करने वाले कहा तथा ज्ञान उपासना और कर्म को सर्वथा अलग-अलग रूप में निर्दिष्ट कर रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान-काण्ड से जोड़ा जिसके लिए प्रसादजी ने वेदों और उपनिषदों के उद्धरण देकर उनकी मान्यता का खण्डन किया। हाँ यह बात अवश्य है कि ऐसा करने के पूर्व प्रसादजी ने श्रुतियों को भी संकल्पात्मक काव्य कहकर कविर्मनीषी की अभेदता स्वीकार कर दी थी। इस सम्बन्ध में अपनी ओर से अधिक कुछ न लिखकर स्वयम् प्रसादजी के उद्धरण देना प्रस्तुत कथन की वास्तविकता स्पष्ट कर देगा—

१२ (अ) जो लोग यह सोचते हैं कि भारत में अटपटी वाणी कहने वाले बाहरी पैगम्बर ही थे वे कदाचित् यह नहीं समझ सके कि वैदिक ऋषि भी गुह्य बातों को चमत्कारपूर्ण सांकेतिक भाषा में कहते थे। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् तथा तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारम्' इत्यादि मंत्र इसी तरह के हैं।[1]

(आ) "यह भी कहा जाता है कि यहाँ उपासना कर्म के साथ ज्ञान की धारा विशुद्ध रही और उसमें आराध्य से मिलने के लिए कई रूप नहीं बनाये गये। किन्तु छान्दोग्य में जिस शून्य आकाश का उल्लेख दहरोपासना में हुआ है, उसी से बौद्धों के शून्य और नाथों की शून्य भूमिका का सम्बन्ध है। फिर कबीर की शून्य महलिया वाम देश की सौगात कैसे कही जा सकती है? उपनिषदों में नीवारशूकवत् तन्वी शिखा के मध्य में परमात्मा का जो स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वह मन्दिर या महल कहीं विदेश से नहीं आया है। आगमों में तो इस रहस्य-भावना का उल्लेख है ही।[2]"

(इ) "वेदों उपनिषदों और आगमों में रहस्यमयी आनन्द-साधना की परम्परा के उल्लेख हैं। अपनी साधना का अधिकार उन्होंने कम नहीं समझा था। आज तुलसी साहब के 'जिन जाना तिन जाना नाहीं' इत्यादि को देखकर इसे एक बार ही वाम देश से आई हुई समझ लेने का जिन्हें आग्रह हो उनकी तो बात ही दूसरी है, किन्तु केनोपनिषद् के 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' का ही अनुकरण यह नहीं है यह कहना सत्य से दूर होगा। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र' इत्यादि श्रुति में बाहर और भीतर की पिंड और ब्रह्माण्ड की एकता का जो प्रतिपादन किया गया

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृष्ठ ६१।
२. वही, पृष्ठ ६४।

में निरूपित सूफी-सम्प्रदाय की अद्वैत-भावना को भारतीय दर्शन की ओट में मनगढ़ भावी निर्दिष्ट कर आचार्य शुक्ल की इस मान्यता का खण्डन किया है कि वह भारत के लिए विदेशी वस्तु है। इसी प्रकार उनका दूसरा व्यंग्य उन लोगों के प्रति है जो मेसोपोटामिया या बाबिलन के बाल ईस्टर प्रभृति देवताओं के मन्दिरों में रहने वाली देव दासियों को ही धार्मिक प्रेम का उद्गम' बतलाकर 'वहीं से धर्म और प्रेम का मिश्रण' तथा उपासना में कामोपभोग इत्यादि अनाचार का आरम्भ' मानते हैं तथा जिनके मत से 'यह प्रेम ईसाई धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव धर्म को मिला' है। प्रसादजी ने ऐसे लोगों का खण्डन 'काम' को प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप' कहकर उसकी व्यापकता की प्रशंसा करते हुए किया है। कालान्तर में 'काम' शब्द की महत्ता संभवतः विवेकवादियों की आदर्श भावना के कारण कम हो गई अतः प्रसादजी उसकी उपासना को सौन्दर्य आनन्द तथा उन्मद भाव की साधना-प्रणाली' से संयुक्त कर इस मत की प्रतिष्ठा करते हैं कि इसी वैदिक काम की आगम शास्त्रों में काम-कला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी जो कालान्तर में अन्य देशों की साधना पद्धति में कुछ भिन्न स्वरूप धारण कर स्वीकृत हुई।[1]

२१ प्रसादजी भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद का प्रमुख स्थान मानते हैं और जो लोग उसमें सेमेटिक भावना पाते हैं उसका प्रमुख कारण वे उन लोगों की थोथी आदर्शवादिता और जातिगत निर्वीर्यता बतलाते हैं। उनका तो इस विषय में दृढ़ विश्वास है कि आर्यों के जीवन में आनन्द उल्लास और प्रमोद के संस्कार प्रारम्भ ही से रहे हैं जिनका रहस्यवाद के आनन्दपथ से गहरा सम्बन्ध है। इतना ही नहीं वैदिक-कालीन प्रकृतिपूजा और बहुदेवोपासना में भी उन्हें आनन्द वाली आत्मवादी धारा के दर्शन हुए हैं जिसकी प्रतिष्ठा देवराज इन्द्र ने की तथा जिसका विरोध कालांतर में विवेकवादी वरुण समर्थों ने किया। उनकी इस प्रसंग में एक मौलिक मान्यता यह भी है कि 'पिछले काल में भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ।[2] ऐसा कहते हुए भी वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि आनन्दवादवाली मुख्य धारा में भक्ति का विकास एक दूसरे ही रूप में हो चुका था।[3] वैदिक काल के पश्चात् उपनिषद्-काल तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी आर्यों की आनन्दवादी विचारधारा का पल्लवन होता गया जो क्रमशः गूढ़ और रहस्यपूर्ण बनने लगी। श्रुतियों और निगम-काल के पश्चात् आगम-ग्रंथों में भी यह आत्मवादी आनन्दमयी धारा विकसित होती रही जिसका कालांतर में सिद्ध-सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पड़ा। सिद्ध पाशुपत-योग की प्राचीन साधना-पद्धति के उपासक थे और उन्होंने अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ आनन्द की योजना करने के लिए काम उपासना-प्रणाली भी दृष्टांत के रूप में स्वीकृत की थी।[4] इस प्रकार प्रसादजी के मतानुसार आनन्द और अद्वैत भावना का स्वरूप भारतीय साधना में वैदिक काल ही से रहा है जिसकी आधारशिला पर रहस्यवाद यहाँ की प्रमुख काव्यधारा सिद्ध होती है।

१ प्रसादजी ने रहस्यवाद के मूल में भारतीय दर्शन के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कर उसके आनुषंगिक रूप में रति प्रीति सौंदर्य तथा अद्वैत भक्ति का भी सामान्य निरूपण किया है। उन पर शैवागम-दर्शन का तो इतना अधिक प्रभाव है कि वे अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को आत्मा का अभिन्न अंग मानते हैं और जगत् तथा अन्तरात्मा की व्यावहारिक अद्वयता में आनन्द की सहज भावना का विकास[5] पाते हैं। पौराणिक-युग में कृष्ण-भक्ति का

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ७० ।
२ वही, पृष्ठ ५२ ।
३ वही, पृष्ठ ५१ ।
काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ५० ।
५ „ „ ६७-६८ ।

तात्त्विक अलंकार मत से सम्बद्ध किया। अभिनवगुप्त ने अभेदमय आनन्दपक्ष वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की।[1] अभिप्राय यह है कि प्रसादजी के मतानुसार रस के सम्बन्ध में की गई आनन्दवादियों की व्याख्या सबसे अधिक पूर्ण और तात्त्विक है और उनके रस-सिद्धान्त में साहित्य दर्शन का जो मुमधुर समन्वय है वह दार्शनिक रहस्यवाद से दूर हटा हुआ नहीं है।

१६ वैसे तो प्रसादजी ने रस का विवेचन अधिक विस्तार में नहीं किया है किन्तु फिर भी उसमें जो सबल वैशिष्ट्य और तात्त्विक निरूपण हुआ है वह अमूल्यपूर्ण है। वे पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार कला को अनुकरण-मात्र नहीं मानते क्योंकि ऐसा मानने से भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार साहित्य में अभेदपूर्ण दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। उन्होंने वस्तुतः काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की तत्त्व-योजना से संयुक्त कर नाट्य रसों में आत्मा के अभिनय को वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप में ग्रहण करने' की पुष्टि की है।[2] वे अभिनवगुप्त आदि प्रमुख आचार्यों की भाँति सामाजिकों नटों तथा कवि इन तीनों में रसानुभूति का साधारणीकृत विधृत् मानते हैं जिसके अनुसार इन तीनों में अभेद भाव से एक रस हो जाता है। उनके मत से रसानुभूति फलयोग की दृष्टि से सदैव पूर्ण होती है अतः उसमें निम्नोन्नत कोटियों के अवधारण का कोई अवकाश नहीं रहता अतः जो लोग रंगमंच पर अभिनीत किये जाने वाले किसी अत्याचारी के अत्याचार को देखकर अपनी सद्वृत्ति के कारण नट से साधारणीकरण न होने के कारण उसमें निम्नकोटि की रसानुभूति की कल्पना करते हैं, उनका प्रसादजी खण्डन करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्लजी ने तुलसी की काव्य-रचनाओं का विवेचन करते हुए जिस प्रकार की निम्न कोटि की रसानुभूति का विश्लेषण किया था उसका प्रसादजी ने इस कथन द्वारा खण्डन किया है। वे तो बार-बार 'भारतीय रसवाद में मिलन प्रमोद सुख की सृष्टि को मुख्यता देते हैं 'जिसमें लोक मंगल की कल्पना भी प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित' रहती है। उनका रसवाद के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है, इसका सूत्र रूप में निष्कर्ष इस प्रकार है—

'रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का संशोधन कर के उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है उसमें व्यक्ति की विभिन्नता विशिष्टता छूट जाती है और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पूरक बनकर चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।"[3]

१७ प्रसादजी ने रस-विवेचना के प्रसंग में उसका भक्ति के साथ भी सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने का प्रयत्न किया है। वे आगमों में प्रतिपादित अद्वैत-मूला भक्ति के मधुर-सम्प्रदाय में रस-परिपाक की पूर्णावस्था पाते हैं और परकीया प्रेम में दार्शनिक दृष्टि से जीवन और ईश्वर की अभिन्नता के लिए तीव्र-संवेगों की योजना के अधिक अवसर देखते हैं किन्तु उनकी दृष्टि से द्वैत भाव की भक्ति केवल रसाभास ही करा सकती है। उनका तो रस-सम्प्रदाय की श्रेष्ठता पर इतना अधिक विश्वास है कि वे ध्वनि रीति अलंकार और वक्रोक्ति पर उसकी प्रभु-सत्ता स्वीकार करना समुचित समझते हैं। सच तो यह है कि एक प्रकार से उन्होंने रस और अलंकार की कोटियों में ही साहित्य

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ८९-९१
२. वही, पृष्ठ ८१
३ वही, पृष्ठ ८६

संत-मत में उसी का अनुकरण किया गया है।[1]"

१३ प्रसादजी ने रहस्यवाद का एक स्वरूप प्रकृतिमूलक भी माना है और उसे स्वाभाविक क्रम में विकसित बतलाया है। रहस्यवाद की धारा में उन्हें भारतीय तत्त्व-सन्निहिति इतनी अधिक उपलब्ध होती है कि वे तुलसी जैसे सगुण भक्त कवियों में भी उसका आभास पा लेते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों के प्रेम में उन्होंने विरह और माधुर्य की परोक्ष अनुभूति का जो निरूपण किया है वह अत्यंत तात्त्विक है। इसी प्रकार सिद्धों की सन्ध्या भाषा में भी उन्होंने आनन्दवाद की झलक देखी है और उसी परम्परा में कुन्दगिरि और रामगिरि आदि उन्हें कुछ रहस्यवादी कवि लगे हैं जिनकी साधनाओं में आनन्द और अद्वैत का सर्वत्र समावेश है। प्रसादजी के मतानुसार रहस्यवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण निम्नलिखित अवतरण से और अधिक तारतम्यपूर्ण विधान से हो सकेगा—

'साहित्य में विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य-लहरी के शरीरं त्वं शम्भोः का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।'[2]

रस-विवेचन के सम्बन्ध में प्रसादजी के विचार

१४ प्रसादजी की समालोचना का एक प्रमुख विषय रस-विवेचन भी है। इसका निरूपण करने में उन्होंने काव्य के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित शैवागमों की आनन्दवादी धारा का उपयोग किया है। वैसे तो 'रसो वै सः' के अनुसार रसवाद की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में की जिसका कालांतर में विभिन्न परवर्ती आचार्यों ने अपनी-अपनी विचारधाराओं के अनुरूप विश्लेषण किया। प्रसादजी ने उन आचार्यों की मान्यताओं का सामान्य उल्लेख कर मुख्य रूप से अभिनवगुप्त आनन्दवर्द्धन तथा पंडितराज जगन्नाथ के उन दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है जिनके अनुसार रस काव्य की आत्मा सिद्ध होता है तथा जिस की अनुभूति आनन्द-तत्त्व से समन्वित रहती है। ऐसा करते हुए उन्होंने इस धारणा पर विशेष बल दिया है कि रसवाद मूलतः आनन्दपरक है और उसकी नाट्यान्तर्गत उद्भावना केवल इस लिए की गई है कि उसके द्वारा सर्वसाधारण में भी धार्मिक बुद्धिवादियों से भिन्न कोटि में आनन्द-प्रचार किया जा सके।

१५ प्रसादजी ने रस-विवेचन के प्रसंग में इस विषय का भी निरूपण किया है कि रसवाद के विरोध में अलंकारवाद की स्थापना क्यों हुई और रीति तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय ने किस प्रकार अपनी विकल्प वृत्ति से काम लेकर अपने विवेचन को व्यापक बनाने का प्रयास किया। उनके मतानुसार 'आनन्द परम्परावाले शैवागमों की भावना में प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी। रस की अभेद और आनन्दवादी व्याख्या हुई। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोकसामान्य प्रकाश-आनन्दमय आत्म चैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।'[3] 'आनन्दवर्धन ने आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ६४

२. वही, पृष्ठ ६६।

३ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ७०-७१

४० वैसे तो प्रसादजी ने छायावाद की अभ्यर्थना में बहुत कुछ लिखा है और वे उसके अनुभूति तथा अभिव्यक्ति पक्ष की विशेषताओं को किसी भी भाषा-साहित्य के लिए वरदान-स्वरूप समझते हैं, किन्तु वे इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं हैं कि 'जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट छायामात्र हो वास्तविकता का स्पर्श न हो वही छायावाद है।'[1] इसी प्रकार वे छायावाद और रहस्यवाद में भी मौलिक अंतर मानते हैं और जो विचारक 'प्रकृति को विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब कहकर उसको काव्यगत व्यवहार में ले आने में ही छायावाद की सृष्टि' समझते हैं उनकी धारणा को मिथ्या सिद्ध करते हैं क्योंकि 'प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।'[2]

४१ प्रसाद जी का छायावाद-विषयक विवेचन अत्यन्त सारगर्भित और तथ्यपरक है। उसमें इस वाद से सम्बन्धित उन समस्त विशेषताओं का उल्लेख हो गया है जिनकी आधारशिला पर इस प्रवृत्ति की काव्यधारा प्रवाहित है। वैसे तो छायावाद युग की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए अन्यान्य समालोचकों ने भी अनेक विस्तृत निबंध और स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु जो सूत्रबद्ध निरूपण प्रसादजी ने प्रस्तुत निबंध में किया है वह अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक है। उनका निम्नलिखित निरूपण इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है —

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।'[3]

४२ यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रसादजी मूलतः छायावाद के कवि होने पर भी *अत्यंत गम्भीर अध्येता थे और अपने युग की विभिन्न प्रवृत्तियों से भी परिचित थे।* साहित्य के इतिहास का उन्हें सम्यक् बोध था और उसकी क्रोड़ में उन्होंने युग जीवन की गतिविधियों को समझा था। यही कारण है कि वे अपनी समीक्षाओं में शास्त्रीय ज्ञान का आधार लेते हुए भी उदार *दृष्टिकोण को अपना कर चल सके हैं और छायावाद के साथ-साथ पनपने वाले* यथार्थवाद का स्वरूप-विवेचन भी निष्पक्ष-विधि से कर सके हैं। संभवतः प्रसादजी हिन्दी के प्रथम समालोचक हैं जिन्होंने भारतेन्दु-युग को साहित्य का पुनरुद्धार काल कहकर इस तथ्य का उद्घाटन किया है *कि भारतेन्दुजी के समय से ही 'राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण* प्रारम्भ'[4] हो गया था। इस प्रकार उन्होंने यथार्थवाद की अवतारणा के उपयुक्त उस पृष्ठभूमि का भी ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है जिसके कारण आधुनिक हिन्दी-साहित्य में उसके पल्लवित होने के अधिक अवसर आ सके। उनका यथार्थवाद का स्वरूप विवेचन भी अत्यंत तात्त्विक और विशदतापूर्ण है और उन्होंने उसके जो लक्षण निरूपित किए हैं वे आज भी अकाट्य हैं। वे यथार्थवाद की प्रमुख विशेषता का विवेचन करते हुए लिखते हैं—

"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है

---

१ जयशंकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १२७।
२. वही, पृष्ठ ११८।
३ वही पृष्ठ ११८।
४ वही, ११६।

का विवेचन किया है जो क्रमशः आनन्द और विवेक वाले अद्वैत और द्वैत दर्शन से अनुप्राणित है। इस प्रकार प्रसादजी का रसवाद विषयक विवेचन अत्यन्त तात्त्विक और संप्रेरक है जिसकी मान्यताओं को लेकर अब भी शास्त्र की गुंजाइश बनी हुई है।

यथार्थवाद और छायावाद का विश्लेषण

१८ प्रसादजी का यथार्थवाद और छायावाद-विषयक विवेचन अत्यन्त संतुलित और सारगर्भित है। उसमें उन्होंने इन वादों के स्वरूप-निर्माण में अन्तर्व्याप्त सूत्र का तात्त्विक विश्लेषण कर दोनों की मूलवर्ती प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय अत्यधिक सधी हुई शैली में दिया है। जिस समय उनके एतद्विषयक विचारों का सुझाव हिन्दी जगत् को मिला हमारे साहित्य का विचार-पक्ष कई विषयों में दुराग्रही बनकर चल रहा था। प्रसादजी ने शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर छायावाद को भारतीय साहित्य की परम्परा में नैसर्गिक महत्ता प्रदान की और उसके अनुभूति तथा अभिव्यक्ति पक्षों का सबल समर्थन किया। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे छायावाद को वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति'[1] मानते हैं, जिसका दृष्टिकोण निश्चय ही बाह्य वर्णन प्रधान कविताओं से भिन्न है। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादी काव्य का सृजन द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में हुआ था और उसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था अत: प्रसादजी ने उसके विकास-क्रम को एक मनोवैज्ञानिक विवृति भी प्रदान की है। छायावादी काव्य में प्रयुक्त 'आभ्यंतर सूक्ष्म भावों' नवीन वाक्य-विन्यासों तथा नूतन शब्द-भंगिमाओं को उन्होंने हिन्दी में नवीन अभिव्यंजना के उपकरण निर्दिष्ट कर उन्हें काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त अनिवार्य बत लाया है। छायावादी वैशिष्ट्य के प्रति उनका सहज आकर्षण इसलिए भी है कि वे उसमें प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य-स्वरूप का सौष्ठव भी पाते हैं, क्योंकि छायावादी काव्य में 'शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता-विच्छित्ति' 'स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति' 'भीतर अर्थ-वैचित्र्य' तथा 'अनुभूतिमय आत्मस्पर्श' के लिए अधिक अवकाश है। 'छाया' शब्द की गम्भीर अर्थ व्यंजना में उन्हें संस्कृत काव्य-साहित्य का अत्युन्नत काल दृष्टिगोचर हुआ है तभी तो वे उसे काकु या श्लेष की सामान्य वक्रोक्ति से भिन्न तथा 'आन्तरिक स्पर्श से पुलकित' मानते हैं। इस प्रकार प्रसादजी के मतानुसार छायावादी काव्य पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न है'[2] और उसकी अभिव्यक्ति में जो विशिष्ट प्रकार की निधि भरा मिलती है, उसका मूल कारण आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा ही है।

छायावाद की नवीन व्याख्या और उसका सौन्दर्य

१९ छायावादी काव्य को प्रसादजी ने प्राचीन साहित्य में एक स्वाभाविक क्रम में निरूपित किया है। उनका 'छाया' शब्द का विवेचन शास्त्रीय और प्रमाण-सम्मत है, जिसमें छायावाद की विशेषताओं का सौष्ठवपूर्ण संगुम्फन है। वे ध्वनिकार के मत से सहमत होते हुए 'छाया' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति छाया और कांति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है।"[3]

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृष्ठ १११।
२. वही पृष्ठ १२२
३. वही, पृष्ठ १२४-१२५।

प्रगतिशील चिह्न है किन्तु अधिक उछलने में स्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है किन्तु उतना ही अलम् नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हम को वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर नये को नहीं पाया है।[1]

समालोच्य विषयों का मूल्यांकन

४६. अब तक प्रसादजी के काव्य कला रहस्यवाद छायावाद यथार्थवाद रसवाद तथा नाटकवाद आदि जिन विचार-पक्षों का विवेचन किया गया वे उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करने के साथ-साथ समालोचना-साहित्य के मानदण्ड-निर्धारण में भी सहयोगी बने हैं। उनके द्वारा साहित्य-दर्शन को द्विवेदी-युग से अधिक व्यापक और गम्भीर दृष्टि मिली है। काव्य और अध्यात्म को समकक्ष निर्दिष्ट कर उन्होंने आनन्द और विवेकवादी दृष्टिकोण व समीक्षण का जो प्रतिमान निर्धारित किया है वह अभूतपूर्व है। इसी प्रकार उनके द्वारा प्रयुक्त अभिव्यंजना-शैली शास्त्रीय शब्द-योजना तथा पाण्डित्य-पद्धति उनकी तथ्य-ग्राहिणी मेधा-शक्ति की परिचायक है। उनके समान साहित्य और दर्शन का स्वस्थ समन्वय करने वाले समालोचक हिन्दी में बहुत कम हुए हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने कुछ ही लेखों में ज्ञान-राशि की जो प्रचुर सामग्री खोज कर प्रस्तुत की है वह परिमाण में कम होने पर भी गुण-गरिमा में अप्रतिम है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी ने आज से प्रायः पच्चीस वर्ष पूर्व जिस समय अपने इन समालोचनात्मक निबन्धों की रचना की हिन्दी समालोचना में या तो केवल पश्चिमी विचारों की अनुकरणी हो रही थी या पुरातनता का पल्ला कस कर पकड़ा हुआ था। उस समय दोनों प्रकार की विचारधाराओं में समन्वय लाने की सफल चेष्टाएँ बहुत कम हुई थीं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रसादजी इस प्रकार का सर्वांगीण समन्वय ला सके फिर भी उन्होंने भारतीय वाङ्मय को केवल रूढ़िग्रस्त रखना अनुचित समझ कर उसे व्यापक धरातल पर अवश्य ही उपस्थित किया। उनकी समीक्षाएँ ऐसे अनेक साहित्यिक प्रवादों का खंडन करती हैं जो उस समय सुधी समालोचकों द्वारा कई बार तो अपनी हठधर्मी का पालन करते हुए फैला दिये गये थे। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि प्रसादजी की मान्यताएँ सर्वथा निर्भ्रान्त और अकाट्य हैं, किन्तु इतना आशय अवश्य है कि उनमें प्रतिपादित सत्य को सहसा अस्वीकार करना विरोधी विचारक के लिए भी सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयीजी के इस निर्णय से हम पूर्णतया सहमत हैं कि "शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव-मनोविज्ञान के दोहरे प्रश्नों से छानकर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रामाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।"[2]

(२)

श्री सुमित्रानन्दन पंत

मानसिक चेतना और व्यक्तित्व निर्माण

४७. पंतजी आधुनिक हिन्दी-काव्य के सौन्दर्य प्रबुद्ध कलाकार ही नहीं प्रत्युत अत्यन्त सुलझी हुई दृष्टि वाले गम्भीर विचारक भी हैं। युग जीवन और सांस्कृतिक वातावरण की छाप उनके शालीन व्यक्तित्व पर प्रारम्भ ही से पड़ती रही है जिसके कारण वे अपने मानसिक

१ जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १०४।
२. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, भूमिका, पृष्ठ ३।

साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का वास्तविक उल्लेख।[1]

यथार्थवाद का संयत निरूपण

४३ यद्यपि प्रसादजी ने यथार्थवाद पर अधिक नहीं लिखा है फिर भी उनके लघु विवेचन में उक्त वाद से सम्बन्धित प्रायः समस्त मुख्य तथ्यों का उद्घाटन हो गया है। उन्होंने भारतेन्दुजी को इस प्रकार के काव्य-निर्माण का प्रथम सूत्रधार कह कर उन यथार्थवादियों का मुंह बन्द कर दिया है जो छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद तथा यथार्थवाद की धारा का प्रवर्तन समझते हैं। वस्तुतः यथार्थ की प्रवृत्ति साहित्य में अत्यंत प्राचीन है जिसका पुनरुद्धार भारतेन्दुजी ने सामयिक वस्तुपरिस्थिति से प्रेरणा लेकर किया। अतः प्रसादजी का यथार्थवाद के मूल प्रवर्तन के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण आप्तवचन के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है —

"भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना अकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेकशून्य पूर्ण पाखण्डों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान् दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख-सम्वलित मानवता का स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।[2]

४४ प्रसादजी के यथार्थवाद-विषयक विवेचन में उनका स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण परिलक्षित है तभी तो वे उसके निर्माण में सामाजिक रूढ़ियों तथा अभिशापों की प्रतिक्रिया स्वाभाविक समझते हैं। उनके मतानुसार 'जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में यथार्थवाद की सहायता करती है।[3] इसी प्रकार वे मानवीय दुर्बलता की स्वाभाविकता को स्वीकार कर वेदना को यथार्थवाद की मूलभावना मानते हुए उसे क्षुद्रों के साथ साथ महानों का साहित्य मानते हैं क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो कोरा आदर्शवाद केवल कल्पना और धार्मिक प्रवचन का ही विषय बन कर रह जाता। वस्तुतः उनके मतानुसार आदर्श और यथार्थ दोनों साहित्य के अनिवार्य पक्ष हैं और उसी के अनुसार वे साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

"दुःखदग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसीलिए असत्य और अघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्व-मंगल की भावना ओत प्रोत रहती है।[4]

४५ प्रसादजी अत्यन्त गम्भीर और शास्त्रीय विचारक थे। वे नवीनता की झोंक में बहने वाले किसी भी साहित्यिक प्रवाद को तबतक स्वीकार नहीं करते थे जब तक उन्हें उसकी उपादेयता और अर्थसिद्धि का पूर्ण विश्वास नहीं हो जाता। उनके समय में प्रगतिवाद का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था किन्तु वे उसकी विशेष वर्गगत मान्यताओं के कभी समर्थक नहीं बने। वस्तुतः उन्हें प्रगति को किसी वाद-विशेष के कठघरे में बद्ध करना अशोभनीय लगता था। प्रगति के व्यापक विधान के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण इस प्रकार का था—

---

१ श्री जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ११०।
२. वही, पृष्ठ १२१।
३ वही, पृष्ठ १२ ।
४ वही, पृष्ठ १२१।

नहीं है, किन्तु उन्हें युग-आह्वान के कारण खड़ी बोली का पक्ष-समर्थन अधिक समीचीन लगा है क्योंकि 'अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पांचजन्य उठा लिया सुप्त देश की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी खड़ी बोली उस जागृति की शब्द-ध्वनि है। ब्रजभाषा में नींद की मिठास थी इसमें जागृति का स्पन्दन उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय ज्योत्स्ना इसमें दिवस का सप्रभ कार्यव्यग्र प्रकाश।"[1]

भाषा और काव्य-विषयक दृष्टिकोण

११ पंतजी ने ब्रजभाषा से अभिप्राय 'प्राचीन साहित्यिक हिन्दी' से लिया है और ऐसा करते हुए 'अवधी' को भी उसके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है जो भाषा-विज्ञान के तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से चिन्त्य है। वस्तुतः ब्रजभाषा और अवधी हिन्दी-प्रदेश की दो भिन्न-भिन्न विभाषाएँ हैं, जिनका स्वरूप-संगठन शब्द रचना क्रिया-पद तथा वाक्य-योजना में पर्याप्त अन्तर रहता है। सम्भव है पंतजी ने मध्ययुगीन साहित्य में अवधी की समता में ब्रजभाषा का सार्वभौम प्रहण और प्रचार देखकर उसे अंगीभाव में निक्षिप्त करना अनुचित न समझा हो और वे इस कारण काव्य की भाव-माधुरी के चित्रण में इस पक्ष की उपेक्षा कर गए हों। उन्होंने इस विवेचन की ऐतिहासिक पीठिका की भ्रान्तिपूर्ण व्यवस्था के अंतराल में सूर, तुलसी देव बिहारी और केशव प्रभृति काव्यकारों के रचना-सौष्ठव और भाव-पक्ष का जिस तन्मयता से चित्रण किया है वह अपनी रस-सिक्त मधुरिमा में हमें गद्य-काव्य की सी छटा प्रदान करता है। स्पष्ट है कि इस निरूपण में पंतजी रीतिकालीन रूढ़िग्रस्त काव्य-रचना-प्रणाली के उन दुर्बल पक्षों का उद्घाटन भी कर सके हैं जिनके कारण वह तीन फुट के नख-शिख के संसार' के भीतर सिमट कर रह गई थी और जिसका प्रस्तुत-अप्रस्तुत-विधान परम्परामुक्त प्रवृत्तियों से बहुत कम ऊपर उठ सका था।

१२ पंतजी के इस भाषा-विषयक विवेचन में सामयिकता की भी छाप है। उनकी दृष्टि उस युग के एक ज्वलंत प्रश्न 'राष्ट्रभाषा' की आवश्यकता पर भी गई है। वे गद्य और पद्य के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रयोग को सर्वथा कृत्रिम और समय-बाह्य निर्दिष्ट कर खड़ी बोली में युग भावों के वहन का पूर्ण सामर्थ्य मानते हैं क्योंकि उसने अपने अल्पकालीन विकास में उन शक्ति-स्रोतों का पर्याप्त संयोजन कर लिया है जिनके कारण किसी भाषा में व्यापक चेतना का संचार होता है। इस प्रसंग में उन्होंने ब्रजभाषा पर जो कठोर व्यंग्य किये हैं वे अत्यंत निर्मम हैं। सैद्धांतिक समालोचना के लिए अपेक्षित विशेष विशेष स्थलों पर जिन पारिभाषिक शब्दों के संयत निरूपण की आवश्यकता होती है, उनकी व्याख्या भी पंतजी ने इसी प्रसंग में अपने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से की है, जो शास्त्रीय परिभाषा प्रणाली पर भले ही घटित न हो किन्तु जिसका काव्यमय निरूपण अवश्य ही हृदयहारी है। जैसे—

(अ) भाषा संसार का नादमय चित्र है ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व के हृतंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।[2] आदि।

(आ) "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप हमारे अंतरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छंद ही में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है।[3]

'प्रवेश' में काव्य का बहिरंग परीक्षण

१३ पंतजी का प्रवेश' मुख्यतः काव्य के बहिरंग पक्ष का समीक्षण करता है। यद्यपि

१ श्री सुमित्रानन्दन पंत : पल्लव 'प्रवेश' पृष्ठ ३।
२. वही पृष्ठ १४।
३ वही पृष्ठ ११।

व्यक्तित्व को क्रमशः पुष्ट और प्रौढ़ बनाने में समर्थ हो सके हैं। 'ग्रन्थि' से लेकर आज तक उनके जितने काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनके प्रारम्भ में संलग्न भूमिकाओं द्वारा जहाँ एक ओर हमें उनकी अंतश्चेतना और कवि-स्वरूप की अनुभूति का बोध होता है वहाँ दूसरी ओर वे हमें उनकी समालोचक प्रज्ञा का भी आभास देती हैं। इन भूमिकाओं के कलेवर में पंतजी ने सामान्य रूप से छायावाद के प्रवर्तन-काल से लेकर अद्यावधिक युग पर्यन्त होने वाले परिवर्तनों का विवेचन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के साथ साहित्यिक प्रक्रियाओं का स्वस्थ ग्रन्थि-बंधन करते हुए किया है। उससे यह सहसा स्पष्ट हो जाता है कि पंतजी की प्रखर बुद्धि में तत्त्वग्रहण की कितनी अधिक आकर्षण शक्ति है और वे अपने आत्मचिंतन में प्रकृति-सौन्दर्य छायालोक अध्यात्मवाद गांधीवाद अरविन्द दर्शन तथा अध्यात्मवाद की भिन्न-भिन्न भूमियों को पार कर वर्तमान स्वरूप में अवस्थित हुए हैं। उनके बौद्धिक विकास को समझने में आकाशवाणी द्वारा प्रसारित उनकी वार्ताओं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख-मालाओं तथा सांस्कृतिक और साहित्यिक आयोजनों पर प्रदत्त प्रवचनों का भी यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

समालोचना की आधारभूत सामग्री

४८ पंतजी की समालोचनाओं की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि उनमें उनके जीवन दर्शन का तारतम्यपूर्ण विधि से विवेचन हुआ है। उनके काव्य-ग्रंथों की प्रारम्भिक प्रस्तावनाएँ इसका प्रमाण हैं। सन् १९२१ में 'पल्लव' की भूमिका द्वारा उन्होंने मुख्य रूप से काव्य के बहिरंग का विश्लेषण किया था। उसके प्रायः पन्द्रह वर्ष पश्चात् सन् १९४१ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित आधुनिक कवि (भाग २) के 'पर्यालोचन' में उन्होंने अपने विकास की सीमाओं के भीतर से काव्य के अन्तरंग का विवेचन किया। इस विवेचन में उनके काव्य की आत्मा को स्पष्ट और सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास है तथा उनके दृष्टिकोण को समझने में भी सहायता मिल सकती है।

४९. 'पर्यालोचन' के प्रायः छः वर्ष पश्चात् पंतजी की 'युगवाणी' का तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। उसका 'दृष्टिपात' पंतजी की इस कृति के 'कलापक्ष' के साथ-साथ 'युग-दर्शन' के प्रमुख तत्वों पर भी प्रकाश डालने वाला है। तदनन्तर पंतजी ने जनवरी सन् १९४९ में अपने काव्य-संग्रह 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' लिखी जिसका उद्देश्य 'कम से कम शब्दों में अपने दृष्टिकोण' को इस रूप में उपस्थित कर देना है जिससे उनकी 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' नामक काव्य-कृतियों को लेकर उनकी काव्य-चेतना के सम्बन्ध में प्रचारित भ्रान्तियों का निराकरण किया जा सके। सम्भव है पंतजी का भावी काव्य-संकलन उनके 'युगान्त' की उत्तरवर्ती रचनाओं के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत करे जैसा कि उन्होंने अपनी 'प्रस्तावना' में इस ओर संकेत किया है।

५० पंतजी के काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं से उनके समालोचक-व्यक्तित्व का क्रमिक विकास इसी भाँति समझा जा सकता है। उनमें उनके काव्य-दर्शन के साथ-साथ युग-जीवन का भी सांस्कृतिक निरूपण हुआ है। आज से प्रायः बत्तीस वर्ष प्रकाशित 'पल्लव' का 'प्रवेश' कवि के केवल किशोरकण्ठ का ही व्यंजक नहीं अपितु उसकी उस तम्यनिरूपणी मेधा का भी परिचायक है जिसके द्वारा उसने अत्यन्त भाव प्रवण और अलंकृत शैली में हिन्दी के मध्यकालीन काव्य साहित्य का सिंहावलोकन कर आधुनिक काव्य के विश्लेषण की भूमिका प्रस्तुत की है। इस 'प्रवेश' में पंतजी ने ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली के महत्त्व निर्धारण विषयक वाद-विवाद के सम्बन्ध में भी अपनी रुचिपूर्ण प्रवृत्ति का परिचय दिया है। वे ब्रजभाषा की काव्य-माधुरी पर भी कम मुग्ध

ान्यताओं का ही प्रतीक है। हाँ, उन्होंने रोला हरिगीतिका रूपमाला सखी पीयूष-वर्षण
गरिल्ल राधिका प्लवंगम आदि हिन्दी के प्रचलित छन्दों के विषय में जो भावानुकूल सामंजस्य-व्यंजना
ी है, वह अत्यंत सुग्राह्य है। उसके द्वारा कवि-समालोचक की तथ्य निरूपिणी अंतर्दृष्टि का बोध
सहज भाव से हो जाता है।

२६ जिस समय पंतजी ने पल्लव का 'प्रवेश' लिखा हिन्दी-काव्य मुक्त-छंदों की ओर
ड़ी लगन से आगे बढ़ रहा था। वस्तुतः परम्परागत छन्द-प्रणाली के प्रति यह एक बहुत बड़ा
रतिविरोध था। छायावादी कवियों ने जिस प्रकार भाव-जगत् में मोकरस्पर्श करते हुए क्रांति की
ी उसी प्रकार भाषा-पक्ष में छन्दों की मुक्तावस्था की घोषणा कर उन्हें निबन्ध बना दिया था।
तः द्विवेदी-युग की आदर्शवादी मान्यताओं के द्वारा उनका विरोध किया गया और कई मध्यमान
मालोचकों ने मुक्त छन्दों को रबर-छन्द, केंचुआ-छन्द आदि व्यंग्यपूर्ण नाम से अभिहित किया।
स प्रकार की प्रवृत्ति में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सुकवि किंकर' आदि छद्मनाम नामों से[१] सबसे
अधिक भाग लिया था। ऐसी स्थिति में मुक्त छन्दों के रचयिता-कवियों के लिए यह आवश्यक हो
गया कि वे स्वयम् इन छंदों की विशेषताओं का उद्घाटन करें। पल्लव' की रचना के समय
तजी छन्द में 'लय' को प्रामान्य देते हुए मुक्त छन्दों के प्रति विशेष आकृष्ट हो चुके थे अतः उन्होंने
स विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया कि मुक्त छन्द अपनी राग लय गति तथा स्वर-योजना
के कारण किसी भी भाषा-काव्य के लिए गौरव हो सकते हैं और उनमें किसी भी प्रकार की दोष
ृष्टि का अन्वेषण करना अनुचित है। इसी प्रसंग में उन्होंने छायावाद के अग्रतम कवि पं
सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला' के छंदों को लेकर यह लिखा कि 'उनके कुछ छन्द बंगला की तरह
अमरमर्दमिक पथ पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार
रचे लिखित हैं कि उनमें कोई भी नियम नहीं मिलता"[१] जिसका प्रतिफल हुआ निरालाजी द्वारा
लिखी गई 'पंतजी और पल्लव' शीर्षक समीक्षा जिसमें निरालाजी ने पंतजी के पल्लव की अत्यन्त
कटु आलोचना कर अपने छन्दों की मौलिकता का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार पंतजी ने
प्रवेश' के अंतर्गत काव्य में छन्द-स्थिति का जो मूल्यांकन किया है वह युगधारा को विकासोन्मुख
बनाने के साथ साथ समालोचना के रचनात्मक पक्ष का भी अनुप्रेरक है।

२७ पंतजी के प्रवेश' का मूल्यांकन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है
कि वह उस युग की समीक्षा है कि जब हिन्दी में अंग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार विशेष रूप
से होने लगा था और साहित्य-विचारक धर्म शनैः शास्त्रीयता का प्राचीन निर्मोक छोड़कर नवीन
दृष्टिमानों की ओर बढ़ रहे थे। स्वभावतः पंतजी की भी नवीनता की ओर अधिक अभिरुचि
थी। वे भी समालोचना में समयानुकूल रूपान्तर चाहने लगे। फलतः उन्होंने 'रस-गंगाधर' काव्या
दर्श' आदि प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के ढंग की समालोचना प्रणाली का विरोध किया।
स विरोध का एक प्रमुख कारण उनका जीवन के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण तो था ही पर दूसरा
कारण यह भी था कि वे उस समय पर्यन्त उन प्राचीन ग्रन्थों की गम्भीर-गरिमा में केवल अंगु
लि-निर्देश-मात्र ही कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो वे यह नहीं लिखते—

रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की दीक्षा के द्वार पुराने हो गये न स्थायी संचारी
व्यभिचारी आदि भावों का जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे करवा चुके।
न लोग अब 'काव्यं रसात्मकम् वाक्य' 'रसलीलार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्' को अच्छी तरह समझ

१ सरस्वती पत्रिका' में सन् १९१० 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक लेख
१. श्री सुमित्रानंदन पंत 'प्रवेश' पृष्ठ १२

इसमें शास्त्रीय और गम्भीर विवेचन-वृत्ति की न्यूनता है फिर भी कविवर पंत ने उसमें अपनी उर्वर मेधा-शक्ति के द्वारा भाषा से सम्बन्धित जिन प्रश्नों का समाधान किया है, वे उस युग की प्रचलित काव्य-परम्परा और विचार-दृष्टि से अत्यधिक अग्रगामी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पंतजी का भाव-प्रवण कवि रसग्राही समालोचक की बानगी धारण कर समीक्षण में एक प्रकार की चित्रमयता सी उपस्थित करने में यथेष्ट समर्थ है। समीक्षण की यह पद्धति प्रभावाभिव्यंजन और सुरुचिपूर्ण संस्थान के अत्यंत निकट है। इस विवेचन के द्वारा कवि का स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। काव्य में प्रयुक्त ध्वन्यात्मकता का आधार लेकर कवि ने भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण 'राग' तथा 'राग' का अर्थ आकर्षण' बतला कर 'भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों की प्रायः संगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों'[1] को प्रकट करने की जिस शक्ति का विवेचन किया है, वह कई स्थलों पर दोषपूर्ण होने पर भी कवि के उन मानसिक-चित्रों की प्रति-छाया अवश्य है जो शब्दों की प्राण-शक्ति का परीक्षण करते समय उसके मस्तिष्क में स्वतः प्रतिबिम्बित हो गई थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के विश्लेषण में कवि ने उन्मुक्त विचार-कल्पना से अधिक काम लिया है, जिसके फलस्वरूप शास्त्रीयता और सैद्धांतिकता के परम्परा-पालन की उसके लिए कोई आवश्यकता नहीं रही है। वस्तुतः पंतजी ने यह समीक्षण द्विवेदी-युग में चलने वाले भाषा-परिष्कार आन्दोलन के समय किया था अतः इसमें उस युग को देखते हुए अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से कई विशेषताएँ स्वतः आ गई हैं।

१४. पंतजी के 'प्रवेश' में काव्य के अभिव्यंजन-पक्ष से सम्बन्धित शब्द-योजना, समास, शुद्ध लिंग निर्णय, अलंकार विधान, छन्द रचना और संगीत-सम्भार आदि प्रमुख अंगों का जो विशद विवेचन हुआ है, वह कवि के काव्य-शिल्प को हृदयंगम कराने में परम सहायक है। उन्होंने कविता के लिए 'चित्रभाषा की आवश्यकता' और 'भाव तथा भाषा में सामंजस्यपूर्ण एकता' की महत्ता निरूपित कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि भाषा में भाव ग्रहण की कुशल क्षमता होनी चाहिए। इसी प्रकार उनके मतानुसार अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव भाव हैं। कविता में विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"[2] उन्होंने कविता तथा छंद के बीच भी घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[3] आदि।

१५. पंतजी के 'प्रवेश' का एक महत्त्वपूर्ण अंश उनके छन्द विषयक विचार हैं। उनकी काव्य प्राञ्जलता के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी स्वतंत्र अभिरुचि से काम लिया है। जिस प्रकार उन्होंने विवेचन के प्रसंग में रीतिकालीन काव्यधारा के ऐन्द्रियिक और संकीर्ण दृष्टिकोण की दुर्बलता का विरोध किया था उसी प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा के लोकप्रिय छन्द कवित्त और सवैया को हिन्दी काव्य के लिए अनुपयुक्त माना है। पंतजी के इस प्रकार के निर्णय में उनकी वैयक्तिक मनोवृत्ति ही प्रधान कारण है अन्यथा सच पूछा जाय तो ब्रजभाषा का काव्य-सौन्दर्य जिस कला-सौष्ठव के साथ इन छंदों में मूर्तिमान हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कवित्त छंद को हिन्दी का औरस जात न मानना तथा सवैया के छंदों को हिन्दी-कविता के लिए सम्यक् वाहन न समझना पंतजी की निजी

१ श्री सुमित्रानन्दन पंत 'गद्य-पथ— प्रवेश' पृष्ठ १०।
२. वही पृष्ठ १।
३ वही, पृष्ठ ११।

अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में थी। कहना होगा पतजी का यह मंतव्य उन्हें प्रकृति के नितांत आत्यंतिक स्तर से उतार कर मानव-जीवन की मूल-मनोवृत्तियों के चित्रण की ओर प्रेरित करने लगा था जिसके कारण वे इस विषय की अनुभूति करने लगे कि सामाजिक जीवन से निरपेक्ष रहने वाला प्राकृतिक वर्णन हमें आत्मस्फुरित करने के स्थान पर निष्क्रिय और अकर्मण्य बना देता है। अतः पतजी ने इसी प्रसंग में अपने व्यक्तिगत जीवन के रेखाचित्रों को अंकित कर एक सच्चे समालोचक के रूप में इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि उनका बिम्बग्राही मानस प्रस्तुत संघर्ष की विषमता को झेलने में असमर्थ होने के कारण किस प्रकार भावी समाज की कल्पना की ओर प्रभावित हुआ है।

९ विवेचन के इस प्रसंग में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि अन्य छायावादी कवियों की भाँति पतजी को भी अपने विरोधी समालोचकों का कोपभाजन बनना पड़ा था जिनके आक्षेपों का निराकरण करना उनके लिए आवश्यक हो गया। उनके समालोचकों ने यद्यपि *उनके काव्य-गुणों की प्रशंसा करते हुए उनके सुन्दरम् और शिवम् रूप की तो अभ्यर्थना की* किन्तु वे उसमें सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक जीवनानुभूति की तीव्रता का अभाव पाने लगे। पतजी को उनका यह आक्षेप बहुत अखरा था। इसमें कोई संदेह नहीं कि पंत जी सत्य के विविध पक्षों से भी परिचित थे और व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य का काव्याभिव्यंजन करना अपना स्वभाव के प्रतिकूल समझते थे किन्तु उन्हें अपने काव्य-स्वरूप में ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसमें सत्य-चित्रण का निरपेक्ष अभाव रहा हो। वस्तुतः पंतजी की विचारधारा में 'सत्यम्-शिवम् सुन्दरम्' तादात्म्य-भाव से सम्पृक्त हैं और उन्हें असम-अप्रग श्रेणियों में विभक्त करना अनुचित है तभी तो वे उनके सम्बन्ध में लिखते हैं—

'मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल के रूप-रंग है फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाले सत्य में अवश्य होने चाहिएँ नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है।'[1]

छायावाद विषयक मान्यता

१० यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि कवि की मानसिक भूमिका का उसकी कृतियों पर नैसर्गिक विधान में प्रभाव पड़ता है और यदि सौभाग्यवश कोई कवि भावुक के साथ साथ चिंतक भी होता है तो वह एक बौद्धिक विश्लेषक के रूप में उसका समीकरण भी कर सकता है। पंतजी के व्यक्तित्व पर यह सिद्धान्त पूर्णतया चरितार्थ होता है। एक समय था जब वे केवल प्रकृति-सौन्दर्य और ऐन्द्रिक चित्रण में ही अधिकतर खोए रहे, किन्तु वयक्रम के विकास के साथ साथ उनमें क्रमशः प्रौढ़ि आती गई जिसके कारण उनकी मानसिक वृत्तियाँ सौन्दर्य-लोक का अतिक्रमण कर वस्तुपरक और ज्ञानप्रधान बनने लगी। इसका मूर्तिमान प्रमाण उनका गुंजन-काल है जिसमें वे मानव जीवन के सुख-दुःख और जन-कल्याण की भावनाओं का चित्रण करने की ओर विशेष उन्मुख हुए हैं। अपनी इस प्रकार की परिवर्तित मनःस्थिति का पर्यालोचन उन्होंने वस्तु जगत् की सामाजिकता के स्थूल धरातल से किया है जो क्रमशः प्रकृति की कल्पनापूर्ण क्रीड़ास्थल को छोड़कर जीवन के प्रति अधिक आस्थावान बन कर चल सका है। कहना होगा पतजी का समालोचक-व्यक्तित्व अपने प्रस्तुत परिवर्तन की मूलभूत विचारणों का स्पष्टीकरण करने में पर्याप्त

१ श्री सुमित्रानंदन पंत, 'उत्तरा' 'पर्यालोचन' पृष्ठ संख्या २१।

पत्र है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय साहित्य-शास्त्र का रस सिद्धान्त ऐसे व्यापक और प्रौढ़ धरातल पर स्थित है जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक दीप्ति के साथ संयुक्त कर विश्व के किसी भी महान् साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। अतः पंतजी का यह निर्णय केवल उनके तत्कालीन किशोर मस्तिष्क का ही प्रतिफल है, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि पंतजी के पल्लव का 'प्रवेश' वस्तुतः एक युग-प्रवर्तक भूमिका है जिसे छायावाद-युग के आविर्भाव का 'ऐतिहासिक घोषणा-पत्र' कहा जा सकता है और जिसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि अंग्रेजी-साहित्य में वर्डसवर्थ के 'लिरिकल बेलड्स' की भूमिका का।[2]

'पर्यालोचन' और पंतजी का आत्म-विश्लेषण

५८. वैसे तो पंतजी के काव्य का समीक्षण शुक्लोत्तर-युग के विभिन्न समालोचकों ने स्वतन्त्र समीक्षा-पुस्तकों और फुटकर निबंधों के रूप में उनकी काव्यगत विशिष्टताओं के बाह्य तथा आभ्यान्तरिक पक्षों का विश्लेषण करते हुए किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में पंतजी का आत्म परक 'पर्यालोचन' सबसे अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है। उसके द्वारा कवि के मानसिक विकास और काव्य-स्फुरण का क्रमबद्ध वैज्ञानिक बोध हो जाता है। कवियों के काव्य-विश्लेषण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सर्वप्रथम उनकी उन अन्तःप्रेरणाओं और बाह्य परिस्थितियों का निरूपण किया जाय जिन्होंने उन्हें काव्य-निर्माण का आमंत्रण प्रदान किया हो। पंतजी समालोचना के इस आवश्यक तत्त्व-विधान की महत्ता से अवगत होने के कारण सर्वप्रथम इसी के उद्घाटन की ओर प्रवृत्त हुए हैं। एक प्रकार से उनका यह आत्म-निरीक्षण उनकी काव्य-कृतियों के सम्बन्ध बोध का रहस्योद्घाटन कराने के लिए कुंजी का काम देता है। वे प्रकृति-निरीक्षण को अपने काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानकर उसी के माध्यम से अव्यक्त सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए उन्मुख हो सके हैं यह एक ऐसा सत्य है जिसे उनकी प्रतिभा-चातुरी का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। पंतजी के काव्य में सौन्दर्य-कल्पना स्वप्न-दृष्टि तथा तन्मयता के जिन तत्त्वों का समावेश उनकी पल्लव कालीन रचनाओं में मिलता है, उसका मूल कारण उनका प्रकृति के प्रति चिरमोह ही है जिसने उन्हें कभी तो 'प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी' के रूप में देखने की अन्तर्दृष्टि दी है तथा कभी वे स्वयं उसमें आत्मविभोर होकर अपने आपको भी नारी रूप में चित्रित करने में नहीं हिचकिचाये हैं।[3]

५९. पंतजी ने अपने काव्य-समीक्षक के रूप में प्रकृति को अपनी काव्य प्रेरणा का मूल विषय बतलाकर उसकी क्रोड़ में संपठित होने वाले अपने मानसिक संस्कार का जो क्रमबद्ध व्याख्यान किया है वह उनके काव्य-विकास को समझने में परम उपयोगी है। एक समय था जब वे प्रकृति के कोमल और मधुर रूप की ही ओर आकृष्ट थे किन्तु धर्म-धर्म उनकी अनुभूतियों के विस्तार और गाम्भीर्य के कारण उसमें परिवर्तन भी आने लगे। यद्यपि पंतजी का सुकुमार स्वभाव अधिकांशतः प्रकृति के सुन्दर स्वरूप में ही आत्मलीनता का अनुभव करता रहा किन्तु वे उसके उग्र स्वरूप के चित्रण की वास्तविकता से भी तटस्थ नहीं रह सके। इसी समय उनके विचार-दर्शन पर उपनिषदों के साथ-साथ स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ की दार्शनिक उपपत्तियों का भी प्रभाव पड़ा जिन्होंने उनके मधुर-मानस में आन्दोलन उत्पन्न कर दिया और जिसकी झलक उन्होंने

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पंत पल्लव, 'प्रवेश' पृष्ठ ४१।
२ डा० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण' पंतजी की भूमिकायें पृष्ठ ७०।
३ पल्लव 'पर्यालोचन' पृष्ठ संख्या, ४८।

करते हैं किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त-क्रांति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स की सीमाएँ मानते हैं।[1] । पंतजी की इस प्रकार की मान्यताओं को उनकी काव्य-कृतियों में भी वाणी मिली है और वे प्रगतिवाद की ओर प्रवृत्त होकर भी अपनी विचारधारा में अत्यंत उदार रह सके हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य-निर्माण का संपर्क आधुनिक युग-चेतना के साथ करते हुए इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की है कि आज का युग राजनीतिक दृष्टि से जनतंत्र का युग तथा सांस्कृतिक दृष्टि से विश्वमानवता का युग है जिसके वर्ग-युद्ध को इस युग के विराट संघर्ष का एक राज-नीतिक चरणमात्र कहा जा सकता है।[2]

१४ यद्यपि पंतजी ने आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों और वाद-समीक्षाओं का विश्लेषण अपने अंतर्लोक की भूमिका के आधार पर अधिकांशतः किया है जिसे समालोचना के सैद्धांतिक पक्ष का ही अन्य निदर्शन कहा जा सकता है किन्तु यह भी एक निर्भ्रान्त सत्य है कि उनके विवेचन की आधारशिला उनके विवेकशील विचारक का दृष्टिपथ सर्वत्र अनुस्यूत किये हुए है। 'पर्यालोचन' के अन्तर्गत उन्होंने जिस युग-जीवन की व्याख्या विश्वालोक के माध्यम से की थी वह 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' में अधिक विकसित और प्रौढ़ बनकर उपस्थित हुई है। इसका प्रमुख कारण पंतजी की अध्ययननिष्ठ और चिंतन-प्रवृत्ति है। वस्तुतः तत्त्वग्राही के लिए अपेक्षित जिस उदार बुद्धि की आवश्यकता होती है वह पंतजी के शालीन व्यक्तित्व में अंतर्निहित है और उसी के द्वारा वे भारतीय संस्कृति और जीवन-चेतना के प्रति अटूट आस्था रखते हुए भी विश्व-जीवन और मानववाद की ओर अग्रसर हुए हैं। कहना होगा प्रगतिवाद के अनंतर अध्यात्मवाद की भूमिका में प्रवेश करते समय पंतजी का यह विचारक-व्यक्तित्व काव्य-सर्जना को भी इतना अधिक अभिभूत किये हुए है कि उसके आकलन से इस विषय का सहसा यह बोध ही नहीं हो पाता कि किसी समय कविवर पंत केवल कल्पना-जीवी और प्रकृति-प्रेमी सौन्दर्य-स्रष्टा कवि ही रहे थे। उनका भौतिक ध्यात्मवाद जड़-चेतनवाद यथार्थवाद तथा मार्क्सवाद आदि विषयक विवेचन दार्शनिक उपपत्तियों उ भी प्रभावित है और वे आधुनिक मनोविश्लेषणवाद की प्रक्रियाओं का यथातथ्य विश्लेषण करने में भी पीछे नहीं रहे हैं। इस प्रकार पंतजी का यह आत्मनिरीक्षण एक ओर उनकी जीवन-आस्था और भावी विश्व-निर्माण की कल्पना का मुखर प्रतीक है वहाँ उसके अंतर्प्रदेश में उन स्थलों का भी तत्त्वान्वेषण है जिनसे अनुप्रेरित होकर वे अपने कवि जीवन को विविध भूमिकाओं में क्रमशः विकासोन्मुख बने तथा जिनके मूलवर्ती दर्शन को हृदयंगम न कर सकने के कारण उनके आलोचकों ने उनके विकास-क्रम पर अनेक प्रकार के आक्षेपपूर्ण प्रश्नवाचक चिह्न भी लगाए। उनका प्रत्युत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है—

'ग्राम्या' के लिए 'युगवाणी' पृष्ठभूमि का काम करती है। ग्राम्या की भूमिका में मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है उस पर मेरे आलोचकों ने मुझ पर आक्षेप किये हैं। ग्राम-जीवन में मिलकर उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम जनता को रक्तमांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है और ग्रामों को सामंतयुग के खण्डहर के रूप में।[3]"

सांस्कृतिक मान्यताएँ और उनके तत्त्व

१५. पंतजी की समालोचनाएँ इस दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें विश्व

१ श्री सुमित्रानंदन पंत 'गद्य-पथ' 'पर्यालोचन' पृष्ठ ८५।
२ श्री सुमित्रानंदन पंत 'गद्य-पथ' 'पर्यालोचन' पृष्ठ ७।
३ वही, पृष्ठ ७१।

यथेष्ट है और यहीं से वे छायावाद के वायवी स्वप्नों को छोड़कर अपनी काव्यसाधना के दूसरे युग में प्रवेश करते हैं जिसका कारण उन्होंने इस प्रकार विवेचित किया है—

'छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश न नवीन भावनाओं का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी-युग की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्य-बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था और उसका भाव-शरीर द्विवेदी-युग के काव्य की परम्परागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किन्तु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हास-अश्रु आशाकांक्षा' खाद्यमधुपानी नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक भावप्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया दूसरी ओर केवल टेक्नीक और आवरण-मात्र रह गया।'[1]

९२ पंतजी ने उपर्युक्त अवतरण में छायावादी काव्य की जिन सीमाओं का उल्लेख किया है वे वस्तुतः सत्य हैं। सभी देशों के साहित्य में युग-परिवर्तन के फलस्वरूप जीवन-विषयक दृष्टिबिन्दुओं में जो अंतर उपस्थित होता है वह अपने स्वाभाविक क्रम में वांछनीय रहता है। महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी काव्य में भी इसी प्रकार की 'अतिवैयक्तिकता बौद्धिकता कुण्ठा संघर्ष अवसाद और निराशा' का संचार हुआ था जिसकी प्रतिक्रिया उसके उत्तरवर्ती युग में हुई। छायावाद-युग भी इस नियम का अपवाद नहीं रहा। पंतजी ने उस युग की कविताओं को उत्तर-युद्ध कालीन अंग्रेजी काव्य की भाँति 'भिन्न-भिन्न रूप से संक्रान्ति युग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ'[2] कह कर उपर्युक्त उद्धरण में इस बात का संकेत किया है कि साहित्य के लिए छायावाद का अंचल छोड़कर प्रगतिवाद की ओर बढ़ना सर्वथा समुचित था क्योंकि युग की माँग उसे सामाजिक धरातल पर उतर कर काव्य के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण लेकर चलने का आमंत्रण दे रही थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि पंतजी ने प्रगतिवाद को उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम दिया है और उनके मतानुसार वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति की ओर रहा पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धान्तों का पक्षपाती है।[3]

प्रगतिवाद तथा अन्यान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण

९३ पंतजी ने किसी समय जिस प्रकार छायावाद की अभ्यर्थना की थी उसी प्रकार प्रगतिवाद के सम्बन्ध में भी अत्यंत आशंसापूर्ण शब्दों में अपना मंतव्य प्रकट किया है। उनके मतानुसार प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम है।[4] वे युगवाणी के लिए प्रगतिवादी दृष्टिकोण आवश्यक समझते हैं किन्तु उनका उन प्रगतिवादियों से विरोध है जो केवल राजनीतिक तथा आर्थिक आधार पर अपना नवीन सामाजिक संगठन करना चाहते हैं। वस्तुतः पंतजी को प्रगतिशीलता की सांस्कृतिक पीठिका पर अधिक विश्वास है जिसका अर्थ यह है कि वे प्रगतिवाद को केवल 'वर्गयुद्ध की भावनाओं से सम्बद्ध साहित्य तक ही सीमित'[5] नहीं रखना चाहते। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे 'मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार'

---

१ श्री सुमित्रानंदन पंत : गद्यपथ, 'पर्यालोचन' पृष्ठ २६।
२ वही ५७।
३ वही ७८।
४ वही, ८६।
५ वही, पृष्ठ ८७।

वर्तमान युग की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रति क्या दृष्टिकोण रखते हैं तथा उनके अन्तर्गत अपना कैसा *योगदान निर्धारित* करते हैं। *'कला का प्रयोजन'* 'स्वान्त: सुखाय या बहुजन हिताय' 'आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत' 'यदि मैं कामायनी लिखता' आदि विषयों पर उन्होंने साहित्यिक विधि से जो निरूपण किया है उससे उनकी सभी दृष्टि और तीक्ष्ण मेधा का पता चलता है। 'काव्य संस्मरण' 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा' 'जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण' 'भारतीय संस्कृति क्या है?' आदि विषय विशुद्ध समालोचना के अन्तर्गत नहीं आते फिर भी उनका पंतजी के विचार-पक्ष का *निर्धारण करने में यथोचित महत्त्व है। उनके विश्लेषण में* जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान की फ्रायडवादी कामग्रंथि तथा निरोध भावना के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ है वहाँ वे भारतीय दर्शन की सर्वोपरि सत्ता की भूरि भूरि प्रशंसा करने में भी पीछे नहीं रहे हैं। यद्यपि उन्होंने आधुनिक काव्य की नव्यतम प्रवृत्ति प्रयोगवाद पर अधिक नहीं लिखा फिर भी उनके तुलनात्मक समीक्षण में उसके सम्बन्ध में जो विचारणाएँ व्यक्त की गई हैं वे यथेष्ट प्रौढ़ और ग्राह्य हैं। सच तो यह है कि *कालांतर में उनके समक्ष छायावाद और प्रगतिवाद का दुर्बल और अतिरेकपूर्ण पक्ष उपस्थित हुआ* उसी प्रकार वे प्रयोगवाद का भी यथामति विश्लेषण कर सके हैं।

समालोच्य विषयों के पक्ष और उनका मूल्यांकन

१८ पंतजी की समालोचनाओं का निष्पक्ष मूल्यांकन करने के लिए इस बात का ध्यान आवश्यक है कि पंतजी उत्तर द्विवेदी-काल के कवि हैं, अतः उन्होंने अपनी समालोचनाओं में मुख्यतः अपनी युग-भावनाओं को ही वाणी प्रदान की है। वे छायावादी युग के कवियों पर द्विवेदी-युग के कवियों के काव्य-सौष्ठव का कोई प्रभाव स्वीकृत नहीं करते और न उनसे भावना तथा काव्य निर्माण के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की सृजन प्रेरणा ही पाते हैं। उन्होंने छायावादी कवियों के लक्ष्य को हिन्दू जाति के जागरण तक ही सीमित न रखकर उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को पौराणिक आचार-विचारों का अतिक्रमण तक करने वाला निर्दिष्ट किया है जिस पर सर्वात्मवाद तथा विश्ववाद का प्रचुर प्रभाव है। कालान्तर में ये छायावादी कवि युग-जीवन से प्रभावित होकर *अपनी सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक भूमि छोड़कर स्थूल तथा भौतिकता की वस्तुपरक दृष्टि पर जिन कारणों से उतर आये उनका पंतजी ने अत्यन्त तर्कपूर्ण दृष्टि से विवेचन किया है।* छायावाद के अनन्तर प्रगतिवाद की अवतारणा के मूल दर्शन का उद्घाटन करते हुए उन्होंने लिखा है कि वस्तु के बोझ को उठाती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग-परिवेश सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं अभीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।[1]

१९ पंतजी द्वारा की गई वाद-समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह भी है कि उन्होंने प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद को *छायावाद की उपधाराओं के रूप में माना है क्योंकि 'मूलतः ये तीनों* धाराएँ एक ही युग चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई हैं। वे इन तीनों धाराओं को एक दूसरे की पूरक मानते हैं क्योंकि ये अपने रूप विन्यास भावना-सौष्ठव और विचार-दर्शन में शनैः शनैः एक-दूसरे के निकट आ रही हैं। इसका कारण उन्होंने आज के युग-जीवन को समन्वय तथा सन्तुलन की ओर बढ़ने के लिए सतत क्रियमाण बने रहना बतलाया है।[2]

२० पंतजी के काव्य की भाँति उनकी समालोचनाओं में भी समन्वयवादी दृष्टिकोण परिलक्षित है। उनमें आदर्शवाद तथा वस्तुवाद में संतुलन लाने का सुन्दर प्रयास है। वे आध्या

---

१ गद्य-पथ : आज की कविता और मैं, पृष्ठ १३१

२. वही, पृष्ठ १३१

जीवन का सांस्कृतिक दृष्टिकोण एक ऐसा प्राकास बनकर उपस्थित हुआ है जिसकी परिधि में उन्होंने युग-जीवन और साहित्य-संचरण की प्रक्रियाओं को परखने की चेष्टा की है। उनकी विवेचन-पद्धति और विचारणाओं पर आस्तिकता का ऐसा मधुर संभार है, जिसके कारण वे सर्वत्र विनम्र बनकर अपना आत्म-प्रकाशन करते चले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि उनके कवि-रूप के अंतरतम का तलस्पर्शी अवगाहन करने में सुधी समालोचकों को मति भ्रम नहीं होता तो वे इस प्रकार के समीक्षात्मक निबंध लिखने की ओर कदापि उन्मुख ही नहीं होते किन्तु जब उनके विकास क्रम की सीमाओं को आवश्यकता से अधिक प्रशंसा या निंदा का स्वरूप प्रदान किया गया तो उन्हें उन भ्रांतियों का निवारण करने के लिए उद्यत होना ही पड़ा। उनका इस प्रकार का प्रयास एक ओर समीक्षा-क्षेत्र में उनके काव्य निर्माण का सर्वाधिक विश्वस्त और प्रामाणिक निदर्शन उपस्थित करने का आधार बना वहाँ दूसरी ओर उनके मेधावी मस्तिष्क के विचार-स्फुलिंगों का भी ज्ञान उसके द्वारा हो सका। यदि उनके विवेचन का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया जाय तो समय-समय पर उनके काव्य-विषयक किये गये अनुकूल तथा प्रतिकूल समीक्षण के उन पूर्व-पक्षों का सम्यक समाधान मिल सकता है जो उनके आलोचकों ने अपनी विशिष्ट वार्ताओं निबद्ध मात्राओं में समय समय पर अभिव्यक्त किये थे।

१६ पंतजी की प्रमुख मान्यताएँ कुछ विशेष तत्वों पर आधारित हैं जिनकी पुष्टि वे सर्वत्र यथाप्रसंग करते रहे हैं। उन्होंने एक युगजीवी साहित्यकार की भाँति वर्तमान युग-चेतना का प्रभाव सर्वत्र स्वीकार किया है और इस विषय में उनका यह दृढ़ विश्वास है कि वे वय-क्रम के साथ-साथ अपनी विचार भूमि में सर्वथा तारतम्यपूर्ण विधि से ही विकासशील बनते चले हैं। इस सम्बन्ध में उनकी तो यह सुनिश्चित धारणा है कि उनके कतिपय आलोचकों को उनकी विकास रेखाओं में भले ही किसी प्रकार का व्यवधान परिलक्षित हो किन्तु 'ज्योत्स्ना-काल' से उनके अभिमानस में जो अंतर्दृष्टि प्रादुर्भूत हो गई थी वही क्रमशः विकसित होकर परवर्ती रचनाओं में मूर्तिमान बनती चली है। उन्होंने अपने विवेचन में बार-बार साहित्य की सत्ता को राजनीति तथा अर्थव्यवस्था से उच्चतर स्थान प्रदान करते हुए उसकी चरम सन्निहिति विश्व-मानवता में विलीन होने तथा सांस्कृतिक संचरण का नवीन निर्माण करने में मानी है। यही कारण है कि वे लोक संगठन और मन संगठन में तादात्म्य स्थापित करने के पक्षपाती हैं और वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद में संतुलित सामंजस्य लाने के अभिलाषी हैं। उनकी इस प्रकार की मान्यताओं का ही यह प्रतिफल है कि वे वाद विश्लेषण को सत्यग्रहण करने का एक सुन्दर प्रयास मानते हुए भी उसके दलदल से ऊपर रहकर चलने में ही जीवन का श्रेयस्कर विकास पाते हैं और आज के यन्त्रयुग में कर्षित की जाने वाली मानवता का समुद्धार केवल इसी ग्राहकता में समीचीन समझते हैं कि यंत्रों का मानवी करण कर दिया जाय जिससे दिन-प्रतिदिन संवर्द्धित होने वाली स्पर्धा और क्षोभ भावना का अन्त किया जा सके। इसी प्रकार उन्होंने चेतना और पदार्थ की अन्योन्याश्रित संस्थिति निरूपित कर अध्यात्मवाद और मार्क्सवाद को एक ही सत्य के दो पलड़े सिद्ध किये हैं जिनके संतुलन की आज भी युगानुरूप प्रबल आवश्यकता बनी हुई है। वस्तुतः पंतजी मार्क्सवाद, वस्तुवाद जड़-चेतन तथा पूर्व-पश्चिम के भेदाभेदों को समाप्त कर इस प्रकार के कृत्रिम आवरण को नष्ट करना चाहते हैं जिससे आज के मनुष्य को युग-संघर्ष के अंतराल में जन्म लेने वाली नव मानवता का वास्तविक आभास हो जाय और वह विश्व के भावी साहित्य-निर्माण के लिए भास्वर ज्योतिर्मय उपलब्ध कर सके।

१७ पंतजी के विचारक-स्वरूप का अब तक जो कुछ विवेचन किया गया उससे उनके मानसिक धरातल का बोध कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं है। उनकी जीवन-आस्थाएँ काव्य भूमि पर सबल बन कर इस प्रकार चित्रित हुई हैं जिनमें उनका काव्य-विकास और कला-सौष्ठव युग-जीवन के साथ-साथ निरूपित हुआ है। उनकी समालोचना से यह भी पता चल जाता है कि वे

प्रकार अपने निरालेपन से काव्य-जगत् में क्रांति की है उसी प्रकार उनके उपन्यास-साहित्य ने भी उपन्यास विधा को एक नवीन दिशा दिखलाई है। वस्तुतः वे एक मौलिक विचारक भी हैं, जिन पर पुस्तकीय अध्ययन की अपेक्षा आत्म-चिंतन और मनन का अधिक प्रभाव है। निबंध-समालोचना भी उनका प्रिय विषय रहा है पर काव्य-उपन्यासों की समता में उसका आकार प्रकार बहुत कम है। उनके निबंध किसी व्यवस्थित क्रमबद्ध प्रणाली में न लिखे जाकर जीवन की विशेष परिस्थितियों में उद्भूत उनके मानस की आंतरिक प्रेरणा के उद्गार हैं, जो उन्होंने 'मतवाला' 'समन्वय' 'सुधा' 'देशदूत' 'माधुरी' 'हंस' 'सरस्वती' आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित किए थे। उनके निबंधों के संग्रह 'प्रबंध-पद्म' 'प्रबंध-प्रतिमा' 'चाबुक' तथा 'चयन' नामक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें पिछले प्रायः चालीस वर्षों की हिन्दी साहित्य की गतिविधि का सामान्य लेखा-जोखा प्रकीर्ण रूप में मिल जाता है और जिसका कार्यकाल सन् १९२ से लेकर साधारणतया सन् १९५९ तक की परिस्थितियों के निरीक्षण से सम्बन्धित है। वैसे तो निरालाजी ने सांस्कृतिक सामाजिक आत्मपरक और सामयिक विषयों पर भी निबंध लिखे हैं किन्तु हमारा उनसे विशेष प्रयोजन नहीं है। हमें तो केवल उनके समालोचनात्मक निबंधों को ही आधारभित्ति ग्रहण करनी है, जिससे उनकी मान्यताओं के परीक्षण के साथ-साथ यह भी जाना जा सके कि उनके द्वारा उन्होंने समालोचनात्मक साहित्य को प्रगतिशील दिशा प्रदान करने में कहाँ तक सहयोग दिया है। निरालाजी ने 'रवीन्द्र कविता कानन' के अतिरिक्त अन्य कोई स्वतन्त्र पुस्तकाकार समालोचना नहीं लिखी, अतः उनकी समालोचक-प्रतिभा केवल निबंधों के कलेवर में ही परिलक्षित की जा सकती है। वस्तुतः उनके निबंध उनके समालोचक-व्यक्तित्व का आभास देने के एकमात्र साधन हैं।

सैद्धांतिक पक्ष और भाषा-विषयक विचार

७१ निरालाजी की समालोचना का एक सैद्धांतिक पक्ष है। वे साहित्य और भाषा का अटूट सम्बन्ध मानते हैं पर उन्हें यह बात पसंद नहीं कि सर्वत्र सरल भाषा को ही प्रोत्साहन दिया जाय। वास्तव में वे विषयानुकूल भाषा के पक्षपाती हैं। उनके मतानुसार "यथार्थ साहित्य लेखकों के दिमाग के नपे-तुले विचारों की तरह आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बन्द होकर नहीं निकलता। वह किसी उद्देश्य की पुष्टि के लिए नहीं आता वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता।"[1] छायावाद की अभ्यर्थना में भी उन्होंने यही तर्क उपस्थित किया है और जो लोग उसमें दुर्बोधता पाते हैं, उसे वे छायावाद का दोष न मानकर उन्हीं के मस्तिष्क की कमजोरी सिद्ध करते हैं। वस्तुतः निरालाजी के मतानुसार तो छायावाद की कविताएँ भाषा साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप हैं।[2] वे छायावादी प्रणाली के मुक्त-काव्य और मुक्त-छन्द की आवश्यकता का समर्थन भी अत्यन्त प्रबल शब्दों में करते हैं। उन्होंने मनुष्यों के कर्म बन्धन-मोक्ष की भाँति कविता की भी मुक्ति मानी है जो उसके छन्दों के शासन से अलग होने पर होती है।[3] उनके मतानुसार मुक्त काव्य साहित्य के लिए किसी भी काल में अनर्थकारी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके द्वारा साहित्य और समाज में कल्याणमयी स्वाधीन-भावना का संचार होता है। उन्होंने वैदिक कालीन काव्य-साहित्य की स्वच्छन्द सृष्टि की प्रशंसा कर परवर्तीकाल के उस साहित्य की निंदा की है जो अनुशासन के नाम पर अनेक प्रकार से बन्धनों से युक्त बना दिया गया है। उनके मतानुसार "मुक्त छन्द वह है जो छन्द की भूमि

---

१. प्रबन्ध 'पद्म' साहित्य और भाषा पृष्ठ १।
२. प्रबन्ध-पद्म, पृष्ठ १२।
३. पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : 'परिमल' की भूमिका पृष्ठ १४।

सिक तथा भौतिक प्रतिरंजनाओं का विरोध कर दोनों को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण करते हैं, जिसके कारण लोक-कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में वे एक दूसरे के पूरक से बनकर संयोजित किये जा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने काव्य के इन प्रमुख आधुनिक वादों पर स्वतन्त्र रूप से निबन्ध नहीं लिखे हैं, फिर भी वे 'आज की कविता और मैं' तथा 'आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत' शीर्षक निबन्धों में तथाकथित वादों का सारगर्भित विवेचन करने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने एक गुणग्राही समालोचक के रूप में हिन्दी छायावाद के रूप-संगठन के अन्तराल में युग-परिवेश के साथ-साथ उन आध्यात्मिक सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाओं का प्रभाव स्वीकार किया है जिसके कारण हमारे छायावादी कवि अपने काव्य के अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के पक्ष में अभिनव क्रान्ति कर सके। इस प्रसंग में उन्होंने छायावाद के ऊपर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अंग्रेजी कवि शैली का प्रभाव सबसे अधिक स्वीकार किया है। ऐसा करते हुए वे अपने काव्य निर्माण के प्रेरणा-स्रोतों का विवरण देना भी नहीं भूले हैं।

७१ अंत में कहा जा सकता है कि पंतजी की समालोचनाओं का प्रधान स्वरूप उनका निजी काव्य-विश्लेषण रहा है जिसके अंतराल में युग-प्रवृत्तियों के विविध विचारों का समीकरण तात्त्विक दृष्टि से हुआ है। उनकी समालोचनाओं से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वे भारतीय संस्कृति में अगाध आस्था रखने वाले एक ऐसे विचारक हैं जिन पर भारतीय दर्शन गांधीवाद और अरविन्द के आध्यात्म-जीवन का यथेष्ट प्रभाव है। उनके इस प्रकार के दृष्टिकोण-निर्माण में पाश्चात्य दर्शन और विचार धाराओं ने भी प्रभूत साहाय्य प्रदान किया है। आज के युग में प्रचलित राजनीतिक साहित्यिक और सांस्कृतिक वादों के सार-तत्व चुनकर पंतजी ने उनके उज्ज्वल पक्ष का सदैव समर्थन किया है और वे यथासम्भव पूर्वाग्रहों से दूर रहे हैं। यद्यपि उनका प्रमुख क्षेत्र कारयित्री प्रतिभा द्वारा काव्य-सृजन करना ही रहा किन्तु समय-समय पर उनके समालोचकों ने उनके काव्यगत विचार-पक्ष को लेकर जो कटु आलोचना की उनका प्रतिवाद उन्होंने अत्यन्त संयत और विवेकपूर्ण विधान में किया है। अपने विकास की युग-सीमाओं में क्रमशः संचरण करते हुए वे युग-धरातल पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विकासोन्मुख बन सके हैं उनकी झलक उन्होंने अपनी समीक्षाओं में ठोस तर्कभित्ति पर दी है। उनके काव्य-समीक्षण में तुलनात्मक प्रवृत्ति का भी समावेश है और वे कई स्थलों पर भाव-विभोर बनकर विवेच्य विषय में आत्मसात् भी हो गये हैं। भाषा-शैली और अभिव्यंजन-प्रणाली पर तो पंतजी का इतना अधिक अधिकार है कि वे अपनी अनुभूतियों को सर्वत्र संतुलित रखकर उन्हें अपनी सक्षमता में पूर्ण कौशल के साथ शब्दों में बांध देते हैं। उनकी समालोचनाओं में कहीं पर भी स्वैरवादी उच्छृंखलता का लेशमात्र भी नहीं है और मेरी मान्यता में तो पंतजी का विचारक अपने विश्लेषण में इतना अधिक सजग है कि उसके लिए कहीं पर भी पद-स्खलन के अवसर नहीं आये हैं। आजकल वे अपने रचना में अत्यन्त बौद्धिक और तत्त्वदर्शी बने हुए हैं अतः क्या ही अच्छा हो यदि वे आज के साहित्य की युगीन आवश्यकताओं का अनुभव कर अपनी समीक्षण-प्रतिभा द्वारा भावी निर्माण का पथ प्रशस्त करें और समालोचना को सांस्कृतिक भित्ति में और अधिक प्रौढ़ और व्यापक बनाकर अभिनवता प्रदान करें।

(१)
पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

७२ पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय व्यक्तित्व है। अभी तक उनके साहित्य-सौष्ठव का सर्वांगीण परीक्षण नहीं हो सका है। उनकी कविताओं ने जिस

शैली आदि की काव्य-रचनाओं के साथ विवेचित कर वे पंतजी को 'चोर कवि' तक कह गये हैं। पंतजी पर निरालाजी का यह प्रहार अत्यन्त मर्मभेदी है जिसे पंतजी का सुकुमार व्यक्तित्व न जाने किस प्रकार सहन कर सका। सम्भव है इसी प्रहार को न झेल सकने के कारण ही पंतजी ने आगे चलकर अपने एक काव्य का समर्पण अपने इस कठोर आलोचक को किया। यदि पंतजी अपने 'पल्लव' की एक प्रति यथासमय निरालाजी को भेज देते और अपने पल्लव के 'प्रवेश' में निरालाजी के छन्दों को बंगला-काव्य से प्रभावित न बतलाते तो सम्भवतः निरालाजी का यह अहं जागृत न होता जिसके वशीभूत होकर उन्होंने पल्लव की ऐसी कठोर आलोचना की। स्पष्ट है कि पंतजी के 'पल्लव' की जिस भूमिका को 'छायावादी काव्य का घोषणापत्र' कहा जाता है, उसे निरालाजी ने निरर्थक सिद्ध कर उसका शोषण-सा कर लिया। इस समालोचना के एक-एक वाक्य में तीव्र व्यंग्य भरा पड़ा है। इस आलोचना में निरालाजी पंतजी के वैयक्तिक स्वभाव पर भी चुटकी लेने में नहीं चूके हैं। वे लिखते हैं—

"स्वभाव में 'फीमेल ग्रेसेज' की प्रधानता के कारण पंतजी कवित्त छंद की मौलिकता उसका सौन्दर्य मन को उच्च परिस्थिति में ले जाने वाली उसकी शक्ति उसकी स्वर-विचित्रता आदि समझ नहीं सके।"[1]

'पंतजी और पल्लव' समालोचना का विशद स्वरूप

७६ निरालाजी की 'पंतजी और पल्लव' शीर्षक समालोचना को मैं उनके व्यक्तित्व-विकास की एक कड़ी मानता हूँ। 'प्रबन्ध-पद्म' का दो-तिहाई कलेवर तो केवल यही समालोचना घेरे हुए है। उसके ६४ पृष्ठों में न जाने कितनी बार निरालाजी का पंतजी पर आक्रोश अभिव्यंजित हुआ है। अपने समालोच्य विषय की भूमिका में उन्होंने पंतजी के पल्लव के 'प्रवेश' नाम के उन उन विशेष अंशों का कटु-सत्य-समन्वित-शैली में रहस्योद्घाटन करने की चेष्टा की है जिन्हें 'पंतजी ने कविता ब्रजभाषा खड़ी बोली अतीत के कवि कवित्त स्वच्छंद छंद बंगला की कविता निरालाजी के छंद शब्दों के रूप-राग स्वर आदि अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिन्दी के दरिद्र भण्डार में लाने की चेष्टा की है। पंतजी ने 'अपनी कविता की कारीगरी' की व्याख्या जिस रुचि से की है उसे निरालाजी ने कलंकित करने में कोई कसर नहीं रखी है। वैसे तो पं. पद्मसिंह शर्मा ने भी तुलनात्मक समालोचना का एक दृष्टिकोण रखा था किन्तु वह बिहारी की वकालत से बढ़कर और अधिक कुछ न था। निरालाजी ने अपनी इस आलोचना में उसका विध्वंसात्मक रूप ही अधिक ग्रहण किया। उन्होंने पंतजी के काव्य की न केवल निन्दा ही की अपितु यह भी सिद्ध किया कि उन्होंने जहाँ कहीं से भावापहरण किया है, उसे सौन्दर्यपूर्ण और मौलिक न बनाकर और भी अधिक बिगाड़ दिया है। हाँ यह बात अवश्य है कि निरालाजी ने पंतजी की मौलिकता की भी प्रशंसा उनकी 'मधुरता' के रूप में की है। उन्होंने 'पल्लव' की समालोचना के कुल तीस विषय चुने थे किन्तु वे केवल आठ विषयों पर ही प्रायः एक सौ पृष्ठों में विवेचन कर गए।[3] यदि उनके द्वारा कहीं सारा विश्लेषण किया जाता तो 'पल्लव' की आलोचना स्वतः एक स्वतंत्र ग्रंथ बन जाती। वैसे तो 'पल्लव' की आलोचना मुख्यतया उसके दोष-दर्शन को लेकर ही लिखी गई है किन्तु कुछ स्थलों पर निरालाजी पंतजी की काव्य माधुरी की भी प्रशंसा करने में पीछे नहीं रहे हैं। जैसे—

'पंतजी में सबसे जबरदस्त जो कौशल है वह शैली की तरह अपने विषय को अनेक

---

१ 'प्रबन्ध-पद्म'— पंतजी और पल्लव पृष्ठ ८०।
२. 'प्रबंध-पद्म'— पंतजी और पल्लव' पृष्ठ ५६।
३ दे० पंतजी और पल्लव।

में रहकर भी मुक्त है तथा जिसकी विषम गति में भी एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य झलकता है। उनके मतानुसार वस्तुतः 'मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह' होता है।[1]

तुलनात्मक प्रवृत्ति और उसकी आधारशिला

७४ निराला जी की समालोचनाओं में तुलनात्मक प्रवृत्ति भी है। वे विवेचनात्मक शैली द्वारा दो भिन्न भिन्न भाषाओं के काव्यकारों में विचार-साम्य की झलक बड़ी कुशलता से अन्वेषित कर सके हैं। ऐसा करने में उनका साहित्य-ज्ञान और उनकी ग्राहिका-शक्ति परम सहायक रहे हैं। उन्होंने एक समन्वयकारी साहित्यकार की भाँति भारत की सांस्कृतिक एकता में अखंड विश्वास रखकर *'मुसलमान और हिन्दू कवियों में जो विचार-साम्य'*[2] *विवेचित किया है* उसने कालांतर में अनेक समालोचकों को इस विषय का विशेष अध्ययन करने की प्रेरणा दी है। ऐसा करते हुए निरालाजी ने जो प्रतिमान बनाया है वह यही है कि बाह्य-रूपों में भले ही दो विभिन्न जातियों के मानसिक स्तर में साम्य न ढूंढा जा सके किन्तु उनके अंतरात्मा की आभा तो एक ही चिरंतन सत्य से आलोकित रहती है। निरालाजी की ऐसी समालोचनाओं की यह भी एक विशेषता है कि वे अपने मूल विषय पर आने के पूर्व जिस सैद्धान्तिकता की अवतारणा कर देते हैं, वह उन्हें उसके प्रकृत प्रतिपादन में बराबर सहायता देती चलती है। उनका सर्वत्र यही प्रयत्न रहता है कि वे अपनी मान्यताओं के अनुकूल तथ्योपलब्धि करा सकें। यही कारण है कि जहाँ उनका अन्य विचारकों से मतभेद भी होता है, वे उसे निर्भीकता के साथ व्यक्त करने में नहीं हिचकिचाते। उनकी इस प्रकार की दृढ़निष्ठा के कारण ही उनका हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट व्यक्तित्व बन सका है और उनकी समालोचना-कृतियों में भी इसी स्वतंत्र चिंतन की छाया है, जिसमें प्राचीन काव्य-शास्त्र की परम्परायुक्त परिपाटी के अनुसार सैद्धान्तिकता और शास्त्रीयता का तत्त्वानुसंधान करने वाले जिज्ञासुओं को निराश ही होना पड़ेगा।

व्याख्यात्मक प्रणाली और उसका निदर्शन

७५. निरालाजी की समालोचनाएँ व्याख्यात्मक प्रणाली और तर्क-शक्ति से भी आपूरित हैं। वे अपने विषय प्रतिपादन को तब तक विस्तार देते चलते हैं, जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाय कि वे अपना मूल मंतव्य पूर्णता के साथ प्रकट कर चुके हैं। जो बात उनके मन के अत्यन्त अनुकूल अथवा अत्यधिक प्रतिकूल होती है उसकी तो वे बाल की खाल निकालकर ही छोड़ते हैं। उस समय उन्हें इस विषय का बहुत कम ध्यान रह पाता है कि उनके इस प्रकार के विवेचन की साहित्य-जगत् में क्या प्रतिक्रिया होगी। ऐसे अवसरों पर वे इधर-उधर से बटोर कर ऐसे अनेक प्रमाणों का संकलन कर लेते हैं, जिनके द्वारा वे बलपूर्वक अपने मान्यतागत सत्य की पुष्टि कर सकें। हाँ यह बात दूसरी है कि ऐसी स्थिति में तथ्यग्राही पाठक उनकी मनोवृत्ति का आभास अवश्य पा लेते हैं। उनकी इस प्रकार की समालोचनाएँ अत्यन्त प्रखर और ओजस्विनी हैं। न जाने किन परिस्थितियों से बाध्य होकर निरालाजी ने 'पंतजी और पल्लव' शीर्षक विशद और व्यापक समालोचना इसी प्रकार की प्रणाली में लिखी। उनकी यह समालोचना अपने आकार प्रकार में अत्यन्त विस्तृत समालोचना है जिसमें व्यंग्य और कटाक्ष का स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है। उसका मूल उद्देश्य सम्भवतः पंतजी की काव्य-कला के दुर्बल पक्ष का ही उद्घाटन करना रहा है, तभी तो वे 'पल्लव' की अनेक पंक्तियों का साम्य डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अंग्रेज कवि

---

१. १ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : 'परिमल' की भूमिका, पृष्ठ २१।
२. 'प्रबन्ध-पद्म', पृष्ठ १६-७४।

विषयक दृष्टिकोण का निरूपण किया है। यह निरूपण इसलिए किया गया कि उनकी काव्य सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यताओं में किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय। वस्तुतः निरालाजी का कला के प्रति जो दृष्टिकोण है, वही उनकी काव्य रचनाओं में प्रस्फुटित है। अतः उनके कला विषयक प्रतिमान की महत्ता उनके मानसिक विधान को निकटतम रूप से समझने में परम सहायक है। यहाँ इस बात का स्मरण रखना भी आवश्यक है कि छायावादी काव्यकारों का समीक्षण प्रतिमान स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्यमयी वृत्तियों से निर्मित था अतः निरालाजी के इस विवेचन में भी उसकी प्रतिध्वनि पा जाना सहज स्वाभाविक है। वे लिखते हैं—

"कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सजह लाज की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह—देह की क्षीणता—पीनता में चरम की उतरती चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की वनी वाणी में घुल कर क्रमशः मंद मधुरता होकर लीन होती हुई—जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती न अंकुर से न डाल से न पौधे से जड़ से लेकर तना डाल पल्लव और फूल के रंग रेणु गंध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण और जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के हृदय समस्त भाव को ढके हुए, अपने सौन्दर्यतत्त्व के भीतर रखती है पेड़ की काष्ठ-निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है उसी तरह काव्य-कला आवश्यक अशोभन वर्ण-सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर ढाले रहती है।"[1]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि निरालाजी का यह कला विषयक विश्लेषण किसी भावमयी और कल्पनापूर्ण कविता से कम नहीं है। उन्होंने इसी प्रतिमान से संस्कृत के सुमधुर कवि कालिदास की कृतियों का परीक्षण किया है और इसी से वे अपनी प्रथम रचना 'जुही की कली' का काव्य-सौन्दर्य मर्म-विवेचन के साथ स्पष्ट कर सके हैं। वस्तुतः उन्होंने 'जुही की कली' नामक कविता के भाव-सौन्दर्य और कला-सौष्ठव की जो व्याख्या की है उसकी समता में हिन्दी साहित्य में बहुत कम विवेचनाएँ मिलती हैं। उनके विवेचन का निष्कर्ष यही है कि वे कला को खण्ड रूप में न देखकर सम्पूर्ण या सकल रूप में देखते हैं और केवल सूक्ति अथवा उपदेश को कवि की कम कोटि मानते हैं। 'जुही की कली' में उनके मतानुसार केवल अलंकार, रस या ध्वनि ही नहीं अपितु इन तीनों का समन्वय है। इस प्रकार उनकी कला-विषयक धारणा के अनुसार इस कविता में कला की पूर्णता अभिव्यक्त है।

निजी काव्य-सौष्ठव की व्याख्या

८१. निरालाजी ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक आलोचनात्मक निबंध में जहाँ अपने काव्य का सौष्ठव विधान 'जुही की कली' नामक रचना का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत किया है, वहाँ पंतजी के गुंजन की 'चाँदनी' शीर्षक कविता की अनेक असंगतियाँ भी सिद्ध की हैं।[2] उन्होंने अलग-अलग उसके छन्दों में असारत्व सिद्ध कर उसे पंतजी की 'बिगड़ी कला' कहा है।[3] इसी निबन्ध में उन्होंने अपने 'परिमल' संग्रह की 'निवेदन' रचना का भी व्याख्यात्मक संस्तव उसे 'मुक्त प्रेम की तस्वीर'[4] कहकर किया है। इसी प्रकार उनकी 'मौन रही हार' 'जागो जीवन धनिके' तथा

---

१ 'प्रबन्ध-प्रतिमा'—'मेरे गीत और कला' पृष्ठ २७२।
२. वही, पृष्ठ २८१-२८६ ।
३ वही, पृष्ठ २८१-२८५।
४. वही, पृष्ठ २८५।
५ वही, पृष्ठ २८६।

उपमानों से संवार कर मधुर से मधुर और कोमल से कोमल कर देना। भावना की वायुनि तो नहीं परन्तु सौन्दर्य के मनोहर रूप-जगत पंक्ति-पंक्ति में मिलते हैं। रूपक और अलंकार शोभना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही है।"[1]

'रवीन्द्र-कविता-कानन' और दार्शनिक पक्ष

७७ निरालाजी की समालोचनाओं का एक दार्शनिक पक्ष भी है। काव्य में रूप और अरूप' शून्य और शक्ति' तथा 'साहित्य का फूल अपने ही वृन्त पर'[2] शीर्षक निबंधों से इस कथन की पुष्टि होती है। उन्होंने रवीन्द्र कविता कानन' के अंतर्गत भी रवीन्द्र बाबू के काव्य-दर्शन का एक विशेष पक्ष विवेचित किया है। वास्तव में जिस समय उनकी इस पुस्तक का हिन्दी समालोचना-जगत् में प्रकाशन हुआ उस समय रवीन्द्र-साहित्य को हिन्दी भाषी प्रदेश में बोधगम्य और प्रचारित बनाने का अन्य कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं हुआ था। उन्होंने इस पुस्तक में रवीन्द्र-काव्य में प्रदर्शित उनकी प्रतिभा का विकास स्वदेश प्रेम महाकवि का संकल्प शिशु-संबंधिनी रचना शृंगार तथा संगीत काव्य का विवेचन अत्यन्त भाव प्रवण शैली में किया है। प्रसंगानुसार अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए जिन काव्यांशों के उद्धरण दिए गए हैं वे अत्यन्त आह्लादजनक हैं। इस समालोचना में व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग अधिक है। वास्तव में विशुद्ध समालोचनात्मक प्रबंध की दृष्टि से निरालाजी ने यही एक पुस्तक लिखी है अन्यथा उनकी अन्य समालोचनात्मक कृतियों में तो केवल स्फुट निबंध ही आते हैं जिनसे तत्त्वग्रहण करने के पश्चात् ही निरालाजी की विचारधारा का आकलन किया जा सकता है।

आत्म-विश्लेषण की भावना

७८. निरालाजी के समालोचक-व्यक्तित्व के निर्माण में उनके सम्बन्ध में की गई प्रतिकूल समालोचनाओं ने भी बड़ा सहयोग दिया है। उनकी अच्छी से अच्छी कविताएँ प्रारम्भ में केवल इसीलिए प्रकाशित नहीं हो सकीं क्योंकि उनमें छन्दों का विधान पिंगलशास्त्र के अनुसार ठीक नहीं था। द्विवेदी-युग के शास्त्रमूलक और इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण के सम्मुख उन्हें अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए यथेष्ट संघर्ष करना पड़ा। छायावादी कवियों के सिर पर किसी भी महान् आचार्य का संरक्षणशील वरद हस्त न था अतः इन कवियों को स्वयं अपने विषय की युक्तिसंगत विवेचना के लिए प्रस्तुत होना पड़ा। निरालाजी भी इसके अपवाद नहीं रहे। उन्होंने भी प्रसाद पंत और महादेवी की भाँति अपने काव्य-पक्ष के विविध विधानों का विश्लेषण किया। उनका यह आत्मनिरीक्षण भी हमारे समालोचना-साहित्य की वृद्धि का कारण बना। 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबंध में उन्होंने अपने काव्य की जो समालोचना की है वह उनकी अन्तश्चेतना को अवगत कराने के लिए सर्वोत्तम साधन है। वैसे तो पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इसके पूर्व ही 'भारत' पत्र में उनके काव्य-सौष्ठव का विश्लेषण प्रसाद और पंत की विवेचना के साथ किया था किन्तु उनके विरोधी समालोचकों ने भी उनके विपक्ष में कम नहीं लिखा। अतः सभी दृष्टियों से निरालाजी को अपने काव्य-विवेचक के रूप में समालोचना के क्षेत्र में आना ही पड़ा।

कला विषयक दृष्टिकोण

७९ अपने 'गीत और कला' का विवेचन करने के पूर्व निरालाजी ने अपने कला

१ 'प्रबंध-पद्म' पृष्ठ १०८।

२. ये तीनों लेख 'प्रबंध-पद्म' में संकलित हैं।

विषयक दृष्टिकोण का निरूपण किया है। यह निरूपण इसलिए किया गया कि उनकी काव्य सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यताओं में किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय। वस्तुतः निरालाजी का कला के प्रति जो दृष्टिकोण है वही उनकी काव्य-रचनाओं में प्रस्फुटित है। अतः उनके कला विषयक प्रतिमान की महत्ता उनके मानसिक विधान को निकटतम रूप से समझने में परम सहायक है। यहाँ इस बात का स्मरण रखना भी आवश्यक है कि छायावादी काव्यकारों का समीक्षण प्रतिमान स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्यमयी वृत्तियों से निर्मित था अतः निरालाजी के इस विवेचन में भी उनकी प्रतिध्वनि पा जाना सहज स्वाभाविक है। वे लिखते हैं—

"कला केवल वर्ण शब्द छन्द, अनुप्रास रस अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सम्पूर्ण साम की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह—देह की श्रीकृता—पीनता में तरुण की उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्षों की वनी वाली में घुल कर क्रमशः मंद मधुरता होकर क्षीण होती हुई—जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती न अंकुर से न डाल से न पौधे से जड़ से लेकर तना डाल पल्लव और फूल के रंग रेणु सब तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण और जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के रूप समस्त भाग को ढके हुए, अपने सौन्दर्यतत्त्व के भीतर रखती है पेड़ की काष्ठ-निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्य-कला आवश्यक प्रयोजन वर्ण-सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर ढके रहती है।"[1]

८० कहने की आवश्यकता नहीं कि निरालाजी का यह कला-विषयक विश्लेषण किसी भावमयी और कल्पनापूर्ण कविता से कम नहीं है। उन्होंने इसी प्रतिमान से संस्कृत के सुमधुर कवि कालिदास की कृतियों का परीक्षण किया है और इसी से वे अपनी प्रथम रचना 'जुही की कली' का काव्य-सौन्दर्य मर्म-विवेचन के साथ स्पष्ट कर सके हैं।[2] वस्तुतः उन्होंने 'जुही की कली' नामक कविता के भाव-सौन्दर्य और कला-सौष्ठव की जो व्याख्या की है उसकी समता में हिन्दी साहित्य में बहुत कम विवेचनाएँ मिलती हैं। उनके विवेचन का निष्कर्ष यही है कि वे कला को खण्ड रूप में न देखकर सम्पूर्ण या सकल रूप में देखते हैं और केवल सूक्ति अथवा उपदेश को कवि की कमजोरी मानते हैं। 'जुही की कली' में उनके मतानुसार केवल अलंकार, रस या ध्वनि ही नहीं अपितु इन तीनों का समन्वय है। इस प्रकार उनकी कला-विषयक धारणा के अनुसार इस कविता में कला की पूर्णता अभिव्यक्त है।

निजी काव्य-सौष्ठव की व्याख्या

८१ निरालाजी ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक आलोचनात्मक निबंध में जहाँ अपने काव्य का सौष्ठव विधान 'जुही की कली' नामक रचना का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत किया है, वहाँ पंतजी के गुंजन की 'चाँदनी' शीर्षक कविता की अनेक पंक्तियाँ भी सिद्ध की हैं।[3] उन्होंने अलग-अलग पद के शब्दों में अतारतम्य सिद्ध कर उसे पंतजी की 'बिगड़ी कला' कहा है।[4] इसी निबन्ध में उन्होंने अपने 'परिमल' संग्रह की 'निवेदन' रचना का भी व्याख्यात्मक विश्लेषण उसे 'मुक्त प्रेम की तसवीर'[5] कहकर किया है। इसी प्रकार उनकी 'मौन रही हार' 'जागो जीवन धनिके' तथा

---

१ 'मेरे प्रतिमा'—'मेरे गीत और कला' पृष्ठ २०१।
२ वही, पृष्ठ २०९, २१०।
३ वही, पृष्ठ २११, २१२।
४ वही, पृष्ठ २१५।
५ वही, पृष्ठ २१६।

बादल राग' शीर्षक 'मुक्त गीत पद्धति' की छः रचनाओं का विश्लेषण भी उक्त निबन्ध में हुआ है। स्पष्ट है कि यह निबन्ध निरालाजी को बाध्य होकर उस समय लिखना पड़ा जब उनकी कविता की अनेक कटु आलोचनाएं की जाने लगी थीं। इस समालोचना द्वारा निरालाजी ने अपने अध्येताओं को अपने काव्य-सौष्ठव को हृदयग्राही बनाने की एक दृष्टि दी है जिसके द्वारा उनके साहित्य-जलधि का संतरण करने में सहायता मिलती है। यही इस समालोचना का प्रमुख प्रयोजन अथवा उद्देश्य है।

आलोचना-प्रत्यालोचनाओं में आक्रोश

८२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के इतिहास में यह एक अत्यन्त वेदनाजनक विषय रहा कि कतिपय समालोचकों ने अपने वैयक्तिक स्वार्थों और विरोधों के कारण साहित्यालोचन के उदात्त पक्ष को कलंकित करने में भी कोई कसर नहीं रखी। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का जन्म भी कुछ विद्रूपपूर्ण परिस्थिति में ही हुआ था और उसका अन्त भी अभी नहीं है। इससे यह तो अभिप्राय नहीं कि समालोचना के नाम पर सर्वत्र विकृत साहित्य ही सामने आया क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो आज समालोचना-साहित्य इतना समृद्ध विकास नहीं कर पाता। फिर भी पारस्परिक विद्वेष की भावना भी अपना स्थान रखती रही। इस विद्वेष-वृत्ति का स्वरूप छोटे-बड़े सभी श्रेणियों के समालोचकों में न्यूनाधिक मात्रा में मिलता है। इसका एक रहस्य यह भी होता है कि अपनी सत्ता सर्वोच्च सिद्ध की जाय और अपनी समता में किसी उदीयमान साहित्यकार को आगे न बढ़ने दिया जाय। वस्तुतः यह स्थिति शोचनीय नहीं कही जा सकती। जिस छायावाद और रहस्यवाद को कालान्तर में इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया उसे कितने संघर्षों से जूझने के पश्चात् सफलता मिल सकी थी यह हमारे साहित्यालोचन में एक ऐतिहासिक विवेचना की सामग्री बन गई है। यदि इस धारा के काव्यकारों में विशेष प्रतिभा न होती तो वे अपना अस्तित्व कभी स्थापित कर ही नहीं सकते थे। उन साहित्यकारों में निराला जी को तो सबसे अधिक संघर्ष करना पड़ा। उनके पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समालोचनात्मक निबन्धों से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है। न जाने उन्हें कितने समय पर्यन्त आलोचना-प्रत्यालोचना के इस दमन में अपने दाँव-पेंच दिखलाने पड़े। उन पर विरोधियों के आक्रमण भी कम कठोर न थे। छोटा-मोटा साहित्यकार होता तो कभी पलायन कर जाता पर निरालाजी अपने दृढ़ रूप में सर्वत्र सुस्थिर बने रहे। उनकी ऐसे समय में लिखी गई समालोचनाओं में जो तिलमिलाने वाला व्यंग्य है, वह पाशुपत अस्त्र की मार से कम नहीं कहा जा सकता। इन समालोचनाओं में वे पूरे साहित्यिक मल्ल बनकर अखाड़े में उतरे हैं। अतः उनकी समालोचनाओं का जो एक प्रत्यालोचना-विषयक पक्ष है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ओजस्वी है। सन् १६२८ में कला के विरह में जोशीबन्धु[1] और सन् १६३२ में साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान धर्म[2] शीर्षक को उन्होंने समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं, उनमें उनका कुंठित मनोभाव जिस वेग से फूत्कार उठा है, वह किस ज्वाला से कम है? इन निबन्धों में उन्होंने क्रमशः तत्कालीन 'विशाल-भारत' सम्पादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और जोशी-बन्धुओं (डा० हेमचन्द्र जोशी और पं० इलाचन्द्र जोशी) को जो मुँह की खिलाई है, वह उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। ऐसे ही निबन्धों और कृतियों ने उन्हें हमारे साहित्य का 'निराला' बनाया है। अतः उनकी

१ प्रबंध प्रतिमा पृष्ठ २६६ से १ २।

२. प्रबंध-प्रतिमा प्र० संस्करण पृष्ठ २६२-२६६।

३ वही पृष्ठ २६१

इस प्रकार की समालोचनाओं को सर्वांगीण और निर्दोष न मानता हुआ भी मैं उन्हें उनकी समालोचना-विधा का एक महत्त्वपूर्ण अंग अवश्य समझता हूँ।

समालोचना के अन्यान्य विषय

८३ निरालाजी का संस्कृत और बंगला साहित्य का अध्ययन भी व्यापक है। उनका हिन्दी साहित्य से तो परिचय उनके पश्चात् ही हुआ था। यही कारण है कि उन्हें संस्कृत और बंगला के काव्यकारों ने कम नहीं लुभाया। उनके काव्य पर दार्शनिकता की जो छाया पड़ी उसका बहुत कुछ श्रेय 'रामकृष्ण मिशन' के सम्पर्क के साथ-साथ उक्त साहित्यों के मनन और चिन्तन को भी है। निरालाजी इन साहित्यों के भाव-सौष्ठव पर मुग्ध रहे हैं और अपनी समालोचनाओं में उन्होंने इनके महान् कवियों का भी विवेचन किया है। यद्यपि वह विवेचन सामान्य श्रेणी का ही है किन्तु उसके बीच-बीच कहीं-कहीं पर बड़ी गम्भीर और पते की बातें कही गई हैं। ऐसी विवेचनाओं में 'बंगाल के वैष्णव कवियों की शृंगार वर्णना'[1] विद्यापति और चण्डिदास का तुलनात्मक अध्ययन'[2] कविवर श्री चण्डिदास[3] और कवि गोविन्ददास की कुछ कविताओं का भाव-सौष्ठव मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त निरालाजी ने हमारी नाटक-समस्या[4] और उपन्यास विधा[5] पर भी सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है। यह विवेचन निरालाजी की अपनी उपलब्धियों के अनुसार हुआ है। उन्होंने अपनी समालोचनाओं में सर्वत्र साहित्य की सत्ता को राजनीति से श्रेष्ठ माना है और जो नेता उसे अपेक्षाकृत हीन मानते हैं उनकी निन्दा की है। साधारणतया निराला जी की कुछ *समालोचनाएँ उनकी स्वैरचारिता-सी व्यक्त करती हैं, किन्तु वे उसे अपना दुर्बल पक्ष न मानकर* सबल पक्ष मानते हैं क्योंकि उसमें उनकी विचाराभिव्यक्ति अकृत्रिम विधि से प्रकट हो सकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि निरालाजी के व्यक्तित्व में एक उद्दाम प्रवेग है जो अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध सामान्य परिस्थिति के उदय होते ही चोट खाकर झनझना उठता है। उस समय उनके लिए अपने निबन्धों और समालोचनाओं में विचारधारा को संयत और मर्यादित करना कठिन-सा हो जाता है अन्यथा ऐसी कोई बात नहीं कि उनमें गुणग्राहकता न हो। इसका एक बड़ा प्रमाण तो यही है कि वे किसी समय पंतजी के काव्य के कठोर आलोचक रह कर भी उन्हें 'कवि की हैसियत से इस युग के कवियों में लोकमत द्वारा सबसे अधिक सफल कवि' मानते हैं।[6] उनका तो स्पष्ट कहना है कि आलोचना में उनकी (पंतजी की) आलोचना करना मेरा उद्देश्य नहीं था कला का विवेचन ही सदा था इसीलिए कबीर तुलसी जैसे हिन्दी के योग्यतम रत्नों को जिनके काव्य के उदाहरण में मैंने पहले रखा है।[7]

व्यंग्यपूर्ण शैली का प्रयोग

८४ निरालाजी की समालोचनाओं में भाषा की गति और हिन्दी की शैली पर भी विचार हुआ है। आज से प्रायः १४ वर्ष पूर्व संवत् १९८ के समन्वय के वर्ष २ अंक ६ में उनका

---

१ प्रबंध प्रतिमा पृष्ठ ११३-१४।
२ वही पृष्ठ १८८-१७१
३ वही, पृष्ठ १०१-१७८।
४ वही, पृष्ठ २०४-११।
५ वही पृष्ठ ११-७१।
६ वही, पृष्ठ ११-११५।
७ वही भूमिका पृष्ठ २।
वही, पृष्ठ २।

मारल राग' शीर्षक 'मुक्त गीत पद्धति' की छः रचनाओं का विश्लेषण भी उक्त निबन्ध में हुआ है।[1] स्पष्ट है कि यह निबन्ध निरालाजी को बाध्य होकर उस समय लिखना पड़ा जब उनकी कविता की अनेक कटु आलोचनाएँ की जाने लगी थीं। इस समालोचना द्वारा निरालाजी ने अपने अध्येताओं को अपने काव्य-सौष्ठव को हृदयग्राही बनाने की एक दृष्टि दी है जिसके द्वारा उनके साहित्य-जलधि का सतरण करने में सहायता मिलती है। यही इस समालोचना का प्रमुख प्रयोजन अथवा उद्देश्य है।

आलोचना-प्रत्यालोचनाओं में आक्रोश

८२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के इतिहास में यह एक अत्यन्त खेदजनक विषय रहा कि कतिपय समालोचकों ने अपने वैयक्तिक स्वार्थों और विरोधों के कारण साहित्यालोचन के उदात्त पक्ष को कलंकित करने में भी कोई कसर नहीं रखी। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का जन्म भी कुछ विद्वेषपूर्ण परिस्थिति में ही हुआ था और उसका भाव भी अभी नहीं है। इससे यह तो अभिप्राय नहीं कि समालोचना के नाम पर सदैव विकृत साहित्य ही सामने आया क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो आज समालोचना-साहित्य इतना समृद्ध विकास नहीं कर पाता। फिर भी पारस्परिक विद्वेष की भावना भी अपना स्थान रखती रही। इस विद्वेष-भृति का स्वरूप छोटे-बड़े सभी श्रेणियों के समालोचकों में न्यूनाधिक मात्रा में मिलता है। इसका एक उद्देश्य यह भी होता है कि अपनी सत्ता सर्वोच्च सिद्ध की जाय और अपनी समता में किसी उदीयमान साहित्यकार को आगे न बढ़ने दिया जाय। वस्तुतः यह स्थिति शोभनीय नहीं कही जा सकती। जिस छायावाद और रहस्यवाद को कालान्तर में इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया उसे कितने संघर्षों से जूझने के पश्चात् सफलता मिल सकी थी यह हमारे साहित्यालोचन में एक ऐतिहासिक विवेचना की सामग्री बन गई है। यदि इस धारा के काव्यकारों में विशेष प्रतिभा न होती तो वे अपना अस्तित्व कभी स्थापित कर ही नहीं सकते थे। इन साहित्यकारों में निराला जी को तो सबसे अधिक संघर्ष करना पड़ा। उनके पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित समालोचनात्मक निबन्धों से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है। न जाने उन्हें कितने समय पर्यन्त आलोचना-प्रत्यालोचना के इस दंगल में अपने दाँव-पेंच दिखलाने पड़े। उन पर विरोधियों के आक्रमण भी कम कठोर न थे। छोटा-मोटा साहित्यकार होता तो कभी पलायन कर जाता पर निरालाजी अपने रङ्ग रूप में सदैव सुस्थिर बने रहे। उनकी ऐसे समय में लिखी गई समालोचनाओं में जो तिलमिलाने वाला व्यंग्य है, वह पाशुपत अस्त्र की मार से कम नहीं कहा जा सकता। इन समालोचनाओं में वे पूरे साहित्यिक मल्ल बनकर अखाड़े में उतरे हैं। अतः उनकी समालोचनाओं का जो एक प्रत्यालोचना-विषयक पक्ष है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ओजस्वी है। सन् १९२८ में 'कला के विरह में जोशीबन्धु'[2] और सन् १९३२ में 'साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान धर्म'[3] शीर्षक जो उन्होंने समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं उनमें उनका कुंठित मनोभाव जिस ढंग से फूत्कार उठा है, वह किस ज्वाला से कम है? इन निबन्धों में उन्होंने क्रमशः तत्कालीन 'विशाल-भारत' सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी और जोशी-बन्धुओं (डा. हेमचन्द्र जोशी और पं. इलाचन्द्र जोशी) को जो मुँह की खिलाई है, वह उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ऐसे ही निबन्धों और कृतियों ने उन्हें हमारे साहित्य का 'निराला' बनाया है। अतः उनकी

---

१ प्रबंध प्रतिमा पृष्ठ २११ से २२२।

२ प्रबंध प्रतिमा में संकलित पृष्ठ १९२-२११।

३ वही पृष्ठ १९१

चातक वर्षों के त्यों रटे हुए रह जाते हैं, उनकी प्रतिभा के पानी तक कविता की चोंच पहुँचती ही नहीं।[1]

इसी प्रकार निरालाजी ने द्विवेदी-मण्डल के अन्य कवियों पर भी चुभते व्यंग्य किए हैं। सौभाग्यवश बाबू मैथिलीशरण गुप्त इनकी प्रशंसा के भाजन अवश्य बने रह गए हैं जिसका प्रमुख कारण गुप्तजी का काव्य ही की भाँति सरल और शालीन व्यक्तित्व कहा जा सकता है।

सूत्र-प्रणाली का सौकर्य

८६ निरालाजी की समालोचनाओं में सूत्र प्रणाली के सिद्धान्त-वाक्य भी मिलते हैं जिन्हें उनकी व्याख्या और विवेचना के अन्तर्गत ढूँढ़ा जा सकता है। उनकी समालोचना-शैली में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ ही से रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि समालोचना करते समय आलोच्य विषय का विश्लेषण उन्हें इस प्रकार का स्वाभाविक सद्भावन करने के लिए प्रेरित सा करता रहता है। ऐसे वाक्यों में उनकी समालोचना का तत्त्व आ जाता है। साथ-ही-साथ उनसे निरालाजी की तत्त्व चयनिका बुद्धि का भी आभास मिलता है। काव्य साहित्य जीवन दर्शन और कला आदि के विवेचन में उन्होंने इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखलाई है। उनसे यह भी अनुमान होता है कि निरालाजी यदि समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष का शास्त्रीय विवेचन करते तो उन्हें इस क्षेत्र में भी यथेष्ट सफलता मिल सकती थी। पर वे ऐसा नहीं कर सके क्योंकि परिस्थितियाँ उनके प्रतिकूल थीं। उन्हें ऐसे समालोचकों से जूझना था जो केवल भाव भाषा अलंकार और रस की श्रेणियों में ही की गई शास्त्रीय विवेचना को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। जिन समालोचकों ने कवियों की एक विशिष्ट श्रेणी (छायावाद से तात्पर्य है) पर पश्चिमीयता का दोष लगाकर उनकी समालोचनाएँ कीं उन्हें निरालाजी ने अपनी ही दिशा में ऊँट बनकर चलने वाले'[2] कहा। इसी प्रकार जिन आलोचकों ने अपनी समालोचनाओं में समालोच्य कवि अथवा साहित्यकारों की केवल प्रशंसा की उसे उन्होंने 'लेखक की खुशामद'[3] से अधिक महत्त्व नहीं दिया। समालोचक के कर्तव्य का निर्देश करते हुए उन्होंने तत्कालीन हिन्दी समालोचना की स्थिति का जो विवरण अपने उक्त निबन्ध (काव्य-साहित्य) में दिया है उसका उद्धरण निरालाजी के समीक्षक दृष्टिकोण को समझने में यथेष्ट सहायक है—

जिस तरह व्याकरण भाषा का अनुगामी है समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके यदि वह कृति के कुछ लिखे हैं और उनमें गुमान है, समालोचक अपना जितना भी जबरदस्त तर्क खड़ा कर दे वह कभी ठीक नहीं उतरता। इसलिए समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए। 'प्रताप जी' की आजकल जैसी आलोचनाएँ निकल रही हैं उनमें अस्सी फी सदी आलोचना सहानुभूति से रहित और आक्रमक है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक उनकी समालोचना के पहले उनके अहंकार हठ मिथ्याभिमान गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलाने वालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी शकुन्तला का कुछ बिगाड़ नहीं सके अपने शाप से उसे और अमर किया है।"[4]

---

१. माधुरी, वर्ष [illegible] खण्ड १ संख्या १ आषाढ़, [illegible]।
२. माधुरी, दिसम्बर सन् १९२२ 'काव्य साहित्य' शीर्षक लेख।
३. वही।
४. [illegible] 'काव्य-[illegible]' पृष्ठ ५९ [illegible]।

इस विषय में जो निबन्ध प्रकाशित हुआ था उसमें उन्होंने विरद प्रमति के साथ भाषा का विकासोन्मुख सम्बन्ध सिद्ध कर हिन्दी में राष्ट्रभाषा की क्षमता का जो स्वप्न देखा था वह आज सार्थक बन गया है। जो लोग हिन्दी में प्रांतीयता की झलक पाते हैं अथवा उसे दिल्ली के आसपास की बोली समझते हैं उन्हें निरालाजी ने भ्रमग्रस्त बतलाया है क्योंकि 'दिल्ली के इलाके में न तुलसी मिलते हैं और न हरिश्चन्द्र।'[1] उन्होंने ऐतिहासिक अनुक्रम से हिन्दी की खड़ी बोली को युग-जीवन के साथ परिवर्तित परिवर्द्धित और संशोधित सिद्ध कर उसमें अभिव्यंजना की पूर्ण शक्ति मानी है। जो लोग निरालाजी को केवल अनर्गल भाव-शैली वाला रहस्यवादी कवि ही समझते हैं, उनके लिए प्रस्तुत निबन्ध पठनीय है।

सामयिक दृष्टि और मान्यताएँ

८९. पंतजी की भाँति निरालाजी भी ब्रजभाषा और उसकी काव्य प्रवृत्तियों के एक सीमा तक ही प्रशंसक हैं। उन्होंने ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली में आधुनिक युग-चेतना से विकसित होने वाले विभिन्न विषयों का जो असंयोजन देखा है वह उचित ही है। ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो प्रयत्न किया था उसको उन्होंने 'भाषा साहित्य में की गई प्राण-प्रतिष्ठा' से कम नहीं माना है किन्तु जहाँ द्विवेदीजी अपनी विशेष प्रकार की मान्यताओं में ग्रस्त होकर छायावादी कवियों के छन्दों और शब्द प्रयोगों पर दोष प्रकट करते हैं वह निराला जी को भी सहन नहीं होता। उन्होंने द्विवेदीजी की पद्य रचना का उदाहरण देकर उस पर जो टिप्पणी की है वह उनके व्यंग्यात्मक प्रहार की सूचक है। निरालाजी लिखते हैं—

"भाषा के सम्बन्ध में क्या कहना है। परन्तु रबड़ छन्द को एक आँख से न देख सकने वाले द्विवेदीजी कभी-कभी रबड़ छन्द के लकड़दादा छन्द की सृष्टि कर बैठते हैं यह हमें आज ही मालूम हुआ।[2] इसी प्रकार निरालाजी ने सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त स्नेहीजी रामचरित उपाध्याय लोचनप्रसाद पाण्डेय गोपालशरणसिंह आदि कवियों को उस काल की 'सरस्वती ही की स्टाइल के कवि'[3] माना है। उन्होंने इसी निबन्ध में पं० श्रीधर पाठक नाथूराम 'शंकर' शर्मा 'हरिऔध' पं० रामचन्द्र शुक्ल श्री कामताप्रसाद गुप्त पं० गिरधर शर्मा नवरत्न' सैयद अमीर अली 'मीर' पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी और पं० रूपनारायण पाण्डेय आदि द्विवेदी-युग के विभिन्न कवियों का सोदाहरण काव्य विश्लेषण किया है जिसके द्वारा उनकी काव्य-विषयक मान्यताओं का पता चलता है। निरालाजी ने उक्त कवियों की काव्य-पंक्तियों में विभिन्न दोष बतलाए हैं और उन पर मीठी चुटकियाँ भी ली हैं। विषय-विस्तार के भय की दृष्टि से मैं उनके अलग-अलग उदाहरण न देकर केवल एक ही उदाहरण द्वारा इसका संकेत करना पर्याप्त समझता हूँ—

'पं० रामचन्द्र शुक्ल ने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में काव्य रचना की है। इनकी कविता में दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न जरूर है पर मेरे विचार से यह जैसे बहुपठित विद्वान हैं, वैसे कवि नहीं। शब्दों की तौल उन्हें मालूम नहीं न अलंकार का निर्वाह करना आता है। दार्शनिक कविताओं में जहाँ कहीं बीरबल की तरह इन्होंने अपने पढ़े हुए सिद्धान्त की खिचड़ी पकाई है इनकी जिज्ञासा के बम-बम पर भावना की हांडी से पड़े हुए इनके अपने ही दाई

---

१ सम्मेलन वर्ष ९, अंक १ सं १९८०।

२ 'चाबुक' खड़ी बोली के कवि और कविता पृष्ठ १३ १४।

३ वही, पृष्ठ १४।

की भूमिकाओं के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य-सन्देश और 'चाँद' आदि पत्र-पत्रिकाओं में जिस प्रकार का चिन्तन प्रस्तुत किया है वह उनकी समीक्षक-दृष्टि का परिचायक है। पं. गंगाप्रसाद पाण्डेय ने महादेवी का विवेचनात्मक गद्य नामक पुस्तक में उनके समीक्षापरक विचारों का विषयानुक्रम से जो तारतम्य-विधि से संकलन प्रस्तुत किया है वह देवीजी के काव्य-कला छायावाद रहस्यवाद, गीतिकाव्य यथार्थ और आदर्श तथा सामयिक समस्या-विषयक प्रमुख मंतों पर उनकी मान्यताओं का विश्लेषण करने में यथेष्ट सफल है। उसके सम्यक् आकलन से इस विषय का सहज ही ज्ञान हो जाता है कि महादेवीजी में किस प्रकार की आत्मनिष्ठा और रसग्राही दृष्टि है। निश्चय ही उनकी विषय प्रतिपादन की निजी शैली और मौलिक सूझ है जिसकी पृष्ठभूमि में उन्होंने हिन्दी समालोचना को अभिनव दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा की है। वस्तुतः उसका आंतरिक और बाह्य पक्ष इतना अधिक सधा हुआ और अनुभूतिमय है कि उसका अनुकरण करना सहज कार्य नहीं है। 'उनका एक-एक वाक्य एक एक संकेत और एक-एक शब्द पाठकों के अन्तःकरण में अनुभूति तथा चिंतना की समवेदनीय आकुलता जगाने में समर्थ है'[1] यह निर्णय अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

काव्य-कला विषयक विचार

काव्य-कला का क्षेत्र और व्यापकता

८९. महादेवीजी के काव्य कला विषयक विचार अत्यंत उदार और तथ्यपूर्ण हैं। उन्होंने 'कला' शब्द की विवेचना में भारतीय विचार-परम्परा और पाश्चात्य-दर्शन-प्रक्रिया की अनुगत मान्यताओं का समन्वित स्वरूप में प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास किया है। मूल विषय पर आने के पूर्व देवीजी ऐसी तात्त्विक और चिंतनमयी भूमिका प्रस्तुत कर देती हैं, जिसकी परिपुष्ट आधारशिला पर विषय का नियोजन करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। उनके विवेचन का प्रमुख दृष्टि-बिन्दु जीवन है जिसके अन्तर्गत उन्होंने सत्य और सौन्दर्य का अभिव्यंजन कला के माध्यम से स्वीकार किया है। कला के क्षेत्र को उन्होंने इतनी अधिक व्यापक भूमिका प्रदान की है जिसके अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान की विधाएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं। काव्य उनकी दृष्टि से सर्वोत्तम कला है और सत्य उसका साध्य तथा सौन्दर्य उसका साधन है। कला और काव्य के सृजन के मूल में उन्होंने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की है कि "मनुष्य ने इसका आविष्कार बहिर्जगत् तक पहुँचे और ज्ञान तथा भाव-क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते कर लिया होगा और कला में उसकी अभिव्यक्ति ज्ञान के स्थान पर जीवन की अनुभूति से हुई होगी।"[2] इस प्रकार देवीजी के मतानुसार काव्य का सत्य जीवन-परिधि से बहिर्गत सिद्ध नहीं होता और सौन्दर्य उसका माध्यम बनता है। स्पष्ट है कि ऐसा निर्णय देते समय देवीजी ने काव्य और कला का 'हृदय तथा मस्तिष्क का संधिपत्र'[3] निर्दिष्ट किया है जिसमें रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य और बौद्धिक भावना का हल्का चीनांशुक रहता है।

९०. इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य और कला विषयक सत्य का यथार्थ सौन्दर्य ही है किन्तु देवीजी के मतानुसार वह सौन्दर्य जितना अधिक जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति के निकट रह कर प्रकट होता है उतना ही वह महान् कहा जा सकता है। इसमें देवीजी का यह अभिप्राय

1. पं. गंगाप्रसाद पाण्डेय, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य — निवेदन' पृष्ठ १।
2. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' — काव्य कला पृष्ठ १।
3. वही, पृष्ठ ६।
4. वही, पृष्ठ ८।

'पुस्तकालोचन' की सामान्य वृत्ति और निष्कर्ष

८७ निरालाजी ने समालोचना-साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होने वाले उसके परिचयमूलक स्वरूप पुस्तकालोचन को लेकर भी आज से प्रायः पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व अत्यन्त सम्पादकीय रूप में कुछ समालोचनाएँ लिखी थीं जिनका प्रकाशन 'सुधा' और 'माधुरी' जैसी पत्रिकाओं में हुआ था। ऐसी आलोचनाओं में कविवर श्री जयशंकर 'प्रसाद' लिखित 'कामायनी महाकाव्य परीक्षा'[1] बोलचाल (प्रणेता—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') श्री रामकृष्ण परमहंस की पुस्तकें[2] प्राच्य और पाश्चात्य[3] (लेखक स्वामी विवेकानन्द) प्रमुख हैं। इन आलोचनाओं में निराला जी ने लेखकों और प्रकाशकों के नाम पुस्तकों की पृष्ठ संख्या मूल्य तथा छपाई-सफाई का विवरण देकर अत्यन्त सामान्य विधि में आलोच्य कृतियों का स्वरूप-निर्धारण किया है जिनसे उनका भावनापूर्ण दृष्टि-विधान परिलक्षित होता है। बहुत सी बातों में तो ये आलोचनाएँ भारतेन्दु युगीन पुस्तक-परिचय वाली शैली अथवा टिप्पणियों का आभास देने वाली हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'हिन्दी के आदि प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (समन्वय १७ सितम्बर, १९३०) कवि-मंचन (देवदूत सितम्बर १९४१) पं० बनारसीदास का अंग्रेजी ज्ञान (सुधा मई, १९३१) श्री भुवनेश्वर की तारीफ (माधुरी जनवरी १९३७) ज्ञान और भक्ति पर तुलसीदास' (समन्वय वर्ष २ अंक ३ और ज्येष्ठ, सं० १९८८) आदि विषयों पर अपनी मौज और धुन में छोटी-बड़ी आलोचनाएं लिखी हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि निरालाजी अपनी प्रकृति के कितने बड़े धनी हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपने विरोधियों के प्रति कितने कठोर हो जाते हैं। उनकी अभिव्यंजना और शैलीगत मौलिकता तो सर्वत्र दर्शनीय है। उसमें उनकी विवेचन-पटुता निर्भीकता दृढ़ता अहंभावना और तीक्ष्ण दृष्टि का आभास सहज ही मिल जाता है। 'चाबुक' नामक संग्रह में उनके ऐसे अनेक परिचयमूलक निबन्ध हैं जो उन्हें पत्र-सम्पादक के रूप में लिखने पड़े थे।

(४)

श्रीमती महादेवी वर्मा

समालोचक-व्यक्तित्व

८८. हिन्दी-समालोचना के प्रसार-काल में सौन्दर्यमूलक दृष्टि-विधान और तत्वचिन्तन प्रवृत्ति को लेकर जिन छायावादी कवियों ने काव्य-समीक्षण प्रस्तुत किया उनमें अपनी काव्य-साधना की ही भाँति सुश्री महादेवी वर्मा का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि उन्होंने शास्त्रीय और पूर्वाग्रहित सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर समालोचनाएँ नहीं लिखी हैं, फिर भी उनकी जीवन अनुभूति और करुण संवेदना चिंतन के क्षणों में काव्य के अन्तरंग पक्ष का ऐसा तथ्यपरक विश्लेषण कर सकी है, जो उनकी विचारधारा को स्पष्ट करने के साथ-साथ परोक्ष विधि में उनके काव्य-सृजन की मूल प्रेरणाओं को भी हृदयस्थ बनाने में सहयोग प्रदान करती है। वैसे तो देवीजी का प्रधान क्षेत्र काव्य-सृजन ही रहा है फिर भी उन्होंने अपने काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं में साहित्य के सनातन और चिरंतन सत्यों का विवेचन आधुनिक युग प्रवृत्तियों को दृष्टिगोचर रखते हुए अत्यन्त भावप्रवण और गम्भीर शैली में किया है। 'यामा' 'दीपशिखा' 'सांध्यगीत' तथा आधुनिक कवि प्रथम भाग

---

१ सुधा वर्ष ११ खण्ड १ संख्या ३ सं० १९८६ अगस्त सन् १९३०।
२ 'समन्वय' वर्ष ३ खण्ड १ संख्या ५ सं० १९८८ दिसम्बर सन् १९३१।
३ माधुरी, जनवरी सन् १९२४।
४ माधुरी, जनवरी, सन् १९२४।

काव्य-कला की तात्विक भूमिका

१३ काव्य-कला के विवेचन के इसी प्रसंग में महादेवीजी का हमारे अभिनव कलाकारों के लिए एक सन्देश भी है। वह यह कि हमें आधुनिक भौतिक विज्ञान के प्रभाव से आक्रान्त होकर बुद्धिजीवियों के एकांगी अनुयायी बनने की भावना का परित्याग कर देना चाहिए। सच तो यह है कि महादेवी जी के मतानुसार कलाकार के लिए जीवन की भावानुभूति और तन्मयता जितनी अधिक वांछनीय है उतनी भौतिक दृष्टि नहीं। वास्तव में कला में व्यष्टि और समष्टि का सन्तुलन उसे उदात्तत्व प्रदान करता है। और तो और, काव्य-कला की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उन्होंने स्वयं मनुष्य को 'एक सजीव-कवि' का रूप दिया है जिसमें जीवन की एकता का तत्व देशकालावच्छिन्न होकर प्रकट होता है। इस प्रकार देवीजी के मतानुसार कलाकार की कृति अथवा साहित्यकार की सर्जना जड़-चेतन की क्रिया-प्रतिक्रिया के मूर्तिमान प्रतीक हमारे समग्र जीवन का एक ऐसा सजीव चित्र है जो राजनीति से शासित समाज-शास्त्र से नियमित विज्ञान से विकसित और दर्शन से व्याप्त रहता है।[1] उन्होंने कला के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप कविता (काव्य) को मानव-हृदय के समान ही पुरातन निर्दिष्ट कर उसे मानव-विज्ञान की अन्यान्य शाखाओं से अग्रणी और चिरकालीन माना है और उसकी संवेदना को ऐसी चिरन्तन स्थिति प्रदान की है जिसके लिए युग-विशेष की आस्थाओं का केवल सीमित महत्व है। उनका यह निर्णय तो मुझे अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने जीवन में कविता का वही महत्त्व माना है जो "कठोर भित्तियों से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमण्डल से मिला देने वाले वातायन" का होता है।[2]

छायावाद

आधार शिला और स्वरूप

१४ महादेवीजी की समालोचना-प्रणाली में व्याख्यात्मकता और ऐतिहासिकता का भी सुन्दर सामंजस्य है। छायावाद का विवेचन इस कथन के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है। उन्होंने छायावादी काव्य का स्वरूप-समीक्षण करने के पूर्व ऐतिहासिक आधार-शिला पर उस वातावरण और परिस्थिति की झलक दी है, जिसकी क्रोड़ में इस काव्य-प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उनके मतानुसार छायावाद के जन्म के मूल में आधुनिक युग का जागरण और अंग्रेजी शासन के प्रभाव की प्रतिक्रिया प्रधान है जिन्होंने छायावाद के लिए सांस्कृतिक और सामाजिक भूमिका प्रस्तुत की थी। महादेवीजी ने उन लोगों का विरोध किया है जो छायावाद को केवल व्यर्थ का प्रलाप समझ कर उसके अस्तित्व को सारहीन सिद्ध करते हैं। उनका तो कहना है कि छायावाद का प्रवर्तन सर्वथा स्वाभाविक और अनिवार्य क्रम में हुआ है। इसके लिए भारतेन्दु-युग की चेतना द्विवेदी-युग की आदर्शनिष्ठा और रीति-कालीन शृंगारी प्रवृत्तियाँ भी उत्तरदायी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवीजी का यह विवेचन छायावाद के अन्यतम कवि सर्वश्री जयशंकर प्रसाद सुमित्रानन्दन पंत और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की साहित्यिक धारणाओं के अत्यन्त निकटवर्ती है किन्तु उनकी अभिव्यंजन-शैली उनसे भिन्न और अधिक भावमयी है। वे छायावाद के जन्म का रहस्य और कारण मानव-जीवन के स्वाभाविक अतिक्रमण के रूप में मानती है जिसमें 'वह स्वच्छंद घूमते-घूमते थक कर अपने लिए सहस्र बंधनों का आविष्कार कर डालता

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ संख्या ४६।
२. वही, पृष्ठ ८८।

है कि कला-सृष्टि के लिए पार्थिव जगत् की कठोरता संघर्ष और जय-पराजय का मूल्य नहीं अपितु उसमें हमारे अन्तर्जगत् की भावनाओं और कल्पनाओं का भी उन्हीं के समकक्ष महत्त्व है। इसी प्रकार उन्होंने कला-जगत् का विस्तार सुन्दर और असुन्दर तथा छोटे और बड़े सभी विषयों तक परिव्याप्त मानकर एक ओर आचार्य शुक्लजी की मान्यताओं का ही संपोषण किया है तो दूसरी ओर उसकी सत्ता को अखण्ड अभिव्यक्ति तथा उपयोग तथा सौन्दर्य के अन्तर्गत किए जाने वाले वर्गीकरण को अव्यावहारिक कहकर हेगेल तथा क्रोचे के निकटवर्ती सिद्धान्त की पुष्टि की है। वे कला में उपयोगिता के प्रश्न को जीवन की सम्पूर्णता के व्यापक तथा उच्चतम धरातल पर स्वीकार करती हैं जिसमें निश्चय ही उनके मन का अन्तर्गूढ़ भाव स्वतः संगुम्फित है।

कलाकार का व्यक्तित्व और सौन्दर्य-चेतना

११. *काव्य-कला के साथ-साथ महादेवीजी के कलाकार-विषयक विचार भी पठनीय* हैं। उन्हें कलाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व में आस्था है और वे उसका जीवन दर्शन ऐसे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करती हैं जिस पर आसीन होकर वह अपनी आत्माभिव्यंजना में विश्व हृदय की भावनाओं को मूर्तिमान बना सकता है और जिसकी सहज संवेदना और आत्मीयता की समता में नीति, आचार तथा धर्म का पक्ष हलका पड़ जाता है। उन्होंने कलाकार के व्यक्तित्व में दार्शनिक का अन्तर्भाव भी माना है किन्तु दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ताओं के प्रति भी अपनी धारणा व्यक्त की है जिसका एक प्रमाण यह है कि वे कलाकार (कवि) की कृति में उसके *जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण आस्था के साथ होना अनिवार्य समझती हैं जबकि दार्शनिक* की धारणा में नास्तिक भावना का समावेश भी रह सकता है।[1] इस प्रकार देवीजी के मतानुसार कला में जीवन की विविधता का विकास स्वतः अन्तर्निहित है जिसको एकांगिता से ग्रस्त करना कदापि शोभनीय प्रयास नहीं कहा जा सकता।

१२. महादेवी जी का काव्य-कला विषयक प्रतिमान किसी भी प्रकार की पूर्वग्रह-प्रवृत्ति से विहीन है। उन्होंने प्रस्तुत विवेचन में अपने अध्ययन और चिन्तन का सत्य संयोजित कर दिया है। उनके मतानुसार कला-क्षेत्र में केवल व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्वात्मक भाव ही नहीं आते अपितु यथार्थ और आदर्श की भी कणिकाएँ समाविष्ट रहती हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो देवीजी कला के क्षेत्र में गोचर जगत् की अभिव्यक्ति के साथ साथ अन्तर्जगत् की सौन्दर्यमयी चेतना का सामंजस्य नहीं करतीं। हाँ यह बात अवश्य है कि रहस्यवादी कवयित्री होने के कारण उनकी अन्तर्जगत् के प्रति अधिक प्रवृत्ति है जिसके कारण वे जीवन-संवेदना की तीव्र अनुभूति को काव्य-कला के निर्माण का मूल उत्स सिद्ध करती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी विवेचन के प्रसंग में महादेवी जी ने आधुनिक कलाकार की उस मनोभूमि का भी महत्त्व स्वीकार किया है जो *युगीन* वातावरण की जीवन-व्यापी शक्तियों का अभिव्यंजन अपनी कला में करता है तथा जिसके व्यक्तित्व में राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अनेक प्रकार की क्रान्तियों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं को जन्म देती हैं। इससे स्पष्ट है कि महादेवीजी की *मान्यता में* कला और कलाकार का महत्त्व बहुरंगी है। यदि ऐसा न होता तो व भारतीय कला का विश्लेषण उन आधार *बिन्दुओं से न करतीं जिनके कारण हमारे सांस्कृतिक जीवन में एक विशेष* प्रकार की चेतना और सप्राणता का संचार हुआ है। महादेवी जी का यह विवेचन ऐतिहासिक अनुशीलन की दृष्टि से भी अत्यन्त गवेषणापूर्ण है।

---

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' काव्य कला पृष्ठ २१।

६७ महादेवीजी का छायावाद-विश्लेषण अत्यन्त शोधपरक और गम्भीर है। उसके पीछे उनका गहन अध्ययन और तत्त्वदर्शन छिपा हुआ है। वेदों और उपनिषदों के अध्ययन से वे उसमें विकास का स्वाभाविक क्रम अन्वेषित कर सकी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादी कवियों की भाँति ही वैदिक कालीन ऋषियों ने अपनी ऋचाओं में प्रकृति के नियामक तथा मरुत सविता आदि देवताओं के प्रति इसी प्रकार की भावना प्रकट की थी, जिसमें उन्हें चेतन व्यक्तित्व प्रदान कर उनका सहज सौन्दर्य चित्रित किया गया था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण पुरुष-सूक्त है जिसमें विश्व पर एक विराट शरीरत्व के आरोपण का ऐसा प्रयास है जिसे सर्ववाद का मूल कारण कहा जा सकता है। महादेवीजी ने उसी को छायावाद का आदि उत्स मान कर उसका सम्बन्ध केनोपनिषद् आदि दर्शन-ग्रन्थों की तत्त्व-चिन्तन धारा के साथ जोड़ दिया है जिसमें अज्ञात सत्ता के प्रति एक भावमयी जिज्ञासा का अभिव्यंजन किया गया है। इसी प्रसंग में उन्होंने छायावाद के विकास को भारतीय साहित्य में एक स्वाभाविक क्रम में निरूपित कर उन समालोचकों की मान्यताओं का खण्डन किया है जो अपनी एकांगी तथा विरोधी दृष्टि के कारण छायावादी काव्य की नवीनता में *वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायन-वृत्ति तथा अस्पष्टता* आदि अनेक प्रकार के अभियोगों से लाञ्छित करते हैं।[1] उनका यह विवेचन अत्यन्त ऊर्जस्वित और तत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उस काल में छायावाद के नाम पर जिस प्रकार के वितण्डावाद की सृष्टि हो रही थी उसका परिशमन करने के लिए इस प्रकार के शास्त्र-सम्मत और तर्कपूर्ण विश्लेषण की प्राथमिक आवश्यकता थी। सच तो यह है कि देवीजी को छायावाद-विरोधियों के आक्षेपों में जीवन-सत्य के अनुभूत तथ्यों का अभाव मिलता है, क्योंकि उनकी धारणाएँ भी रूढ़िग्रस्त और एकांगी हैं और वह इस विषय की निर्देशिका है कि वे अपनी विचार-शक्ति केवल छायावाद का विरोध करने के लिए ही प्रस्तुत करते हैं। यदि ऐसा न होता तो वे छायावाद की *सृजन प्रेरणा के मूल में बड़ी बोली के सौन्दर्यहीन इतिवृत्त की उपेक्षा न करते और छायावादी कवियों के जीवन-दर्शन में अभिव्यक्ति स्वप्नों में पूर्णरूपेण जीवन से पलायन-वृत्ति* नहीं पाते। निश्चय ही छायावाद का सृजन भी हमारे वर्तमान जीवन की विभीषिकाओं को अपना अंगभूत बनाकर हुआ है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति इतनी अधिक कलात्मक और सूक्ष्म है जिसके कारण वह वायवी लोक का अधिवासी प्रतीत होता है। इस प्रकार महादेवीजी के मतानुसार छायावाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से विचार किया जाना परम वांछनीय है।

अन्यान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण

६८. *महादेवीजी ने छायावाद के विवेचन के प्रसंग में और भी अनेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण* किया है जिनके कारण अध्ययमान समालोचकों ने उसके रूप-निर्माण और बाह्य विधान पर व्यंग्य दृष्टि रखी थी। वे अपने विश्लेषण में उन तथ्यों का उद्घाटन करने की ओर विशेष उन्मुख प्रतीत होती हैं जिनके आंशिक सत्य ने छायावाद के उदात्त-स्वरूप को भ्रमग्रस्त बनाकर कदाचित उसके प्रति न्याय-भावना का निर्वाह नहीं किया है। महादेवीजी ने भी अपने पक्ष-समर्थन में प्रायः वे ही तर्क उपस्थित किए हैं जो छायावाद के अन्य कवियों और मार्मिक समालोचकों ने दिए थे किन्तु उनकी अभिव्यक्ति उनसे अधिक ममतामयी और हृदयहारिणी है। वे भी छायावाद को *विदेशी प्रवृत्ति* मानने का स्पष्ट विरोध करती हैं और छायावादी काव्यकारों को केवल पश्चिमी और बंगला-काव्य का अनुगामी सिद्ध करने को एकपक्षीय निर्णय मानती हैं क्योंकि इन कवियों का भारतीय साहित्य और संस्कृति विषयक अध्ययन उन्हें बहुत ऊँची भूमिका प्रदान करता है। इसी प्रकार 'प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप कल्पनाओं की समृद्धि स्वानुभूत सुख-दुःखों को अभिव्यक्ति'[2]

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ६६।
२. वही, पृष्ठ ७८।

है और फिर बंधनों से ऊब कर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है।[1] इस सामान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् देवीजी ने छायावाद के जन्म का रहस्य विवेचित करते हुए लिखा है—

उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो अब भी उपयुक्त लगता है।[2]

१५ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-सिद्धांतों के विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उन्होंने छायावादी कवियों की कृतियों में किस प्रकार अस्पष्टता और दोषोद्भावना प्रकट की थी। देवीजी के सामने भी उनकी एतद्विषयक लेखमालाएं और वार्ताएँ थीं जिनका प्रतिवाद करना आवश्यक था। जिन आचार्य द्विवेदी ने 'छाया' शब्द का उपहास करते हुए उसे काव्य-जगत् के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध किया उसे देवीजी ने अत्यधिक शालीनता के साथ ग्रहण किया। उनके मतानुसार 'छाया-चित्रों की सृष्टि के लिए और भी अधिक कुशल-चित्रकारों की आवश्यकता होती है क्योंकि उन चित्रों का आधार छूने या चर्म चक्षु से देखने की वस्तु नहीं। यदि वे मानव-हृदय में छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रंग चढ़ाकर न बनाए जायें तो वे प्रेत-छाया के समान वर्ण्य या नहीं इसमें कुछ ही सन्देह है।[3] इस कथन का अभिप्राय यह है कि छाया-सृष्टि करना कोई साधारण कार्य नहीं है और उसके लिए विशेष प्रकार की प्रतिभा और क्षमता की आवश्यकता है।

तत्त्व चिन्तन और ऐतिहासिक विकास

१६ महादेवीजी के छायावाद-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि उनकी इसके चिरन्तन और सनातन स्वरूप पर दृढ़ आस्था है। वे उसे अत्यन्त व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित समझती हैं जिसका प्रमाण यह है कि उन्होंने उसका सम्बन्ध हमारे प्राचीन कालीन वेदों और दर्शन-शास्त्रों से जोड़कर उसे उदात्त और चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमिका प्रस्तुत की है। यदि ऐसा न होता तो वे छाया वाद पर धर्म के अध्यात्म के साथ-साथ दर्शन के ब्रह्म की छाया आरोपित नहीं करतीं। उनका तो स्पष्ट कहना है कि छायावाद की यह दार्शनिक चेतना ही उसे मूर्त या अमूर्त विश्व को समन्वित कर उसे पूर्णता प्रदान करती है। इस विषय में उनका निम्नलिखित निर्णय अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक समझा जा सकता है —

"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुखों को मिलाकर ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद हृदय वाद अध्यात्मवाद, रहस्यवाद छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी। छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी।[4]

---

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'—छायावाद, पृष्ठ ५६ ।
२. वही पृष्ठ ५६ ६ ।
३ वही, पृष्ठ ६ ।
४ वही, पृष्ठ ६ -११ ।

की है, पर वे सब छायावाद की पृष्ठभूमि में ही ग्रहण किए गए हैं। सच तो यह है कि महादेवीजी को छायावादी काव्य की व्यापक भावधारा पर इतना अधिक विश्वास है कि उन्हें उसका दुर्बल पक्ष दृष्टिगोचर ही नहीं होता। डा० नगेन्द्र ने महादेवीजी के छायावादी विवेचन को कुछ विशेष सीमाओं तक ही स्वीकार किया है। वे छायावाद को महादेवीजी की गीति कविता के परिपूर्ण क्षणों की वाणी नहीं मानते और न उसकी सूक्ष्मता सुकुमारता और सरल चिन्तन में अपेक्षित उचित तीव्रता और मांसल रस ही पाते हैं। नगेन्द्रजी का यह निर्णय वस्तुतः माननीय है, क्योंकि महादेवीजी द्वारा छायावाद का रूप-दर्शन भले ही उदात्त भावभूमि पर चित्रित किया गया हो किन्तु उसकी आध्यात्मिक एकांगी दृष्टि भी अप्रकट नहीं है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महादेवीजी अपनी स्वांतःसुखाय साधना में छायावादी धारा को भले ही काव्य की सर्वोच्च भूमि स्वीकार करें, किन्तु पार्थिव जगत् की परिस्थिति ने हमें जो अभिनव दृष्टि प्रदान की है, वह छायावादी परम्परा को आज बहुत पीछे छोड़ चुकी है। पंतजी और निरालाजी का अन्य दिशा की ओर प्रयाण इस का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण है।

रहस्यवाद और महादेवीजी की मान्यताएँ

१०१ साधारणतया छायावाद के साथ रहस्यवाद अथवा की संलग्न प्रवृत्ति होने के कारण उन दोनों का प्रायः एकरूप समझने की जो भ्रान्ति हो जाती है, उसका निराकरण महादेवीजी के रहस्यवाद विषयक विचारों से हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन दोनों वादों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और उनके रचनाकारों का व्यक्तित्व धूप-छाँही रंगों से निर्मित हुआ है किन्तु दोनों में तात्त्विक अन्तर भी है यह भी एक स्पष्ट सत्य है। वस्तुतः रहस्यवाद नाम के अर्थ में छायावाद से प्राचीन है किन्तु प्रयोग के रूप में वह उसका उत्तरवर्ती है। महादेवी जी ने रहस्यवाद की मूल अवतारणा का विवेचन करते हुए लिखा है—

'जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।"[1]

१०२ रहस्यवाद के विवेचन में महादेवीजी ने उन प्रेरक-शक्तियों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने इस श्रेणी के काव्यकारों को सृजन के लिए आधार-शिला प्रदान की। वस्तुतः इसके अंकुर पुरातन युग की परा या ब्रह्म विद्या के अन्तर्गत कुण्ठित थे किन्तु उस समय उन्हें रागात्मक स्वरूप नहीं प्रदान किया गया। कालान्तर में वेदान्त के विभिन्न वादों योगियों और सूफियों की रहस्यमयी प्रवृत्तियों तथा कबीर आदि सन्तों की योग तथा प्रेम से समन्वित भावनाओं को उपजीव्य बनाकर रहस्यवाद का सृजन जिस समन्वयपूर्ण साधना में किया गया उसका उल्लेख कर महादेवीजी ने वर्तमान-युगीन रहस्यवाद को उन विभिन्न विशेषताओं से पूर्ण निर्दिष्ट किया

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—'रहस्यवाद' पृष्ठ १ ५।

आदि को छायावाद की व्यापक और सापेक्षिक विशेषताएँ निर्दिष्ट कर उनकी उपस्थिति उन्होंने वैदिक कालीन साहित्य से लेकर भारतीय जीवन की शिराओं में निनादित लोक-गीतों तक में सप्रमाण सिद्ध की है जिसका अभिप्राय यह है कि छायावाद न केवल विशुद्ध भारतीय धारा है अपितु वह निस्सन्देह काव्य का ऐसा उदात्त पक्ष भी है जिसमें समवाद, जड़-चेतन-ऐक्य सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति तथा भावात्मक दर्शन के तत्व क्षण देखकर उसे केवल ज्ञान कोष का विषय ही स्वीकार करना न्याय-दृष्टि से समुचित नहीं है। इसी प्रसंग में महादेवीजी ने छायावाद की उन विशेषताओं का भी उद्घाटन किया है जिनके कारण नारी के चरित्रांकन में नवीन दृष्टि का प्रचार हुआ है। वे छायावाद की गीति-परम्परा का सम्बन्ध भारतीय जीवन के आदि प्रतीक वेदकालीन ऋचाओं से जोड़कर जयदेव आदि की परम्परा में विकसित लौकिक संस्कृत की रचनाओं में भी उसी का प्रस्फुरण पाती हैं जो कालांतर में हिन्दी के भक्त कवियों की सरस पदावली में अभिव्यक्त हुआ और जिसकी स्वानुभूति प्रकारांतर में छायावादी कवियों द्वारा सांकेतिकता और अभिनव भावप्रणिकता द्वारा विकसित बनाई गई। अभिप्राय यह है कि महादेवीजी के मतानुसार छायावाद की भारतीय साहित्य में एक नैसर्गिक परम्परा है और उसकी स्वानुभूति और गीतात्मकता किसी भी प्रबन्ध चातुरी अथवा वर्णनात्मकता से हीन-कोटि की नहीं है।

११ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है महादेवीजी ने छायावाद से सम्बन्धित प्रायः उन समस्त प्रश्नों पर अपनी सुलझी हुई दृष्टि से विचार किया है जो उसके प्रति सहानुभूति न रखने वाले आलोचकों ने कुछ अतिरेकपूर्ण शब्दावली में व्यक्त किए थे। कल्पना की उड़ान भी उनमें से एक था। महादेवीजी ने काव्य में कल्पना का विशेष महत्व स्वीकार कर भारतीय साहित्य में प्रकृति सौन्दर्य से उद्भूत ऐश्वर्यमयी कल्पना के चिन्मय स्वरूप की अत्यन्त प्रशंसा की है जो हमारे जीवन-दर्शन और संस्कारों के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार काव्य और करुणा में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर जिस सक्षमता के साथ उसे काव्य की मूलभूत प्रेरणा सिद्ध किया गया है वह भी हृदयग्राह्य है। कहा जा सकता है कि इस विवेचन में विदुषी कवयित्री ने परोक्ष रूप से उन आक्षेपों का भी निराकरण कर दिया है जो छायावाद को दुःखवाद का पर्याय मानकर अनेक समालोचकों द्वारा किए गए थे तथा जिनके मतानुसार भारतेन्दु-युग से ही आधुनिक काव्य धारा में करुणा का नैसर्गिक विधान नहीं था। एक प्रकार से यह समीक्षण महादेवीजी के काव्य की मूल करुण-भावना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में पर्याप्त समर्थ है। वे लिखती हैं—

छायावाद का काव्य अनुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अतः व्यापक करुणा भाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में गाया हुआ पराया दुःख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव में एकरस जान पड़ती है। १२ व्यक्तिप्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे अतः छायावाद-युग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका।[1]

१ वैसे तो महादेवीजी ने छायावाद का विश्लेषण उसके विभिन्न पक्षों को लेकर और भी व्यापकता से किया है किन्तु उनके सारभूत तथ्यों का निरूपण उपर्युक्त विश्लेषण में आ गया है अतः हम उनके अधिक विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं समझते। इतना विश्लेषण भी केवल इसलिए किया गया जिससे महादेवीजी की छायावादी जीवन-दर्शन की मान्यताओं का प्रमुख अंश दृष्टिपथ में आ सके। उन्होंने छायावाद के साथ ही साथ उसी युग में प्रचलित *यथार्थवाद, निराशावाद और दुःखवाद आदि अनेकानेक प्रवृत्तियों पर भी अपनी धारणाएँ व्यक्त*

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'—छायावाद पृष्ठ ६७।

स्थापना के लिए दोनों में क्रमशः पुरुष और नारी भाव का जो आरोप किया है,[1] उसका प्रमाण उन्होंने कबीर मीरा तथा चैतन्य महाप्रभु के रूपक पर आश्रित माधुर्य भाव का विश्लेषण करते हुए दिया है। इस प्रकार महादेवीजी के मतानुसार नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर असीम हो जाना कोई अनहोनी बात नहीं अपितु भारतीय काव्य-दर्शन की परम्परा के सर्वथा निकट है।"[2]

१०५ महादेवीजी के रहस्यवाद-विषयक विवेचन से उनके व्यापक तथा गम्भीर अध्ययन का भी पता चलता है। भारतीय साहित्य और दर्शन में तो उनकी अप्रतिहत गति है ही किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने तुलनात्मक पद्धति से पश्चिमी विचारकों का दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है। वे प्लेटो और प्लेटोनिस की रहस्य-भावना के उद्गम और विकास का रेखाचित्र उपस्थित कर उसकी स्थिति को ब्रह्म और जगत् के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से मानती हैं, जब कि भारतीय विचारधारा ब्रह्म और जीव की एकता पर आश्रित है।[3] इस प्रकार इस विषय में वे आचार्य शुक्ल की इस मान्यता से सहमत हैं कि ईसाई-मत का रहस्यवाद धर्म की परिधि में उत्पन्न होने के कारण अपनी संकीर्णतावश साम्प्रदायिक बन गया जबकि भारतीय रहस्यवाद में उसके लिए ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न ही नहीं हुई। सच तो यह है कि महादेवीजी के मतानुसार 'जहाँ धर्म की इति होती है वहीं रहस्य का अथ होता है अतः धार्मिक मान्यताओं में परिगणित होने वाले नरक-स्वर्ग मृत्यु-पुनर्जन्म तथा परलोक भावना का कोई महत्त्व नहीं।[4] उन्होंने इसी प्रसंग में पश्चिमी रहस्यवाद का तात्त्विक विश्लेषण कर उसके काव्य में निहित प्रकृतिवाद का विवेचन प्रसिद्ध अंग्रेज कवि ब्लेक और वर्ड्सवर्थ के काव्य-पक्ष के आधार पर किया है। निष्कर्ष यह है कि महादेवीजी का रहस्यवाद-विषयक विवेचन उनके भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन और चिन्तन का परिणाम है और उन्होंने उसके द्वारा प्रस्तुत वाद के सम्बन्ध में उस भ्रान्ति का भी संशोधन कर दिया है जो इसके स्वरूप-विवेचकों द्वारा अवशिष्ट रह गई थी तथा जिसके कारण रहस्यवाद की स्थिति कुछ आलोचकों की दृष्टि में उपहासास्पद बनी हुई थी। मेरी समझ से महादेवीजी का यह विवेचन समालोचना-साहित्य के प्रसार क्रम में अपना असाधारण गौरव रखता है और वह अपने विचाराभिव्यक्ति-पक्ष में निस्सन्देह अद्वितीय है जिसका स्पष्टीकरण करने के लिए मैंने अपने शोध-प्रबन्ध की सीमा का ध्यान रखते हुए कुछ विस्तार से वर्णन किया है, क्योंकि उसके बिना इस क्षेत्र में देवीजी की उपलब्धि का बोध किया ही नहीं जा सकता था।

यथार्थ, आदर्श तथा सामयिक समस्याओं का विश्लेषण

१०६ अभी तक महादेवीजी की समालोचना के जिन विचार-सूत्रों का विवेचन किया गया है वे उनकी मूल मनोवृत्तियों के प्रधान केन्द्र बिन्दु हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने गीति काव्य यथार्थ और आदर्श तथा सामयिक समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, जिनकी प्रधान भूमि उनकी छायावादी मान्यताएँ ही हैं। कहा जा सकता है कि उन मान्यताओं के अन्तर्गत उन्होंने हमारे साहित्य के प्रस्तुत प्रश्नों को समझने की चेष्टा की है। यह बात अवश्य है कि इस विवेचन में महादेवीजी का दृष्टिकोण कहीं पर भी दिग्भ्रान्त नहीं हुआ है और उनका जो एक निश्चित प्रतिमान बन गया है, वही सर्वत्र परिलक्षित है। रहस्यवाद की प्रमुख कवयित्री होने के कारण उनका गीतिकाव्य की ओर अधिक झुकाव है, अतः वे अपने स्वानुभूत चिन्तन के बल पर

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १११।
२. वही, पृष्ठ ११०।
३. वही, पृष्ठ १११।
४. वही, पृष्ठ ११२।

है। महादेवीजी के मतानुसार "उसने (रहस्यवाद) परा विद्या की अपार्थिवता ली वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका उसे पार्थिव प्रेम से ऊँचा उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"[1]

१ ३ महादेवीजी के रहस्यवाद-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि वे उसके मूल में भारतीय काव्य-परम्परा के ऐसे अनेक तत्वों का आभास पाती हैं, जिन्हें रहस्यवाद के प्रति विपरीत मान्यता रखने वाले विद्वानों ने उपेक्षित कर दिया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी काव्य की रहस्यवादी धारा पाश्चात्य साहित्य तथा रवीन्द्रिक बंगला-काव्य से यथेष्ट प्रभावित रही किन्तु महादेवीजी के मतानुसार उसे केवल उनका अनुकरणमात्र नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: रहस्य-भावना मानव-जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसे देवीजी ने विश्व-साहित्य के आलोक में अत्यन्त नैसर्गिक विधान में स्पष्ट किया है। व्यावहारिक सुविधा के लिए उसे भले ही वाद की संज्ञा दी जाय किन्तु महादेवीजी उसे हमारी अंतःशक्ति और बाह्य-जगत् के विकास क्रम में अनिवार्य मानती हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे एकान्त क्षण अवश्य आते हैं जब वह आत्मपरक भावनाओं में तल्लीन सा हो जाता है। महादेवीजी का यह निर्णय भी अत्यन्त विवेक-सम्मत है कि 'मूर्त जगत् का यथार्थदर्शी ही अमूर्त जगत् का रहस्यद्रष्टा बन कर ही पूर्णता प्राप्त करता है। उन्होंने रहस्यवादी की अलौकिक और अपार्थिव मनोवृत्ति को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से व्यक्त किया है जो सूफीवादी परम्परा से भिन्न है। उनका तो स्पष्ट अभिमत है कि कवि भले ही अपनी अभिव्यक्ति में लौकिक रह कर अपने अलौकिक आत्मसमर्पण का स्पष्टीकरण लौकिक आधार पर करे, किन्तु उसके हृदय में अलौकिक रहस्यानुभूति का आभास रहता अवश्य है, जो उसे अपनी सीमित क्षमता के कारण स्थूल आधार लेने के लिए बाध्य सा करता है। स्पष्ट है कि इस निर्णय द्वारा महादेवीजी ने रहस्यवादियों के उस पक्ष को आरक्षित कर दिया है जिसकी अभिव्यक्ति में मानसिक कुंठाओं को आरोपित करने की प्रवृत्ति है। सच तो यह है कि देवीजी के मतानुसार बुद्धि का भेद ही हृदय का प्रेय हो जाता है और रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है।[2]

१ ४ महादेवीजी का रहस्यवाद-विषयक विवेचन भारतीय दर्शन की उपपत्तियों से अनुप्राणित है। उन्होंने उसके द्वारा रहस्यमयी काव्यधारा की विविध प्रवृत्तियों का तात्विक पक्ष निर्धारित कर उसकी मनोभूमि को अधिक प्रौढ़ बना दिया है। अपनी साधना में तल्लीन रहस्यवादियों के आत्मदान की भावना को उन्होंने साम्प्रदायिक न मानकर स्वभावगत माना है और अपने कथन की पुष्टि में ऐसी अनेक वैदिक ऋचाएँ उद्धृत की हैं जिनमें आत्मसमर्पण और माधुर्यसिक्त रहस्यात्मकता अभिव्यंजित हुई है। उनके इस विश्लेषण पर भारतीय चिन्तन के एक प्रमुख अंग सर्ववाद का तो इतना अधिक प्रभाव है कि उन्हें उसकी काव्यगत अभिव्यक्ति अत्यधिक स्पृहणीय और मधुर लगी है। इसी प्रकार उन्होंने रहस्य-भावना के लिए द्वैत की स्थिति और अद्वैत का आभास पूर्वापर सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किए हैं जिनमें विरहानुभूति और तादात्म्य-लालसा रहनी स्वाभाविक है। रहस्यवादियों ने परमतत्व और आत्मा के बीच माधुर्यभावमूलक सम्बन्ध की

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, 'रहस्यवाद' पृष्ठ १०६।

२ वही, पृष्ठ १११।

३ वही, पृष्ठ ११२।

सहानुभूति नहीं है। उनके मतानुसार यदि द्विवेदी-युगीन आदर्शवाद केवल उपयोगिता के माध्यम से काव्य-सौष्ठव का परीक्षण करना चाहता है तो उत्तर-छायावादी युग छायावाद से विविध प्रेरणाएँ ग्रहण करके भी अपने आपको प्रतिक्रियावादी के रूप में उपस्थित करने में गौरव समझता है। देवीजी के मत से दोनों ही विचारधाराएँ सत्य का एक अंश ग्रहण कर उसे ही पूर्ण मानने की भूल कर बैठती हैं। यद्यपि देवीजी ने द्विवेदी-युगीन उपयोगितावादी दृष्टि पर अधिक आक्षेप व्यक्त नहीं किया है, किन्तु आदर्श की प्रतिक्रिया में उत्पन्न उस काव्यधारा का घोर विरोध किया है जिसमें एक ओर यथार्थ की छाया में हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखने वाले वासना के चित्र हैं तो दूसरी ओर जीवन का वह घृणित और कुत्सित रूप है जो हमारी समष्टिगत चेतना के अभाव से उत्पन्न हुआ है।[1] हाँ उनका उस यथार्थ से कोई विरोध नहीं है जो हमारी संवेदनीय अनुभूति का यथातथ्य चित्रण करता हुआ चलता है।[2] वस्तुतः उनकी दृष्टि में हमारे साहित्यजगत् की यह एक समस्या ही है। मध्यवर्गीय साहित्यकार की वाणी से प्रस्फुटित श्रमिक वर्ग की विवशता का चित्रण किन अंशों तक वास्तविक और किन अंशों तक बौद्धिक प्रयासमात्र है ऐसा लिखते समय महादेवीजी का उन काव्यकारों के प्रति भी व्यंग्य हुआ है जो छायावाद में केवल पलायन-वृत्ति और वायवी स्वप्नों की धूमिल छाया देखकर प्रगतिवाद की ओर प्रयाण कर गये थे। ऐसे काव्यकारों में जीवन की सच्ची संवेदना का अभाव निरूपित कर उनकी काव्य-सृष्टि को देवीजी ने इस दृष्टि से एक प्रकार की समस्या ही माना है कि उनके काव्य का उदात्त स्वरूप अथवा मनोभूमि किन रेखाओं से निर्मित आकार में सत्य समझी जाय।

१०९ महादेवीजी ने सामयिक समस्या के विवेचन में बार-बार उस प्रगतिवाद का उल्लेख किया है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के उपकरणों से निर्मित और मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित है। उन्हें तो प्रस्तुत प्रगतिवाद की यथार्थमयी दृष्टि से भारतेन्दु-युग का वह जागरण विशेष प्रिय है जिसमें हमारी देश-भक्ति और राष्ट्रीय-भावना जीवन के यथेष्ट निकट रह कर यथार्थ दृष्टि से प्रस्फुटित हुई थी। सच तो यह है कि देवीजी को वर्तमान प्रगतिवाद में जीवन की उस रागवृत्ति का कोई उद्रेक नहीं मिलता जो प्राणिमात्र को सहृदयानुभूति प्रदान कर सके। मा देवीजी ने उसकी वर्गगत संकीर्ण भावनाओं की कुत्सा कर उसकी सार्थकता इसी में मानी है कि वह केवल दलित वर्ग तक ही सीमित न रहे क्योंकि साहित्य का परम उद्देश्य तो अखंड मानवता का अभिव्यंजन करना होता है।

११० स्पष्ट है कि महादेवीजी के सामयिक-समस्या विषयक विवेचन का मूलाधार प्रगतिवाद तथा यथार्थवाद है जो छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत होकर राजनीति और अर्थ व्यवस्था की भाँति साहित्य-क्षेत्र में भी अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहता था। इस वाद ने 'नारी की वैज्ञानिक परीक्षा कर उसे पुरुष के केवल उच्छृंखल विलास का साधन'[3] मान लिया तो देवीजी के लिए उसका विरोध करना और अनिवार्य हो गया। उन्होंने नारी के व्यक्तित्व चेतना और हृदय के उज्ज्वल पक्ष का विवेचन कर यथार्थवादियों के उस दृष्टिकोण की ओर निन्दा की है। इसी प्रसंग में उन्होंने फ्रायडवादी विचारों के साहित्यगत प्रयोगों को भी अशोभनीय समझा है जो यथार्थवाद के नाम पर प्रचलित अभुक्त काम-वासनाओं के नग्न चित्रों को साहित्य मंदिर में स्वैरवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। महादेवीजी का इस बात से कोई विरोध नहीं कि "आज का किशोर कवि अपने जीवन में स्वप्न न देख किन्तु क्या यह कोई अनिवार्य नियम है कि उसके

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृष्ठ १११।
२ वही, पृष्ठ ११४।
३ वही, पृष्ठ ११३।

उनका विश्लेषण विशेष तथ्यपरक दृष्टि से कर सकी हैं। उनके मतानुसार सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।[१] इस विवेचन में मानव जीवन की चिरन्तन वृत्तियों के परिवेश में गीतों का जो महत्त्व निर्धारित किया गया है, वह देवीजी की निजी अनुभूतियों पर अधिक आधारित है। 'काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-श्रणियों के बीच में गीति-मुक्तक को एक उज्ज्वल कोमल मेघखण्ड निर्दिष्ट करना'[२] देवीजी के भावुक हृदय का परिचायक है। साथ ही साथ उन्होंने वेद-गीति से लेकर आधुनिक गीति-परम्परा तक का संक्षिप्त विकास समझा कर मेरे आधारों भक्तिकालीन रचनाओं तथा आधुनिक गीत-प्रवृत्तियों के विभिन्न पक्षों का जो रहस्योद्घाटन किया है, वह इस विषय में हमें विविध प्रकार की अभिज्ञता कराने में परम सहायक है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि 'गीति का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुखात्मक अनुभूति ही रहेगी पर अनुभूति मात्र गीत नहीं क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।[३] इसी प्रकार महादेवीजी का गीति-काव्य विषयक विवेचन विशुद्ध साहित्यिक समालोचना न होकर उनके एतद् विषयक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति कराने में पूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

१७. जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि महादेवीजी ने आधुनिक साहित्य क्षेत्र में प्रचलित यथार्थ और आदर्श के प्रश्नों और मूल्यों पर भी अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं। इन मान्यताओं के मूल में उनका विशुद्ध सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण है। यही कारण है कि उन्होंने साहित्य और कलाओं को तत्वतः सुजनशील मानकर उनकी पावन-स्थली में राज-नीति और धर्म-व्यवस्था के परिवर्तनशील मानदण्डों के अनुसार यथार्थ और आदर्श का अभिनिवेश उत्कर्ष-विधायक नहीं माना है। देवीजी के मतानुसार आदर्श और यथार्थ हमारी जीवन-व्यापी एकता को अभिव्यक्त करने के लिए दो भिन्न-भिन्न शैलियों के रूप में ग्राह्य समझे जाने चाहिएँ क्योंकि उन्हें दो भिन्न-भिन्न शिविरों और विरोधी भूमिकाओं में उपस्थित करने से साहित्य का सम्मिलन भाव क्षत-विक्षत होकर विघटन का कारण बन जाता है। अपने विवेचन को विशेष गाम्भीर्य और पुष्टि प्रदान करने के लिए देवीजी ने ऐतिहासिक अनुक्रम के आधार पर रामायण और महाभारत-काल की आदर्श-निष्ठा तथा यथार्थ-दृष्टि का विश्लेषण कर यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इन दोनों कालों की जीवन-व्याख्याओं में किस प्रकार वैभिन्य का एकांगी दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया था जिससे हमारी मूल संस्कृति पर्याप्त समय के लिए आच्छादित कर दी गई। अतः देवीजी के मतानुसार साहित्य के आदर्श और यथार्थ की प्राण प्रतिष्ठा और शोभा इसी में है कि वे प्राण और शरीर के रूप में समन्वित होकर चलें क्योंकि 'वह यथार्थ जिसके पास आदर्श का स्पंदन नहीं केवल शवमात्र है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेतमात्र है।[४] महादेवीजी का यह दृष्टिकोण उनके समन्वयकारी समीक्षक-स्वरूप का मध्य निदर्शन कहा जा सकता है।

१८. महादेवीजी ने यथार्थ और आदर्श के प्रश्न को सामयिक समस्या के रूप में उपस्थित कर उसका समाधान-पथ अनुसंधित करने का भी प्रयास किया है। आधुनिक युग उन्हें इन्हीं दो दृष्टिकोण के वृत्तों में व्याप्त और अपने-अपने को पूर्ण मान लेने की भ्रांति से आक्रांत प्रतीत होता है, जिसमें अपने से भिन्न शिविर के उदात्त पक्ष के प्रति किसी भी प्रकार की कोई

१ महादेवीजी का विवेचनात्मक गद्य, पृ १४१।
२. वही, पृष्ठ १४४।
३ वही, पृष्ठ १४७।
४. वही पृष्ठ १६१।

समर्थन किया है। वे साहित्य-स्रष्टाओं और समालोचकों की विदेशी तथा पराश्रित ज्ञान राशि पर ही अवलम्बित बनकर चलने की मनोवृत्ति को उनकी दुर्बलता मानती हैं क्योंकि उससे आत्मस्फूर्ति का सृजन और विवेकपूर्ण समीक्षण नहीं हो पाता। उनका इस विषय में यह विवेचन तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने मानव के विकास संस्कृति और कला-विषयक विवेचन के उस पक्ष का उद्घाटन किया है जिसमें वर्गवादी भावनाओं से ऊँचे उठकर साहित्य-निर्माण करने की प्रेरणा दी गई है। सारांश यह है कि यद्यपि महादेवीजी ने साहित्यिक समालोचना की कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी किन्तु उनकी प्रकीर्णक सामग्री में भी साहित्य का जो विचार-पक्ष व्यक्त हुआ है, वह अत्यन्त प्रेरक और अनुभूतिजन्य है। इस प्रकार का संतुलित और सधत विवेचन हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में बहुत कम हुआ है जिसमें सामयिक समस्याओं को कलात्मक दृष्टि से विवेचित कर उनके समाधान का स्वरूप निरूपित किया गया हो। उनके विवेचन पर रवीन्द्रिक शैली का यथेष्ट प्रभाव है, जिसमें विवेकी पाठक के लिए तन्मय होने के पर्याप्त अवसर हैं। डा० नगेन्द्रजी ने उनकी आलोचक-दृष्टि का विवेचन करते हुए अपना यह अत्यन्त उपयुक्त निर्णय दिया है कि "उन्होंने (महादेवीजी ने) छायावाद को पढ़ा नहीं है अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्तवचन के समान ही आदर करेगा।"[1]

(५)

आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी समालोचना का प्रारम्भिक प्रतिमान

११४ वाजपेयीजी को आधुनिक हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कराने में उनकी समीक्षा-कृति 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' को सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है जिसका प्रथम संस्करण संवत् १९९९ ई में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक में उनके विभिन्न तिथियों में लिखे हुए लेखों का संग्रह है जिनकी रचना तिथि 'विज्ञप्ति' के अंत में दी गई है। विद्वान् लेखक ने पुस्तक की 'विज्ञप्ति' के अंतर्गत अपने समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए बीसवीं शताब्दी की प्रमुख साहित्य प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण किया है, जिनमें उनकी सुलझी हुई दृष्टि और स्वच्छंदतावादी विचारणा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी इस कृति में जिन साहित्यकारों का स्वतंत्र निबंधों के रूप में विवेचन नहीं किया जा सका है उनके सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश विज्ञप्ति में दे दिए गए हैं जिनसे बीसवीं शताब्दी की अन्यविध उपलब्धियों और गतिविधियों का भी ज्ञान हो जाता है। इस पुस्तक की प्रमुख विशेषता यह है कि वाजपेयीजी ने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह की भावना से दूर रह कर एक निर्णायक समीक्षक के रूप में समालोच्य साहित्यकारों के सम्बन्ध में अपनी विवेकपूर्ण सम्मति निस्संकोच भाव से प्रकट की है। कहा जा सकता है कि जो साहित्यकार इस पुस्तक में विवेचित नहीं हो सके वे उनकी परवर्ती रचनाओं में स्वतंत्र निबंधों का स्थान पा सके हैं और इस प्रकार उनकी यह कृति बीसवीं शताब्दी के विश्लेषण में एक प्रकार की प्रस्तावना का रूप धारण कर कालांतर में उनकी पूर्ण प्रौढ़ि का कारण बन सकी है। वाजपेयीजी ने पुनर्विश्लेषण के साथ-साथ अपना साहित्य-मीमांसा विषयक प्रतिमान भी इसकी भूमिका में प्रस्तुत किया है जो इस बात का प्रतीक है कि वे गुरुत्व-युग की नैतिकता और मर्यादा से ही शास्त्र-समीक्षण का आधार बना न रख

---

१. डा० [illegible]

स्वप्न केवल विकृत वासनाओं से ही निर्मित हों ?"[१]

१११ महादेवीजी का प्रगतिवाद-विषयक विवेचन उन समालोचकों से यथेष्ट विचार साम्य रखता है, जिन्होंने सौन्दर्य-मूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण ग्रहण कर काव्य-सौष्ठव का विश्लेषण किया है। वे प्रगति को जीवन के स्वाभाविक क्रम म स्वीकार कर उसके रूढ़ि विहीन और अभ्युदयशील स्वरूप को ही ग्राह्य समझती हैं जो परुष भावनाओं के साथ-साथ कोमल वृत्तियों का भी भव्य चित्रण कर सके। स्पष्ट है कि महादेवीजी ने अपने विवेचन के अंतर्गत उन समालोचकों की विचारधारा और समीक्षाओं को अपूर्ण तथा एकांगी निर्दिष्ट किया है जो प्रगतिवाद के उदात्त स्वरूप की उपेक्षा कर उसे केवल राजनीतिक प्रवाद का ही एक अंग मान कर चलते हैं। इसी प्रसंग मे उन्होंने द्विवेदी-युगीन मान्यताओं वाले समालोचकों के प्रति भी व्यंग्य किया है जो नवीन काव्यधारा के प्रति किंचित् मात्र भी सहानुभूति नहीं रखते। समालोचकों का यह दृष्टिकोण निश्चय ही हमारे काव्यालोचन की एक समस्या है जिसके निराकरण का प्रयास युग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार उन्होंने आधुनिक आलोचकों की अंतश्चेतना का जो मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है वह भी पठनीय है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि जब तक हमारे आलोचक और कवि एक-दूसरे के प्रति उदासीन अथवा संशक बन कर चलते रहेंगे हमारी साहित्यगत समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता।

११२ महादेवीजी के सामयिक समस्या-विषयक समीक्षण का निष्कर्ष यही है कि साहित्यकार युग-जीवन का अपेक्षित प्रभाव ग्रहण करके भी अपने महान् व्यक्तित्व और उत्तरदायित्व के परिवहन की सृजनात्मक शक्ति का संचय करे और समालोचक अपनी विशेष मान्यताओं में छाया वाद को पलायनवादी सूर, तुलसी को सामंत युग के प्रतीक कबीर को विशिष्ट रहस्यवादी कालिदास जैसे कवियों को राज-दरबार के भाट तथा वेदकालीन ऋषियों को केवल प्रकृति-पूजक[२] के रूप में ही न देखें अपितु अपने प्रतिमान को उदात्त और जीवन-व्यापी बनाकर साहित्य परीक्षण के महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करे। महादेवीजी ने इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति वाले विचारकों की अंतश्चेतना में दीर्घकालीन पराधीनता शिक्षा की अपूर्णता और जीवन की समष्टिगत विकृति को ही उत्तरदायी सिद्ध किया है। उनका यह विश्लेषण अत्यन्त प्रखर और व्यंग्यपूर्ण भी है जिसमें उनकी साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रधान दृष्टिबिन्दु प्रतिबिम्बित है। स्पष्ट है कि यह समस्त विवेचन प्रगतिवादियों के उस मूल्यांकन का प्रबल शब्दों में विरोध करने के लिए किया गया है जो विश्व-साहित्य के महान् रत्नों और उनकी कृतियों को सामन्तीयुग का प्रतीक कहकर उनके असाधारण व्यक्तित्व के प्रति प्रश्नवाचक चिन्ह लगा देते हैं। उनके मतानुसार हिन्दी-साहित्य में प्रचलित प्रगतिवाद के मूल उत्स में भी उतनी विकृति नहीं जितनी इसके अनूदित रूप में कुण्ठित है। इसका कारण उन्होंने हमारी 'अविरुद्ध पराधीन जाति की दासवृत्ति ही बतलाया है।[३]

समीक्षा का मूल्यांकन और महत्त्व

११३ जैसा कि प्रारम्भ म संकेत कर दिया गया है कि महादेवीजी का साहित्य प्रतिमान जीवन की चिरंतन और सनातन भावनाओं के अधिक निकट है अतः उन्होंने साधारणीकरण तथा 'मधुमती भूमिका' के आधार पर विश्व कलाकारों की एक वर्गहीन श्रेणी मानी है जिसकी सत्ता तात्त्विक दृष्टि से अखंड है। इसी प्रकार उन्होंने आदर्श और यथार्थ के भी समन्वित स्वरूप का

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृष्ठ २२६।
२ वही, पृष्ठ २१५।
३ वही, पृष्ठ २१६।

'पल्लव' 'ज्योत्स्ना' और 'गुंजन' की अपेक्षा युगवाणी में जिस
वाजपेयीजी के मानसिक परिताप का कारण बनी जिसका
कि काव्यात्मक परम्परा में इतने गहरे पैठे हुए समीक्षक
हैं तब मानना पड़ता है कि इस युग की काव्य-सृष्टि के साथ
गया था।' [1]

समालोचना का मूल दृष्टिकोण और सप्त-सूत्री मान्यता

११६ 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' का प्रथ
उसमें वाजपेयीजी ने भले ही विभिन्न साहित्यकारों की
छायावादी कवियों का काव्य ही अपने विवेचन का केन्द्र
उन्होंने इस सत्य को स्वीकार किया है। वस्तुतः व द्विवेदी-यु
की भावनाओं में विश्व मानव के ग्रहण करने योग्य भावभू
जिसका प्रमाण उन्होंने प्रसाद और निराला के गीतों को उ
से उन्हें गुप्तजी की राष्ट्रीयता का भी दृष्टिकोण एक अंश में
पंत और निरालाजी की काव्यगत विशेषताओं का विवेचन
काव्य का समीक्षण अत्यधिक संयत विधान में किया है
उत्तर दिया है जो नए परिवर्तन का स्वांग भरते हुए महादेव
प्रियतम का पता असाहित्यिक मनोवृत्ति से पूछते फिरते हैं।
वाजपेयीजी ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसके उद्धरण क
क्योंकि उनके द्वारा जहाँ एक ओर महादेवीजी के काव्य का
और प्रतिक्रियावादी साहित्य समालोचना के प्रति भी व्यंग्य प्रक

"महादेवीजी की कविता चाहे जिस लोक में विचरण
से पीछे पड़ी हो—उसकी ऊपरी रूपरेखा चाहे जैसी भी हो—उस
काव्य के करुण संवेदनों के रूप में दिखाई देती है। परवर्ती
महादेवीजी के इन करुण संवेदनों में यदि कुछ अन्तर है
ग्रहण कर लेने के कारण उनके काव्य में अब भी एक आ
नवीनतर काव्य अपने सारे आश्वासन खोकर नग्न निराशा और

११७ वाजपेयीजी की उक्त कृति में कविवर र
साहित्यकार विवेचित हुए हैं उन्हें उन्होंने क्रमशः परम्परावा
यथार्थवादी धाराओं की प्रतिनिधि पीढ़ियों के स्रष्टा माना है
रत्नाकर' द्वितीय में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मैथिलीशरण
तीसरी में मुख्यतः प्रसाद निराला पंत और महादेवी तथा
जैनेन्द्र कुमार' तथा चौथी में कविवर अंचल की गणना की गई
उन्होंने उक्त पीढ़ियों की प्रवृत्तियों और साहित्यकारों की कृ
विश्लेषण भी किया है जिससे उनकी प्रतिभा का अनुमान

कर उसे सौन्दर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टि से विवेचित करना अच्छा समझते हैं। वस्तुतः प्रचलन युग में इस प्रकार की प्रवृत्ति ने यथोचित विकास कर लिया है किन्तु इस युग को देखते हुए इस प्रकार की परम्परा का प्रथम प्रवर्तन करने की मनोवृत्ति के कारण वाजपेयीजी का हिन्दी समीक्षकों की श्रेणी में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके इस प्रकार के प्रतिमान का आभास निम्नलिखित उद्धरण से लग सकेगा —

"*काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतंत्र साधन हैं। काव्य तो मानव की सद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियमन बाह्य-स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।*"[1]

११५ वाजपेयीजी ने उपर्युक्त प्रतिमान को अपना आदर्श बनाकर विवेच्य साहित्यकारों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट की है। वे द्विवेदी-युग के साहित्य की प्रशंसा करते हुए भी उसकी सीमाओं से अनभिज्ञ नहीं हैं क्योंकि उसकी 'बौद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनात्मक मन के समस्त द्वारों का उद्घाटन' करने में उन्हें असमर्थ प्रतीत हुई है। इस दृष्टि से उन्होंने श्रीधर पाठक को प्रारम्भिक महत्त्व दिया है जिसका विकास उन्हें कालान्तर में प्रसादजी के व्यक्तित्व में मिला।[2] कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी के मानसिक संस्थान का साम्य प्रसादजी के साहित्य के साथ *पूर्णरूप से अभिव्यक्ति है। उन्हें उनके साहित्य में जीवन की बहुरूपता का बड़े व्यापक चित्रण मिला है, वह उनके साहित्यिक मानदण्ड का एक प्रमुख अंग कहा जा सकता है।* इसी मानदण्ड का ही परिणाम है कि उन्हें प्रेमचंदजी का वर्गगत चित्रण नहीं रुचा सका और वे प्रसादजी के व्यक्तित्व में रवीन्द्रनाथ की भाँति बहुमुखी जीवन का स्वरूप पा कर उनके अन्यतम प्रशंसक बन सके। उन्होंने प्रसादजी के रहस्यवाद की प्रशंसा मुख्य रूप से इसीलिए की है कि उसमें उन्हें विशाल और बहुमुखी जीवनानुभूति का स्वाभाविक परिणाम मिला है और यही प्रतिमान उनके स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण का आधार बना है। इस प्रसंग में उन्होंने रहस्यवाद का समर्थन करते हुए उसे जीवन से पलायन न मानकर जिस रूप में उसे जीवन की वास्तविक विशालता की स्वीकृति कहा है, वह केवल कथनमात्र के लिए कथन न होकर पुष्ट प्रमाणों से भी समर्थित है।[3] इस विवेचन द्वारा वाजपेयीजी ने उन भ्रान्तियों के निराकरण का भी प्रयत्न किया है जो उन दिनों साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में *रहस्यवाद और छायावाद के सम्बन्ध में परिव्याप्त फैली हुई थी। ऐसा करते हुए उनका स्वर रहस्यवाद के विरोधी समालोचकों के प्रति कुछ स्थलों पर अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण और तीव्र भी हो गया है* जो इस बात का प्रतीक है कि वाजपेयीजी रहस्यवाद और छायावाद पर किये जाने वाले आक्रमणों की सारहीनता प्रबल शब्दों में सिद्ध करना चाहते थे। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों का तारतम्यिक विश्लेषण कर उस भावात्मिका का भी प्रतिष्ठान किया है जिन्होंने रहस्यवाद और छायावाद को नैसर्गिक भाव से विकसित होने की प्रेरणा दी थी तथा जिसके कारण प्रसादजी के पश्चात् पंत और निराला की जोड़ी इस क्षेत्र में अवतीर्ण होकर अपनी प्रतिभा का विस्तार कर सकी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्हीं दिनों पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी विवेचना के अंतर्गत पंतजी के

---

१ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, प्रथम संस्करण १९९९ विक्रमि पृष्ठ ८ ।
वही, पृष्ठ ६ ।
३ वही, पृष्ठ ११-१२ ।

छायावादी काव्य की ओर आकृष्ट होना इस बात का प्रतीक है कि वे शुक्ल-युग की उपज होने पर भी उसकी सीमाओं और मर्यादाओं से परिचित थे और साहित्य को अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि शुक्लजी ने अपनी प्रतिभा के द्वारा आधुनिक हिन्दी-समालोचना का स्वतन्त्र प्रतिमान स्थापित किया किन्तु उस प्रतिमान में जहाँ एक प्रकार का अवरोध आ गया था उसे हटाकर वाजपेयीजी ने उसे और अधिक व्यापक-क्षेत्र में संचरण करने का अवसर दिया। ऐसा करते हुए उन्होंने समीक्षा-धारा की गंगा-यमुना (द्विवेदी-युगीन तथा शुक्ल-युगीन) में अपने विचार प्रवाहों की सरस्वती का संयोजन कर उसे ऐसे तीर्थ-संगम का स्वरूप प्रदान किया जो आज भी शुक्लोत्तर-युग की प्रमुख समालोचना-प्रवृत्ति बनी हुई है तथा जिसके समानान्तर चलने वाली अन्य पद्धतियाँ धीरे-धीरे उसी की ओर उन्मुख होती हुई प्रतीत हो रही हैं। वाजपेयीजी ने अपने समीक्षा क्षेत्र में आगमन का परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

'मेरा आगमन हिन्दी के छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पंत की नई कविता के विवेचक के रूप में हुआ था। नए जीवन-दर्शन, नई भावधारा, नूतन कल्पना-छवियों और अभिनव भाषा-रूपों को देखकर मैं इनकी ओर आकृष्ट हुआ था। इनके जीवन-दर्शन में मानवीय आदर्शों की एक सम्पूर्णता थी, इनकी भावधारा में गाम्भीर्य था, इनकी कल्पना-छवियाँ निसर्गजात, समग्र और एकतान थीं तथा इनके भाषा-रूप एक चमकती हुई मौलिक सार्थकता लिए हुए थे। इन तत्त्वों ने मुझे इतना आकृष्ट किया कि दूसरे कवि और दूसरी शैलियाँ मुझे अनाकर्षक लगने लगीं।'[1]

आचार्य वाजपेयी और वाद-समीक्षण 'छायावाद'

११९. वाजपेयीजी की समालोचनाओं का एक प्रमुख अंग साहित्य के क्षेत्र में समय समय पर उद्भूत होकर विकास करने वाले विभिन्न वाद-प्रवादों की समीक्षा है। उन्होंने छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद जैसे प्रमुख साहित्यिक वादों के साथ-साथ यथार्थवाद, आदर्शवाद, परम्परावाद, स्वच्छन्दतावाद, अनुकृतिवाद और अभिव्यंजनावाद आदि काव्य-मतों का विवेचन अत्यन्त प्रांजल शैली में किया है। ये विवेचन उनकी अध्ययनशील प्रज्ञा और चिन्तनशील विचारणा के मुखर प्रतिबिम्ब हैं। वाजपेयीजी का छायावाद-विषयक विवेचन तो अत्यन्त प्रौढ़ और व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित है। उनके पूर्व जिन आचार्यों ने छायावाद की विवेचना की थी उनमें उसके प्रति आक्रोश का स्वर ही प्रधान था जिसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद का सौन्दर्य-पक्ष उनसे उद्घाटित नहीं हो सका। उस युग में छायावादी कवियों ने स्वयं उक्त वाद के विषय में अपनी धारणाएँ व्यक्त कीं किन्तु उनके समर्थन की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही थी। वाजपेयीजी का छायावाद-विषयक विश्लेषण ऐसे समय में अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुआ। उन्होंने सर्वप्रथम तो उस भ्रांति के निवारण की चेष्टा की जिसके कारण छायावाद को भक्तिकालीन काव्य की भाँति एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता था और जिसके रचयिताओं का मानसिक संस्थान भक्त कवियों की कोटि में अभिन्न करने की एक विचार-परम्परा बन रही थी। वाजपेयीजी ने पर्याप्त प्रमाण देकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया कि "छायावाद में भक्ति काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत निराकार पद्धति तो है ही, किन्तु वह निराकार अंश स्वयं भी कबीर जैसे ज्ञानमार्गी और जायसी जैसे सूफी कवियों से भिन्न कोटि की है।"[2] सच तो यह है कि उनके मत से केवल 'अध्यात्मवाद' की तुला से ही कवियों के मानसिक धरातल का

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी: नया साहित्य: नये प्रश्न, निवेदन, पृ० १।
२. नन्ददुलारे वाजपेयी: आधुनिक साहित्य, द्वि० संस्करण पृष्ठ ११९।

की समीक्षा-प्रणाली और उपलब्धियों का विशेष विवेचन करने का यहाँ अवसर नहीं है अतः हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि स्वयं वाजपेयीजी ने उनकी समीक्षा 'नया साहित्य नए प्रश्न' के अन्तर्गत कर दी है[1] जिससे और अधिक विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन अन्य हो ही नहीं सकता। यहाँ तो हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' म संकलित समीक्षात्मक निबन्ध उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं के सम्यक् निदर्शन हैं जिनका विकास हमें उनकी उत्तरवर्ती समालोचनाओं में मिलता है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि जिस प्रकार प रामचन्द्र शुक्ल के प्रारम्भिक निबन्धों में उनका साहित्य-प्रतिमान निर्मित होकर क्रमश विकसित बनता गया था उसी प्रकार वाजपेयीजी के इन प्रारम्भिक निबन्धों में उनका जो समीक्षा स्तर अपने किशोर-काल म है वही क्रमश पुष्ट और व्यापक बनता गया है। इस विषय क प्रमाण-स्वरूप उनकी व मान्यताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं जो उन्होंने जयशंकर जैनेन्द्र कुमार भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि कथाकारों के सम्बन्ध म प्रकट की हैं। इस विषय में उनका वह *निर्णय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो उन्होंने उस समय साहित्य-क्षेत्र में चलने वाले क्रमागत* श्लीलता और अश्लीलता के सम्बन्ध में दिया था। उनके इस विवेचन स यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व आचार्य शुक्लजी द्वारा निर्धारित काव्यालोचन के प्रतिमान की सीमाएँ कहाँ तक समझते हैं तथा उनकी समीक्षा-प्रक्रिया में शुक्लजी की मान्यताओं से कितना अन्तर है।[2] अन्त म उन्होंने सात सूत्रों के रूप म अपनी साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी उन दिशाओं का उल्लेख किया है जो उनके समीक्षात्मक निबंधों को समझने में सहायक हो सकती हैं।[4]

विवेच्य विषय और उसके प्रमुख अंग

११८. वाजपेयीजी का मूल विवेच्य विषय आधुनिक हिन्दी-साहित्य है। यद्यपि उन्होंने हिन्दी-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिखा है फिर भी उनकी समालोचना-कृतियों और समीक्षात्मक निबन्धों में उसके उपकरण इतने अधिक गुण और परिमाण में व्याप्त हैं कि एक तत्वान्वेषी पाठक को उनके अन्तर्गत इतिहास के कलेवर में आने वाली सामग्री का विवेचनात्मक स्वरूप उपलब्ध हो जाता है। 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' से लेकर 'नया-साहित्य नए प्रश्न' पर्यन्त उनकी जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनसे वाजपेयीजी की विकासमान प्रतिभा और तत्त्वाभिनिवेशी विवेक-शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आज से प्राय तीस वर्ष पूर्व वाजपेयीजी ने साहित्य को जिस सौष्ठव-विधान और सौंदर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से ग्रहण कर बीसवीं शताब्दी क साहित्यकारों का समीक्षण बिना किसी प्रकार के मतवाद का आधार लिए नवीन प्रतिमानों द्वारा किया था वह शुक्ल-युग की विचारधाराओं स अधिक विकसित और गम्भीर था। साहित्य के अध्येताओं और अनुसंधाताओं स यह बात छिपी नहीं है कि यह वाजपेयीजी की प्रतिभा का ही चमत्कार था जिसने द्विवेदी-युग में कलंकित किये जाने वाले छायावादी कवियों को साहित्य जगत् में उच्च स्थान प्रदान किया और उनक काव्य परीक्षण क लिए जिस प्रकार का प्रतिमान होना चाहिए, उसकी समालोचना-क्षेत्र म प्रतिष्ठा की। इस दृष्टि स वे 'शुक्लोत्तर-युग का प्रमुख प्रवृत्ति सौंदर्यमूलक स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तकों म से हैं और कालान्तर म इस समीक्षा-धारा न जो विकास किया है, उसक अधिकांश तत्त्वों के निर्माण का श्रेय आचार्य वाजपेयीजी को ही है। इसका

1. पं नन्ददुलारे वाजपेयी नया साहित्य नये प्रश्न 'निवेदन' पृष्ठ ८ ११।
2. पं नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृष्ठ २१।
3. वही, पृष्ठ १८।
4. वही, पृष्ठ २६।

के मतानुसार छायावाद नवीन जीवन प्रगति में आत्मसौन्दर्य का चितेरा और प्रकृति की चेतन सत्ता में पुरुष या आत्मा का अधिष्ठानकर्ता है जिसकी मूल चेतना अत्यन्त सभ्य और प्रगतिशील है।[1] उन्होंने अपने इस कथन की पुष्टि छायावाद के प्रमुख कवियों की आत्मानुभूति का विवेचन करते हुए की है।

१२१ वाजपेयीजी के छायावाद विषयक विवेचन में समीक्षा-क्षेत्र की एक प्रमुख पद्धति प्रभावाभिव्यंजन प्रणाली की भी झलक मिलती है। वे छायावाद की व्यापकता और सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही मानते हैं कि इस काव्य को 'जिन लोगों ने केवल सौंदर्य वादी अथवा स्वप्न-लोक का विषय' बतलाया है या जो लोग इसे विघ्नकारी सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति की 'न्यूरोटिक प्रतिक्रिया' मानते हैं वे भी छायावादी कवियों के व्यक्तित्व और प्रतिभा के प्रशंसक हैं।[2] सच तो यह है कि वाजपेयीजी के मतानुसार उसके विरोधी समालोचक अपनी भौतिकवादी दृष्टि के कारण उसकी अध्यात्म-भावना को नहीं समझ पाते और उन्हें इस धारा के कविता में विद्रोह तथा स्वातन्त्र्य और निष्ठा तथा सजगता का स्वर नहीं मिलता।[3] उन्होंने छायावादी काव्य के मूल में समाज-सापेक्षता भारतीय काव्य प्रकृति उच्च कोटि की नैतिकता और मानववादी दृष्टिकोण आदि गुणों का उल्लेख कर उसे एक सशक्त काव्य माना है और इसके सम्बन्ध में लगाये जाने वाले आरोपों का तीव्र शब्दों में खण्डन किया है। इतना ही नहीं उन्होंने छायावादी काव्य में कल्पना और अनुभूति का तो ऐसा सुन्दर मणिकांचन संयोग मिला है जिसके कारण यह काव्य अपनी गीतात्मक अभिव्यक्ति में किसी विशिष्ट धारा का ही अनुगमन न कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी स्थापित कर सका है और जिसका प्रभाव हिन्दी काव्य-क्षेत्र के दो दशकों (सन् १९२ –४) तक तो व्याप्त रहा ही था किन्तु जिसकी परवर्ती धाराओं ने भी उससे कम काव्योपकरण नहीं ग्रहण किए हैं।

प्रगतिवादी साहित्य के प्रति वाजपेयीजी की दृष्टि

१२२ वैसे तो वाजपेयीजी ने छायावाद की प्रतिक्रिया में जन्म लेने वाले प्रगतिवादी साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार यथाप्रसंग विभिन्न समीक्षात्मक निबन्धों में प्रकट किए हैं किन्तु इस विषय में अखिल भारत हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन (सन् १९४) की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया उनका भाषण विशेष महत्वपूर्ण है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आचार्य शुक्लजी ने काव्य में अभिव्यंजनावाद और कलावाद के संबंध में अपनी मान्यताओं का स्पष्टीकरण इन्दौर वाले भाषण में किया था उसी प्रकार वाजपेयीजी ने भी उक्त भाषण में प्रगतिशील साहित्य के विषय में अपना दृष्टिकोण प्रकट करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह भाषण शुक्लजी के भाषण के समान अधिक विस्तृत नहीं है किन्तु फिर भी इसमें विद्वान् समालोचक ने अपनी सधी हुई शैली में प्रगतिशील साहित्य के उन सभी पक्षों का तात्त्विक विवेचन किया है जिनके सम्बन्ध में साहित्य-समालोचकों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। वाजपेयीजी प्रगति को जीवन-साहित्य की एक अनिवार्य प्रक्रिया मानते हुए उसकी संस्थिति प्रत्येक युग में अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि उसके बिना हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में विकास की कल्पना की ही नहीं जा सकती। उन्होंने मनुष्य की सामाजिकता को महत्व देकर साहित्य को केवल व्यक्तिगत

---

1. नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य द्वितीय संस्करण सं० २ ११ वि पृष्ठ २०४।
   वही पृ ३१५।
2. वही, पृ ३१८।

विवेचन करने की अपेक्षा उन प्रेरक शक्तियों को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए, जिससे इस विषय का बोध हो सके कि काव्यकारों ने किस प्रकार का मौलिक विधान अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि 'नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।'[७] वाजपेयीजी ने इसी विवेचन के प्रसंग में मध्यकालीन हिन्दी काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य के उन मौलिक विभेदों का पर्यवेक्षण भी किया है जिनके कारण 'मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और हृदय जगत् अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।'[८]

१२ वाजपेयीजी की समालोचनाओं में किसी भी विषय को केवल साम्प्रदायिक अथवा सीमित दृष्टिकोण से विवेचित करने की प्रवृत्ति का विरोध मिलता है। यद्यपि उनका मुख्य विवेच्य विषय आधुनिक साहित्य है किन्तु उन्होंने पुरातन साहित्य को भी नवीन प्रतिमानों में परीक्षित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। वे मध्यकालीन हिन्दी-काव्य को एक विशेष अर्थ में साम्प्रदायिक मानते हुए भी उसके समीक्षण में केवल धार्मिक अथवा साधनात्मक प्रणालियों को ही उपयुक्त नहीं समझते अपितु उनकी विचारधारा में उस काव्य का विश्लेषण मुख्यतः उसके रचयिताओं की मानसिक स्थिति और जीवन-दृष्टि को प्रधानता देते हुए करना अधिक समीचीन है, क्योंकि ऐसा करने पर काव्य का प्रमुख तत्त्व भावाभिव्यंजन उसके द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। उन्होंने महाकवि सूरदास के काव्य का समीक्षण करते समय इसी प्रकार के प्रतिमान का प्रयोग किया था जिसका विवेचन हम उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं का मूल्यांकन करते समय करेंगे। यहाँ तो इस प्रकार के उल्लेख का मूल प्रयोजन यही है कि वाजपेयीजी ने छायावाद को अपना प्रिय विषय बनाकर भी ऐसे अनेक प्रतिमान प्रस्तुत करने की चेष्टाएँ की हैं जिनका स्वरूप शुक्ल-युग की समीक्षा-पद्धति को विकासोन्मुख बनाने वाला कहा जा सकता है। उन्होंने इस प्रकार के प्रतिमानों द्वारा मध्यकालीन कवियों को नवीन मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक विधान में प्रस्तुत करने का जो दृष्टिकोण उपस्थित किया है वह व्यापक भावभूमि पर आधारित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्लोत्तर-युग की समीक्षा-पद्धतियों पर उनके इस प्रकार के प्रतिमान-निर्धारण का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा और शुक्लजी समालोचना में कवियों की अन्तःप्रवृत्तियों की छानबीन की आवश्यकता पर जो अधिक जोर देते थे वह वाजपेयीजी द्वारा और अधिक विकसित किया गया। वाजपेयीजी ने अपने इसी निर्धारित मानदण्ड पर मध्यकालीन कवियों के आन्तरिक तथा सामाजिक परिवेश का विवेचन किया है और छायावादी काव्य को मध्य-युग की काव्यधारा से इस अर्थ में विशेष रूप से भिन्न माना है कि 'वह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधना परिपाटी का अनुगमन नहीं करता।'[९] इतना ही नहीं वाजपेयीजी ने उन समालोचकों की प्रतिमान-पद्धतियों का भी विरोध किया है जो समीक्षा में कलात्मक तथा साहित्यिक दृष्टि को प्राथमिकता दिए बिना केवल धार्मिक और साम्प्रदायिक परम्पराओं को साहित्य परीक्षण का आधार बनाकर अपनी विवेचनाएँ प्रस्तुत करते हैं जिनके कारण भक्ति-काव्य अथवा छायावाद का कलात्मक और साहित्यिक विवेचन पूर्णतया नहीं हो पाता। सच तो यह है कि वाजपेयीजी

७. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण, सं० २०११ वि०, पृष्ठ १७१।
८. वही, पृष्ठ १७२।
९. वही, पृष्ठ १७४।

धारा के प्रवाह संकुचित होकर नहीं प्रकट होना चाहिए।'[1] सच तो यह है कि वाजपेयीजी के मतानुसार 'कला का लक्ष्य प्रचार न होकर सृष्टि होता है और कला की प्रगतियाँ नई प्राण प्रतिष्ठा, नए तौर-तरीके (टेकनीक) नूतन छंद, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति आदि हैं जो विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप में प्रकट होती हैं।'[2]

१२५ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि वाजपेयीजी का प्रगतिशील साहित्य के प्रति अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण है, अतः वे प्रगतिवादियों की मार्क्सवादी विचारधारा अथवा वर्गवादी भावना के विश्लेषण में अधिक आस्था नहीं रखते। उन्हें तो साहित्य की प्रगतिशीलता उसे व्यापक विधान में दृष्टिगोचर हुई है जिसके कारण उन्होंने रवीन्द्रनाथ और बंकिमचन्द्र की महत्ता का कारण भी अपने द्वितीय युग के सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार किया है। सच तो यह है कि उन्हें मार्क्सवादी प्रगतिवादियों की मान्यताओं में अधिक ग्राह्य तत्व इसलिए भी प्रदर्शित नहीं होते कि वे जिन काव्यों में मात्र प्रगति देखते हैं वे सम्भवतः अनायास में रूढ़ियाँ सिद्ध हो जाएँ। इस प्रकार वाजपेयीजी कथा-निर्माण के पक्ष को साहित्य का प्रधान पक्ष निर्दिष्ट कर अपने मानदण्ड के अनुसार प्रसाद पंत मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों को भी प्रगतिशील साहित्य का निर्माता समझते हैं, क्योंकि उनकी प्रगति जीवन और साहित्य की नैसर्गिक विधि में हुई है, न कि वह किन्हीं विशेष प्रकार के सिद्धान्तों के हल्के प्रचार द्वारा सम्पन्न बनी है। अभिप्राय यह है कि वाजपेयीजी ने प्रगतिशील साहित्य का विश्लेषण सब प्रकार की रूढ़ियों से दूर रहते हुए किया है जिसमें लोक-मंगलविधायक साहित्य के स्वरूप-लक्षण भली-भाँति संगठित हो गए हैं।

प्रयोगवादी काव्यधारा और वाजपेयीजी

१२६ प्रगतिवाद के पश्चात् हिन्दी काव्य-क्षेत्र में जिस प्रयोगवादी धारा ने प्रवेश किया उसके प्रति वाजपेयीजी ने अपनी धारणाएँ व्यक्त करने के पूर्व उस वाद से सम्बन्धित उन विशेष स्थलों का विवेचन किया है, जिनको आधार बनाकर प्रयोगवाद के प्रवर्तक उसकी प्रशंसा में अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते हैं। सच तो यह है कि वाजपेयीजी के मतानुसार "हिन्दी काव्य-परम्परा में प्रयोगवादी शैली कभी भी अधिक सम्मानसूचक नहीं रही। प्रयोग शब्द से प्रायः नए अभ्यास नवीन प्रयास या नई निर्माण-चेष्टा का अर्थ लिया जाता है। प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति कोई स्वाभाविक क्रम विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रांतदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। स्रष्टा और संदेशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता-मात्र होता है।'[3] उन्होंने प्रयोगवादी काव्य के मान्य ग्रन्थ 'तार-सप्तक' में भी अज्ञेय तथा प्रभाकर माचवे आदि की उद्भावनाओं के उद्धरण देते हुए अत्यन्त तर्कपूर्ण शैली में उन्हीं के शब्दों की व्यंजनाओं के आधार पर प्रयोगवाद की अनिश्चित स्थिति सिद्ध की है और उनके तथ्यों और निर्णयों में अनेक प्रकार की असंगतियाँ बतलाई हैं। अपने समालोचक-व्यक्तित्व में सौंदर्यमूलक रस ग्राही दृष्टि को प्रधानता देने के कारण वाजपेयीजी को प्रयोगवाद में मानसिक उलझनों और बौद्धिक चेष्टाओं के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष बात नहीं मिलती अतः उन्होंने अज्ञेयजी की 'विवृत्ति' का ही आधार लेकर प्रयोगवादी काव्य की एक सामान्य परिभाषा —

---

१. नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण सं० २०११ वि०, पृष्ठ ३९१।
२. वही, पृष्ठ ३९१।
३. वही, पृष्ठ ६६।

भावों के प्रदर्शन की ही भूमि नहीं माना है अपितु उसका सम्बन्ध हमारी सामाजिक चेष्टाओं से भी जोड़ा है जिनके कारण हमारे व्यक्तित्व को उन्नयन प्राप्त होता है।[1] उनके मतानुसार व्यक्ति या समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य साहित्य को प्रगतिशील ही नहीं बनाता अपितु उसे उत्थान भी प्रदान करता है।[2] इस प्रकार उन्होंने प्रगतिशील साहित्य के लिए किन्हीं विशेष प्रकार की जीवन आस्थाओं अथवा बंधी-बंधाई परम्पराओं में चलना अहितकर माना है, क्योंकि ऐसा करने से हम साहित्य के उस उदात्त महत्व की अवहेलना कर देते हैं जिसके कारण उसे शाश्वत गौरव प्राप्त होता है।

१२३ वाजपेयीजी के प्रगतिशील साहित्य-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रगति को जीवन के साथ ऐसे स्वरूप में संगठित करना उचित समझते हैं जिससे 'जीवन सम्बन्धिनी आधार भूत-चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जाएँ, निराशा और आत्मपीड़न को प्रश्रय न देने लग।"[3] इससे उनका यह अभिप्राय नहीं कि "साहित्य में करुण रस अथवा ऊँचे आदर्श की कल्पनाओं का कोई स्थान नहीं है" अपितु यह आशय अवश्य है कि "साहित्य में आशा निराशा करुण और वीर आदि के लिए समान स्थान है किन्तु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त होनी चाहिए।"[4] उन्होंने साहित्य का युग-जीवन के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया है किन्तु वे यह उचित नहीं समझते कि युग-जीवन की निराशा के पीछे हम आत्मविस्मृत हो जाएँ। सच तो यह है कि उन्हें मृत्यु से अधिक वरेण्य जीवन लगता है अतः प्रगतिशील साहित्य में उसका अभिव्यंजन ऊर्जस्वित रूप में किया जाना ही सर्वथा समीचीन है।

१२४ वाजपेयीजी ने बुद्धिवादी युग के आधार पर कुछ मनोवैज्ञानिक निदर्शन प्रस्तुत करते हुए अति शृंगारोन्मुख अति उदासीन केवल कौतूहलपूर्ण तथा केवल मनोरंजक प्रवृत्तियों को प्रगतिमूलक नहीं माना है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'बाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक संघर्ष का प्रगतिशील साहित्य में अधिक महत्व है।'[5] उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को समय-सापेक्ष निर्दिष्ट कर ऐसे तीन सूत्रों की आयोजना की है जिसके द्वारा प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। उन सूत्रों में पहला सूत्र आत्मचेतना या जीवन चेतना का है जिसके अभाव में साहित्य अथवा कला का वास्तविक निर्माण हो ही नहीं सकता। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र यह माना है कि वह परिवर्तन के क्रम को समझते हुए नवीन समस्याओं के सम्पर्क में आवे और नवीन ज्ञान का उपयोग करना जाने।[6] तीसरे सूत्र के अंतर्गत उन्होंने कला-निर्माण के पक्ष को महत्व दिया है। इन तीनों सूत्रों में उन्हें प्रगतिशील साहित्य की बाह्य तथा आभ्यंतरिक विशेषताओं का सम्पूर्ण समीकरण मिला है, जिसको स्वीकार करते हुए चलने से किसी भी प्रकार की रूढ़ि का साहित्य में संचार नहीं हो सकता और वह अधिकाधिक उत्थानमूलक बन सकता है। वाजपेयीजी ने इन तीनों सूत्रों के सम्बन्ध में होने वाली भ्रांतियों का भी निराकरण किया है और बतलाया है कि आधुनिक युग में समाजवादी विचारों का क्षेत्र श्रेष्ठ साहित्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है किन्तु वह किसी विशेष प्रकार की संकीर्ण मतवादी

---

१ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : द्वितीय संस्करण सं० २०११ पृष्ठ १७६।
२ वही, पृष्ठ १७९।
३ वही, पृष्ठ १८०।
४ वही, पृष्ठ १८०।
५ वही, पृष्ठ १८२।
६ वही, पृष्ठ १८३।
७ वही पृष्ठ १८४।

हुआ पर पीड़ित प्रेम'[1] सिद्ध करने की चेष्टाएँ की जा रही थीं तब उनकी उच्छृंखलताओं पर अंकुश लगाने के लिए इस प्रकार के तीव्र और तथ्यपरक विश्लेषण की अत्यन्त आवश्यकता थी। वाजपेयीजी ने ऐसे समय प्रयोगवादी काव्य के भाव-पक्ष कला पक्ष पद प्रयोग छंद रचना आदि विभिन्न अंगों को लेकर जो सोदाहरण विवेचन किया है, वह प्रयोगवाद का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद पर आक्षेप करने वाले आलोचकों की शब्दावली के उद्धरण देकर उक्त दोनों वादों की संतति के रूप में जन्म लेने वाले प्रयोगवाद की बेमेल और संकर-सृष्टि को काव्य-गुणों की दृष्टि से सर्वथा हीन बतलाया है क्योंकि उसमें काव्योपयोगी समन्वयपूर्ण भावनाओं का अभाव है। *वाजपेयीजी के इस विवेचन की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने केवल प्रयोगवाद* का ही विश्लेषण कर उसकी न्यूनताओं का निर्देश नहीं किया अपितु आधुनिक काव्य की अन्य प्रवृत्तियों का भाव-सौष्ठव और रचना-विधान निरूपित करते हुए जहाँ एक ओर उनका काव्य-ग्राह्य स्वरूप निर्दिष्ट किया है वहाँ दूसरी ओर प्रयोगवादी काव्य की अनेक अपूर्णताएँ भी बतलाई हैं। इस विवेचन के प्रसंग में रत्नाकरजी से लेकर छायावादी काव्य धारा के प्रमुख कवियों की सामान्य विशेषताओं का भी उद्घाटन हुआ है जिनकी समता में प्रयोगवादी रचनाओं का महत्त्व किसी भी रूप में सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः वाजपेयीजी की इस प्रकार की समालोचनाओं में उनका स्वस्थ और संयत दृष्टिकोण झलकता है और उससे यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि उनके मानस में साहित्य को उसके विशुद्ध संवेदनात्मक स्वरूप में ग्रहण करने की कितनी अधिक लालसा है। उन्होंने 'तार-सप्तक' की कुछ पंक्तियों को लेकर उनकी निस्सारता और असंबद्ध योजना का जो सप्रमाण विवेचन किया है, वह अत्यन्त उपयुक्त है। प्रयोगवाद के सम्बन्ध में उनके विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है—

'प्रयोगवाद हिन्दी में बैठे-ठाले का धन्धा बन कर आया था। प्रयोक्ताओं के पास न तो काव्य-सम्बन्धी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। धीरे-धीरे इस मजाक में भी सच्चाई जान पड़ने लगी और कुछ लोग इस अर्थहीन वस्तु में भी एक नए 'वाद' की सम्भावना देखने लगे। क्रमशः यह भाषा-सम्बन्धी बीहड़ प्रयासों का अड्डा बन गया जिससे पाठकों को भी थोड़ी-बहुत दिलचस्पी होने लगी। आगे चलकर इसमें टी एस इलियट की शैली में आधुनिक जीवन के खोखलेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह वाद हिन्दी में आरम्भ से ही मध्यवर्ग के हाथ आए और फिर भी शौकीन तबियत वाले व्यक्तियों के हाथ में रहा है। पिछले कुछ दिनों से इसमें इन निष्क्रिय व्यक्तियों की निराशा और घिरा हुआ मन प्रतिबिम्बित होने लगा है। आश्चर्य नहीं यदि निकट भविष्य में यह वही रंगत धारण करे जो पश्चिम में अति यथार्थवादियों (Surrealistic) की रचनाओं ने धारण किया है।

अन्यान्य वाद-समीक्षाओं के प्रति वाजपेयीजी के विचार

१२१ वाजपेयीजी के छायावाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद विषयक विचारों का विशेष उल्लेख इसलिए किया गया कि उक्त वाद ही हमारे आधुनिक साहित्य के तीन प्रमुख अंग रहे हैं जिनका रचनात्मक तथा समालोचनात्मक साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। उन्होंने आदर्श और यथार्थ की जीवन दृष्टियों का भी विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य का ऐतिहासिक अनुक्रम में विश्लेषण करते हुए किया है। इन वादों से सम्बन्धित विचारों को सूत्र प्रणाली में अभिव्यंजित करने की वाजपेयीजी में पूर्ण क्षमता है।[3] यूरोपीय संसार में ग्रीक-साहित्य से लेकर आधुनिक

१ प्रभाकर माचवे, तार सप्तक।
२ ६ नन्ददुलारे वाजपेयी : 'नया साहित्य : नये प्रश्न' [illegible] सन् [illegible] [illegible] पृ० [illegible]।
३ ५० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य [illegible] पृष्ठ [illegible]।

प्रकार की है—

१२७ "उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरों सीधे या उल्टे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियों की रचना।"[1] स्पष्ट है कि वाजपेयीजी ने इस परिभाषा में प्रयोगवादी काव्य-विश्लेषकों का मूल दृष्टिकोण अन्तर्निहित कर दिया है। इसमें उनके प्रति प्रच्छन्न व्यंग्य और आन्तरिक आक्रोश की भावनाओं का भी समावेश है। जिस प्रकार उन्होंने प्रयोगवाद' का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित करने के पूर्व उसके आविष्कार-कर्ताओं की वाक्यावली का विवेचन किया है, उसी प्रकार उसके आधार पर निर्मित उक्त परिभाषा के द्वारा इस काव्य के प्रति अपने निष्कर्ष निकाले हैं। उदाहरणार्थ 'उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति' से उन्होंने इस वाद के कवियों पर 'एक अतिरिक्त बुद्धिवादिता का आरोप' तथा 'कवि-कर्म के अभाव' का भार माना है[2] तो अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणा' में वैचित्र्यवाद की हल्की भावना का आभास पाया है जिसके कारण प्रयोगवादी काव्यकार सीधी-टेढ़ी लकीरों और सीधे-उल्टे अक्षरों को चुनते हुए अपनी कलाविहीन अवाहित्यिक रुचि का ही परिचय देते हैं।[3] उनके मतानुसार प्रयोगवादी काव्य-स्रष्टाओं की कृतियों में आधुनिक मनोविज्ञान जीवविज्ञान तथा समाज-विज्ञान की बहुलता की झलक भले ही मिल सके किन्तु उनका इस प्रकार का प्रयोग-बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान प्राप्त करने में असमर्थ ही माना जायगा।[4] वाजपेयीजी के इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्यात्मक सृजन और प्रयोग में मौलिक अन्तर मानते हैं और उनके मतानुसार कवि का सर्वप्रथम उत्तरदायित्व अपनी रसात्मक अनुभूतियों के प्रति होता है जबकि प्रयोग को ही सब कुछ मानने वाला साहित्यकार उसकी मूल चेतना से बहुत अधिक दूर और च्युत हुआ रहता है। उन्होंने प्रयोगवाद की परिभाषा के तीसरे वाक्यांश 'कभी किसी विषय में सहमत न होने वाले अन्वेषियों' का विश्लेषण करते हुए यही संकेत किया है कि इस प्रकार की दृष्टि सामाजिक सहयोग की भावना के स्थान पर एक ऐसी उपेक्षा-वृत्ति का प्रदर्शन है जिससे समाज कल्याण की कोई आशा की ही नहीं जा सकती।[5] अभिप्राय यह है कि वाजपेयीजी की मान्यता से कवि का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत अनुभूति के साथ-साथ सामाजिक जीवन और काव्य-सत्ता के प्रति विशेष रूप से होना चाहिए और प्रयोगवादी रचनाओं में उनमें से किसी भी पक्ष की पुष्टि न मिलने के कारण वे काव्य-क्षेत्र में परिगणित होने की क्षमता नहीं रखतीं।[6]

१२८ वाजपेयीजी का प्रयोगवाद-विषयक विवेचन अत्यन्त व्यापक और युक्तिसंगत है। उसका युगोत्तर मूल्य समालोचना में इसलिए और भी अधिक महत्त्व है कि उसके कारण अनेक प्रयोगवादियों की विचारधाराओं में कालक्रम से परिवर्तन आए हैं और वे अपनी दुर्बलताओं से परिचित होकर अन्वेषण के सही मार्ग की ओर उन्मुख होने के लिए सचेष्ट बने हैं। वस्तुतः प्रयोगवाद के नाम पर जब साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रकार का विघटनशील वातावरण बनने लगा था और छायावाद तथा प्रगतिवाद को क्रमशः 'हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का मानसिक रोग' तथा 'दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाली पौरुष की सीमा पर पहुँचा

१ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य : द्वितीय संस्करण, सं० २०१२ वि०, पृष्ठ ७५।
२. वही पृष्ठ ७५।
३ वही पृष्ठ ७६।
४ वही, पृष्ठ ७७।
५. वही, पृष्ठ ७७।
६. वही, पृष्ठ ७८।

स्पष्ट करने का साहित्यिक विधान सिद्ध किया है।[1] इसी प्रकार उन्हें भट्ट नायक का भुक्तिवाद काव्य में निहित प्रेषणीयता के तत्व को उद्घाटित करने की दिशा में अनुमिति सिद्धान्त की अपेक्षा एक कदम आगे गया है[2] तो अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता हुआ 'सहृदय द्वारा किए जाने वाले रसास्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृति करता हुआ प्रतीत हुआ है।[3] अभिप्राय यह है कि आचार्य वाजपेयी के मत से रस-निष्पत्ति विषयक ये चारों सिद्धान्त क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझने का प्रयत्न करते हैं जिनकी क्रमबद्ध योजना को देखकर यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वेदान्त मत के रहते हुए भी अपने अपने स्थान पर मीमांसा न्याय और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वनि-मत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियाँ निरी निरर्थक नहीं हो जातीं।[4]

साधारणीकरण और वाजपेयीजी

१३१ वाजपेयीजी की इसी सैद्धान्तिक विवेचना के प्रसंग में उनके साधारणीकरण विषयक विचारों की जानकारी भी आवश्यक है। वास्तव में 'साधारणीकरण' का मूल सिद्धान्त भट्टनायक के भुक्तिवाद' के अन्तर्गत सन्निहित है, जिसमें आचार्य ने अनुमान के स्थान पर भावन' शब्द का प्रयोग शास्त्रीयता के अधिक निकट रह कर किया था और जिसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि अभिनय में भावन-व्यापार द्वारा नायक और नायिका का स्वरूप निर्विशेषत्व या साधारणीकरण को प्राप्त होता है जिसे देखकर सामाजिक अभिनेता या नट में नायक का अनुमान कर एक सुखद भ्रम में पड़कर दोनों के अन्तर को भूल जाता है। इस सिद्धान्त को लेकर आधुनिक हिन्दी समालोचना में भी अनेक प्रकार के मतवाद चले हैं और जिनका आज भी अन्त नहीं है। अतः वाजपेयीजी ने विवेचन की तथ्यपरकता की दृष्टि से साधारणीकरण का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और पाठक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।"[5] उन्होंने इसी प्रसंग में उन प्रश्नों का भी विवेचन किया है जो साधारणीकरण के साथ असाहित्यिक विधि से जोड़ दिए जाते हैं जैसे देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रति भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को न होना चाहिए। वाजपेयीजी को इस प्रकार की दलीलें असाहित्यिक लगती हैं क्योंकि उनके मतानुसार 'रचयिता या कवि के लिए भी तो वे देवता या पूज्य चरित्र उतने ही पूज्य हैं जितने दर्शक या श्रोता के लिए। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नहीं है।"[6]

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : द्वितीय संस्करण सं० २०११ वि०, पृष्ठ ४१ ।
२. वही, पृष्ठ ४२१ ।
३. वही, पृष्ठ ४२२ ।
४. वही, पृष्ठ ४२१ ।
५. वही, पृष्ठ ४२२ ।
६. वही, पृष्ठ ४२१-२२ ।

साहित्य पर्यन्त आदर्श और यथार्थ का निर्वाह जिन साहित्यकारों में भिन्न-भिन्न रूपों में मिलता है उनका सामान्य परिचय देकर उन्होंने आधुनिक साहित्य की मूल भावना को हृदयंगम कराने के लिए एक प्रकार से पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है। उनके इस विवेचन से यह ध्वनित होता है कि वे काव्य में कल्पना का अभीष्ट संयोग होने के कारण उसमें आदर्शवाद का निर्वाह अधिक सफल समझते हैं जबकि उनके मतानुसार उपन्यासों और कहानियों में यथार्थवादी दृष्टि की अधिक गुंजाइश हो सकती है। यह सब कुछ होते हुए भी वे यथार्थ और आदर्श के संतुलन की महत्ता कम नहीं मानते। सच तो यह है कि उन्हें साहित्य में किसी भी वाद की अतिरेकता पर विश्वास नहीं है। उन्होंने धार्मिक और नैतिक मूल्यों को प्रधानता देकर चलने वाले आदर्शवाद के लिए यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है तो आधुनिक यथार्थवाद में मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों के अनुयायी अवचेतनावाद के दुर्बल पक्ष का भी उद्घाटन किया है जिनके अध्ययन से वाजपेयीजी के इन वादों की साहित्यगत महत्ता विषयक विचारों का सहज ही बोध हो जाता है।

११० वाजपेयीजी ने पश्चिमी काव्यमत के मूल प्रेरक अनुकृतिवाद का विश्लेषण प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा के अनुरूप किया है जो सामान्यतः परिचय-मूलक कहा जा सकता है। उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विश्लेषण करने के पूर्व यूरोपीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में किए गए लैसिंग विंकलमेन तथा कांट के उन सौन्दर्यमूलक और कलाभिव्यंजक विचारों का उद्घाटन किया है जिनसे क्रोचे को काव्यगत अभिव्यंजनावाद की प्रतिष्ठा करने में प्रेरणा मिली है। उनके क्रोचे के अभिव्यंजनावाद विषयक विवेचन में उक्त वाद की प्रमुख विशेषताओं के साथ-साथ इस विषय का भी सामान्य निरूपण हो गया है जो क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में आक्षेप करते हुए विवेचित किए जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में परम्परा (क्लैसीसिज्म) और स्वच्छन्दता (रोमेन्टिसिज्म) सम्बन्धी जिन दो प्रमुख काव्य-शैलियों का युग-परिस्थिति के अनुकूल जिस रूप में विकास हुआ है उनका मूल विभेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि 'प्रथम प्रकार की शैली में वस्तु और शैली दो पृथक् सत्ताएं हैं जबकि द्वितीय प्रकार की शैली में काव्य की मूल वस्तु भावना है जिसके अन्तर्गत उसके अन्य उपादान सन्निविष्ट किए जा सकते हैं।'[1] पश्चिम के इन विभिन्न काव्य-मतों के अतिरिक्त वाजपेयीजी ने भारतीय काव्य-मतों का भी विश्लेषण किया है जिनमें 'अलंकारमत रीतिमत गुणमत वक्रोक्तिमत ध्वनिमत और रसमत' प्रमुख हैं। इस विवेचन द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र में विकसित होने वाले उपर्युक्त मतों का क्रमिक विकास तथा उनकी मुख्य विशेषताओं का उद्घाटन तो हुआ ही है किन्तु साथ ही साथ उनके महत्त्वपूर्ण अंशों पर अनिवार्यतः वाजपेयीजी की मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण हुआ है। उन्होंने ध्वनि और रस-सिद्धान्त पर नवीन विधि से दृष्टिपात करते हुए उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान तथा सौन्दर्य-शास्त्र के विधान द्वारा जिस रूप में विवेचित किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में उनकी यह उपलब्धि विशेष उल्लेखनीय है कि 'भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र के आधार पर आचार्य भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद आचार्य शंकुक ने अनुमितिवाद, आचार्य भट्ट नायक ने भुक्तिवाद और आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद को प्रधानता देकर क्रमशः जिन रूपों में अपना विवेचन प्रस्तुत किया है वह परस्पर विरोधी न होकर क्रमागत परम्परा का ऐसा विकास है जिसमें तत्त्वोपलब्धि की चेष्टाएँ सर्वत्र अन्तर्भूत रही हैं। उन्होंने लोल्लट के उत्पत्तिवाद को काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया' से सम्बन्धित[2] बतलाया है तो शंकुक के अनुमितिवाद को 'अभिनय-योजना द्वारा रस-प्रक्रिया' को

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण, सं० २०१३ वि०, पृष्ठ ४४४।
२. वही, पृष्ठ ४११

जिक या साहित्यिक वस्तु-व्यापार या भाव से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।"[1] इस प्रकार उनके मतानुसार मानव-कल्पना का अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है और साहित्य-समीक्षण में इस सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

साहित्य और सामाजिकता का सम्बन्ध

११४ वाजपेयीजी के साहित्य और सामाजिक प्रगति-विषयक विचार भी पठनीय हैं। उन्होंने बतलाया है कि मार्क्स ने अर्थ-योजना को लेकर साहित्य की सामाजिकता का जो वैज्ञानिक निरूपण किया है वह आज के भौतिकवादी संघर्ष तथा देश की परिस्थिति की दृष्टि से यथेष्ट समुचित है किन्तु उसे इस अतिवाद तक घसीट कर ले जाना कि साहित्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और वह किसी सामाजिक मत-विशेष का अनुकरण-मात्र है' वाजपेयीजी को स्वीकार नहीं है।[2] उनका कहना है कि मार्क्स के सिद्धान्त को यदि कड़ाई के साथ साहित्य क्षेत्र में अपना लिया जाय तो हमारा पुराना साहित्य किसी काम का नहीं रहेगा। उनके मतानुसार मार्क्सवाद या किसी भी अन्य वाद को काव्य की कसौटी बनाना ठीक नहीं है, क्योंकि ये वाद-सिद्धान्त किसी काव्य की प्रेरक शक्तियों, समय तथा सामाजिक कर्तव्य को समझने में सहायता दे सकते हैं किन्तु उन्हें काव्य का नियामक-पक्ष नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार वाजपेयीजी के मतानुसार कवि की सामाजिकता और युग-विशेष की परिवर्तनशीलता का महत्त्व होने पर भी इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि साहित्य सामाजिक-इतिहास का अंग-मात्र ही नहीं अपितु वह एक स्वतन्त्र कला-वस्तु है जिसे वाणी और मानव भावना का ऐसा साकार वैभव कहा जा सकता है जिसमें सामाजिकता-मात्र का निर्वाह ही सब कुछ नहीं होता।[3] तात्पर्य यह है कि वाजपेयीजी साहित्य व समाज सामाजिक जीवन तथा सामाजिक विचारधाराओं और वादों का सम्बन्ध अवश्य मानते हैं किन्तु यह सम्बन्ध अनुवर्ती रूप में ही माना जाना चाहिए, क्योंकि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और उसके अन्तर्गत ही सामाजिक प्रगति एक अंग बनकर आ सकती है। साथ ही साथ वाजपेयीजी का यह भी कहना है कि गद्य पद्य श्रव्य दृश्य, प्रबन्ध मुक्तक आदि विभेदों की दृष्टि से साहित्य के देशकालगत अनेक प्रकार और प्रवृत्तियाँ भी हो सकती हैं किन्तु उनकी बाह्य बहुरूपता में भी एक ऐसी सर्वव्यापिनी एकता भी रहती है जिसकी खोज करना सच्चे साहित्य का कार्य होता है। वाजपेयीजी ने अपनी इस मान्यता के अनुसार ही काव्य की परिभाषा करते हुए उसे 'प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण माना है जो मनुष्य-मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। यही सौन्दर्य संवेदन भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस संज्ञा से अभिहित होता है।[4]

११५ वाजपेयीजी ने साहित्य की सामाजिकता और प्रगतिशीलता को किसी संकीर्ण या दलगत विचारधारा में ग्रहण न कर उसे तात्त्विक रूप में लेकर बतलाया है। उनकी तो मान्यता है कि मानव-जीवन की शाश्वत संवेदनाओं में भी संस्कृति के अनुरूप विकास या प्रगति होना स्वाभाविक है और देश काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है जिसमें कवि की साहित्यिक शक्ति जो उसे और भी मार्मिक तीव्रता और सजगता से ग्रहण करती है, जिसका अभिप्राय यह है कि सच्चे कवि और साहित्यकार स्वतः ही प्रगतिशील

---

१. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण, सं० २०१३ वि०, पृष्ठ ४००।
२. वही, पृष्ठ ४१७।
३. वही, पृष्ठ ४१८।
४. वही, पृष्ठ ४२१।

सैद्धान्तिक पक्ष और मान्यताएं—साहित्य का प्रयोजन और आत्मानुभूति

१३२ अन्यान्य आलोचकों की भाँति वाजपेयीजी भी साहित्य का मूल प्रयोजन या हेतु आत्मानुभूति मानते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि 'साहित्य की सृष्टि आत्मानुभूति की प्रेरणा से होती है।'[1] वैसे तो आत्मानुभूति शब्द दर्शन-शास्त्र का है और उस पर भिन्न-भिन्न दार्शनिक अलग अलग मत रखते हैं किन्तु वाजपेयीजी उस ऊहापोह में न जाकर केवल साहित्य-क्षेत्र में अनुभूति शब्द की व्याख्या ही पर्याप्त समझते हैं। उन्होंने गोस्वामीजी के स्वान्तः सुखाय भाव का विश्लेषण करते हुए रसवादियों के सिद्धान्त-निरूपण के आधार पर यही बात सिद्ध की है कि साहित्य मात्र के मूल में अनुभूति या भावना ही रहती है जिसकी सत्यता रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से ही स्पष्ट की जा सकती है।[2] इतना ही नहीं वाजपेयीजी काव्यगत अनुभूति की व्यापकता भारतीय *साहित्य-शास्त्र के ध्वनि-सिद्धान्त से भी निरूपित करते हैं। उनका कथन है कि* "काव्य और साहित्य की बाहरी रूप रेखा के मर्म में आत्मानुभूति या विभावन-व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है। काव्य का यह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और यह स्थायीभाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।[3]

१३३ वाजपेयीजी ने अनुभूति के विवेचन के प्रसंग में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कलाशास्त्री बनिदीतो क्रोचे को भी लिया है जो काव्य या कलाओं के रूप में की गई अभिव्यक्ति को ही अनुभूति मानता है। क्रोचे का कहना है कि अनुभूति हमारे आत्मिक व्यापार का ही परिणाम है जो सौन्दर्य-रूप में अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता तथा जिसकी अखण्डता देशकालानवच्छिन्न होती है। वाजपेयीजी ने क्रोचे की इस स्थापना के निकट भारतीय विचारधारा को भी ला रखा है और यही सिद्ध किया है कि यहाँ पर भी काव्य की जो सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता जिस रूप में सिद्ध की गई है उसमें अनुभूति की अखण्ड एकरूपता का ही अनवरत प्रवाह है। वाजपेयीजी स्वयं इस मत से सहमत हैं और जो आलोचक व्यक्तिगत और वस्तुगत के नाम से काव्य के जो विभेद करते हैं उनमें वे विरोध प्रकट करते हैं, *क्योंकि अनुभूति के क्षेत्र में वैयक्तिकता और वस्तुपरकता अथवा अभिव्यंजकता और आत्माभिव्यंजन-हीनता* का विभाजन अनुचित है।[4] इसी दृष्टि से वाजपेयीजी महाकाव्य खण्ड काव्य और प्रगीत-मुक्तक इन सबको अनुभूति की दृष्टि से समान-भूमि पर स्वीकार करते हैं और किसी रस-विशेष की रचना को किसी अन्य रस की रचना से श्रेष्ठ या हीन बतलाना भी अव्यावहारिक मानते हैं।[5] अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने सूर और तुलसी देव-बिहारी कबीर और जायसी आदि के काव्य का विवेचन करते समय उन्हें अनुभूति के दृष्टि-बिन्दु से समान स्तर का सिद्ध किया है और तुलसी के लोकरंजन और लोकरक्षण तथा शक्ति शील और सौन्दर्य के प्रतिमान को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। वस्तुतः वाजपेयीजी के मतानुसार अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी दृष्टि से सापेक्षता रहते हुए दोनों की अन्तरंग अनन्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता और जो समीक्षक आत्मानुभूति को गौणता देकर अन्य दृष्टियों से किसी साहित्यकार की कृति का मूल्यांकन करते हैं, वह वाजपेयीजी को स्वीकार नहीं है। उनका तो दृढ़ विश्वास है कि 'काव्यानुभूति स्वतः एक अखण्ड आत्मिक व्यापार है जिसे किसी भी दार्शनिक राजनीतिक सामा

१ पं. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण, सं. २०१३ वि., पृष्ठ ४७४।
२ वही, पृष्ठ ४१२।
३ वही, पृष्ठ ४१६।
४ वही, पृष्ठ ४९।
५ वही, पृष्ठ ४६०।

यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक-मात्र बन सकें। तभी तो वाजपेयीजी ने महान् कलाकारों के विषय में अपना यह निष्कर्ष प्रदान किया है कि वे देश-काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। संक्षेप में साहित्य और जीवन के पूर्वापर सम्बन्ध विषयक वाजपेयीजी के विचार इस प्रकार के हैं—

'साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं जीवन की वे कामनाएँ, जो अनन्त जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की भाषा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है तभी तो उसका नाम साहित्य है तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्ग-द्रष्टा भी रहता आया है।'[1]

व्यावहारिक समीक्षा और उसके विषय

१३७ जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत कर दिया गया है कि वाजपेयीजी मुख्यतः आधुनिक साहित्य के समालोचक हैं, अतः उन्होंने आधुनिक साहित्यकारों के साथ उन कृतियों का भी विशेष रूप से मूल्यांकन और समीक्षण किया है जो आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं। 'साकेत' कामायनी 'कुरुक्षेत्र' 'कुणाल' 'कृष्णायन' जैसे काव्यों और 'गोदान' 'त्यागपत्र' और 'शेखर: एक जीवनी' जैसे उपन्यासों को ऐसे विवेच्य विषयों में प्रधानता दी गई है। इस प्रकार की समीक्षाओं से जहाँ एक ओर विवेच्य रचनाओं के अन्तरंग और बहिरंग पक्षों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उनके रचयिताओं के मानसिक विकास का विश्लेषण भी युग परिस्थिति तथा आंतरिक प्रेरणाओं को सम्मुख बनाकर किया गया है। इन विवेचनाओं में विवेच्य विषय के साथ-साथ तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग है, जिसके द्वारा समालोचना का स्तर अधिक प्रमाणसम्मत और व्यापक बन गया है। इस प्रकार की विवेचनाओं से पाठकों को केवल समालोच्य कृति की ही जानकारी नहीं होती अपितु उसके युगीन धरातल पर विकसित होने वाली अन्यान्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की भी अभिज्ञता हो जाती है। ऐसी समालोचना में वाजपेयीजी का दृष्टिकोण रसग्राही पाठक का ही विशेष रूप से रहा है और वे उन प्रभावों को भी अंकित करते गए हैं जो उनके मानस पर कृतियों के अध्ययन के समय यथासमय अंकित होते रहे हैं। इस प्रकार की विवेचनाएँ उनके सौन्दर्य-विधायक और स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण की विज्ञापिकाएँ हैं, जिनमें प्रयुक्त व्याख्यात्मक पद्धतियाँ इस विषय का जीवन्त प्रमाण है कि वाजपेयीजी शास्त्रीयता के परिपालन में ही समालोचना की परिधि नहीं समझते अपितु वे इसे जीवन दृष्टि के साथ प्रगतिशील बनाकर उसमें ही पूर्णता का अधिकाधिक आभास पाते हैं। उन्होंने इस प्रकार की समालोचनाओं द्वारा जहाँ एक ओर अपने मनोनुकूल साहित्य रचनाओं के गुणों की प्रशंसा तत्वाभिनिवेशिनी प्रज्ञा को आधार बनाकर की है, वहाँ दूसरी ओर उन मान्यताओं और मतवादों का तीव्र शब्दों में खंडन भी किया है जो उन्हें वादग्रस्त अथवा साम्प्रदायिक-मात्र प्रतीत हुए हैं। सच तो यह है कि वाजपेयीजी को रचना तथा मीमांसा का सौंदर्य-विधायक और जीवन-निरूपक पक्ष का केवल यही स्वरूप विशेष प्रिय है जिसमें प्रचारवादी दृष्टिकोण को महत्त्व न देकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति से साहित्य-निर्माण किया गया हो। इस प्रकार की समालोचनाओं में वे सर्वत्र स्पष्ट और संतुलित बनकर चले हैं जिनकी प्रयणीयता का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। उक्त कृतियों के विवेचन के अन्तर्गत वाजपेयीजी ने यथाप्रसंग सैद्धान्तिक सूत्रों की भी अवतारणा की है और उनके प्रतिमानों पर व्यावहारिक पक्ष का

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : द्वितीय संस्करण सं. २०१६ वि., पृ. ४२६।

होते हैं किन्तु यह प्रगतिशीलता किसी विशेष प्रकार में ही न होकर सामाजिक प्रेरणाओं स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का स्वरूप प्रदान करने के अर्थ में होनी चाहिए।[1] वाजपेयीजी की प्रगतिशीलता विषयक धारणा इतनी व्यापक भूमिका पर आधारित है जिसमें कालिदास, शेक्सपीयर, होमर, मिल्टन, वाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी, कबीर आदि प्राचीन काव्यकार और वर्तमान तथा भविष्य के साहित्यकार भी अपनी चिरन्तन भावनाओं के रस-संवेद्य चित्रण में आ जाते हैं। साथ ही साथ वाजपेयीजी का उन समीक्षकों से भी इस विषय में स्वतः विरोध प्रकट हो जाता है जो प्रगतिवाद के नाम पर तथाकथित प्राचीन कवियों को प्रतिगामी प्रतिक्रियाशील अथवा पिछड़ा हुआ कहते हैं। ऐसे समालोचकों के सम्बन्ध में वाजपेयीजी की यह धारणा है कि "वे काव्यकारों का मूल्यांकन विशुद्ध काव्य-दृष्टि से न कर केवल उस सामाजिक संगठन से करते हैं जिसमें काव्य की रचना की जाती है।[2] अतएव वाजपेयीजी के मतानुसार किसी वाद या संकीर्ण विचारवाद को ही काव्य का प्रतिमान स्वीकार करना भी ठीक नहीं कहा जा सकता। जो लोग यह मानते हैं कि परिस्थिति के परिवर्तनों के साथ-साथ समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएँ बदल जाएँगी और काव्य की माप में भी अन्तर आ जायगा यह भी वाजपेयीजी की दृष्टि में भ्रमपूर्ण धारणा है। उनकी मान्यता में वादों की अपेक्षा जीवन की व्यापकता को काव्य में प्रश्रय मिलना चाहिए और काव्य में वादों की स्थिति एक समुचित और संतुलित सीमा-रेखा में ही समझी जानी चाहिए, अन्यथा उन्हीं को प्रधानता देने से जीवन की सम्पूर्ण संवेदना खण्ड-खण्ड हो जायगी जिससे उसका जीवन्त रस सूखने लगेगा।[3] वे काव्य का कार्य संवेदना की सृष्टि करना और वाद का कार्य केवल एक देशीय ज्ञान-विस्तार करना मानकर अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'काव्य और वाद दोनों मानव-जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और वे एक-दूसरे के सहकारी होते हुए भी अपनी कार्य-शैली में भिन्न हैं।'[4] इस प्रकार साहित्य और सामाजिक प्रगति का पूर्वापर क्या सम्बन्ध है इसका आभास उक्त विवेचन से निस्संदेह प्राप्त किया जा सकता है।

साहित्य और जीवन-विषयक दृष्टि

११६. वाजपेयीजी साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानते हैं और उसको समझने में देश-काल की सुविधा के मोह में पड़ना उचित नहीं समझते। उन्होंने उन विचारकों से अपना मतभेद प्रकट किया है जो साहित्य को राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों के आगे अपदस्थ कर उसकी स्वतंत्र सत्ता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगा देते हैं। साथ ही साथ उनका जीवन से अभिप्राय अत्यन्त व्यापक है। वे जीवन की तुलना ऐसे धारा-प्रवाह से करते हैं जिसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें साहित्य में एकत्र की जाती हैं।[5] उनके मतानुसार 'जीवन के अनन्त आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक-वितरण करते हैं।[6] वे साहित्यकार को केवल युगीन परिवेश में ही कारावद्ध करना उचित नहीं समझते क्योंकि वह वर्तमान में रहता हुआ भी अतीत और भविष्य को अंकस्थ किये रहता है। उनके मतानुसार महान् कलाकारों के लिए सामयिक जीवन का केवल इतना ही महत्त्व है कि वह उनके द्वारा चित्रित किये जाने वाले विराट्, सर्वकालीन

---

१. पं. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण सं. २०११ वि., पृष्ठ ५६।
२. वही, पृष्ठ ५११।
३. वही, पृष्ठ ५१२।
४. वही, पृष्ठ ५११।
५. वही, पृष्ठ ५१५।
६. वही, पृष्ठ ५१५।

पुरुष-सूक्त में पाई जाती है और इसी प्रकार नवधा भक्ति के सामान्य लक्षणों की भूमिका भी। वाजपेयीजी ने अपने इस विवेचन के क्रम में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर जीवन-दर्शन की विकसित परम्परा में भक्ति के विकास को देखा है। वेदोत्तरकालीन उपनिषदों के विभिन्न उद्धरणों और ब्राह्मण-ग्रन्थों के विवेच्य विचार-बिन्दुओं के द्वारा उन्होंने बतलाया है कि आगे चलकर रामायण और महाभारत-काल में आकर भक्ति का जो वास्तविक विकास हो सका उसकी प्रकृति किस प्रकार अनेक मोड़ लेती हुई उन युगों की आस्थाओं के रूप में अभिव्यक्त हुई है। वाजपेयीजी ने भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानों की खोजों और अनुसंधानों की प्रचुर सामग्री अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए उद्धृत की है और इस प्रकार से राम और कृष्ण की भक्ति का भारतीय जीवन में क्रमिक प्रसार अत्यन्त सुलझी मनोवृत्ति से दिखा सके हैं। कहा जा सकता है कि भक्ति की जीवन धारा सूत्र-काल के धरातल को पार कर और श्रीमद्भागवत में अपना व्यक्तित्व बनाकर श्री रामानुज, मध्वाचार्य निम्बार्क और वल्लभ आदि विभिन्न आचार्यों के विवेचन का विषय बनी उसका क्रमबद्ध विवेचन वाजपेयीजी के इस निबन्ध से उपलब्ध हो जाता है। वस्तुतः सूर जैसे भक्त-कवि के काव्य का विश्लेषण करने के पूर्व इस प्रकार का विवेचन अनिवार्य था क्योंकि जब तक हम भक्ति के स्वरूप और विकास की परम्परा को न समझ लें, भक्त कवियों के दृष्टिकोण की तात्त्विकता को अधिक हृदयंगम नहीं बना सकते।

१४० वाजपेयीजी द्वारा लिखा गया 'महाकवि सूरदास' का द्वितीय अध्याय भक्ति के विकास को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत स्पष्ट करने की सामग्री से विभूषित है। यह विवेचन पूर्णतः दार्शनिक और तात्त्विक है जिसमें श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विस्तार पूर्वक विश्लेषण कर उनकी ब्रह्म की उपासना-पद्धति का तत्त्वोद्घाटन किया गया है। अपने विवेचन के स्पष्टीकरण के लिए वाजपेयीजी ने अनेक तर्कसम्मत आधार भी उद्धृत किए हैं। तदुपरान्त वे मध्वाचार्य के द्वैतवाद के विश्लेषण में उतर आए हैं जिसमें विष्णु का सर्वोच्च परम तत्त्व कह कर उनके निराकार स्वरूप के विषय में यथेष्ट विवेचन है। मध्व के द्वैतवाद की प्रायः सभी प्रमुख बातें उनके विश्लेषण में आ गई हैं, जिन पर आगे चलकर उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति का विकास हुआ है। इसी प्रकार इसी अध्याय में निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का भी प्रमुख उपादानों के साथ दार्शनिक विवेचन है। वाजपेयीजी ने सबसे अधिक जानकारी श्री वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद की कराई है जिसका पुष्टिमार्ग महाकवि सूर के काव्य का दार्शनिक पथ बन कर आता है। कदाचित् इसकी आवश्यकता वाजपेयीजी को इसलिए भी प्रतीत हुई कि सूर के दृष्टिकोण का साम्य आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ परीक्षित हो सके और सूर के जिज्ञासु पाठकों को इस विषय में अधिक उलझना न पड़े कि सूर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप क्या है। वैसे तो शुद्धाद्वैतवाद का विवेचन भी अन्यान्य दार्शनिक सम्प्रदायों की भाँति अत्यधिक ऊहापोहों से संयुक्त है और उसके सूक्ष्म दर्शन की भूमिका में अनेक प्रकार की उलझनें भी हैं, किन्तु वाजपेयीजी उनके फेर में न पड़कर उसके केवल ग्राह्य स्वरूप का ही निरूपण करने में प्रवृत्त हुए हैं जिससे द्वारा सूर की साहित्य-साधना और भक्ति-पद्धति को समझने में सुविधा हो गई है। कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी के 'महाकवि सूरदास' के ये प्रारम्भ के दोनों अध्याय हिन्दी-साहित्य में निरन्तर भक्ति-साधना के विश्लेषण की एक कड़ी हैं और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के महाकवि सूरदास नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में तद्विषयक जो विवेचन हुआ है उसकी शृंखला को पुष्ट और व्यापक बनाने का एक अग्रिम सोपान है।

१४१ वाजपेयीजी ने महाकवि सूर की जीवनी और उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विवरण इस पुस्तक के तृतीय अध्याय में किया है; उसके उक्त महाकवि के सम्बन्ध में प्राप्त मतों-मतान्तर सामग्री का सम्यक् उपयोग होने के साथ-साथ उनकी जन्म-तिथि वंश-परिचय और जाति

और अधिक पुष्ट बनाया है। कई स्थलों पर विवेच्य विषय को उपशीर्षकों में विभक्त कर उन्होंने उन स्थलों की शंकाओं का भी स्पष्ट समाधान किया है जिनके सम्बन्ध में साहित्य के इतिहासकारों और मूल्यांकनकर्ताओं में मतभेद है। अभिप्राय यह है कि वाजपेयीजी द्वारा लिखी गई विभिन्न कृतियों की समीक्षाएँ स्वतंत्र शीर्षकों में विवेचित होने पर भी हिन्दी-साहित्य के क्रमबद्ध विकास को ऐसी शृंखलाओं में जोड़ती चली हैं जिनमें इतिहास-निर्माण की प्रवृत्ति सक्रिय स्वतः अंतर्निहित है। अपने विषय की परिमिति के कारण उनका स्वतंत्र रूप से विवेचन करने का यहाँ अवसर नहीं है फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि वाजपेयीजी के इस प्रकार के विवेचन में ऐसे अनेक सूत्र संग्रथित हैं जिन्हें आधार बनाकर अनेक वर्धमान आलोचकों ने उनका भाष्य किया है।

'महाकवि सूरदास' व्यावहारिक समालोचना का भव्य प्रतीक

११८ सूर और तुलसी आधुनिक हिन्दी समालोचना के सर्वप्रिय विषय रहे हैं। समालोचना के शैशव-काल में इनकी परिचयमूलक जीवनी और ग्रन्थों की खोज ही समालोचकों की विवेचना का विषय रही थी किन्तु कालान्तर में उनके भावगत और कलागत पक्षों का उद्घाटन भी होने लगा। पं रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में सूर और 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिका में तुलसी की अन्तः प्रकृति की छानबीन करते हुए उनके काव्यों का विविध दृष्टियों से व्यापक विश्लेषण किया था। विश्लेषण का यह क्रम क्रमशः आगे बढ़ता गया और अनेक विद्या-व्यसनीय शोधकों ने भी इनके जीवन और काव्य की अधिक से अधिक प्रामाणिक सामग्री देने की चेष्टा की जिनके अनुशीलनमूलक कार्यों पर विश्वविद्यालयों ने उन्हें उच्चतम उपाधियाँ भी प्रदान कीं। समालोचना के प्रसार-काल में इस विषय का एक सौन्दर्यमूलक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का जिन आलोचकों ने प्रयत्न किया उनमें भाव के प्रमुख समालोचक पं नन्ददुलारे वाजपेयीजी का स्थान अग्रगण्य है। उन्होंने 'महाकवि सूरदास' नामक अपने समालोचनात्मक ग्रन्थ में सूरदास के 'काव्य जीवन और भक्ति' का अन्तरंग विवेचन किया है। इस पुस्तक का विषय-क्रम आठ अध्यायों में विभक्त है जिनमें क्रमशः 'भक्ति का विकास' 'भक्ति सम्बन्धी साम्प्रदायिक सम्प्रदाय' 'सूर की जीवनी और व्यक्तित्व' 'आत्मपरक भावभूमि' दार्शनिक पीठिका' 'सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष' 'प्रतीक-योजना' तथा अन्त में 'काव्य-सौन्दर्य' का विश्लेषण हुआ है। वाजपेयीजी ने सूर-काव्य के विश्लेषण-पक्ष को आरम्भ करने के पूर्व आधुनिक हिन्दी अनुशीलन और उसकी सीमाओं का एक सामान्य परिचय देकर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि आज की समालोचना अपने पूर्ववर्ती युगों से अधिक विकास प्राप्त करती हुई जिन समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषक प्रक्रियाओं में सिमट कर बंध रही है, उनके एकांगी आधार पर सूर और तुलसी जैसे महान् और प्रतिनिधि कवियों का विश्लेषण करना अशोभनीय और अनुचित प्रयास है।[१] वाजपेयीजी का यह दृष्टिकोण समीचीन है क्योंकि इन समालोचनात्मकपद्धतियों की एकांगिता तत्त्व-मीमांसकों से अप्रकट नहीं है और कम से कम भारतीय चिन्तन और साहित्यसाधन से तो उनका मेल-जोल बहुत कम बैठ पाता है।

११९. वाजपेयीजी का भक्ति का विकास विषयक निरूपण अत्यन्त गवेषणापूर्ण है। उन्होंने विभिन्न ऐतिहासिक और दार्शनिक अनुसंधानों का विवरण देकर बतलाया है कि वैदिक काल से ही भक्ति के बीजांकुर मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों द्वारा किस प्रकार प्रस्फुटित किए गए थे और वे किस प्रक्रिया में वदिक प्रार्थना और प्रकृति-नियामकों के प्रति श्रद्धा प्रेम और भय की सम्मिश्रित भावनाओं में क्रमशः विकसित होने लगे थे।[२] उनके मतानुसार समुख अवतारवाद की झलक वेदों के

१ पं नन्ददुलारे वाजपेयी महाकवि सूरदास सन् १९५२ 'प्राक्कथन', पृ० ११।
२. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी महाकवि सूरदास : सन् १९५२, पृष्ठ ३ ४।

जिस पर उन्हें आगरा विश्वविद्यालय से डी॰ लिट्॰ की उपाधि प्राप्त हुई है। 'विचार और अनुभूति' 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण' उनके समीक्षात्मक निबन्धों के संग्रह हैं जिनमें सैद्धांतिक और व्यावहारिक समालोचनाओं का भव्य सम्मिश्रण हुआ है। इन निबन्ध संग्रहों द्वारा नगेन्द्रजी की विचारधारा का अध्ययन सम्यक रूप से किया जा सकता है। उन्होंने 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' तथा 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' लिखकर इस दिशा में भी अभिनव पथ प्रदर्शन किया है। सुमित्रानन्दन पंत के काव्य का समीक्षण तो सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा आधुनिक समालोचना दिशा में किया गया। उनकी 'साकेत एक अध्ययन' नामक समीक्षा-कृति ने कालांतर में 'एक अध्ययनमाला लिखने की प्रेरणा दी किन्तु उसकी समता के अध्ययन बहुत कम प्रस्तुत किए गये। 'आधुनिक हिन्दी नाटक' में नाटक की प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ-साथ हिन्दी के प्रमुख नाटककारों की मानसिक चेतना ,का भी विश्लेषण हुआ है। 'सियारामशरण गुप्त' तथा 'आधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ' उनके सम्पादन-ग्रन्थ हैं जिनमें उनके द्वारा लिखे गए समालोचनात्मक निबन्धों का विशेष महत्त्व है। आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित 'हिन्दी ध्वन्यालोक' 'हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित' तथा 'हिन्दी काव्यालंकार सूत्र' का सम्पादन कर नगेन्द्रजी ने उक्त ग्रन्थों की जो विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ लिखी हैं उनमें भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास दृष्टिगोचर हुआ है। उन्होंने 'अरस्तू के काव्य-शास्त्र' तथा 'लौंजाइनस के काव्य में उदात्त-तत्त्व' का अनुवाद तथा सम्पादन प्रस्तुत कर हिन्दी समीक्षा-जगत् को इस दिशा में कार्य करने का नवीन मार्ग दिखलाया है। उनका समीक्षण-कार्य अब भी चल रहा है जिससे भविष्य में साहित्य-समीक्षण के और भी उत्तमोत्तम ग्रन्थों की उपलब्धि की यथेष्ट सम्भावना है। निश्चय ही उनकी समालोचनाओं में मनोवैज्ञानिक और स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण का जो सुन्दर समन्वय हुआ है वह अन्यत्र कदाचित् ही उपलब्ध हो। वैसे आकाशवाणी-केन्द्रों से प्रसारित की जाने वाली उनकी वार्ताएँ भी समसामयिक साहित्यालोचन से ही सम्बन्धित रहती हैं जिनमें साधारणतया पुस्तकालोचन अथवा युग-विशेष की किसी सामान्य प्रवृत्ति अथवा किसी साहित्यकार अथवा कृति विशेष का सामान्य विश्लेषण अत्यन्त सधी हुई शैली में होता है, जिसे समीक्षात्मक दृष्टि से निश्चय ही गौरवपूर्ण माना जायगा।

सैद्धान्तिक मान्यताएँ और उनके प्रति दृष्टिकोण—'साहित्य की प्रेरणा' विषयक विचार

१४६ साहित्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करने के पूर्व नगेन्द्रजी ने कवि और सुन्दरी के परिसंवाद की जो मधुर कल्पना की है, वह एतद्विषयक बौद्धिक विवेचन में भी एक प्रकार की रसोद्रेकता उत्पन्न कर देती है। उन दोनों के बीच आचार्य की अवतारणा मानो स्वयं आलोचक का ही प्रतिरूप है, जो काव्य-सृष्टि और कवि-प्रेरणा के मध्य अपना भाष्य प्रस्तुत करता हुआ उपस्थित होता है। वैसे तो हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र में भी क्रौंच-वध की कथा के अन्तर्गत महर्षि वाल्मीकि के 'मा निषाद' श्लोक में काव्य की प्रेरक शक्ति का अन्वेषण किया गया है किन्तु नगेन्द्रजी ने उसके अतिरिक्त भी काव्य-प्रेरणा अथवा काव्य-प्रयोजन से सम्बन्धित अन्यान्य विचार सरणियों का मन्थन कर जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त ग्राह्य और व्यापक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन निष्कर्षों तक पहुँचने में स्वयम् नगेन्द्रजी ने कवि-हृदय की मूल सम्वेदना की अनुभूति की है और उनके मानस में उस अनुभूति के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई है वही उनके साहित्य की प्रेरणा-विषयक विचारों का तत्त्व बन गई है। कविता के जन्म के सम्बन्ध में उन्होंने जो मूल प्रेरणा मानी है वह रूढ़िग्रस्त न होकर लोकहृदय के अत्यधिक निकट है। वह एक ऐसा सूत्र है जिस पर किसी भी देशकाल के काव्यकार की अन्तश्चेतना को समझा जा सकता है। उनके मतानुसार सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के अमित प्रभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो

उसके पिता प्रारम्भिक जीवन जन्मान्धता दीक्षा-समय और उसके पश्चात् का विवरण अकबर से भेंट सूर-तुलसी-मिलन तथा अष्टछाप में स्थापना-विषयक शोधों के प्रचुर अंश सम्मिलित हैं। यह *सामग्री अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के प्रमाणों पर आश्रित है जिसके निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है* कि वाजपेयीजी के मतानुसार सूर अपने समय के एक महान् भक्त थे और उनके द्वारा पुष्टिमार्गी भक्ति को यथेष्ट विकास प्रदान किया गया था। हाँ आगे चलकर वाजपेयीजी ने सूर की वात्सल्यपरक भावभूमि का जो विवेचन किया है वह अत्यन्त मौलिक और नई सूझ-बूझ से युक्त है। इस प्रकार का विवेचन हिन्दी-समालोचना की सुस्थोत्तर-प्रणाली को आगे बढ़ाने वाला कहा जा सकता है जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि मनोविश्लेषणवादी समालोचक फ्रायड युंग और एडलर की सीमाओं में बंधकर साहित्य की मनोवैज्ञानिकता का चाहे जैसा स्वेच्छाचारी विवेचन कर किन्तु भार *तीय दृष्टि उसे एक स्वस्थ धरातल पर विवेचित करने की कैसी शक्ति रखती है। निश्चय ही* वाजपेयीजी ने अपने प्रतिपादन में यह सिद्ध करने की पर्याप्त चेष्टा की है कि सूर की अनन्य तन्म *यता किस प्रकार स्वतः उनकी कविता की एक श्रेष्ठ विभूति बनकर प्रकट हुई है और उनकी कविता* ने प्रचलित साहित्य-शास्त्र की पाण्डित्यपूर्ण निर्धारित की हुई सीमाओं को पार कर किस रूप में नया विस्तार और जीवनदान दिया है।[1]

१४२ वाजपेयीजी की समालोचना में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का मेल है। आचार्य शुक्ल की भाँति वे भी काव्य-कला और जीवन-दर्शन के विषय में अपनी निश्चित धारणा रखते हैं और अपने एक निर्धारित प्रतिमान से ही काव्यकारों और उनकी कृतियों का परीक्षण करते हैं। उन्होंने कला को रूप और प्रभाव दोनों के मिश्रण में समर्थ बतलाकर उसे श्री-शोभा-सम्पन्न नारी-रूप में देखा है जिसके मोहिनी वेश में भावों की प्रतिमा सौन्दर्य राशि से अलंकृत होकर प्रकट होती है। वे कला की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता इस बात में मानते हैं कि उसके द्वारा पारदर्शी रसिक-जनों को तो उसकी तात्त्विक उपलब्धि हो ही साथ-साथ उसका आनन्द सामान्य जन सुलभ भी हो जाय।[2] इस प्रकार अपने इस प्रतिमान में उन्होंने सूर काव्य को भावनाओं के मार्जन और प्रक्षालन में पूर्णतया समर्थ माना है और वे उसके आध्यात्मिक पक्ष का भी संस्पर्श कर सके हैं। वाजपेयीजी का यह विवेचन सूर-काव्य के अलौकिक रसत्व की अभिव्यंजना करने में भी समर्थ हुआ है और वे इसकी दार्शनिक पीठिका का निरूपण तो और भी कुशलता से कर सके हैं। वाजपेयीजी ने सूर की समालोचना में जिस सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष का विवेचन किया है वह उनके पूर्ववर्ती अथवा अन्य समकालीन समालोचकों के दृष्टि-पथ में बहुत कम आया था और वे सूर-काव्य को केवल सौन्दर्य और कला की भूमि पर ही प्रतिष्ठित कर के देख सके थे जबकि वाजपेयीजी ने उसके उक्त धरातलों का भी स्पष्टीकरण किया। इस विवेचन का मूल दृष्टिकोण यही स्पष्ट करने का है कि सूर-काव्य में किसी प्रकार की विलासवृत्ति अथवा अश्लील शृंगारिकता के दर्शन पाना उसके मूल दृष्टिकोण को नहीं समझना है क्योंकि यदि उसमें इस प्रकार की कोई अन्तश्चेतना होती तो वह भी शृंगारी कवियों की भाँति भक्ति के पावन क्षेत्र में राधा-कृष्ण के सुमिरन का बहाना बन कर प्रकट होता।[3] वस्तुतः वाजपेयीजी ने मूल प्रश्न की आधारभित्ति पर इस प्रकार की मत प्रतिष्ठा कर अनेक विरोधियों का मुख बन्द कर दिया है विशेष रूप से पं० वेंकटेशनारायण तिवारी की सूर-काव्य के शृंगारपरक दृष्टिकोण का तो उसमें खंडन करने का पूर्ण

१ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी: महाकवि सूरदास पृ० ८२-८३

२ वही, पृष्ठ ८८।

३ वही, पृष्ठ ८८।

४ वही पृष्ठ ११४-११५।

इस प्रकार नगेन्द्रजी ने साहित्य और समीक्षा के विभिन्न अंगों को लेकर अपने परिपक्व तथा परिमार्जित विचार साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किए हैं जो उनके समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायक हो सकते हैं।

रस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१४. युक्तोत्तर-युग के समालोचकों में नगेन्द्रजी का इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है कि उन्होंने रस के स्वरूप को आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वैसे तो रस-स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य ग्रन्थों में इतना अधिक विवेचन हुआ है कि उन सबका विश्लेषण स्वतः एक महान् ग्रन्थ का आकार धारण करने के लिए अपर्याप्त नहीं है किन्तु नगेन्द्रजी न उनके भाष्य में जाना विशेष उपयोगी न समझ केवल उनकी उन सारभूत प्रवृत्तियों का ही तत्त्वपूर्ण विवेचन किया है, जो इस विषय में महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की प्रमुख मान्यताओं के विवेचन के साथ-साथ उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख स्तम्भ प्लेटो अरस्तू, प्लोटिनस क्रोचे ह्यूम्से ह्यूबाय हीगेल एबीसन तथा रिचर्ड स आदि विद्वानों की एतद्विषयक मुख्य धारणाओं का भी निरूपण किया है और रस-स्वरूप के प्रश्न को मनोविज्ञान की दृष्टि से तीन दृष्टिकोणों से सुलझाने की चेष्टा की है (१) क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है? (२) क्या काव्यानुभूति अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है? (३) क्या वह आनन्द अलौकिक और निराला है?[1] इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए नगेन्द्रजी ने काव्य में निष्पन्न होने वाले ऐन्द्रिय मानसिक कल्पनाजन्य सहानुभूतिजन्य तथा स्व-सापेक्ष इन पाँचों प्रकार के आनन्दों का तात्त्विक विवेचन इनके प्रमुख समर्थकों की विचारधारा के अनुसार करते हुए अन्त में यही सिद्ध किया है कि ये सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते।[2] वस्तुतः रस के स्वरूप के विषय में उनका निजी मत यही प्रतीत होता है कि वे उक्त सिद्धान्तों की अतिवादिता में विश्वास नहीं करते तथा अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की प्रखरता नहीं होती और इसीलिए वह पहली से अधिक प्रज परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है।'[3]

नगेन्द्रजी के 'साधारणीकरण' विषयक विचार

१५. नगेन्द्रजी ने 'साधारणीकरण' पर अपना जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह शास्त्र-सम्मत और मौलिक है। उसके सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही साहित्य-शास्त्री विभिन्न दार्शनिक वादों की छाया पर अपनी जो उद्भावनाएँ प्रकट करते आ रहे हैं उनका नगेन्द्रजी ने तात्त्विक पर्यवेक्षण कर अपना अभिमत प्रकाशित किया है। उनके मतानुसार 'साधारणीकरण' का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना' जिसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी काव्य में दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति प्रकट की गई है तो श्रोता या पाठक उसका भावन करते हुए भाव की उस अवस्था तक पहुँच जाता है जहाँ वह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति रह जाती है।[4]

१ डा॰ नगेन्द्र : विचार और विवेचन रस का स्वरूप पृष्ठ १।
२ वही पृष्ठ ११।
३ वही पृष्ठ ११।
४ डा॰ नगेन्द्र : विचार और विवेचन : प्रथम भाग १९४६, पृष्ठ १।

कविता का जन्म होता है। कविता के उद्भव के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य है—केवल आनन्द या केवल पीड़ा कविता की सृष्टि नहीं कर सकती।[1]

१४७ नगेन्द्रजी के साहित्य-प्रेरणा विषयक सूत्र में 'काम' का भी बड़ा महत्व है। वास्तव में क्रौंच वध की कथा में भी उन्हें क्रौंच-मिथुन में काम का ही संमोहन मिला है। यदि वे करुणा में अभाव की पीड़ा पाते हैं तो काम में आनन्द का सम्मोह। वस्तुतः इन दोनों का संयोग ही काव्य-सृजन का मूल है।[2] यद्यपि वे भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित काव्य के यश अर्थ शिवेतरक्षत आदि प्रयोजनों को भी साहित्य की प्रेरणा के विषय मानते हैं किन्तु उनके मतानुसार उन्हें काव्य की आंतरिक प्रेरणा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार काव्य-हेतुओं में भी उन्हें साहित्य की मूल प्रेरणा नहीं मिलती अतः वे प्राचीन काव्य-शास्त्र में विवेचकों की निर्वैयक्तिक दृष्टि के कारण काव्यकार की अन्तश्चेतना के विश्लेषण का अभाव सा देखकर इस सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञान का ही सहारा लेना उचित समझते हैं। उन्होंने अरस्तू के अनुकरण-सिद्धांत से लेकर हीगेल की सौन्दर्यानुभूति विषयक विवेचना क्रोचे की शुद्ध सहजानुभूति विषयक अभिव्यंजना और फ्रायड एडलर तथा युंग के मनोविश्लेषणवाद का सारांश प्रस्तुत कर अन्त में यही निष्कर्ष निकाला है कि काव्य के मूल में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है और यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जान-बूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती। हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-वृत्ति का प्राधान्य है अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मूलतः काममय है और चूंकि ललित-साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है।[3]

आत्माभिव्यक्ति और साहित्य-सर्जना

१४८. नगेन्द्रजी ने जिस आत्माभिव्यक्ति को काव्य की मूल प्रेरणा माना है उसके पीछे वे आत्म-रक्षण या जीवनेच्छा को अत्यधिक महत्व देते हैं। उनकी आत्म-रक्षण की परिधि केवल व्यक्ति तक ही सीमित नहीं अपितु उसमें समाज देश तथा अखिल संसार का समावेश हो जाता है।[4] उनकी मान्यता है कि जब आत्माभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम साहित्य है तो उसके द्वारा रस या आनन्द की उपलब्धि नैसर्गिक भाव से होगी ही क्योंकि आत्माभिव्यक्ति भी तो आनन्द का कारण बनती है।[5] वे आत्माभिव्यक्ति के कारण ही साहित्य को भी वैयक्तिक चेतना मानते हैं, जिसके कारण साहित्य-निर्माता अपने वातावरण से प्रभावित होता हुआ भी साहित्य-सर्जना के क्षणों में तो अन्तर्मुखी बन ही जाता है। *साहित्य-निर्माण* के इसी *सिद्धान्त* को नगेन्द्रजी ने समीक्षक पर भी घटित किया है। उनकी दृष्टि में समीक्षा में भी समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति प्रधान है जिसमें भावुकता रसिकता तथा मानसिक संतुलन अत्यन्त आवश्यक है। वे साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि अन्ततोगत्वा यह समालोचक अर्थात् रस-ग्राही पाठक के गृहीत रस को ही तो सर्व-सुलभ करने का प्रयत्न है।[6]

---

१ डा० नगेन्द्र : काव्य-चिन्तन द्वितीय बार सन् १९५१ पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ ४।
३ वही, पृष्ठ १।
४. वही, पृष्ठ ११।
५. वही, पृष्ठ १७।
६. वही पृष्ठ १८।

रस में परिणत होता है'[1] और दुष्यंत और शकुन्तला आदि पात्रों के माध्यम से जब 'कवि की अपनी विशिष्ट रति भावना का ही साधारणीकरण होता है'[2] तो यह कैसे मान लिया जाय कि काव्यगत अव्यक्तिवाद का सिद्धांत तर्कसंगत है। उन्होंने इलियट की इस मान्यता के प्रति भी आपत्ति की है कि कलाकार के लिए काव्यगत भाव के मौलिक रूप का अनुभव करना आवश्यक नहीं है। उन्होंने शेक्सपियर तथा तुलसीदास की पात्र-सृष्टि में उनके उपचेतन मन की वासनाओं की अनिवार्य प्रेरणा मानी है, जिसके कारण वे अपने पात्रों का चरित्र-निर्माण कर सके थे। उन्होंने क्रोचे की सहयानुभूति के साथ भी इलियट के सिद्धान्त का किसी अंश तक साम्य निर्दिष्ट कर उसका उद्गम संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रों के मूल में अनुसंधित कर लिया है और साहित्य में आत्माभिव्यक्ति की सत्ता को महत्त्व देकर युक्तिसंगत विधि से अव्यक्तिवाद की न्यूनताएँ प्रदर्शित की हैं।

साहित्य और आत्मानुभूति

१५३ नगेन्द्रजी के सैद्धान्तिक विश्लेषण पर आधुनिक मनोविज्ञान का यथेष्ठ प्रभाव है। साहित्य की प्रेरणा, साहित्य में आत्माभिव्यक्ति आदि निबन्धों से इसकी पुष्टि होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य दर्शन तथा मनोविज्ञान के अलग अलग क्षेत्र हैं किन्तु उनका अवर्भुव हमारे मानस में ही अंतर्हित है अतः उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी विच्छेद नहीं किया जा सकता। नगेन्द्रजी ने आत्माभिव्यक्ति को साहित्य का मूल धर्म माना है और उनके मतानुसार 'आत्मानुभूति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन जाती है।[3] वे साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक प्रतिपादों से न मानकर जीवन से मानते हैं और आत्म का अनात्म के द्वारा अपने अभिव्यक्त करने का सतत् प्रयत्न ही उनकी दृष्टि में जीवन है जिसका अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ के द्वारा होने वाली आत्माभिव्यक्ति ही साहित्य है। साहित्य की इस परिभाषा द्वारा नगेन्द्रजी ने साहित्यकार और उसकी कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की भी विवेचना की है। सच तो यह है कि यदि लेखक को आत्माभिव्यक्ति का अवसर न मिले तो वह कभी भी सच्चा आत्मतोष प्राप्त कर ही नहीं सकता। ऐसा करने से 'लेखक के अहं का संस्कार होता है और उसकी वृत्तियों में अनेक प्रकार के गुणों का भी संचार होता है।[4] इस कथन से नगेन्द्रजी का यह अभिप्राय नहीं कि लेखक की आत्माभिव्यक्ति समाज निरपेक्ष होती है। वास्तव में वे उसकी सामाजिक उपयोगिता यही समझते हैं कि जिस प्रकार अपनी आत्माभिव्यक्ति द्वारा लेखक आनन्दोपलब्धि करता है उसी प्रकार उसके द्वारा समाज का भी आत्मपरिष्कार होता है। हाँ यह बात अवश्य है कि उस अभिव्यक्ति में निश्छलता अवश्य रहनी चाहिए जिससे आनन्द का विधान परिष्कृत स्वरूप में हो सके। उनके मतानुसार अभिव्यक्त-भाव की निश्छलता एक ऐसा गुण है जिसमें नैतिकता तथा सामाजिकता के उन उदात्त गुणों का भी समावेश हो जाता है जो किसी विशिष्ट शासन के पोषक न होकर सौंदर्य के विधायक बनते हैं। इतना ही नहीं उनके मत से निश्छलता के कारण ही अहं का उन्नयन होता है जिससे महान् कवियों का जीवन जगत् के साथ तादात्म्य कर सकता है। इस प्रकार नगेन्द्रजी ने आत्माभिव्यक्ति के द्वारा साहित्य-स्वरूप का जो विवेचन किया है

---

१ डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन : प्रथम बार १९४४ पृष्ठ ९५ ।

२. वही पृष्ठ ९५ ।

३ वही, पृष्ठ ५९ ।

४ वही पृष्ठ ६१ ।

५. वही, पृष्ठ ६४ ।

आचार्य शुक्लजी ने साधारणीकरण से आश्रय आलम्बन का साधारणीकरण लिया था किन्तु नगेन्द्रजी अनेक युक्तियों के आधार पर उसे कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं, क्योंकि कवि अथवा प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार में ही इतनी क्षमता होती है कि वह अपनी अनुभूति को सभी लोगों की अनुभूति बना सके। नगेन्द्रजी के मतानुसार कवि अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है जिसके द्वारा पाठक या श्रोता भी उसकी अनुभूति के साथ अपनी अनुभूति का तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं।[1] इससे सिद्ध है कि नगेन्द्रजी साधारणीकरण का विवेचन रचयिता की अनुभूति को प्रधानता देते हुए करना समीचीन समझते हैं क्योंकि उनके मत से कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके।[2] इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने विभिन्न काल के कवियों और कृतियों के कतिपय स्थलों का विश्लेषण कर साधारणीकरण के सम्बन्ध में होने वाली भ्रान्तियों का विवेचन करते हुए लिखा है कि "भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त तथा अपनी वस्तु-सीमित दृष्टि के कारण आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाए हैं।"[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि नगेन्द्रजी ने साधारणीकरण की सामान्य शक्ति सभी लोगों में स्वीकार कर कवि को उसकी विशेष शक्ति से सम्पन्न माना है जो अपनी समृद्ध भावशक्ति तथा सघन अनुभूतियों के कारण भाषा का भावमय प्रयोग कर मानव-सुलभ सहानुभूति को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

काव्यगत अव्यक्तिवाद और डा० नगेन्द्र

१२१ नगेन्द्रजी ने टी एस इलियट के काव्यगत अव्यक्तिवाद का विवेचन उसकी प्रमुख मान्यताओं को पूर्वपक्ष के रूप में प्रतिष्ठित कर अत्यन्त तर्कपूर्ण तथा विवेक-सम्मत शैली में किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान तथा भारतीय साहित्य-दर्शन के शास्त्रीय पक्ष को भी अपना आधार बनाया है। यद्यपि नगेन्द्रजी तत्कालीन यूरोपीय साहित्य की अति-व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के उन्मूलन में इस सिद्धान्त की महत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु तत्वनिरूपण की दृष्टि से उन्हें इसमें अनेक प्रकार की असंगतियाँ प्रतीत हुई हैं। उनकी सर्वप्रथम आपत्ति तो यही है कि कलाकृति और रचयिता के व्यक्तित्व को निर्लिप्त मानकर चलना एक प्रकार की अतिवादिता है, क्योंकि तात्विक दृष्टि से जीवनगत भाव और काव्यगत भाव में भले ही अन्तर हो किन्तु उन दोनों के मध्य बीज और पल्लव का सम्बन्ध अवश्य रहेगा। उनका कहना है कि काव्यगत भाव व्यक्तिगत भाव का साधारणीकृत रूप है और यह मौलिकभाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत (ऐतिहासिक आदि) सभी प्रकार के काव्यों में मूलतः कवि का अपना भाव ही होता है।

१२२ नगेन्द्रजी ने इलियट के अव्यक्तिवाद का खंडन कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तथा भवभूति के उत्तर-रामचरित नाटक के कथा-प्रसंगों का उल्लेख करते हुए भी किया है। वे भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित रस-निष्पत्ति के सिद्धांत के अनुसार भी यही सिद्ध करते हैं कि 'जब सहृदय के हृदय में वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव ही काव्य आदि के द्वारा उद्बुद्ध होकर

---

१ डा नगेन्द्र : विचार और विवेचन : प्रथम बार १९४६, पृष्ठ ११।

२. वही, पृष्ठ ११।

३ वही, पृष्ठ १४।

४ वही, पृष्ठ १२ १३।

समझते हैं जिसमें 'शृंगार-भावना प्रेम न होकर विलास बन गई तथा प्रेमी का स्थान रसिक ने ले लिया।'[१] वस्तुतः नगेन्द्रजी के अनुसार यही उस युग की सबसे बड़ी विफलता है "जिसमें जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहारदीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था और उस अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था काम। बाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अंगों में मुंह छिपाकर विमुग्ध-विभोर हो जाता था।"[२]

१५६. नगेन्द्रजी ने आधुनिक काल के प्रमुख चरण द्विवेदी-युग छायावादी-युग तथा प्रगतिवादी-युग के अन्तर्गत विकसित होने वाली शृंगार भावना का भी निरूपण किया है। उनके अनुसार द्विवेदी-युग का दृष्टिकोण शृंगार के प्रति ठीक वैसा ही था जैसा गुरुकुल के छात्र का भाव भी नारी के प्रति है। जीवन और काव्य के रस से वंचित इस युग ने जो नारी-चित्र दिए, वे उसी के अनुकूल नैतिक दम्भ से पीड़ित अस्वस्थ और नीरस हैं।[३] उन्होंने छायावाद की कवितायों को मुख्यतः शृंगारिक कहकर उनका जन्म उन व्यक्तिगत कुण्ठाओं से माना है जो प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं।[४] अपने इस विश्लेषण को और अधिक स्पष्ट और मनोवैज्ञानिक बनाते हुए उन्होंने लिखा है—

"स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज का आकर्षण बढ़ रहा था परन्तु सुधार-युग की नैतिकता से सहम कर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतंक अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। वे निदान अवचेतन में उतर कर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहती थीं। और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार।[५]

१५७. छायावाद के अतीन्द्रिय सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने जो वक्तव्य दिया है उसको उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते क्योंकि उसमें उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष अत्यन्त विचार-प्रवण है। वे लिखते हैं—

"छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतंक से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं।"[६] नगेन्द्रजी ने प्रगतिवाद के अन्तर्गत शृंगार-भावना की स्थिति भी छायावादी दृष्टि से ही व्यक्त की है किन्तु उसकी ऐसी भावभूमि नहीं मानी है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि प्रगतिवाद ने शृंगार के प्रति कोई निश्चित दृष्टिकोण प्राप्त कर लिया है। नगेन्द्र जी के मतानुसार "आज का प्रगतिवादी या तो विषयान्तर से अभी भी कुण्ठा का शिकार है अर्थात् उसकी भावना मन की रानी छोड़ मजदूरिन के अंगों से लिपटती है या फिर वह वासना से लथपथ प्रतिरंजित बीभत्स चित्र उपस्थित कर रहा है।

वाद-समीक्षा और डा० नगेन्द्र 'छायावाद'—

१५८. नगेन्द्रजी ने अपने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर छायावाद की अन्त-

१. डा० नगेन्द्र 'विचार और विवेचन' पृष्ठ ४८।
२. वही, पृष्ठ ४६।
३. वही, पृष्ठ ५।
४. वही, पृष्ठ ५।
५. वही, पृष्ठ ५।
६. वही पृष्ठ २१।
७. वही पृष्ठ २१।

वह किसी युग-विशेष के लिए ही सीमित न होकर ऐसे साहित्य की व्याख्या उपस्थित करता है जिसका सम्बन्ध किसी विशेष समय की राजनीतिक अथवा सामाजिक नैतिकता से ही नहीं है अपितु जिसमें मानवीय चेतना का चिरंतन अंश समन्वित रहता है।

शृंगार भावना और साहित्य-निर्माण

१२४ नगेन्द्रजी ने 'उत्तम प्रकृति के कामोद्रेक' को ही शृंगार की संज्ञा देकर उसका मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक विवेचन किया है। आधुनिक मनोविश्लेषणवादी विचारकों की भाँति काम या मिथुनेच्छा को जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति निर्दिष्ट कर उन्होंने शृंगार के स्थायी भाव रति को कामाश्रित बतलाया है और लिबिडो के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा है तो आध्यात्मिक विवेचना में वे ब्रह्म और माया तथा आत्म और अनात्म के सम्बन्ध का विश्लेषण कर आत्म विस्तार को जीवन की मूल वृत्ति मानते हैं जिसकी प्राथमिक क्रिया प्रजनन है। इस प्रकार नगेन्द्रजी के अनुसार "प्रजनन द्वारा आत्म अनात्म को अभिभूत कर अपने विस्तार का ही तो प्रयत्न करता है। आत्म-विस्तार के इसी मूलगत प्रयत्न प्रजनन का सहकारी भाव शृंगार या रति है।[1] इसी प्रसग में उन्होंने जीव-विज्ञान के आधार पर भी शृंगार के मूल रति-भाव को समझाया है। नगेन्द्रजी का कहना है कि प्रकृति का एकमात्र सत्य है सृजन। उसकी समस्त क्रियाएँ एक इसी उद्देश्य की प्रेरणा से हो रही हैं। इसी नियम के अनुसार पुरुष और स्त्री के कीटाणु स्वभावतः ही एक दूसरे के पूरक रूप हैं एक दूसरे से मिलने की उनमें सहज प्रवृत्ति वर्तमान है। सृजन की प्रेरणा से इन्हीं दोनों पूरक कीटाणुओं का पारस्परिक आकर्षण पुरुष और नारी के चिर रहस्यमय प्रेम का आख्यान है।"[2]

१२५. शृंगार रस की उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से जीवनगत अनिवार्यता और महत्ता का निरूपण कर नगेन्द्रजी ने भारतीय साहित्य की परम्परा में जो विकास-विवेचन किया है वह अत्यन्त सार-गर्भित और सम्पूर्ण है। उसके द्वारा जहाँ हमें उनके व्यापक अध्ययन का आभास मिलता है, वहाँ इस विषय का भी बोध हो जाता है कि शृंगार के प्रति नगेन्द्रजी का क्या दृष्टिकोण है। उन्होंने मानव-शास्त्र के आधार पर विश्व प्रगति के आदिम काल से लेकर अद्यावधि शृंगार तथा काम के प्रति जो सामाजिक धारणा रही है उसका विश्लेषण वैदिक काल रामायण-महाभारत काल चन्द्रगुप्त मौर्य तथा हर्षवर्द्धन-काल वीरगाथा-काल भक्तिकाल रीतिकाल तथा आधुनिक काल के साहित्य-सृजन की मूल दृष्टि को अपने सम्मुख रखते हुए किया है। इस विवेचन में पूर्व वैदिक काल की शुद्ध शारीरिक आवश्यकता वाली शृंगार भावना वैदिक काल की उसके प्रति नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि, महाकाव्य-काल की धर्मपरक शृंगार-वृत्ति मध्ययुग की कला-सौष्ठव पूर्ण शृंगारिक प्रवृत्ति का अत्यंत विवेक-सम्मत वर्णन हुआ है। हिन्दी-साहित्य के उद्भव से लेकर आज तक हमारे काव्यकारों की जो शृंगार-भावना रही है, उसका विश्लेषण भी पठनीय है। नगेन्द्रजी ने वीरगाथा-काल के शृंगार को सीमित कहा है तो भक्तिकाल के शृंगार को अपार्थिव जिसका अपना निजी धारण-दर्शन है तथा जिसका आलम्बन मनुष्य न होकर भगवान है।[3] हाँ ऐसा कहते हुए उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि मनोविज्ञान की दृष्टि में पार्थिव और अपार्थिव शृंगार में कोई मौलिक भेद नहीं है। रीतिकालीन शृंगार में उन्होंने किसी भी प्रकार की नैतिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थि नहीं मानी है और वे उसमें स्पष्ट रूप से शारीरिक रति अथवा काम की स्वीकृति

---

१ डा नगेन्द्र 'विचार और विवेचन' 'शृंगार रस' पृष्ठ ४६।
२ वही पृष्ठ ४।
३ वही पृष्ठ ५७।

प्रवित्तयाँ कौन-कौन सी हैं और कार्ल मार्क्स ने मुख्यतः तथा डार्विन और फ्रायड ने संक्षत उसे किस प्रकार की चेतना दी है।[1] उन्होंने अपने सैद्धान्तिक विवेचन के क्रम में प्रगतिवाद का इस प्रकार तात्विक विश्लेषण कर उसकी अपूर्णता पर अनेक आक्षेप भी किए हैं और बतलाया है कि निस्सन्देह मार्क्सवाद ने हमें नूतन मार्ग-दर्शन प्रदान किया किन्तु फ्रायड की विचारधारा भी उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने पन्त को हिन्दी में प्रगतिवाद का सर्वप्रथम लेखक कहकर तदनन्तर ही नरेन्द्र यशपाल नवीन दिनकर और अंचल आदि का स्थान माना है। निश्चय ही नगेन्द्र जी का यह विवेचन प्रगतिवाद के स्वरूप का यथेष्ट परिचय देने में पर्याप्त समर्थ है।

प्रयोगवाद का स्वरूप विवेचन

१६१ यों तो हिन्दी काव्य की प्रयोगवादी धारा पर विभिन्न समालोचकों के विविध दृष्टिकोण हैं, किन्तु नगेन्द्रजी ने यथासम्भव दुराग्रह से दूर रह कर एक विवेकशील आलोचक के रूप में संयत विधि में उस पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। नगेन्द्रजी प्रारम्भ ही से यह मानकर चले हैं कि आज के प्रयोगवादी कवि और उनके समालोचक प्रयोग की परम्परा को जिस रूढ़ि में बन्धन-ग्रस्त बना कर चलते हैं, वह तात्विक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि प्रयोग के नाम पर किसी काव्य को संकीर्ण बनाना उसके स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। वस्तुतः नगेन्द्रजी ने आज के प्रयोगवाद का जन्म छायावाद की प्रतिक्रिया में देखा है और वे प्रगतिवादियों के वस्तुपरक दृष्टिकोण में काव्य की रसात्मकता की बहुत बड़ी कमी पाते हैं। नगेन्द्रजी ने प्रयोगवादियों में बाण-भट्ट शैली-शिल्प छंद-विधान तथा काव्यानुभूति को अत्यन्त हल्की कोटि के माना है जिसमें प्रयोग के नाम पर काव्य की शाश्वत चेतना का उभार न्यूनांश में रहता है। उन्होंने प्रमुख प्रयोगवादी काव्यकारों के काव्यांशों को उद्धृत कर उनकी छिछली मनोवृत्ति सिद्ध की है और परोक्ष रूप से उन्हें इस बात का परामर्श दिया है कि वे काव्य में राग की संवेदना को महत्त्व दें न कि केवल शुष्क बौद्धिकता के प्रयोगों को। वस्तुतः नगेन्द्रजी को प्रयोगवादियों के 'अन्वेषी का दृष्टिकोण' 'उपचेतन में दबी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण' 'साधारणीकरण की अनुपस्थिति' तथा 'भाषा के एकान्तिक प्रयोग' में किसी शक्ति के साहित्य के लक्षण नहीं मिलते, अतः वे जीवन की भाँति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का महत्त्व मानते हुए भी इस सिद्धान्त को प्रमाणता देते हैं कि उसके व्यामोह में काव्य की मूल रसात्मक प्रतीति को विनष्ट करना समुचित नहीं है। अभिप्राय यह है कि नगेन्द्रजी आज की प्रयोगवादी कविता के साथ बहुत कम हैं और उनका काव्य में भावाभिव्यक्ति का दृष्टिकोण प्रयोगवादियों के वस्तुपरक और भौतिक दृष्टिकोण के दृष्टिकोण का अनुभव कर उन्हें काव्य की रसनीयता में समीचीन नहीं जंचता।

रसवाद और नगेन्द्रजी

१६२ नगेन्द्रजी कलावादियों की भाँति साहित्य को ऐसी अतिरेकता में नहीं ले जाते जहाँ उसका जीवन से सम्बन्ध ही टूट जाए। वे उसका लक्ष्य आनन्द प्रदान करना मानते हैं, जिससे उनका रसवादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। काव्य का यह आनन्द कैसा हो इसका निर्णय करने का अधिकार नगेन्द्रजी ने संवेदनशील और संस्कृत रुचि-सम्पन्न अधिकारी उपभोक्ता को दिया है। उनके अनुसार साहित्य-पारखी को अपनी सबसे पहली कसौटी तो यही बनानी चाहिए कि कोई भी साहित्य सृष्टा अपनी कला-कृति में अपने व्यक्तित्व का पूर्ण समाहार या विलीनीकरण कर सका है या नहीं। इस विषय में उनकी यह धारणा अधिक महत्त्व रखती है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व जितना

१ डा॰ नगेन्द्र : विचार और अनुभूति पृष्ठ ६६।

स्चेतना की अत्यन्त सूक्ष्म विवेचना की है और बतलाया है कि छायावाद की पृष्ठभूमि के मूल में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों ने अपना प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष प्रभाव अंकित किया है। वे छायावादी काव्य का अन्तरंग व्यक्तिगत जीवन निर्दिष्ट कर उसी व्यक्ति-भाव को प्रसाद में प्रानन्द भाव निराला में अद्वैतवाद पन्त में प्रात्मरति और महादेवी में परोक्ष रति के रूप में प्रकटीकृत मानते हैं।[1] छायावादी कवि अपने काव्य के समर्थन में अपनी असीम वेदना और अनन्त की लालसा की चाहे कितनी ही अभ्यर्थना करे, किन्तु नगेन्द्रजी के मतानुसार उनकी सत्यता असन्दिग्ध नहीं है। व्यक्तिवाद के अतिरिक्त उन्होंने इस काव्य के अन्तरंग के रूप में जिस शृंगारिकता को प्राधान्य दिया है, वह उनके अनुसार निश्चय ही उन कवियों की व्यक्तिगत कुण्ठाओं का ही उद्गार है जो काम वासना के चारों और केन्द्रित रहकर चलती हैं। इतना ही नहीं छायावादी कवियों की प्रतीकप्रियता भी उन्हें बहुत कम स्वीकार है। हाँ वे उनके प्रतीक-विधान और सौन्दर्य चित्रण के अवश्य प्रशंसक हैं क्योंकि इनके द्वारा वे साहित्य को नूतन माधुरी प्रदान कर सके थे।[2]

११६. नगेन्द्रजी के विवेचन में छायावाद की आन्तरिक स्थिति का स्वरूप भी चित्रित हो गया है। वे छायावाद का मूल-दर्शन महादेवी जी के शब्दों में 'सर्वात्मवाद' में प्रतिष्ठित कर उसे जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण लेकर चलने वाला काव्य मानते हैं। उनके अनुसार 'इस वाद की विचार-पद्धति भले ही सर्वात्मवाद की स्वीकार कर ली जाय किन्तु वह सीधी वहीं से प्रेरणा लेकर काव्य में अभिव्यक्त होती है यह नहीं कहा जा सकता।[3] यही कारण है कि वे छायावाद को प्रथम श्रेणी का चिन्तन-काव्य नहीं समझते क्योंकि 'कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती।[4] हाँ छायावादी कवियों ने प्रकृति पर आरोप करते हुए हमें जो भाव-वृत्ति एवम् अभिव्यंजन-प्रणाली दी है, वह वस्तुतः मनोहर है और इस दृष्टि से इस काव्य का स्थायी महत्त्व है।[5]

प्रगतिवाद विषयक धारणा—

११ नगेन्द्रजी की समालोचनाओं का एक प्रमुख विषय समसामयिक साहित्य-धाराओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना भी रहा है। उन्होंने छायावाद की तो विवेचना की ही है, किन्तु प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य पर भी अपने विचार यथावसर प्रकट किए हैं। उनकी सर्वप्रथम मान्यता तो यही है कि आज के प्रगतिवादी जिस अर्थ और सीमा में प्रगतिवाद का प्रयोग करते हैं, वह एकांगी और दोषपूर्ण है। वस्तुतः संस्कृति के अनुरूप साहित्य स्वतः प्रगतिशील होता है और जिस साहित्य में जीवन को आगे बढ़ाने की शक्ति हो वही प्रगतिशील है।[6] यह कहने के पश्चात् वे आज के प्रगतिवादियों की विचार धारणा का विवेचन करने के लिए उद्यत हुए हैं। उन्होंने बतलाया है कि आज का प्रगतिवादी आलोचक जिन मन्त्रणाओं से ग्रस्त है, उनमें मूलवर्ती प्रवृत्ति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की है। उनके अनुसार तथाकथित प्रगतिवादी समालोचक साहित्य में कला अथवा कल्पना का ग्रहण एकमात्र जीवन की स्थूलता और भौतिकता के आधार से करते हैं वह ठीक नहीं है। नगेन्द्रजी ने प्रगतिवाद का सैद्धान्तिक निरूपण कर यही बतलाया है कि आज के प्रगतिवाद के निर्माण की मूल

१ डा नगेन्द्र 'विचार और अनुभूति' पृष्ठ ५४।
२. वही, पृष्ठ ५४-५६।
३ वही पृष्ठ ५६।
४ वही पृष्ठ ५६।
५ वही, पृष्ठ ५५।
६ डा नगेन्द्र विचार और अनुभूति पृष्ठ ६१।
७. वही, पृष्ठ ६१।

इकता और सूक्ष्मता के उतने अंश नहीं मिलते जितने व्यापकता के। यही कारण है कि नगेन्द्रजी के अनुसार प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के कलाकार नहीं क्योंकि उनमें वे उन गुणों का कुछ अभाव पाते हैं जो जीवन और साहित्य में अधिक महत्त्वशाली होते हैं।[1] उन्होंने जीवन-साहित्य के विविध दृष्टिकोणों से प्रेमचन्दजी के रचना-कौशल की प्रशंसा की है किन्तु उनकी दृष्टि को केवल सामयिक समस्याओं तक ही सीमित बतलाकर उनके उपन्यासों में जीवन के चिरन्तन प्रश्नों के कलात्मक चित्रण का अभाव पाया है जो किसी भी प्रथम श्रेणी के प्रतिभाशाली लेखक की विशेषता होनी चाहिए।

१६६ नगेन्द्रजी की समालोचना का एक प्रमुख विषय श्री सुमित्रानन्दन पंत के काव्य दर्शन का अध्ययन भी रहा है। उन्होंने पंतजी पर एक आलोचना-पुस्तक भी लिखी है, जिसमें उनके काव्य के अंतरंग और बहिरंग का व्याख्यात्मक शैली में विवेचन हुआ है। नगेन्द्रजी प्रारम्भ ही से पंतजी के सम्बन्ध में यह मानकर चलते रहे हैं कि पंत के व्यक्तित्व का निर्माण ही ऐसा हुआ है कि जिसमें मार्क्सवाद की भौतिकता और द्वन्द्व को आत्मसात् करने के लिए कम अवकाश है। नगेन्द्रजी लिखित 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की समालोचना को पढ़ कर पंतजी के अंतर्मन में बहु मतव्य बंधा नहीं। ग्राम्या के पश्चात् पंतजी ने एक प्रकार से अपनी काव्य धारा के द्वितीय मोड़ प्रगतिवाद का परित्याग कर जिस अरविन्द-दर्शन से उद्भूत अध्यात्मवाद की शरण ली उसे नगेन्द्रजी एक स्वाभाविक क्रम के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे पंतजी का कवि छायावाद के युगान्त के पश्चात् दिग्भ्रमित हो पुनः अपने प्रकृत क्षेत्र में आ गया हो। नगेन्द्रजी ने पंतजी के नवीन जीवन-दर्शन की व्याख्या उनकी नवीन कृतियों 'स्वर्ण-धूलि' और स्वर्ण किरण के आधार पर की है जिनकी मूल चेतना आध्यात्मिक है।[2] इस विवेचन में नगेन्द्र जी ने पहले तो सिद्धान्त-पक्ष के रूप में पंतजी के काव्य की प्रगतिचेतना का निरूपण किया है और तदुपरान्त पंतजी की नवीन कृतियों में उसकी छानबीन की चेष्टा की है। उन्होंने पंतजी के अनेक काव्योद्धरण देकर उनके जीवन-दर्शन प्रकृति विषयक दृष्टिकोण सामाजिक चेतना और उत्कर्ष आदि का विशद विवेचन किया है। कहा जा सकता है कि पंतजी का यह विश्लेषण नगेन्द्रजी के विचार और विवेचन की एक मुख्य कड़ी है जिसमें पंतजी का जीवन-दर्शन अपनी कलात्मकता के निरूपक मुख्य संकेतों के रूप में व्याख्यात है।

१६७ हिन्दी में हास्य की कमी यद्यपि नगेन्द्रजी द्वारा लिखा हुआ एक लेखांशमात्र है किन्तु उसमें भी उन्होंने भारतीय दर्शन के तात्त्विक निरूपण द्वारा जो तथ्य निकाले हैं वे सर्वग्राह्य कहे जा सकते हैं। यह तो प्रायः सभी देशों के साहित्य में स्वीकार किया जाता है कि हास्य का मूल तत्त्व असंगति और विकृति द्वारा है और उसके लिए भेद-प्रतीति अनिवार्य है, किन्तु नगेन्द्रजी ने भारतीय दर्शन की मूल दृष्टि सर्वत्र भेद में अभेद दर्शन तथा द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति को प्राप्त करने'[3] की ओर निर्दिष्ट कर हास्य की कमी का एक ऐसा मौलिक कारण अनुसंधित कर लिया है जिसमें अन्य सभी कारणों का समाहार हो जाता है। जैसे वे देश की गुरुतर कालीन पराधीनता और लोगों की मानसिक अशान्ति को भी हास्य की कमी के प्रासंगिक कारण मानते हैं किन्तु अन्ततः उन सब का सम्बन्ध जाति के संस्कारों के साथ जोड़कर यही सिद्ध करते हैं कि जब तक हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण अधिकाधिक व्यावहारिक नहीं बनता तब तक हमारे साहित्य में हास्य की कमी दूर नहीं हो सकती।

१. डा० नगेन्द्र : 'विचार और विवेचन' पृष्ठ ६६।
२. वही पृष्ठ १४।
३. वही, पृष्ठ ७०।

अधिक सशक्त और प्राणवान् होगा उतना ही वह उसी का कला के रूप में अधिक रसपूर्ण अभिव्यंजन कर सकेगा।[१] इस प्रकार उन्होंने घूम फिर कर साहित्य की आत्मा को रस रूप में ही विवेचित किया है जिसकी परीक्षा करना आलोचना का उद्देश होना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि नगेन्द्र जी अपने रस-विवेचन में हमारे भारतीय सिद्धान्तों के अधिक निकट हैं। वे रसपूर्ण रचना में आनन्द-तत्व की स्थिति आवश्यक मानते हैं और उनके अनुसार कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद ही रचना का सबसे बड़ा आनन्द है किन्तु यह आनन्द मनोरंजन मात्र से निश्चय ही भिन्न कोटि का समझा जाना चाहिए। वे कला-कृति के साथ अपनी अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य में ही सच्चा आनन्द निष्पन्न समझते हैं।[२]

१६४ नगेन्द्रजी ने *अपनी विवेचना के प्रसंग में समालोचना के क्षेत्र में उद्भूत* एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न लिया है और वह यह है कि 'साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक और सामाजिक ?[३] इसके उत्तर में उन्होंने अपने जो विचार अभिव्यक्त किये हैं उनका अभिप्राय केवल यही है कि व्यक्ति यद्यपि समाज की एक इकाई है और दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है किन्तु समाज की वेदी पर उसका अस्तित्व आश्रित कोटि का कभी नहीं समझा जा सकता। उनकी दृष्टि में समाज तथा देश का प्रभाव व्यक्ति की चेतना पर पड़ना स्वाभाविक है किन्तु उन्हीं की उपज व्यक्ति को कहा जाय यह ठीक नहीं है। अनेक बार तो व्यक्ति के द्वारा ऐसी-ऐसी क्रान्तियाँ की जाती हैं जो उसकी इकाई की सर्वोपरि सत्ता का आभास देती हैं। उनका यह कथन वस्तुतः मननीय है कि रवीन्द्रनाथ के सम्पूर्ण साहित्य का श्रेय केवल उनके सामंतीय वातावरण और पूँजीवाद को देना तथा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन-जाति में जन्म होना ही इसका उत्तरदायी बतलाना केवल खिझली मनोवृत्ति का परिचय देना है।[४] वस्तुतः नगेन्द्रजी की इस धारणा में हमें सत्य का आभास मिलता है और हम भी इस विषय में उनसे पूर्णरूपेण सहमत हैं।

समालोचना के अन्यान्य विषय

१६५ नगेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी के उपन्यास तथा उनकी साहित्यगत विचाराभिव्यक्ति पर भी विवेचन किया है। वे प्रेमचन्दजी का सबसे प्रधान गुण उनकी व्यापक सहानुभूति बतलाते हैं और निष्कर्ष रूप में यही कहते हैं कि प्रेमचन्दजी ने अपने साहित्य में युग-जीवन तथा युग-धर्म की तादात्म्यपूर्ण अभिव्यक्ति कर उसे सर्वांगीण जीवन के निकट रखने की चेष्टा की है। नगेन्द्रजी के अनुसार प्रेमचन्दजी का दूसरा गुण उनका अत्यन्त सरल स्वच्छ और साधारण व्यक्तित्व है यही कारण है कि वे उपयोगितावाद और नीतिवाद को अपनी साहित्य-चेतना में सर्वत्र अनुप्राणित करते हुए चल सके हैं। इतना ही नहीं इन्हीं सिद्धान्तों के कारण उनके जीवन-दर्शन का मूल तत्व मानववाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। नगेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी के यथार्थ और आदर्श विषयक विचारों की भी विवेचना की है और उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का कलाकार माना है। वे प्रेमचन्दजी का मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी विवेचन कर उन्हें कुंठित वासनाओं के द्वारा साहित्य सृष्टि करने वाले साहित्यकारों से उच्च स्थान देते हैं किन्तु यह सब होने पर भी नगेन्द्रजी को प्रेमचन्दजी के यथार्थ और आदर्शमिश्रित साहित्य में प्रतिभा के अनिवार्य अंग तेजस्विता मरमता

---

१ डा नगेन्द्र 'विचार और अनुभूति' पृष्ठ ११।
२ वही, पृष्ठ १४।
३ वही पृष्ठ १५।
४ वही, पृष्ठ १६।
५ वही, पृष्ठ १७

वे आज हिन्दी-समालोचकों की सर्वोत्तम कोटि में विराजमान हैं और पं० रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् जिन विद्वानों ने अपनी समालोचनाओं द्वारा साहित्य-शास्त्र को जो नवीन उपलब्धियाँ प्रदान की हैं उनमें नगेन्द्रजी भी प्रमुख हैं।

१७० नगेन्द्रजी की समालोचनाओं में उनका सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त पुष्ट और शालीन है। उन्होंने अपने काव्य-शास्त्रीय विवेचन में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का सहारा अवश्य लिया किन्तु उसे अपने अभिव्यंजन द्वारा मौलिकता भी प्रदान की। उनकी यह मौलिकता विचार पक्ष तथा भाषा-पक्ष दोनों में अन्तर्निहित है। किसी भी विषय के विवेचन के पूर्व उसके मूलदर्शन तक पहुँचने की उनमें अद्भुत प्रज्ञा है। उन्होंने अपने समालोचनात्मक निबंधों को केवल आकार प्रकार से बोझिल बनाने की कभी चेष्टा नहीं की अपितु सदैव अपना यही दृष्टि-कोण रखा कि रचना का मूल उद्देश्य विषय की यथासम्भव पूर्ण अभिज्ञता कराना होना चाहिए। ऐसा करते हुए उन्होंने छोटी-बड़ी सभी प्रकार की समालोचनाएँ लिखी हैं जिनके विषय अर्वाचीन तथा प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों के विविध अंगों से सम्बन्धित हैं।

निष्कर्ष और निर्णय

१७१ अन्त में कहा जा सकता है कि नगेन्द्रजी द्वारा लिखी गई समालोचनाओं की सर्वोपरि विशेषता यह है कि वे गम्भीर से गम्भीर विषय का विवेचन अत्यन्त स्पष्ट और शास्त्र-सम्मत प्रणाली से करने के पश्चात् ज्ञान-राशि के मन्थन के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनका सारांश कतिपय वाक्यों में उपस्थित कर देते हैं जिससे भावग्राही पाठक के सामने उनका विवेचित मन्तव्य स्पष्ट हो सके। वस्तुतः इस प्रकार की प्रवृत्ति एक कुशल तथा परिमार्जित अध्यापक की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है जो अपने अध्ययन तथा चिन्तन से उपलब्ध नवनीत अपने सुयोग्य शिष्यों को देना चाहता है। उनकी इस प्रकार की शैली का एक गुण यह भी हुआ है कि गम्भीर से गम्भीर विवेचना में भी कहीं पर भी रूक्षता नहीं आती और न उसका सन्तुलन ही बिगड़ पाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के शास्त्रीय विवेचन को बोधगम्य बनाने के लिए सुरुचि सम्पन्न पाठक को भी कुछ विशेष मानसिक प्रयास करना पड़ता है, किन्तु नगेन्द्रजी जैसे उसके उपचेतन की मूल वृत्ति को पहिचान लेते हैं और ऐसे प्रसंगों के अवसर पर यथाशक्ति विश्रान्ति ग्रहण कर अपने पाठकों को फिर से अपनी बौद्धिक यात्रा में अपने साथ ले चलते हैं, जिससे उन्हें किसी प्रकार की थकान का अनुभव न हो। आजकल उनकी जितनी भी आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं उनमें यह प्रवृत्ति विशेष मात्रा में है। ऐसा करने में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है जिसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि उन्होंने विवेच्य विषयों का अनुशीलन अत्यन्त विवेकशील प्रज्ञा से किया है और व पहले उनका यथासंभव पूर्ण आकलन करने के पश्चात् ही उनके विश्लेषण में रत हुए हैं। उनके इस प्रकार के तत्त्वपरक समीक्षण का ही यह परिणाम है कि वे रस-निष्पत्ति और मनोविज्ञान तथा साधारणीकरण एवं अभिव्यंजनावाद जैसे उलझे हुए विषयों पर भी अत्यन्त परिमार्जित और समुचित विवेचना दे सके हैं जिसको स्वीकार करने में किसी भी रसग्राही पाठक को कदाचित् ही आपत्ति हो। उनकी इस प्रकार की विवेचनाओं से शुक्लोत्तर-युग की समीक्षा के प्रसार को निस्सन्देह एक प्रकार की प्रौढ़ि मिली है।

(७)
पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी

१७२ शुक्लोत्तर-युग की सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के समालोचकों में पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इन्होंने समालोचना के क्षेत्र-काल में ही

१६८. 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' में डा नगेन्द्र ने 'भरत मुनि से लेकर वर्तमान हिन्दी आलोचकों तक के सैद्धान्तिक वक्तव्यों का संचयन' किया है, जिससे हमारी काव्यशास्त्रीय परम्परा की एक क्रमबद्ध विवेचना का सिंहावलोकन हो जाता है। विद्वान् सम्पादक ने संस्कृत के जिन आचार्यों की मान्यताओं का इसमें संग्रह किया है उनके हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ संस्कृत के मूल पाठ भी दे दिये हैं जिनसे पाठकों को उनकी सिद्धान्तगत विवेचन प्रणाली का सम्यक् बोध हो जाता है। इसके लिए डा नगेन्द्रजी को अथक परिश्रम करना पड़ा है क्योंकि काव्यशास्त्र के इन विभिन्न आचार्यों के विशाल वाङ्मय से रत्नकणों का चयन करना वस्तुत विशेष प्रकार की तथ्यपूर्ण मेधा का ही काम था। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा उपयोग तो यही है कि इसमें हमारी सैद्धान्तिक समालोचना की शास्त्रीय परम्परा एक ही स्थान पर संकलित होकर प्रस्तुत कर दी गई है और जो लोग संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं, वे भी एक ही स्थान पर उनका सारभूत तथ्यपरक निरूपण पा सकते हैं। भरतमुनि के अतिरिक्त भामह, दण्डी उद्भट वामन रुद्रट आनन्दवर्द्धन अभिनवगुप्त राजशेखर धनजय धनिक कुन्तक महिम भट्ट भोज क्षेमेन्द्र मम्मट, रुय्यक विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ इस परम्परा में संकलित हैं जिनका क्रम ऐतिहासिक तिथियों को दृष्टि गोचर रखते हुए है। तदनन्तर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य केशवदास चिंतामणि कुलपति देव श्रीपति सोमनाथ भिखारीदास प्रतापसाहि के सिद्धान्त चयन प्रस्तुत किये गये हैं। आधुनिक आलोचकों की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर चली है जिसमें महावीरप्रसाद द्विवेदी मिश्रबंधु, कन्हैयालाल पोद्दार, रामचन्द्र शुक्ल श्यामसुन्दर दास पद्मसिंह शर्मा कृष्णबिहारी मिश्र गुलाब राय जयशंकर प्रसाद' सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' सुमित्रानन्दन पंत महादेवी वर्मा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' हजारीप्रसाद द्विवेदी नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा नगेन्द्र स्वयं आते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में हमें भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण एक ही स्थान पर मिल जाता है। निश्चय ही हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में अपने ढंग का यह प्रथम प्रयास है और लेखक की साधना इसमें फलवती बन सकी है।

साहित्य-समालोचना का महत्त्व

१६९. नगेन्द्रजी ने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का गम्भीर और व्यापक अध्ययन किया है जिसका आभास हमें उनकी समालोचनात्मक कृतियों से अनायास ही हो जाता है। एक विद्वान तथा मनीषी में जिस प्रकार का संयम और धैर्य अपेक्षित है वह नगेन्द्रजी में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रारम्भ ही से रही है जिसका वय-क्रम और अध्ययन के साथ-साथ क्रमिक विकास भी होता गया है। अपने चिन्तन और मनन के पश्चात् उन्होंने जिस विषय के सम्बन्ध में अपनी विचारणा प्रस्तुत की उसके पीछे कहीं पर भी शास्त्रीय आधार की उपेक्षा नहीं की। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हमें जो एक विशेष प्रकार की जिज्ञासा अथवा ज्ञान-पिपासा मिलती है वही क्रमश विकसित होकर उन्हें आज ऐसी प्रौढ़ि प्रदान कर सकी है जिसके द्वारा उनका समन्वयपूर्ण रसात्मक दृष्टिकोण क्रमश विकसित होता गया है। आज से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित होने वाली अपनी प्रारम्भिक समीक्षा-कृतियों में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के स्वरूप में जिस समन्वय की झलक देखी थी वह उनकी आजकल की प्रकाशित रचनाओं में सुचारु रूप से अभिव्यक्त है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त माननीय हैं। उनसे यह ध्वनित होता है कि नगेन्द्रजी कभी भी किसी मान्यता को रूढ़िवादी परम्परा में आबद्ध कर नहीं चले अपितु उन्होंने हृदय और बुद्धि दोनों को उदार बनाकर सर्वत्र ज्ञान राशि का स्वागत करने के लिए अपना जीवन-पृष्ठ खुला रखा। उनकी इस प्रकार की समन्वयात्मक तथा नीरक्षीर-विवेचिनी प्रज्ञा का ही परिणाम है कि

हुए चलें तो मेरे विचार से उनमें अधिक अमरत्व आ सकता है। इसी प्रकार उन्होंने कई स्थानों पर अनुप्रास के फेर में पड़कर 'आप्त मुन' के साथ 'प्राप्त मुन' आदि शब्दों का जो प्रयोग किया है, वह भी विलक्षण है। पता नहीं उनकी धुन उन्हें किन अर्थों में वैष्णव को आदर्शवादी और शैव को यथार्थवादी कहला देती है जब कि इस विषय में इस प्रकार की कोई रूढ़ि या संकीर्णता का निर्णय कर लेना सर्वथा असमीचीन है।

१७२ शान्तिप्रियजी ने अपनी आलोचनाओं में वर्तमान साहित्य और सामयिक समस्याओं का भी विवेचन किया है। अन्य साहित्य विवेचकों की भाँति उन्हें भी आज के युग-जीवन में अनेक प्रकार की विशेषतायें दृष्टिगोचर हुई हैं। उन्होंने आज के युग को साम्राज्यवाद और भौतिकवाद में ग्रस्त बतलाकर यही निर्णय प्रदान किया है कि समाजवाद और गांधीवाद ही उसे परित्राण दे सकते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि शान्तिप्रिय जी ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर गांधीवाद और समाजवाद का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए ही उक्त वादों पर सामान्य संकेत किए हैं अन्यथा इन पर कहने के लिए तो बहुत-सी सर्व सामान्य ग्राह्य सामग्री भी उपस्थित की जा सकती थी। अच्छा होता यदि द्विवेदीजी गांधीवाद और समाजवाद की विवेचना का क्षेत्र जीवन दर्शन और राजनीति-विज्ञान के लिए छोड़ देते और उसका केवल साहित्यगत प्रभाव ही अंकित करते। उनका यह वाद विवेचन वैसा ही बन गया है जैसा उनकी अन्य कृतियों में साधारणतया प्रदर्शित होता है अर्थात् वे हमें अपने निबन्धों के माध्यम से ज्ञान राशि का अमूल्य स्वरूप तो अवश्य देना चाहते हैं किन्तु अपनी भावुकता और गीतमयी पद्धति में वे स्वयं इतना अधिक बह जाते हैं कि वास्तविकता की आधारभूमि उनके हाथों से निकल जाती है और वे अपनी ही दृष्टि से अनेक अप्रासंगिक बातें भी कह जाते हैं। इसे शान्तिप्रियजी की आलोचना का दुर्बल पक्ष कहा जाय अथवा विशिष्ट पक्ष यह प्रत्येक पाठक की अभिरुचि और मानसिक विकास के प्रतिमान पर निर्धारित है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि अपनी कृतियों में उन्होंने अपने अनुचिन्तन और कलात्मक अनुभूति का स्वरूप अंकित किया है और वे 'शास्त्रीय आलोचक के साथ सहृदय कलाकार की दृष्टि से भी साहित्य विशेषतः हिन्दी साहित्य की प्रगति का अवलोकन कर सके हैं।

१७३ शान्तिप्रियजी की समालोचना छायावादी कवियों की उपलब्धि के बहुत निकट है। उसमें शास्त्र-पक्ष का विकास अत्यल्प मात्रा में हुआ है। उन्होंने साहित्य-परीक्षण में जिस सैद्धान्तिकता का आधार लिया है वह विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की भाँति अपने वैयक्तिक विचार से तो अनुप्राणित है ही साथ ही साथ अपनी विशिष्ट शैली में भी अद्वितीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी का साहित्य-समीक्षा विषयक एक निजी दृष्टिकोण है जिसे वे अपनी साहित्य समालोचनाओं में प्रसंगों की अवतारणा कर व्यक्त करने का अवसर प्राप्त कर लेते हैं। उनका युग-दर्शन का विवेचन इस कथन का प्रमाण कहा जा सकता है। गांधीवाद का तो उन पर इतना अधिक प्रभाव है कि वे आज की समस्त युग-समस्याओं का स्थायी निदान उसमें पाते हैं। उनका समाजवाद का विश्लेषण भी यथेष्ट परिमाणमय है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे उसकी तात्त्विकता का अन्तःस्पर्श बहुत कम कर सके हैं। वस्तुतः उनके इस विवेचन में समालोचक के शास्त्रीय पक्ष का उद्घाटन न हो कर राजनीतिज्ञ की भावना का अधिक अभिव्यंजन है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि वे अपने इस द्विधात्मक व्यक्तित्व का सफल निर्वाह करने में असमर्थ से रहे हैं।

१७४. शान्तिप्रियजी की समालोचना में भले ही विषय का निरूपण क्रमबद्धता से न हो किन्तु उसमें एक कलात्मक सजीव अवश्य है जो विद्युत बनकर पाठकों के हृदय में अपना प्रसार कर ही लेती है। उसमें चाहे भावों और विचारों की कसावट अथवा ठोसता न मिले किन्तु उसमें समालोचना के विज्ञान के तत्त्व भी निश्चित रूप से गुम्फित हैं। मुझे तो उनकी उद्भावनाओं

'हिन्दी-साहित्य के निर्माता' नामक पुस्तक में अपना प्रारम्भिक समीक्षण-प्रतिमान प्रस्तुत किया था किन्तु धनै धनै उसमें विकास होता गया और वे छायावाद के प्रबल समर्थक बनकर समीक्षा जगत में प्रतिष्ठित हुए। उनकी मान्यताओं के निर्माण में पन्तजी के काव्य-दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'ज्योति-विहग' को छोड़कर उन्होंने प्रबन्धात्मक समालोचना की कोई पुस्तक नहीं लिखी है। उनकी समीक्षा-कृतियों में जिन निबन्धों का संग्रह हुआ है उनमें *छायावाद-युग का संस्पर्श ही* प्रधान है। अतः अपनी मान्यताओं के दृष्टिकोण से वे शुक्लोत्तर-युग के समीक्षक ही सिद्ध होते हैं। 'युग और साहित्य' 'कवि और काव्य' 'संचारिणी' और 'सामयिकी' आदि उनकी प्रमुख समालोचना कृतियों के संग्रह हैं। उनकी रचनाओं में वैसे तो युग-साहित्य का विवेचन हुआ ही है किन्तु 'सामयिकी' नामक पुस्तक में उनके मतानुसार युग की सार्वजनिक विचारधाराओं का साहित्यिक विवेचन' है। इसकी 'दो शब्द' शीर्षक भूमिका में उन्होंने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी कर दिया है। द्विवेदीजी का कहना है कि जिस प्रकार उनकी पूर्ववर्ती आलोचना 'युग और साहित्य' में संस्कृति और प्रगति का सम्मिलित स्वर था उसी प्रकार इस रचना में भी है। जीवन के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उनका झुकाव प्रगतिवाद की ओर है तो आन्तरिक दृष्टिकोण से गान्धीवाद की ओर। उन्होंने 'युग और साहित्य' में प्रगतिवादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी थी किन्तु 'सामयिकी' में गांधीवाद की प्रधान सवेदना व्यक्त की है। इस रचना में वे आज के प्रचलित वादों से ऊपर उठकर स्वतन्त्र विचारक बनने में भी प्रयत्नशील हो सके हैं।

१७३ शान्तिप्रियजी की आलोचना में एक बात दृष्टव्य है और वह यह है कि वे अपनी विवेचना के बीच-बीच आवश्यकता-अनावश्यकता का बिना कोई विचार किए अंग्रेजी के शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग करते हैं, जैसे 'मैटर ऑफ फेक्ट' 'प्राइमिस' 'पोज' 'थीम' 'रिमार्क' 'मोडर्न' 'फिलोसफी को सीज किया' आदि। सम्भव है, उनका यह शब्दायोजन स्वाभाविक क्रिया में हो किन्तु इसके द्वारा हिन्दी भाषा की प्राण-शक्ति का दुर्बल पक्ष ही हमारे सामने आता है। ऐसी तो कोई बात नहीं कि इनके पर्यायवाची शब्द हिन्दी में न मिल सकें। यदि किसी शब्द की अर्थव्यंजना की पूर्ण शक्ति हिन्दी के पर्याय शब्द में दृष्टिगोचर न हो तो उसका एक कारण उसका हमारे बीच प्रचार का अभाव तथा कर्णास्वाद की कमी भी कहा जा सकता है। धनै धनै उसका प्रयोग स्वयं हमें उसकी आत्मशक्ति की यथार्थता से परिचित करा देगा और हमें वह शब्द वैसी व्यंजना देने लगेगा जैसी मूल शब्द देता है। अतः इस विषय में हमें भाषावादी दृष्टिकोण लेकर ही चलना चाहिए। शान्तिप्रियजी तो स्वयं शब्द-प्रयोग के चतुर जादूगर हैं, यदि उनकी लेखनी से इस ओर प्रयत्न होता तो यह कमी दूर की जा सकती थी। सम्भव है भविष्य में उनकी समीक्षा-कृतियों में इस प्रकार की मार्ग प्रशस्ति का अवसर आ सके।

१७४ शान्तिप्रियजी की आलोचना में जो दूसरी बात मिलती है वह है उनकी गद्य काव्य *की सी छटा। अपने अनुपम व्यक्तित्व की भाँति शान्तिप्रियजी ने अपनी समालोचनाओं को अत्यधिक* भावप्रवण बना दिया है, जिसके कारण कई स्थलों पर उनके विचारों में क्रमिक शृंखला और अनुबन्धता का अभाव सा हो गया है। साहित्य-समीक्षा के सामान्य पाठक के लिए तो उनकी भावुकता को सहेजना कभी-कभी कठिन हो जाता है और नादुस सेन के लिए उसत किसी परीक्षार्थी की लेखनी तो केवल उनकी शैली की कलात्मकता में भाव विमुग्ध हो कर जड़वत् रह जाती है। इस द्विवेदीजी का एक दोष भी कहा जा सकता है, क्योंकि वास्तविक समालोचनाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति शुभ नहीं समझी जाती। आचार्य शुक्ल भी इस प्रकार की शैली के विशेष प्रशंसक नहीं थे। अतः द्विवेदीजी का साहित्य-समीक्षण जहाँ एक ओर हमारे समालोचना-साहित्य की अभिवृद्धि करता है, वहाँ वह दूसरी ओर अपनी भाव-प्रवणतावश उसके गाम्भीर्य और प्रौढ़त्व में कमी भी ला देता है। यदि वे अपनी आलोचनाओं में विषय-वस्तु के प्राधान्य का कुछ ध्यान रखकर केवल

युग के क्रम में अपनी कालीन अनिवार्यता का सर्वथा अपेक्षी है।

१७९. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि शान्तिप्रियजी की समालोचना का मुख्य क्षेत्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य ही है और उसमें भी छायावाद-युग सर्वाधिक केन्द्रवर्ती है। अत उन्होंने अपने इस विषय की सामयिकता में जो अन्यान्य समालोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं, वे भी छायावाद के परिवेश का संस्पर्श करते हुए ही आकार ग्रहण कर सके हैं। उन्होंने छायावाद के साथ-साथ प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति भी अपनी विचाराभिव्यक्ति की है और बतलाया है कि इसे हमारे आधुनिक आलोचक चाहे जिस प्रतिक्रिया का परिणाम मानें किन्तु वास्तव में इसके निर्माण में छायावाद का सर्वाधिक हाथ है। वे प्रगतिवाद में भी छायावाद की सी वेदना पाते हैं किन्तु उन्हें उसका आत्मविवृति का पक्ष दुर्बल और सामाजिक विश्लेषण का पक्ष अधिक सबल लगता है। वे पंत यशपाल और महादेवी के विचारों के उद्धरण देकर अपनी मान्यता को भी उन्हीं के निकट सिद्ध करते हैं और इस प्रकार उन्हें प्रगतिवाद में लोक-यात्रा के युग-चिन्ह मिल जाते हैं। अच्छा होता यदि शान्तिप्रियजी अपना प्रगतिवाद विषयक दृष्टिकोण प्रकट करने के पूर्व प्रगतिवादियों की विचारधारा का भी सम्यक् विश्लेषण करते और तदुपरान्त अपनी विवेचना के तत्वकर्षों का आयोजन करते चलते। किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके जिसे हम उनके मानसिक संस्थान की दृष्टि से कोई नई बात नहीं मानते। बात यह है कि शान्तिप्रियजी के मानस में नवीन ज्ञान के लिए मुमुक्षा अवश्य है किन्तु सारा नवीन ज्ञान उन्हें मानसिक तृप्ति नहीं दे पाता अत वे एक विशेष प्रकार में ही उसे ग्रहण कर सके हैं। सुतराम् वे छायावादी दृष्टिकोण का जिस तल्लीनता और रसग्राहिता से निरूपण कर सके हैं वैसा प्रगतिवादी दृष्टिकोण का नहीं।

१८० शान्तिप्रियजी ने हिन्दी साहित्य पर ऐतिहासिक समालोचना-पद्धति को प्रमुखता देते हुए भी कुछ समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं, जिनमें वे इस परम्परा का निर्वाह पूर्ण सफलतापूर्वक नहीं कर सके हैं। इसका कारण यह है कि व हिन्दी साहित्य के विवेचन में आधुनिक साहित्य को ही अपना केन्द्र बिन्दु बना कर चले हैं, जिसमें वे भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग के सामान्य स्वरूप के विश्लेषण के पश्चात् आधुनिक साहित्य के प्रमुख रचयिताओं की कृतियों के महत्व-निर्धारण की ओर उन्मुख हो गये हैं। वैसे तो उन्होंने गुप्त-बन्धु, प्रेमचन्द आदि का साहित्य-विश्लेषण भी किया है किन्तु वे बार बार अपने प्रिय विषय छायावाद की ओर किसी न किसी प्रकार पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ कर चले ही आये हैं। एक प्रकार से उनके इस ऐतिहासिक विश्लेषण से आधुनिक हिन्दी साहित्य का सिंहावलोकन अवश्य हो गया है। इसमें उन्होंने विषय-सामग्री देने का जितना अधिक ध्यान रखा है उतना विषय के स्वतन्त्र प्रतिपादन का नहीं। अत इसे उनकी समालोचना विषयक देन में कोई विशेष महत्ता नहीं प्रदान की जा सकती। अभिप्राय यह है कि शान्तिप्रियजी का समालोचना-साहित्य मुख्यत आधुनिक युग की प्रधान गतिविधियों का ही निदर्शक बनकर प्रकट हुआ है, जिसमें उनकी विचार भूमि केवल संकीर्ण परिधि में न बंध कर कुछ बाह्य क्षेत्र में भी सम्पर्क कर सकी है। उनकी समीक्षाओं के विषय में उनका यह निष्कर्ष स्वीकार करने में हमें कोई विशेष आपत्ति नहीं होती कि व अपनी आलोचनाओं में युग की सार्वजनिक विचारधाराओं का साहित्यिक विवेचन कर सके हैं। निश्चय ही शान्तिप्रिय जी की साहित्य-साधना में उनकी समीक्षा-कृतियाँ अपना विशेष महत्व रखती हैं।

(८)

आचार्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी

१८१ आचार्य पं हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विषय-विषय अवसरों पर जो अनेक साहित्यिक और समीक्षात्मक निबन्ध लिखे वे उनके संकलन उनकी विविध समीक्षा-कृतियों के रूप में प्रकाशित

में अपूर्व माधुर्य मिलता है। अनेक बार तो वे अपनी समालोचनाओं द्वारा केवल अर्थ-ग्रहण ही न कराकर काव्य की भाँति विशेषताओं और बिम्ब-ग्रहण की स्थिति भी उत्पन्न कर देते हैं। उनके वाक्य अनेक स्थलों पर सूत्रवत् प्रयुक्त हुए हैं जिनकी अभिव्यंजना-शक्ति अत्यधिक सशक्त और प्रभावपूर्ण है। उनके विशेषणों का चयन अथवा प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का संयोजन भी भव्य है। जब वे रवीन्द्र के लिए 'कवि' शरद के लिए 'कलाकार' और गांधी के लिए 'सन्त' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इन शब्दों की अभिव्यंजना में उन त्रिदेवों के व्यक्तित्व का पूर्ण समाहार कर देते हैं। वस्तुतः द्विवेदीजी को रवीन्द्र शरद और गांधी के व्यक्तित्व में अभिन्न भिन्नता का जीवन-दर्शन मिला है और इन तीनों में भी रवीन्द्र के व्यक्तित्व में वे मध्यस्थता और संतुलन की स्थिति अधिक पा सके हैं। द्विवेदीजी ने इन तीनों के कार्यों का जो सारभूत मूल्यांकन किया है, वह अत्यन्त हृदय हारी है। वे यह भी बतला सके हैं कि ये तीनों व्यक्ति किस प्रकार साहित्यिक सामाजिक और आध्यात्मिक क्रान्ति की ओर उन्मुख रह सके हैं।

१७८. शान्तिप्रियजी के कुछ ऐसे निबन्ध भी हैं जो पूर्ण साहित्यिक न होने पर भी विशेष सामयिक हैं। उन्होंने परतन्त्र के 'वेष प्रश्न' में कलात्मक गुरुता और नारी का रूपान्तर तो पाया ही है साथ ही साथ उन्हें *उसमें मानवता की देश पृष्ठभूमि भी हाथ लगी है जिसमें स्त्री* पुरुष के जीवन का संतुलन और समन्वय सम्मिलित है। हिन्दी-कविता की पटभूमि के अन्तर्गत द्विवेदीजी ने बतलाया है कि आधुनिक युग में इसका निर्माण द्विवेदी-युग छायावाद-युग तथा प्रगतिशील युग के तानों-बानों से हुआ है जिनमें क्रमशः आदर्शवादी राष्ट्रीयता सामाजिक स्वच्छन्दता और राजनीतिक यथार्थवादिता का संयोजन है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी कविता के मार्ग-चिह्नों को *पाँच कालों में विभक्त कर उन पाँचों के लिए 'भारत-भारती' 'कामायनी' 'प्रिय-प्रवास' 'पल्लव'* तथा 'मिट्टी और फूल' इन पाँच ग्रन्थों को प्रतिनिधित्व दिया है। शान्तिप्रिय जी की एतद्विषयक आलोचना में प्रयोग-पक्ष का रूप मिलता है। उनका यह समीक्षण सौन्दर्य तथा भावपूर्ण दृष्टि से युक्त है। इस विवेचन में राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का भी सन्निवेश है, किन्तु वे सब उनकी वैयक्तिक रुचि के अनुकूल ही विवेचित हो सके हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शान्तिप्रियजी की आलोचनाओं में युगीन साहित्य का मूल्यांकन विशेषतः छायावाद और उसके कवियों का विश्लेषण कला पक्ष की दृष्टि से अद्वितीय है। वे इन कवियों तथा उनके काल को सौन्दर्य के माध्यम से अधिक सफलता के साथ ग्रहण कर सके हैं। उनके समीक्षण के मध्य जो निष्कर्ष हैं वे अत्यन्त आकर्षक और भावपूर्ण हैं और उनमें उनकी संवेदना का भी अद्भुत योग है। कहना होगा द्विवेदीजी के निर्णयों में सूत्रों की सूक्ष्मता और अनुभूतियों की मौलिकता है। वे कुछ अर्थों में एकांगिता से भी मुक्त नहीं किन्तु उनमें ऐसी मोहिनी शक्ति अवश्य है जो एक बार विरोधी पक्ष को भी क्षण भर के लिए मुग्ध बनाये बिना नहीं रहती। कहा जा सकता है कि शान्तिप्रियजी ने जिस छायावाद को अपना *समालोच्य विषय बनाया उसके अनुरूप ही भाषा-शैली* और व्यंजना का प्रयोग कर उसे एक परिष्कार प्रदान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे रचनात्मक साहित्य-सृष्टि कुछ विशेष क्षणों की आत्म स्फूर्ति है जिसमें रचयिता के व्यक्तित्व का साधारणी करण हो जाता है उसी प्रकार शान्तिप्रियजी की आलोचनाएँ भी किसी विशेष उमंग अथवा मानसिक उल्लास में लिखी हुई वे बौद्धिक चेतनाएँ हैं जिनका भाव-पक्ष उन्हीं के समान उभार प्रदर्शित कर उन्हें प्रेरणा देता हुआ आगे-आगे चला है और उसी की दृष्टि उनके जीवन की अनुभूति से मिल कर उन्हें समालोचना प्रक्रिया प्रदान कर सकी है। शान्तिप्रिय जी की समालोचना का एक साहित्यगत *वैशिष्ट्य तो है ही इसमें कदाचित् ही दो मत हों किन्तु उनके मूल्यांकन की आज भी बहुत बड़ी* आवश्यकता है। वे अपने जीवन और व्यक्तित्व की चेतना की भाँति समालोचक रूप में भी हमारी जिज्ञासा के विषय हैं और उनके साहित्यिक योग-दान का परीक्षण आधुनिक समालोचना के विकास

स्पष्ट है कि द्विवेदी का यह दृष्टिकोण साहित्य को मानवता की सामान्य भावभूमि पर लाकर प्रतिष्ठित करने वाला है।

१८४ द्विवेदी जी ने हिन्दी प्रचार की समस्या पर अत्यन्त उदार और विवेक-पूर्ण दृष्टि से विवेचन किया है। उन्होंने हिन्दी प्रचार के अन्तर्गत हिन्दी-भाषा साहित्य और संस्कृति इन तीनों उपकरणों को सम्मिलित किया है और उन तर्कों का खण्डन किया है जो हिन्दी प्रचार के इस मिथ्याकार कार्यों में भारत के इतर प्रान्तों को भ्रमग्रस्त बना कर हिन्दी-प्रचार के मार्ग में अवरोध उपस्थित करना चाहते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार हिन्दी-प्रचार वास्तव में भारत की संस्कृति को अधिक व्यापक बनाने में समर्थ होगा और उसके द्वारा किसी भी प्रान्तीय भाषा का अधिकार नहीं छीना जायेगा। वे हिन्दी प्रचार को समस्या के रूप में देखने के लिए किञ्चित् मात्र भी प्रस्तुत नहीं हैं किन्तु इसे एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करने के आकांक्षी हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी के ये लेख विशुद्ध साहित्य-समालोचना की श्रेणी में न आते हुए भी उनकी विचारधारा की अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन बन जाते हैं और आज जब उनको हिन्दी-साहित्य के चोटी के विचारकों में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है तो उनकी आस्थाओं के स्पष्टीकरण के लिए निश्चय ही इनकी एक अनिवार्य उपयोगिता है।

१८५ द्विवेदी जी ने रस का व्यावहारिक मर्म स्पष्ट करते हुए 'रस क्या है' इस विषय पर भी अपना शास्त्रीय विवेचन किया है। इस विवेचन में उन्होंने उन समस्त साहित्य-शास्त्रियों की विचारधाराएँ प्रस्तुत की हैं जो भरत मुनि के रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र को ग्रहण कर अपनी अपनी मान्यताएँ स्पष्ट करते चलते हैं। उन्होंने उन परिस्थितियों का भी वर्णन किया है जिनके कारण रस सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों को हीन बनाता हुआ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी इसकी महिमा स्वीकार की। वस्तुतः द्विवेदी जी का यह रस-विषयक विवेचन अत्यन्त सैद्धान्तिक है और इसमें हमें साहित्य-सिद्धान्तों के विकास की एक सामान्य जानकारी भी हो जाती है।

१८६ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है द्विवेदी जी शास्त्रीय समालोचक होते हुए भी अत्यन्त उदार मना हैं। उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में होने वाले क्षिप्रगामी परिवर्तनों की महत्ता स्वीकार कर यही मान्यता व्यक्त की है कि वर्तमान साहित्य ने जो नया रास्ता अपनाया है, उस पर वह स्वस्थ दृष्टिकोण से बढ़ता चले तो उसकी प्रगतिशीलता से किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः द्विवेदी जी प्रगतिशील साहित्य के विरोधी नहीं किन्तु उसके समर्थकों की उस नीति के अवश्य विरोधी हैं जिसके द्वारा वे साहित्य की सार्वजनीनता को वर्ग, समाज या श्रेणी का नाम लेकर धूमिल बना देते हैं। साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि प्रगतिवाद के धुन में अपने सहस्रों वर्षों की ज्ञान-राशियों को केवल पूँजीवादी व्यवस्था की उपज कह कर ठुकरा देना शोभनीय नहीं है। वे प्रगतिवाद की केवल उन रचनाओं के विरोधी हैं जिनमें ग्राम्य अश्लील जुगुप्सित या रसाभासमूलक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। उन्होंने भविष्य के लिए समाजवादी व्यवस्था की अनिवार्यता का संकेत कर प्रगतिवादियों को व्यापक दृष्टि से सोचने की सम्मति दी है क्योंकि कोरे मार्क्सवाद से ही किसी स्थिर और शाश्वत तत्व ज्ञान का बोध नहीं हो सकता। वे वस्तुतः अपने देश की शिक्षा-परम्परा की व्यापकता और गम्भीरता में ही किसी नूतन मतवाद को ग्रहण करना समीचीन समझते हैं, क्योंकि ऐसा करने पर ही साहित्य-निर्माण का अभयकर नूतन मार्ग प्राप्त किया जा सकता है।

१८७ वैसे तो कबीर के जीवन और काव्य-दर्शन को लेकर विभिन्न समालोचकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और मान्यताओं से विविध रूपों में विवेचन किया है किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का 'कबीर' नामक ग्रन्थ कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारों की

हुए हैं। 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' नामक पुस्तक उनकी एक ऐसी ही रचना है जिसमें द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक निरूपण के साथ-साथ अपनी निजी मान्यताओं का भी विश्लेषण किया है। पुस्तक का नामकरण कदाचित् इसीलिए किया गया है कि जिन दिनों इन निबन्धों की रचना की गई थी विश्व-जीवन एक महान् संघर्ष से गुजर रहा था जिसके कारण साहित्य-विचारकों के सामने भी ऐसी अनेक समस्याओं का प्रादुर्भाव हो गया था जिनकी पूर्व युग में कोई कल्पना भी नहीं थी। यद्यपि द्विवेदी जी ने उन समस्याओं पर विशेष रूप से कोई विवेचन नहीं किया है, किन्तु उनके विश्लेषण में उन समस्याओं का यत्किंचित् स्वरूप भी अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रह सका है। साथ ही साथ उनकी इस पुस्तक से उन समस्याओं के यथोचित समाधान का भी एक मार्ग मिल सका है।

१८२ द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम भारतवर्ष की भाषा-समस्या को अपनी समालोचना का विषय बनाया है। उनका कहना है कि आज जिस रूप में इस समस्या को स्वरूप प्रदान किया जा रहा है, वह अत्यन्त हेय और दूषित है। उनके अनुसार भारत में इस प्रकार की भाषा-विषयक समस्या पहले कभी नहीं रही है, जिसका मूल प्रमाण यही है कि यहाँ के अतीत काल में संस्कृत को ही समस्त भारत के धर्म दर्शन विज्ञान चिकित्सा आदि विषयों की भाषा मान लिया गया था। इससे द्विवेदी जी का यह अभिप्राय तो कदापि नहीं है कि यहाँ भाषा विषयक समस्या का प्रादुर्भाव नहीं हुआ क्योंकि कालांतर में भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ने संस्कृत के स्थान पर प्राकृ लोकभाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया किन्तु ऐसा होने पर भी संस्कृत की महत्ता क न हुई। द्विवेदी जी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के पूर्व तक संस्कृ का गौरव कम नहीं हुआ था किन्तु कालान्तर में उसे अपदस्थ कर दिया गया और तभी से हमारी भाषा-विषयक समस्या और भी उग्र हो गई। उनका मूल मन्तव्य यही है कि संस्कृत भाषा और साहित्य को अवरुद्ध किए बिना हिन्दी भाषा भी हमारी वर्तमान समस्या को नहीं सुलझा सकती क्योंकि संस्कृत भाषा-साहित्य की ज्ञान राशि हमारी संस्कृति के अंग प्रत्यंग में रमी हुई है।

१८३ द्विवेदी जी ने प्राचीन काव्यशास्त्र के विकास का परिचय देते हुए आधुनिक हिन्दी कविता के भविष्य पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्हें नवीन कविता की प्रवृत्तियों की स्वच्छन्दवादिता से कोई चिढ़ तो नहीं है किन्तु वे इतना अवश्य मानते हैं कि उनका विकास कुछ संयमित होकर न किया गया तो निश्चय ही भविष्य धूमिल हो सकता है। वे हिन्दी भाषा की शक्ति पर भी मुग्ध हैं और उन्हें भारतीय साहित्य में एक ऐसी चेतना और सप्राणता मिलती है जिसके कारण वह भारत को ही नहीं अपितु विश्व-जीवन को भी सम्यक्तम मार्ग-दर्शन करा सकता है। द्विवेदी जी का साहित्य का मूल्यांकन सम्बन्धी दृष्टिकोण भी अत्यन्त उदार और प्रगतिशील है। यद्यपि उनका प्राचीन शास्त्रीयता का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर और व्यापक है, किन्तु आज की युग-प्रगति में वे उसकी सीमाओं से भी अपरिचित नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि बिना नूतन साहित्यिक दृष्टिकोण को स्वीकार किए हम अपने आधुनिक साहित्य की समालोचना कर ही नहीं सकते और जो समालोचक अपनी रूढ़िग्रस्तता और संकीर्णता में ही उलझे हुए हैं उनमें साहित्य के सच्चे मूल्यांकन के स्थान पर समस्याओं को ही प्रश्रय दिया जाता है। द्विवेदी जी के अनुसार साहित्य निर्माण का लक्ष्य भी अत्यन्त पावन और आदर्शपूर्ण होना चाहिए जिससे मनुष्य दैवी गुणों की उपलब्धि की ओर उन्मुख हो। उनकी विचारधारा में वह साहित्यहीन-श्रेणी का है जो केवल वाग्विलास के संकीर्णक्षेत्र को लेकर चलता है। वे साहित्यकार की शक्ति को इतनी अद्भुत मानते हैं जिसके द्वारा महान् सांस्कृतिक क्रान्तियों को ला सकती है और हमारा सामाजिक स्तर बहुत ऊँचा उठाया जा सकता है। उनका उन लोगों से कट्टर विरोध है जो साहित्य को केवल कल्पना के वायवी स्वरूप के रूप में देखते हैं और जिसमें मानवता का सम्यक्तम लक्ष्य नहीं पाते।

यही कारण है कि वे अपनी शोधपरक और गम्भीर गवेषणा वाली शैली का प्रयोग इसमें नहीं कर सके हैं और उन्होंने अत्यन्त सुबोध-भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके महत्वपूर्ण बाह्य रूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय-मात्र इस ग्रन्थ में दिया है। यह बात अवश्य महत्वपूर्ण है कि उन्होंने अद्यावधि शोध कार्य के परिणामों का भी यथावसर उपयोग किया है जिससे ग्रन्थ की उपादेयता अधिक बढ़ गई है। वैसे तो उन पर भी शुक्ल-शैली का प्रभाव है और उनका विषय-निरूपण भी शुक्ल जी पर ही अधिकांशतः आधारित है किन्तु काल-विभाजन में कुछ नवीनता अवश्य बरती गई है। उन्होंने शुक्लजी के वीरगाथा-काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल कहना अधिक उपयुक्त समझा है और अपने समर्थन में प्रमाण भी दिए हैं। इतिहास ग्रन्थ में वैसा करने के लिए अधिक अवसर नहीं हो सकते थे अतः उन्होंने उसका व्यापक विश्लेषण तो अपने उन भाषणों में किया जो 'बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्' पटना के अनुरोध पर दिए गए थे। उनके उन भाषणों का प्रकाशित रूप 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' है जिसके अध्ययन से उनके एतद्काल-विषयक दृष्टिकोण का पता चल सकेगा।

१६१ आचार्य हजारीप्रसाद जी की समालोचनाओं का एक प्रमुख अंश निबन्ध-लेखन ही है जो विभिन्न पुस्तकों में संगृहीत होकर प्रकाशित हुआ है। उसमें साहित्य-समालोचना को सांस्कृतिक प्रक्रिया से ग्रहण करने का जितना प्रयत्न है उतना उसकी विशुद्ध विधा में नहीं। मानवतावादी दृष्टिकोण तो उसमें सर्वत्र परिलक्षित है। साधारण रूप से यही कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने समालोचना-साहित्य को कुछ नवीन मानदण्ड अवश्य दिए, किन्तु उनका प्रयोगगत प्रसार कम ही हो सका। इसका मूल कारण उनकी शोधपरक विचारधारा ही है। वैसे उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' लिख कर अपनी कारयित्री प्रतिभा का भी परिचय दिया है, किन्तु वे मुख्यतः इतिहास के अतीत-कालीन पृष्ठों में ही अधिक रम सके हैं। यह बात निश्चित है कि उनकी चिन्तना की एक स्वतन्त्र भूमि अवश्य रही है जिसका प्रारम्भिक प्रस्फुटन उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक पुस्तक में मिला था। मैं तो आज भी उसे अपने ढंग की एक ही समालोचना-कृति मानता हूँ। यदि द्विवेदी जी अपनी चिन्ता-धारा का विकास उसी को प्रौढता प्रदान करते हुए करते चलते तो हमारी साहित्यालोचन-विषयक दृष्टि में एक नवीन प्रकार विकसित होता पर आगे चल कर उन्होंने इस ओर कम ध्यान दिया और वे दूसरी दिशा की ओर उन्मुख हो गए। वैसे उनका साहित्य-विश्लेषण का स्तर अपने ढंग में अद्वितीय है। निष्कर्ष यह है कि डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्लोत्तर युग की प्रमुख विचारधारा के विशिष्ट समालोचक हैं और उनकी गणना छायावादी कवियों के समालोचक-व्यक्तित्व के साथ-साथ आचार्य पं॰ नन्ददुलारे वाजपेयी डॉ॰ नगेन्द्र तथा पं॰ शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसे सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी समालोचकों की श्रेणी में की जाती है। इन आलोचकों द्वारा प्रसारकालीन समालोचना को प्राचीन उत्कर्ष एवम् वैभव प्रदान किया गया है। अब प्रसार काल २ के अन्तर्गत शुक्लोत्तर-युग की उन प्रवृत्तियों तथा प्रमुख समालोचकों की उपलब्धियों का विवेचन किया जायगा जिससे यह स्पष्ट हो सके कि वर्तमान युग की ऐसी और कौन-कौन सी प्रमुख मान्यताएँ हैं जिनसे समालोचना के विकास को यथोचित सहयोग मिला है।

आलोचना की दृष्टि से अद्वितीय है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि विद्वान लेखक ने प्रसंगवश उन साधनाओं की भी चर्चा कर दी है जिनका कबीर के जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रहा है। ऐसा करते हुए द्विवेदी जी ने साधन-मार्गों के ऐतिहासिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। पुस्तक के परिशिष्ट में कबीर-वाणी के २५६ पदों का संग्रह है जिनके प्रारम्भ के सौ पद आचार्य क्षितिमोहन सेन के संग्रह से संकलित किए गए हैं। इनके द्वारा कबीर-साहित्य की भावभूमि तक पहुँचने में यथेष्ट सहायता प्राप्त की जा सकती है।

१८८ इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख-विचारक हैं और उन्होंने साहित्य जगत् को मानवतावादी दृष्टिकोण प्रदान किया है किन्तु समालोचक की दृष्टि से उनका व्यक्तित्व वैसा उभरा हुआ नहीं है जैसा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा रामचन्द्र शुक्ल का था। बात यह है कि हजारीप्रसाद जी की प्रतिभा में शोध परकता और प्राचीन संस्कृति की मनन-शक्ति का प्राबल्य है अतः वे विशुद्ध साहित्य-प्रेमी में बहुत कम समालोचना लिखने का अवकाश पाते हैं। उनका 'कबीर' नामक ग्रन्थ भी इस कथन का प्रमाण है। इसमें उन्होंने साधारणतया प्रचलित साहित्य-समीक्षा-पद्धति का अनुगमन कर अपनी शोध-प्रवृत्ति का ही प्रकाशन किया है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि इतर समालोचकों ने कबीर को केवल जुलाहा जाति का कह कर उसके जाति-निर्णय-पक्ष से ही छुट्टी पा ली किन्तु शोधप्रिय द्विवेदी जी को इतने से ही संतुष्टि नहीं हुई। उन्होंने प्रस्तावना के अन्तर्गत जुलाहा जाति सम्बन्धी पौराणिक मतों का उल्लेख कर उनकी कड़ी आधुनिक खोजों के साथ जोड़ दी है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वयनजीवी जातियों की जो शाखा सरजाक अथवा जुगी जाति से सम्बन्धित है, वह किसी प्रकार न हिन्दू, न मुसलमान भाव से सम्मिलित होकर आधुनिक युग तक चली आ रही है जिसमें जन्म लेने के कारण कबीर के मानसिक धरातल का भी वैसा ही निर्माण हुआ था। इस प्रकार द्विवेदी जी का यह विवेचन कबीर की मानसिक भूमिका को हृदयंगम कराने के लिए निश्चय ही एक प्रकार से कुंजी का काम देता है, जिसके आधार पर हमारी कबीर-विषयक अनेक समस्याओं का समाधान सहज-भाव से हो जाता है।

१८९ द्विवेदी जी ने कबीरदास पर योगमत का प्रभाव निर्दिष्ट करते हुए अवधूत पन्थ का तात्त्विक और व्यावहारिक विश्लेषण भी किया है। वे 'साधारण योगी और अवधूत' में अन्तर मानते हैं। उनके मत से कबीर का 'अवधूत' निश्चय ही विशिष्ट श्रेणी का है। उन्होंने नाथ पन्थियों के सिद्धान्त और उनका कबीर के मत पर पड़ने वाला प्रभाव जिस अनुशीलन और तत्त्व ग्राहिणी बुद्धि से व्यक्त किया है वह हिन्दी-साहित्य में अपूर्व है इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार हठयोगी की साधना निरञ्जन कौन है, योगपरक रूपक तथा उलटबाँसियाँ ब्रह्म और माया निर्गुण राम आदि पर भी उनके विचार मनन करने योग्य हैं। भारतीय धर्म-साधना में कबीर का स्थान निर्धारित करते हुए उन्होंने उनके व्यक्तित्व का जो विश्लेषण किया है, वह हमारी अनेक प्रकार की कबीर-विषयक शंकाओं का समाधान करने के लिए पर्याप्त है, यह एक असन्दिग्ध निर्णय है। मेरी दृष्टि से आचार्य हजारी प्रसाद जी में शोधप्रियता के साथ-साथ कारयित्री प्रतिभा भी है किन्तु 'शान्ति-निकेतन' के अधिवास और मानसिक संस्कार के गाम्भीर्य ने उन्हें जो सूझ-बूझ और भाविका-शक्ति प्रदान की है, वैसी आधुनिक हिन्दी साहित्य-समालोचना में किसी अन्य के पास है भी या नहीं यह एक विचारपूर्ण विषय है। वस्तुतः द्विवेदी जी की आधुनिक समालोचनाएँ केवल पिष्ट-पेषण न होकर एक मौलिक-जीवन दृष्टि से अवश्य अनुप्राणित हैं जिनमें उनके गम्भीर चिन्तन और गवेषणापूर्ण अध्ययन के शुभ सर्वत्र बिकीर्ण मिलते हैं।

१९ आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास का विवेचन अपने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में किया है जिसमें शास्त्रोपयोगी दृष्टिकोण ही अधिक है।

सैद्धान्तिक विवेचनाओं के अन्तर्गत मानव-मनोविज्ञान से सम्बन्धित जो विश्लेषण किया था वह एतद्विषयक भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं के समन्वित स्वरूप के कितना निकट था अत उसके पिष्ट-पेषण से हमारा यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं है। हमें तो केवल यही देखना है कि युगान्तर युग में प्रचलित यह नवीन समीक्षा-पद्धति भिन्न-भिन्न तत्त्वों और आधारों को लेकर अपना स्वतन्त्र निर्माण करती हुई विकसित हुई और उस पर सिगमण्ड फ्रायड और युंग आदि मनोविश्लेषणवादी विचारकों की मान्यताओं का कैसा कैसा प्रभाव है।

३ साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में जिस मनोविश्लेषण-शास्त्र ने अपना प्रवेश किया है उसके मूलभूत सिद्धान्तों का सामान्य परिचय हमारे लिए आवश्यक है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी जगत् में फ्रायड के पूर्व इस दिशा में प्रयत्न ही नहीं हुए थे और फ्रायड ने ही मनोविश्लेषण शास्त्र (साइको अनैलिसिस) का प्रवर्तन किया था किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस आस्ट्रिया निवासी डाक्टर ने मनोविश्लेषण को केवल शारीरिक और मानसिक उपचार तक ही सीमित न रख कर उसे साहित्य और कला के व्यापक क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया।[1] यद्यपि आज की विकासमान चेतना में फ्रायड की विचारधारा अनेक दृष्टियों से एकांगी और अपूर्ण सिद्ध हो चुकी है और मनोविश्लेषण शास्त्र केवल उसी तक सीमित नहीं रह गया है फिर भी यह धारणा भी असंदिग्ध है कि उसके तात्त्विक निरूपण और कामवृत्ति विषयक दृष्टिकोण का आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में भी कम महत्त्व नहीं है क्योंकि बिना उसका परिज्ञान प्राप्त किये हमारे लिए इस क्षेत्र में आगे बढ़ना कुछ कठिन-सा है। यह कोई आवश्यक नहीं कि हम फ्रायड की धारणा से सहमत हों और उसी के दृष्टिकोण को ही समीचीन समझें, किन्तु उसकी एक सीमा तक आधुनिक साहित्य-सृजन की प्रेरणा में उपादेयता अवश्य है इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

फ्रायड का मानस-शास्त्र और उसके प्रमुख तत्त्व

४ फ्रायड ने अपने मानस-शास्त्र के विवेचन के मूल में सर्वप्रथम मन के तीन स्तरों की स्थिति मानी है जिन्हें चेतन अर्धचेतन और अचेतन मन की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। उसके मतानुसार हमारे सामाजिक जीवन का संचालन चेतन मन के द्वारा होता है जिसकी क्रियाओं का बोध हमें स्पष्ट रूप में सुविधापूर्वक हो सकता है किन्तु मन की कुछ ऐसी वासनाएँ भी हैं, जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त न होने के कारण चेतन मन को उनका दमन करना पड़ता है। ये दमित वासनाएँ जब सामाजिक बन्धन अथवा सभ्यता के निर्धारित बाह्य प्रतिमानों के कारण अभिव्यक्त नहीं हो पातीं तो मन की दूसरी पर्त की ओर उन्मुख हो जाती हैं जिसे फ्रायड अचेतन मानता है। चेतन और अचेतन के मध्य में मन का तीसरा स्तर है जो अर्धचेतन कहलाता है। मन के इन तीन स्तरों की स्थिति का विश्लेषण करते हुए फ्रायड ने बतलाया है कि यदि चेतन मन को पानी के ऊपर तैरने वाले किसी हिमखण्ड का एक चौथाई भाग मान लिया जाय तो अचेतन की उपमा उसके उस तीन चौथाई से दी जा सकती है जो पानी से नीचे होने के कारण अदृश्य और रहस्यपूर्ण है। अर्धचेतन इन दोनों के बीच द्वार का काम करता है। फ्रायड का विश्वास है कि सामाजिक अभिव्यक्ति में असमर्थ बनी हुई हमारी दमित वासनाएँ यद्यपि अचेतन में कुण्ठित कर दी जाती हैं किन्तु वहाँ पर भी वे निष्क्रिय बन कर नहीं बैठतीं अपितु अपने निष्कासन का मार्ग खोजने में सतत आकुल रहती हैं। उनका यही प्रयत्न होता है कि वे किसी प्रकार अर्धचेतन के द्वार से निकल कर चेतन मन में प्रवेश कर सकें। चूँकि जाग्रत अवस्था में सामाजिक

१ फ्रायड १९वीं सदी के प्रसिद्ध फ्रांसीसी डाक्टर शार्को का शिष्य था जिसने हिप्नोटिज्म के प्रयोग द्वारा एक नई चिकित्सा-प्रणाली निकाली थी। फ्रायड इस पद्धति का प्रयोग करने में तो सफल नहीं हुआ किन्तु उसने एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-विधि अवश्य खोज निकाली।

आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रसार-काल—२

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और उनका सामान्य परिचय

१ पूर्व अध्याय में शुक्लोत्तर युग की सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और उसके प्रमुख समीक्षकों का यथेष्ट विवेचन कर लिया गया है, जिससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा किस प्रकार विकास-पथ को उन्नयन और प्रसार प्राप्त हुआ है। वस्तुतः इस प्रकार की प्रवृत्ति और समीक्षा-कृतियों से हमारा साहित्य एक प्रकार की समन्वयपूर्ण दृष्टि भी उपलब्ध कर सका है जिसमें उसका विशुद्ध रसात्मक स्वरूप मुख्य रूप से विवेचित हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में प्रसार-काल की उन प्रमुख प्रवृत्तियों का स्वरूप विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जायगा जो सौन्दर्य-मूलक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के साथ-साथ अपना स्वतन्त्र विकास करती चली हैं तथा जिन्होंने साहित्य-परीक्षण के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान देने की चेष्टा की है। इन प्रवृत्तियों का मूल उत्स मुख्यतः काव्य-साहित्य ही है जिसका प्रभाव साहित्य के इतर अंगों पर भी परिलक्षित है। सुविधा की दृष्टि से इन प्रवृत्तियों को क्रमशः मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति प्रगतिवादी प्रवृत्ति तथा प्रयोगवादी प्रवृत्ति के तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है, जिनका निर्माण जीवन के विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं से हुआ है। यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्तियों में स्वपक्ष-समर्थन की भावना ही अधिक है किन्तु समीक्षा-विकास की दिशाएँ इनमें अवश्यमेव प्रदर्शित हुई हैं अतः ये सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कही जा सकतीं। इन प्रवृत्तियों के समर्थक समालोचकों ने अपने अध्ययन का प्रयोग भिन्न प्रतिमानों के आधार पर साहित्य-समीक्षण के अन्तर्गत किया है उससे उसका एक-पक्षीय विधान तो व्यापक स्वरूप में विवेचित हुआ है, किन्तु साहित्य के समन्वयपूर्ण पक्ष का निरूपण अल्पांशिक मात्रा में हुआ है। ऐसी परिस्थिति में इन प्रवृत्तियों का सामान्य विवेचन ही साधारणतया उनके दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करने में समर्थ माना जायेगा। अतः मैंने इन प्रवृत्तियों का मूल विवेच्य विषय निरूपित कर उनके प्रमुख समालोचकों के सम्बन्ध में ही विशेषतः सामान्य उल्लेख किया है जिससे उनकी विचारधारा और समीक्षा-शैली का बोध हो सके।

(१)

साहित्यालोचन की मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति

२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल में फ्रायड युग और एडलर के मनोविश्लेषण-शास्त्र ने भी एक विशेष प्रकार की समीक्षा-पद्धति को जन्म दिया है, जिसे मनोविश्लेषणवादी समीक्षा कहा जाता है। वैसे तो भारतीय रस-मीमांसा के अन्तर्गत भाव विभाव अनुभाव और संचारी भावों को लेकर जो शास्त्रीय विवेचन हुआ है, यह भी एक प्रकार से मानव-मनोविज्ञान के मूलभूत तत्त्वों से ही सम्बद्ध है, किन्तु आधुनिक प्रणाली की मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा उससे विभिन्न स्वरूप में संगठित हुई है। पूर्व अध्याय में इस विषय का विवेचन कर दिया गया है कि डा० श्यामसुन्दरदास पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू गुलाबराय आदि विद्वानों ने भी अपनी

फ्रायड का यह सारा मनोविश्लेषण कामवासना की मूल भित्ति पर आधारित है, जिसने अपने समय में निश्चय ही एक महान् क्रान्ति की थी और जिसके प्रभाव से आज भी साहित्य-संसार पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका है।

मानव-स्वभाव और साहित्य-सृष्टि

१ फ्रायड का मनोविश्लेषण-शास्त्र प्रसारकालीन साहित्य-समालोचना का एक प्रमुख आधार है। उसके द्वारा रचनात्मक साहित्य की मूल-प्रेरणा का विवेचन तो किया ही जाता है, किन्तु साथ ही साथ रचनाकार की मनःस्थिति भी स्पष्ट की जाती है। फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र में मनुष्य-स्वभाव को तीन भागों में विभक्त किया है जो मौखिक गुदा-सम्बन्धी और जनेन्द्रिय-सम्बन्धी स्वभाव कहे जा सकते हैं। फ्रायड की मान्यता है कि मनुष्य के जीवन में काम प्रवृत्ति का उदय केवल उसके यौवन में ही नहीं होता अपितु उसकी उत्पत्ति बच्चे के जन्म के कुछ ही दिनों के उपरान्त हो जाती है। वह स्तनपायी शिशु में भी काम की लिंग-मूलकता सिद्ध करता हुआ उसके मौखिक स्वभाव का आभास उस क्रिया में पाता है, जिसमें वह माता का दूध चूसने में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। इसी प्रकार गुदा-सम्बन्धी स्वभाव का आभास उस बालक के मल-त्याग की क्रिया के आनन्द में मिलता है, जो उसके विचार से क्रमशः विकसित होकर यौवन के आने पर जनेन्द्रिय में सकेन्द्रित हो जाता है। इन तीन प्रकार की स्वभाव प्रक्रियाओं को लेकर फ्रायड ने इस विषय का विशद विवेचन किया है कि भिन्न-भिन्न स्वभावों के कारण मनुष्य में आशावादिता अधीरता अशांति सौन्दर्य-प्रियता सामाजिकता पलायनवादिता और कल्पना-शीलता आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है। फ्रायड का इस प्रकार कामवृत्ति को जीवन का मूल तत्त्व स्वीकार कर मानव-स्वभाव-निर्माण-विषयक विवेचन अत्यन्त कौतूहलवर्द्धक है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसने शरीर-विज्ञान के स्थूल उपकरणों की भाँति मानव-जीवन को भी एक यान्त्रिक क्रिया से मापना चाहा है। ऐसा करते हुए फ्रायड ने मनुष्य की व्यापक संवेदना और आत्मानुभूति की जाँच-तोल सर्वथा भौतिक दृष्टिकोण से करने का प्रयत्न किया है और उसकी यह प्रक्रिया मनुष्य को एक ऐसी आदिम अवस्था (पशुवत्य जीवन) के निकट लाकर रख देती है, जिसमें संस्कृति नैतिकता और आचार-शास्त्र का कोई स्थान नहीं है। सच तो यह है कि केवल मौखिक गुदा और जनेन्द्रिय सम्बन्धी स्वभावों से मानव-हृदय की गम्भीरता और व्यापकता की थाह लेना और उसे अलग-अलग चौखटों में बन्द करना एक प्रकार से उपहासास्पद प्रयास ही है। वस्तुतः फ्रायड एक शारीरिक चिकित्सक था और वह मानसिक रोगों का निदान करता हुआ उसका प्रयोग साहित्य और कला के क्षेत्र में भी करने के लिए उद्यत हो गया था। माना कि उसका निष्कर्ष सर्वथा मिथ्याभास पर आधारित नहीं है किन्तु केवल यही आज की समीक्षा की एकमात्र कसौटी हो सकती है ऐसा समझना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। मनोविज्ञान की झोंक में बहने वाली प्रसार-कालीन समालोचना का एक पक्ष फ्रायडवादी विचारधारा का पक्ष-समर्थन कर रचनात्मक और विचारात्मक क्षेत्रों में जिस विशृंखलता का सृजन कर रहा है वह स्थायी साहित्य के लोक-कल्याणकारी स्वरूप के अनुकूल नहीं है। निस्सन्देह यह विवेचन एक प्रकार से मनुष्य को पशु मान कर ही चलता है तभी तो उसे मनुष्य की सीमा केवल मन की अवचेतन स्थिति में ही केन्द्रित दिखलाई पड़ती है और वह आत्मा की उस अनन्त शक्ति तथा गुण-प्रवृत्ति की ओर ध्यान नहीं दे पाता जिसमें उसे सर्वथा निर्मल और सात्त्विक माना गया है। कुछ भी हो फ्रायड की यह विचार धारा कम-से-कम भारतीय साहित्य की आदर्शवादी परम्परा के साथ तो न्याय करने में सर्वथा अनुपयुक्त ही कही जायगी।

प्रतिबन्धों के कारण यह सम्भव नहीं होता अतः सुषुप्ति अवस्था में ही उनकी अभिव्यक्ति हो पाती है जिसे फ्रायड ने स्वप्न या कला-सृजन की अवस्था माना है। उसके अनुसार हमारे जीवन में चेतन और अवचेतन मन का यह संघर्ष इतना उग्र होता है जिसके कारण अनेक बार तो ऐसी अनेक मानसिक ग्रन्थियों की सृष्टि हो जाती है जिनकी अन्तिम परिणति हमें 'न्यूरोसिस' की स्थिति में अवस्थित कर देती है। फ्रायड का कथन है कि यदि हमारे चेतन मन पर सामाजिक और मर्यादा का बन्धन न हो तो यह अर्धचेतन के द्वार से आने वाली अवचेतन की दमित इच्छाओं के निष्कासन पर कोई प्रतिबन्ध ही न लगावे किन्तु उनकी सामाजिकता उन्हें ऐसा करने से रोकती है। वस्तुतः मन की अवचेतन गति को रोकना बड़ा कठिन है, अतः वह कहीं तो विरोध करके और कहीं अनजान अवस्था में अपना निर्गमन करके ही मानती है। यही फ्रायड ने अपने महत्त्वपूर्ण *सिद्धान्त का विवेचन किया है जिसके अनुसार साहित्य और कला हमारे अवचेतन मन में कुण्ठित* वासनाओं का एक ऐसा प्रच्छन्न उद्गार है जो मूल रूप में परिवर्तन करता हुआ कल्पना की क्रोड में आत्म-संस्कार के द्वारा नवीन आकार धारण कर प्रकट होता है। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार यह कहा जा सकता है कि साहित्य और कलाएँ हमारे चेतन और अवचेतन मन के समझौते से उत्पन्न असामाजिक और कुण्ठित यौन इच्छाओं के उदात्तीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

मन के विभिन्न स्तर और उनके काम

१. फ्रायड ने अपनी विचारधारा का स्पष्टीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया है जिसके अनुसार पूर्व विवेचित मन का विभाजन अहं, समष्टिगत नैतिक अहं और इड अर्थात् अवचेतन-प्रवाह इन तीन रूपों में किया जा सकता है। उसका विवेचित अहं चेतन की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो सदैव समष्टिगत नैतिक अहं से सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए प्रयत्न-तत्पर रहता है। इस सामञ्जस्य अथवा सन्तुलन में इड अर्थात् अवचेतन-प्रवाह बाधक बनता है। इड के अन्तर्गत मन की वे आदिम प्रवृत्तियाँ आती हैं जिन्हें आजकल की सामाजिकता किसी भी रूप में स्वीकार करना शोभनीय नहीं समझती। चूँकि उनका मानव-मन के साथ जन्मजात संस्कार-सम्बन्ध है अतः उनका चाहे कितना ही दमन किया जाय वे अपना प्रतिवर्तन प्रदर्शित किये बिना नहीं रह सकतीं। फ्रायड की तो धारणा है कि यदि उनके निर्गमन का कोई उपाय न रहे तो मनुष्य की विक्षिप्तावस्था की प्राप्ति में कोई सन्देह ही न रहे। अतः वह चेतन मन की दमित कामनाओं का उन्नीमेषन आवश्यक समझता है और यहीं उसकी यह धारणा पुनः प्रतिष्ठित हो जाती है कि *कला और संस्कृति मनुष्य के अवचेतन मन का उदात्तीकृत अभिव्यंजन है*, जिसकी मूल प्रेरणा हमारी कुण्ठित काम-वासनाएँ हैं। वह तो यहाँ तक मान कर चलता है कि कला जीवन के संघर्ष से पलायन है और उसके क्षेत्र में कुण्ठित काम-चेतना ही प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्त होती है जिसका प्रसार हम स्वप्न काव्य-कल्पना और कला-कृतियों के छाया-चित्रों में देखते हैं। और तो और वह कला का नैतिकता आदर्श और लोकमंगल से भी कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। वह काम की मूल-ग्रन्थि के विकास में आत्म-सम्मोह, मातृरति और विजातीय रति इन तीनों की स्थिति स्वीकार कर यही प्रतिपादित करता है कि हमारे जीवन की मूल प्रेरणा कामवासना या यौन *सम्बन्ध है और ज्यों-ज्यों सामाजिक नैतिकता ने उसका दमन किया है*, वह अवचेतन मन की अनेक मानसिक ग्रन्थियों में कुण्ठित होकर कला-निर्माण, स्वप्नसृष्टि, दैनिक जीवन के प्रमाद और विक्षेप आदि के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करती आई है। हाँ यह बात अवश्य है कि जो विशेष श्रेणी के प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति हैं वे उन्हें कला-कृतियों के रूप में अमर और सर्वग्राह्य बना देते हैं और शेष सामान्य प्राणी अपने-अपने स्तर के अनुसार उसे आत्माभिव्यंजन प्रदान करते हैं। इस प्रकार

का कारण होती है। उसके मतानुसार नैसर्गिक रूप से प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि वह दूसरों पर विजय प्राप्त कर अपने आप को श्रेष्ठ सिद्ध करे और सर्वशक्तिमान बनने का प्रयास करे। अन्य व्यक्तियों से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की वासना उसमें स्वभावगत है। यदि मनुष्य में किसी क्षेत्र में आत्महीनता का भाव भी है, तो वह उसकी पूर्ति किसी अन्य शक्ति का विकास करते हुए करना चाहता है। एडलर के मतानुसार दूसरों पर अपनी सत्ता स्थापित करने की यह भावना मनुष्य में बाल्यकाल से ही पाई जाती है। उसने अपने विवेचन के क्रम में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बाल्यकाल ही से लेकर व्यक्ति किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूपों में अपनी प्रभु-सत्ता की स्थापना करना चाहता है। जिस प्रकार फ्रायड प्रत्येक मानसिक विकृति के मूल में दमित काम कुण्ठाओं को स्वीकार करता है उसी प्रकार एडलर मानसिक वृत्तियों का मूल कारण दमित विजय कामनाओं को मानता है। उसका कहना है कि हीनता-ग्रन्थि (इन्फीरियरिटी काम्प्लैक्स) सभी मनुष्यों में पाई जाती है जिसके कारण मनुष्य की जीवन-दृष्टि का निर्माण होता है। एडलर के मतानुसार कला-निर्माण और साहित्य-सृजन के मूल में भी इसी आत्महीनता की भावना से निस्तार पाने की प्रवृत्ति है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को समाज व्यवसाय और प्रेमचर्या के अनुकूल बनाना चाहता है जिसके मार्ग में उसकी शारीरिक मानसिक पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ अनेक बार अवरोधमूलक बन जाती हैं। उसके मतानुसार यदि व्यक्तियों को अपने विकास के लिये अनुकूल वातावरण मिलता रहे तब तो किसी प्रकार की आत्मकुंठा का कोई अवकाश ही नहीं रहता किन्तु अनेक बार सामाजिक प्रतिबन्ध उसकी उन्नति के मार्ग में बाधक बन कर उसके मानस में आत्महीनता उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के मानस में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है और यह प्रतिक्रिया मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए उसमें उग्रता या उच्चता का प्रादुर्भाव करती है। साधारण व्यक्ति का मानस भी ऐसे भावों से संपीड़ित रहता है, किन्तु समाज के भय से वह अपनी उच्चता की भावजन्य क्रियाओं का प्रकटीकरण नहीं कर पाता। साहित्यकार अथवा कला-स्रष्टा के मार्ग में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं आती क्योंकि वह अपनी मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए एक ऐसे कल्पनाशील लोक का निर्माण कर लेता है, जिसमें उसे अपने अतृप्त प्रेम वंचित सम्मान और कुंठित शक्ति की क्षतिपूर्ति का क्षेत्र मिल जाता है और जिसकी अभिव्यंजना अपनी प्रातिभिक योग्यता से सर्वग्राह्य आनन्द का भी विधान करने में समर्थ हो जाती है। इस प्रकार एडलर के मतानुसार कला-सृष्टि व्यक्ति की आत्म-हीनता की मानसिक क्षतिपूर्ति है। उसके अनुसार जिन लोगों में इस प्रकार की क्षमता नहीं होती वे अपने स्नायविक व्यतिक्रम के कारण विक्षिप्त भी हो सकते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'हीनता का बोध' 'उससे उद्भूत क्षतिपूर्ति की आकांक्षा' तथा 'उस आकांक्षा को मूर्त बनाने के लिए शक्ति-संचयन की प्रवृत्तियाँ' ये तीन बातें ही एडलर के मनोविज्ञान की आधार-शिलाएँ हैं।

युंग की मान्यता और उसका उदात्त पक्ष

८. युंग भी फ्रायड का शिष्य और सहयोगी था जिसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र से अधिक व्यापक और गम्भीर है। उसने मानसिक स्वभावों का वर्णन अधिक विस्तारपूर्वक किया है। उसने मन की मुख्य चार क्रियाएँ ज्ञानात्मक भावात्मक अन्तर्बोध बोधात्मक और संवेदनात्मक मानी हैं जिनके अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी चार प्रकार का होता है। उन चारों स्वभावों को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों में श्रेणीबद्ध करने से उनके आठ भेद हो जाते हैं। इन समस्त स्वभावों का व्यापक विश्लेषण करते हुए युंग ने बतलाया है कि इनके कारण मनुष्य में किस प्रकार स्वच्छन्दतावादिता सौन्दर्यप्रियता सत्यानुसंधिता सहृदयता आदि गुणों का संचार होता है। युंग ने अपने वर्गीकरण को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाते हुए अपने सिद्धान्त को

फ्रायडीय मनस्दर्शन और भारतीय काम-चर्या

७. फ्रायड ने जिस मनस्दर्शन का विश्लेषण कर काम-वासना को साहित्य की मूल प्रेरणा निर्धारित किया है उसका अत्यन्त सात्विक और उदात्त स्वरूप भारतीय साहित्य में भी उपलब्ध है जिसका आधार हमारा नैतिक और सांस्कृतिक जीवन कहा जा सकता है। हमारे साहित्य-शास्त्र और दर्शन-ग्रन्थों में भी 'काम' को जीवन में धर्म अर्थ और मोक्ष के समकक्ष स्थान दिया गया है जिससे स्पष्ट है कि वह भी जीवन की एक अनिवार्य फल-प्राप्ति के अन्तर्गत समाविष्ट है। वस्तुतः उसकी प्रेरणा को सृजन का मूलाधार मान कर हमारे आचार्यों ने उसका संस्तव भी कम नहीं किया है। अन्यान्य साहित्य की भाँति भारतीय साहित्य में भी शृंगार रस का जो बाहुल्य रहा है वह साहित्य के प्रमुख ध्येय आनन्द की अलौकिकता का लौकिक भावना में ही अभिव्यंजन है। शृंगार को रसराज कह कर उसकी प्रक्रिया में समस्त रसों को ग्रहण करने का आग्रह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सच तो यह है कि आचार्यों के विश्लेषण में प्रयुक्त माधुर्य कान्ति कोमलता और सरसता आदि गुण सौन्दर्य की मूल-भावना कामवृत्ति से ही सम्पृक्त हैं और साहित्य को कान्तासम्मित उपदेश कहने में भी उसी वृत्ति का परिगुम्फन है। वामन ने तो स्पष्ट शब्दों में कामोपचार बहुलं-हि वस्तु काव्यस्य' कह कर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में अपने आपको 'धर्माविरुद्ध कामोऽस्मि' कहा है। इतना ही नहीं अन्य रसों के समर्थक भी प्रकारान्तर प्रक्रिया में शृंगार का ही समर्थन करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह स्वतः सिद्ध है कि भारतीय विचारकों की दृष्टि में इस बात का तत्त्व-चिन्तन आगे से नहीं बच सका था कि काम जीवन की मूल वृत्ति है और उसकी रति-भावना अन्यान्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में भी अपना अपेक्षित महत्त्व रखती है। हाँ यह बात दूसरी है कि फ्रायड ने जिस भौतिक प्रतिमान पर अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र में काम का विवेचन किया वह आधुनिक जीवन की स्थूल दृष्टि के लिए अधिक आकर्षक था जिसे युग की विकृति मान्य बनाए बैठी और साहित्य-समीक्षा भी उसके प्रभाव से अनाक्रान्त नहीं रह सकी। कहा जा सकता है कि आदर्शनिष्ठ आचारवादियों ने जहाँ साहित्य को नीति और उपदेश की कारा में बंधन-ग्रस्त कर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया तो अन्तश्चेतनावादियों ने उसे अवचेतन मन की घुटन कह कर उसके ऊर्ध्वगामी चेतन के प्रति विद्रोह का प्रदर्शन किया। इस प्रकार दोनों श्रेणी के विचारकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप वास्तविक सत्यानुसन्धान का पथ त्याग कर अपनी अतिरेकता में साहित्य के प्रयोजन को ऐसी एकांगिता पर पहुँचा दिया जिसमें इन दोनों के लिए समझौते के अवकाश बहुत कम रह गये।

एडलर का सिद्धान्त और हीनता-ग्रन्थि

८. फ्रायड के अतिरिक्त उसके शिष्य एडलर और युग ने भी मनोविश्लेषण-शास्त्र को लेकर उसका संघटन साहित्य और क्रियाओं के निर्माण के मूल में विवेचित किया है जो 'साइको एनालिसिस' न कहला कर क्रमशः 'इंडिविजुएल साइकोलोजी' तथा 'एनालेटिकल साइकोलोजी' कहलाते हैं। इस प्रकार के भिन्न नामकरण का कारण यह है कि जब फ्रायड का अपने इन दोनों शिष्यों से विरोध हो गया तो उसने उनसे साइको एनालिसिस का नाम अपने लिए सुरक्षित रखते हुए नवीन नामकरण करने का अनुरोध किया। एडलर फ्रायड का शिष्य होने के साथ-साथ उसका सहयोगी भी था और शनैः-शनैः उसकी मान्यता फ्रायड से भिन्न कोटि की बन गई थी। उसने फ्रायड द्वारा प्रतिपादित 'लिबिडो' को काममूलक शक्ति मानने वाले सिद्धान्त का विरोध किया है। वह अपने मनोविज्ञान में सैक्स को कोई महत्त्व नहीं देता और इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है कि 'व्यक्ति की विशिष्ट पारिवारिक अथवा सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसकी विशिष्ट मानसिकता के निर्माण

अपनी समीक्षा में मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि लेकर न चले तो वह कदापि पूर्ण और वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य की अपेक्षा कथा-साहित्य तथा कथा-कृतियों के निर्माण तथा विश्लेषण में अधिक देखा जाता है। अनेक बार तो ऐसा भी हुआ है कि नवीनता की ओर आकृष्ट बने हुए हमारे मनोविश्लेषणवादी समालोचकों ने भारतीय साहित्य के विवेचन में भी अपनी फ्रायडवादी मान्यताएँ घटित करने की चेष्टा की है जिससे भारतीय साहित्य की आदर्शनिष्ठा को यथेष्ट धक्का लगा है। ऐसा करते हुए उन्होंने इस बात की ओर बहुत कम ध्यान दिया है कि प्रत्येक देश तथा उसके साहित्य की एक सांस्कृतिक परम्परा होती है जिसको आधारशिला बना कर चलने से ही समीक्षा के सम्यक् दायित्व का निर्वाह हो सकता है।

११ प्रसार-कालीन समालोचना की इस मुख्य प्रवृत्ति पर फ्रायड एडलर और युंग के मनोविश्लेषण-शास्त्र का तो इतना अधिक प्रभाव है कि उसके नाम पर साहित्य के उद्देश्य, निर्माण तथा प्रयोजन के सम्बन्ध में ऐसी अनेक तर्कनाएँ उपस्थित की जाती हैं जिनका प्रमुख लक्ष्य साहित्य को अमुक्त काम-वासनाओं का विस्फोट सिद्ध करना होता है। इन समालोचकों की दृष्टि में साहित्यालोचन का यह एक ऐसा मौलिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिमान है जिसका सम्बन्ध हमारे जीवन की यथार्थ और मूल वृत्तियों से बहुत अधिक है और जिसके द्वारा किसी भी देश का साहित्य एक व्यवस्थित विधि में समीक्षित हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी यह मान्यता निस्सन्देह पक्षपातपूर्ण और अवैज्ञानिक है। जिन भारतीय महर्षियों ने मानस-शास्त्र को अपनी दार्शनिक विवेचना का आधार बना कर आत्मचिन्तन के बल पर प्रकृति पुरुष तथा आत्मा के सम्बन्ध में तात्त्विक विश्लेषण किया था वे मानस-विकृतियों को भी स्पष्ट कर सकते थे किन्तु उन्हें उसमें जीवन का वह उदात्त पक्ष अभिव्यक्त होता हुआ नहीं प्रतीत हुआ जो हमें प्रेय से श्रेय की ओर ले जाने वाला हो। यही कारण है कि उन्होंने इस विषय की उपेक्षा की और अपने विवेचन को आदर्शवाद की ओर ही उन्मुख रखा। यहाँ के मनीषियों का सिद्धान्त तो 'सा विद्या या विमुक्तये' था अतः वे इस प्रकार के प्रवंचनापूर्ण बन्धन के फेर में बिलकुल नहीं पड़े। यदि उन्होंने जीवन के प्रमुख लक्ष्य चतुर्वर्गों के अन्तर्गत काम का विवेचन भी किया तो उसे बहुत ही उदात्त और आदर्शनिष्ठ स्वरूप में रखा। इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे मनीषियों की जीवन दृष्टि भौतिकवादी पश्चिमी जगत् से सर्वथा भिन्न थी अतः उनके मूलवर्ती भावों की उपेक्षा कर उनकी साहित्य-परम्परा को इस नवीन प्रणाली की समीक्षा-पद्धति से विवेचित करना कहाँ तक समीचीन है, यह साहित्य-मनीषियों के लिए गम्भीर विवेचना का विषय है। यदि फ्रायडवादी विचारधारा से भारतीय साहित्य का समीक्षण किया जाय तो हमें अपने तपःपूत महर्षियों को उनके निर्लिप्त तथा त्यागमय जीवन के पवित्र आसन से हटा कर ऐसी श्रेणी में लाकर रखना होगा जहाँ उनकी सारी साहित्य-सर्जना अमुक्त काम-वासनाओं का विस्फोट सिद्ध की जायगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे साहित्य में भी शृंगार को रसराजत्व मिला किन्तु वह विकृत न होकर विशुद्ध कलात्मक विधान में ही था। यहाँ के साहित्यकारों ने सीताराम राधाकृष्ण आदि के जीवन का जो सौन्दर्यमय चित्रण किया है उसके मूल में उनकी आदर्श-दृष्टि कहीं पर भी कवलित नहीं हुई है। यदि ऐसा होता तो रामायण तथा महाभारत का आज भी हमारे सांस्कृतिक तथा धार्मिक जीवन में इतना महत्त्व नहीं होता। अभिप्राय यह है कि फ्रायडवादी समीक्षा का हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में प्रवेश भले ही एक नवीन घटना समझ ली जाय किन्तु उसका समन्वय सनातन रूप से चले आए भारतीय साहित्य के साथ नहीं किया जा सकता। वैसे तो हमारे यहाँ भी साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा 'स्वान्तः सुखाय' भावना मानी गई है, किन्तु वह मानसिक कुण्ठा अथवा घुटन का विस्फोट न होकर मन की ऐसी उल्लासमयी भावनाओं का अभिव्यंजन है जो कवि का स्वार्थपूर्ण अपने बोध न होकर उसका ऐसा आत्म-प्रसार है जो हृदय के कलौंसे कोने तक ही सीमित नहीं है, अपितु जिसकी अन्तर्दृष्टि विश्व-

ऐसी व्यवस्था में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जिसके अनुसार कलाकार अथवा सृजनशील प्रतिभा वाले व्यक्ति का मानसिक विकास सुविधापूर्वक समझा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि युग ने अपने विश्लेषण को अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है किन्तु उसके वर्गीकरण मे भी मनुष्य-स्वभाव की सत्ता और इच्छा को संकेन्द्रित किया जाना सम्भव नहीं है क्योकि मानव स्वभाव अनन्त संवेदनाओं से आपूरित है और उसके स्पन्दन को इस प्रकार के स्थूल विभाजन में परिसीमित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मानवीय स्वभाव को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियों की श्रेणियों में भी किसी निश्चित नियम के अनुसार आबद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि ये दोनों विभेद भी केवल औपचारिक हैं। अतः सभी दृष्टियों से युंग का विश्लेषण भी यथेष्ट महत्त्वशाली होते हुए भी अपूर्ण-सा प्रतीत होने लगता है। फिर भी यह बात अवश्य है कि युंग ने फ्रायड और एडलर की अपेक्षा अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण अधिक व्यापकता से किया है और वह फ्रायड की भाँति अचेतन मन को दमित वासनाओं का आगार मानता हुआ भी एक ऐसे समष्टि मन की भी कल्पना करता है जिसका दमित भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार युंग के मतानुसार अचेतन मन के भी दो स्तर हैं जिन्हें वैयक्तिक अचेतन और समस्त अचेतन कहा जा सकता है। वैयक्तिक अचेतन मन में हमारी मूल और नैसर्गिक दमित वासनाओं का कोष रहता है किन्तु समस्त मन के स्तर में हमारे सौन्दर्य-प्रेम नैतिकता और अन्य मानवीय स्वभाव की विशेषताओं की समष्टि होती है। युंग की मान्यताओं में उसी मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित कहा जा सकता है जो अपने वैयक्तिक और समष्टिगत अचेतन मन में समन्वय स्थापित कर सके। ऐसा होने पर ही मनुष्य की प्रतिभा को अधिक से अधिक निखरने का अवसर मिलता है और सच तो यह है कि हमारे समष्टि मन की अचेतनता ही हमें नैतिक और आध्यात्मिक प्रेरणाएँ प्रदान करने का आधार बनती है। इस प्रकार युंग के मत से साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा केवल अभुक्त काम-कुण्ठाओं का ही उदात्तीकृत विस्फोट नहीं अपितु समष्टि मन की अवचेतन गति है जो दमित वासनाओं को ही व्यक्त न कर आदर्श का भी संस्थापन करती है।

साहित्यालोचन में मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रवेश और प्रभाव

१ फ्रायड एडलर और युंग के मनोविश्लेषण-शास्त्र का जो पूर्व पृष्ठों में सामान्य परिचय दिया गया उसका सर्वप्रथम प्रयोग किसी समय पश्चिमी समीक्षा शास्त्र में अत्यधिक विस्तृत रूप में हुआ था। अर्नेस्ट जेम्स ने हैमलेट का मनोविश्लेषण करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वह अपनी एडीपस नामक ग्रन्थि की क्रियाशीलता के कारण ही किंकर्तव्यविमूढ़ बना रहा। इसी प्रकार डॉक्टर समरसेट ने भी अपनी आलोचना पुस्तक 'मेडनेस इन शेक्सपीरियन ट्रेजेडी' में शेक्सपीयर के पात्रों का मनोविश्लेषण इन्हीं प्रतिमानों को अपना आधार बनाकर किया है। इन विश्लेषकों का मूल आशय यही था कि किसी भी कृति की समीक्षा करने के पूर्व उसमें प्रयुक्त पात्रों के चरित्र-निर्माण की उन अवस्थाओं का ज्ञान कर लेना चाहिए, जिनके कारण उनका मानसिक विकास हुआ था। हर्बर्ट रीड ने तो अपनी मनोवैज्ञानिक समालोचनाओं में रचनाकार की मानसिक संस्थिति का क्रियात्मक अभिव्यंजन ही उनकी कृतियों के रूप मे सिद्ध किया है। इन मनोविश्लेषक समीक्षकों ने नैतिकता आदर्श तथा सुरुचि को सर्वथा उपेक्षणीय समझ कर केवल आन्तरिक यथार्थ के नाम पर कृति अथवा उसमें प्रयुक्त पात्रों का मनोविश्लेषण किया है। साथ ही साथ उनका एक उद्देश्य यह भी रहा है कि समालोच्य कृति का सम्बन्ध कृतिकार के मस्तिष्क से अवश्यमेव स्थापित करने की चेष्टा की जाय जिससे उसकी अन्तश्चेतना का बोध हो सके। पश्चिमी साहित्य शास्त्र के अनुकरण पर हमारी आधुनिक समीक्षा के प्रसार काल में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति ने यथेष्ट स्थान बना लिया है और कुछ क्षेत्रों में तो ऐसा समझा जाने लगा है कि यदि कोई समालोचक

को एक बहुत बड़ा आधार मिल गया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'छायावाद की छायामयी भक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देख कर इन्होंने जनता पर धौंस जमाने का एक दूसरा तरीका अख्तियार किया है। मानव प्रेम के नाम पर उन्होंने अपनी इतने दिनों से दबी हुई सहज (पशु) प्रवृत्तियों का नग्न रूप देने की उपयुक्त सुविधा पाई है। स्त्री पुरुष के द्वन्द्व-मूलक सम्बन्ध में सुधार का बहाना पकड़ कर वे निर्द्वन्द्व हो उठे हैं।'[1] अभिप्राय यह है कि इस पद्धति के समालोचक प्रगतिवादी भावनाओं में सामूहिक कल्याण के स्थान पर केवल इस श्रेणी के कवियों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का ही उद्घाटन पाते हैं जिनमें समाज के विरुद्ध उनकी पुरानी प्रतिहिंसा-वृत्ति ही विस्फोट का रूप धारण कर प्रकट हुई है।

मनोविश्लेषणवाद का ग्राह्य स्वरूप और सन्तुलित विधान

१८. मनोविश्लेषणवादी समालोचकों ने साहित्य-सर्जना की जिन मूलभूत प्रेरणाओं का विवेचन किया है, उन्हें सांस्कृतिक तथा आदर्शपरक स्वरूप में स्वीकार करने में कदाचित् ही किसी को आपत्ति हो। बात यह है कि जब साहित्य-निर्माण किसी न किसी व्यक्ति के ही द्वारा होता है तो उसके व्यक्तित्व का महत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। यह भी निश्चित् है कि व्यक्तित्व केवल व्यक्ति की बाह्य आकृति में ही परिव्याप्त नहीं अपितु उसका अन्तःप्रकृति से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में व्यक्तित्व की व्यापकता अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् के समस्त पक्षों को लेकर चलती है और कोई भी महान् व्यक्तित्वशाली साहित्यकार अपनी कृतियों को आकार प्रदान करता है तो उसके अन्तर्गत उसके व्यक्तित्व का पर्याप्त अंश रहता है। संसार के अनेक महान् प्रतिभाशाली साहित्यकारों ने अपने सृजन-कौशल का जो विवेचन किया है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि उनके चेतन और अचेतन मन की सन्धावस्था में जो एक विशेष प्रकार की अलौकिक अनुभूति होती है वह उनकी रचना की प्रेरणादात्री बन कर उन्हें सृजन के लिए नैसर्गिक भाव से उन्मुख करती रही है। सर्वश्री रवीन्द्रनाथ कीट्स जार्ज इलियट, डिकेन्स आदि कवियों और लेखकों ने अपने साहित्य सृजन की मूलवर्ती इस अज्ञात रहस्यपूर्ण शक्ति का संकेत अपनी कृतियों में किया है, जिसे चाहे दैवी प्रेरणा कह दिया जाए अथवा चेतनातीत प्रज्ञा। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अथवा साहित्यकार के लिए सामाजिकता की उपयोगिता रहते हुए भी उसकी अन्तश्चेतना का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है और ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि उनका साहित्य-समीक्षण उनके मनोविश्लेषक तथ्य का निरूपण करता चले किन्तु उसे किसी संकीर्णकारा में संत्रस्त करना कदापि शोभनीय प्रयास नहीं कहा जा सकता।

१९ मनोविश्लेषणवादी समालोचना के प्रसार से एक लाभ अवश्य हुआ वह यह कि साहित्य-सर्जना में मानवीय व्यक्तित्व और उसकी अन्तर्प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। इसके समर्थक लम्बी-चौड़ी तर्कनाएं प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने लगे कि सृष्टि के आदि काल से लेकर अद्यतन युग तक मानव-समाज जिन विकास-पर्वों से होकर अपने साहित्य और संस्कृति का निर्माण कर सका है, उसमें उसके अवचेतन मन की अनेक अज्ञात प्रवृत्तियों का प्रस्फुरण है। इस प्रकार की समालोचना का मुख्य प्रतिमान यही बन गया कि जिन लोगों में मानसिक अन्तश्चेतना की अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होती है वे उतनी ही कुशलता से उसका मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य में अंकित कर पाते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपोषकों के मतानुसार काव्य-सृजन में ज्ञात चेतना की अपेक्षा अज्ञात प्रेरणा का महत्त्व अधिक है और साहित्य भी मनुष्य की स्वप्नावस्था की भाँति अन्तर्मन की अनेक वृत्तियों का रासायनिक प्रतिफल है। वस्तुतः मनोविश्लेषणवादियों ने अपना

---

१ इलाचन्द्र जोशी 'विवेचना' प्रथम संस्करण १ ०७, पृष्ठ ६१

कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत है। अभिप्राय यह है कि भारतीय-साहित्य के विवेचन में व्यक्ति तथा एकस्तरवादी मनोविश्लेषण का प्रयोग असफल ही माना जायगा और जिन साहित्यकारों के जीवन में यह सिद्धान्त घटित होता है वे भारतीयता के उस स्वरूप से दूर हटे हुए साधक ही माने जायेंगे जिसमें जनकल्याण की उद्भावना मुखरित रहती है।

काव्य-सृजन-विषयक मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि और उसकी सीमाएँ

१२ मनोविश्लेषणवादी समालोचक काव्य-सृजन की प्रेरणा अन्तर्मन की अवचेतन अवस्था से मान कर चलते हैं, जिसके अनुसार उनकी विचारधारा में सामाजिक परिवेश का महत्त्व नहीं के बराबर है। उनकी इस प्रकार की मान्यता निश्चय ही उनके एकांगी दृष्टिकोण की निर्देशिका है। बात यह है कि साहित्य हमारे मानस-लोक का उद्भव अवश्य है किन्तु उसे ऐकान्तिक अर्थ में केवल वैयक्तिक कुण्ठा में ही संकीर्ण समझ बैठना उसके लोकमंगलविधायक महत्त्व की उपेक्षा करना है। हमारे भारतीय साहित्य में साहित्य के प्रयोजन को लेकर जो विवेचन हुआ है, वह यश अर्थ व्यव हार-ज्ञान शिवेतरक्षत सद्यपरनिर्वृति और कान्तासम्मित उपदेश के जिन उपकरणों से व्याप्त है, उनमें केवल साहित्यकार की अन्तश्चेतना की ही एकांत अभिव्यक्ति ही नहीं अपितु उसका सम्बन्ध बाह्य परिवेश से भी है। माना कि साहित्य की मूल प्रेरणा आत्मानुभूति और आत्मा भिव्यंजना है, किन्तु वह आत्माभिव्यंजना केवल अपने अन्तर्मन की घुटन तक ही परिसीमित नहीं समझी जा सकती। मेरी दृष्टि में साहित्य-निर्माण के उस पक्ष को सर्वथा नगण्य नहीं समझा जा सकता जो साहित्यकार के मानस-निर्माण में सहयोगी बन कर उपस्थित होता है। अतः मनो-विश्लेषणवादी अथवा अन्तश्चेतनावादी साहित्य-समालोचकों का दृष्टिकोण अपनी एकांगिता में अस्पष्ट नहीं है। अन्ततः अन्तश्चेतनावादी साहित्यकार जिस मनोविश्लेषणशास्त्र को आधार बना कर साहित्य-चिन्ता का विवेचन करते हैं, वह कोई आकस्मिक अथवा अलौकिक सृजन न होकर अपनी युग-परिस्थिति से भी सम्बन्धित रहता है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इस तथ्य के प्रतिपादन में कोई शंका नहीं होनी चाहिए कि साहित्य की सर्जना अपनी युग-दृष्टि की उपेक्षा कर नहीं चल सकती और महान् से महान् साहित्य-स्रष्टा को भी अपनी युगवाणी को स्वर देना ही पड़ता है जो चाहे युग-जीवन तक ही सिमट कर रह जाय या उसके माध्यम से चिरन्तन सत्य का आलोक बिकीर्ण करे। विश्व-साहित्य के महान् स्रष्टा वाल्मीकि कालिदास शेक्सपीयर, तुलसी और आधु निक काल में रवीन्द्र और प्रसाद आदि सभी काव्यकारों की कृतियों से इस युगकालीन स्वर का संकेत अवश्य ही ध्वनित किया जा सकता है, भले ही वे अपनी चिरंतनता के कारण उससे आगे बढ़ गये हों। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि महान् प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार भी अपनी युगध्वनि का प्रभाव ग्रहण करते हुए चलते हैं, किन्तु उनका सांस्कृतिक विकास उन्हें व्यापक स्वरूप प्रदान करने में समर्थ होता है। इस प्रकार अन्तश्चेतनावादी समालोचकों का ऐकान्तिक दृष्टिकोण साहित्य के समन्वयपूर्ण स्वरूप का विवेचन करने में अपूर्ण और संकुचित ही सिद्ध होता है।

१३ मनोविश्लेषण शास्त्र की अन्तश्चेतनमयी प्रवृत्ति में साहित्य-समालोचना को ग्रहण करने में एक कठिनाई यह भी होती है कि इसके समर्थक समालोचक जिन स्थूल उपादानों पर मानव-मन का विश्लेषण करते हैं, वह केवल उसके ऊपरी सतह को ही छूकर रह जाता है। बात यह है कि मानव-मन की अथाह चेतना कोई ऐसा सामान्य विषय नहीं है, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। फ्रायड एडलर, और युंग आदि पाश्चात्य मनोविश्लेषणवादियों ने उसका जो कुछ विवेचन किया है, वह केवल अल्पोपलब्धि का अनावरणमात्र है पूर्ण सत्य का निदर्शन नहीं। फिर उसमें एकांगिता और दुराग्रहिता भी तो बहुत है। दिन प्रति दिन विकासोन्मुख होने वाला मानवीय व्यक्तित्व और अंतःप्रकृति का विश्लेषण उसकी अपूर्णता का आभास देता रहता है। परिस्थिति

है कि मैंने उसे प्रसार के काल में ही अधिक देखा है जिसमें गुरुता और गहनता की अपेक्षा छिछलापन ही अधिक है। हिन्दी में मनोविश्लेषणवाद की प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले समालोचकों में प० इलाचन्द्र जोशी और श्री अज्ञेय प्रधान हैं जिनकी समीक्षा-कृतियों का विश्लेषण उनका मूल्यांकन करते समय किया जायगा। यद्यपि उन्होंने अपनी अभिनव मान्यताओं का निरूपण बहुत कुछ पाश्चात्य प्रेरणाओं को लेकर ही किया है, किन्तु हिन्दी-साहित्यकारों के विश्लेषण में एक नवीन संगठन की व्यवस्था भी दी है जो प्रसार-काल में विशिष्ट स्थान रखती है।

(२)

प्रसारकालीन समालोचना की मार्क्सवादी प्रवृत्ति, प्रगतिवादी समीक्षा

प्रगति का प्रकृत स्वरूप और उसका साहित्यगत प्रयोग

२२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल में छायावाद की प्रतिक्रिया में रचनात्मक साहित्य और समालोचना की परिधि में जिस साहित्यिक आन्दोलन ने जन्म लिया उसे प्रगतिवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। यह नाम इस आन्दोलन के सूत्रधारों द्वारा दिया गया है जो अंग्रेजी के 'प्रोग्रेसिव लिट्रेचर' का शब्दानुवाद-मात्र है। इस नामकरण-संस्कार का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि इसके प्रवर्तक एक ओर जहाँ अपनी मान्यताओं को छायावाद से भिन्न कोटि में प्रतिष्ठित करना चाहते थे वहाँ दूसरी ओर वे उसे साहित्य और जीवन की विकासशील परिस्थिति में ग्रहण करने के आकांक्षी थे। जहाँ तक उनके छायावाद-युग के दृष्टिकोण के स्वर्ग से आगे बढ़ने का प्रश्न है, यह आन्दोलन कई बातों में उससे भिन्न था किन्तु उसका नामकरण-संस्कार जिस उद्देश्य और परिस्थिति को आधार बना कर किया गया है वह तात्त्विक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है। बात यह है कि प्रगति जीवन की एक शाश्वत और नैसर्गिक प्रक्रिया है जिसका प्रतिरूप उसके बिम्बग्राही साहित्य में बिना झलके नहीं रहता। अतः उसे यदि किसी वाद-विशेष की कारा में आबद्ध कर दिया जाय तो एक प्रकार से उसकी मूल प्राणशक्ति का विध्वंस और रूढ़िग्रस्तता का प्रादुर्भाव होने की अधिक संभावनाएँ हो सकती हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो युग और परिस्थिति के परिवर्तन से भावधाराओं और विचार-क्षेत्रों में भी उत्क्रान्ति उपस्थित होती है और जीवन की भाँति साहित्य-सर्जना में भी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ अपने स्वाभाविक रूप से अस्तित्व-पूर्ण बनती हैं। अतः यह कहना कि छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रसूत वाद ही वस्तुतः प्रगतिवाद है अपनी एकांगिता का परिचय देना है। सच तो यह है कि प्रत्येक युग का साहित्य अपने पूर्ववर्ती युगों की समता में प्रगतिशील होता ही है क्योंकि वह अपनी परवर्ती परिस्थितियों की भिन्नतामय जीवन को नवीन दृष्टिकोण से विवेचित करने में सक्रिय प्रेरणा प्रदान करने का कारण बनता है। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न कालों में हम जिस वीरगाथा, भक्ति-भावना और रीति-परम्परा की विकासमान प्रवृत्तियाँ पाते हैं, वे अपने युगों में पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा निश्चय ही प्रगति की प्रतीक हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल में भारतेन्दु-युग का जो नव-जागरण-सन्देश साहित्य-क्षेत्र में प्रतिध्वनित हुआ है वह भी रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? उसका स्वरूप-संगठन अपनी विकासोन्मुखी प्रक्रिया में तत्त्व-दृष्टि से प्रगति का सूचक सिद्ध होता है। भारतेन्दु-युग के परवर्ती काल द्विवेदी-युग में हमें जिन प्रकारों में काव्य-विषय और वर्णन-शैली के स्वरूप प्राप्त होते हैं, वे उन तत्त्वों में अधिकांशतः विकासशील हैं जो भारतेन्दु-युग में अंकुरित हुए थे। इसी प्रकार द्विवेदी-युग का परवर्ती छायावाद-युग स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह की जिन क्रियाओं से निर्मित हुआ है वह भी एक प्रकार से प्रगति का ही चिह्न है। जीवन की भाँति प्रगतिशीलता की यह प्रवृत्ति किसी देश-काल की सीमा में संकीर्ण होकर नहीं चलती

जो तथ्य-निरूपण किया है वह सर्वथा निराधार नहीं है। इसका एक प्रबल प्रमाण तो यही है कि भारतीय तथा पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों ने अपने साहित्य-सृजन की जिन प्रेरणाओं का संकेत किया है वह स्वान्तः सुखाय भावना में निश्चय ही उन तत्वों के अधिक निकट है, जिनमें साहित्य को महान् चेतना की असाधारण प्रभा का अभिव्यंजन कहा गया है। फिर भी आधुनिक मनोविश्लेषणवादियों की अपूर्णता भी अप्रकट नहीं है। विचारणीय प्रश्न यह है कि आधुनिक मनोविश्लेषण जिन आधारों पर मानवीय चेतना की विवेचना करता है उसमें भारतीय योग-शास्त्र के नाड़ी-चक्र में सन्निविष्ट विभिन्न ज्ञान-कोषों के प्रवेश-द्वारों और इडा पिंगला सुषुम्ना और कुण्डलिनी चक्र आदि से सम्बन्धित साधनाओं का भी कोई संयोग मिलता है या नहीं? सच तो यह है कि चेतन और अवचेतन के रहस्यों का उद्घाटन जिन क्रियात्मक अनुभूतियों के बल पर भारतीय तपस्वी कर सके थे उसकी उदात्तता की ओर उन्मुख होना मात्र के मनोविश्लेषणवादियों के लिए दिवा स्वप्न मात्र है, अतः उसके प्रतिमानों को साहित्य-समीक्षण की सर्वांगीण रूपरेखा में तो ग्रहण किया ही नहीं जा सकता।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के विषय और उनका विस्तार

२ मनोविश्लेषणवाद को प्रधानता देकर चलने वाले समालोचकों ने अन्यान्य विषयों पर भी समालोचनाएँ लिखी हैं, किन्तु उनका प्रमुख विषय आधुनिक साहित्य ही रहा है। प्रगतिवादियों की भाँति इस प्रकार के समालोचकों का क्षेत्र भी पत्र-पत्रिकाओं में अपनी समालोचनात्मक कृतियों का प्रकाशन रहा जिसमें उन्होंने सामयिक साहित्य और उसके रचयिताओं का विवेचन किया। कालान्तर में उनके निबन्ध ही संकलित होकर पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो गये। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि शुक्लोत्तर-युग की सभी प्रवृत्तियों में छायावाद और प्रगतिवाद समालोचकों के विवेचन के सब से अधिक केन्द्रवर्ती विषय बन कर आये। इन समालोचकों ने साहित्य कला कल्पना और सौन्दर्य आदि विषयों का सैद्धान्तिक निरूपण भी किया किन्तु वह शुक्ल-युग से भिन्न कोटि का बन कर ही उपस्थित हुआ। उसमें सैद्धान्तिकता और शास्त्रीयता का उतना अधिक आग्रह नहीं था जितना सामयिक जीवन की अनुभूतियों के चित्रण का। अपने पक्ष समर्थन में इन आलोचकों ने नवीन विचारकों और उनकी मान्यताओं को अधिक महत्त्व दिया। निस्सन्देह आधुनिक हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में यह एक नवीन उपलब्धि थी फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन समालोचकों द्वारा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये उनमें उनके उस व्यक्तित्व का वह परिष्करण नहीं हो सका जिसके कारण समालोचना को एक स्वतन्त्र और मौलिक प्रतिमान मिलता है।

२१ यों तो मनोविश्लेषणवादी समालोचना में मनोविज्ञान की तत्त्व-योजना सर्वत्र रहती ही है, किन्तु उसमें अन्य विषयों का भी समावेश अवश्य रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समकालीन युग में समालोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत जिस प्रकार का विचार-विधान प्रमुख विवेचकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था उसका प्रभाव उन पर भी पड़ता गया और वे भी उसे हाथों अपना विश्लेषण देने में पीछे नहीं रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस युग में प्रसाद प्रेमचन्द निराला महादेवी जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय आदि विवेचना के मुख्य आधार थे अतः इस श्रेणी के समालोचकों ने भी उन पर लिखा। सैद्धान्तिक विषयों के अन्तर्गत उपन्यास कहानी कला सौन्दर्य और मनोविज्ञान पर ही अधिक विवेचन किया गया। चूँकि इन समालोचकों में कथाकार और उपन्यास-लेखक भी थे अतः वे जीवन-साहित्य का विवेचन उन्हीं के परिवेश में अधिकांशतः कर सके। निष्कर्ष यह है कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-क्रम में इन समालोचकों द्वारा जो योगदान दिया गया वह साहित्यालोचन को प्रौढ़ि प्रदान करने में असमर्थ ही रहा यही कारण

उपकरणों का मद किंचित मोह न रहता हो। सच तो यह है कि व्यक्ति की सामाजिकता उसके भावों के मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य में झलक कर ही तो उसे प्राणवान बनाती है और उसके द्वारा चिरन्तन भावनाओं को भी प्रश्रय मिलता है, किन्तु यह एक निर्भ्रान्त तथ्य समझा जाना चाहिए कि प्रगति की सीमा किसी विशेष प्रकार की विचारधारा से कदापि अन्तर्ग्रस्त नहीं की जा सकती। वास्तविकता तो यह है कि युग और परिस्थिति के परिवर्तन का प्रभाव प्रगति-पथ का सम्बल बन कर प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकता और इस प्रकार उसका क्षेत्र निश्चय ही अत्यन्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण बन हो जाता है। मेरे कथन का मूल मन्तव्य यही है कि प्रगति को जीवन-संभूत संवेदनाओं से अलग और किसी नवीन सिद्धान्त या मान्यता की प्रवृत्ति के झोंके में दिग्भ्रान्त न किया जाय अपितु उसे मतग्रहों से दूर और विशुद्ध अर्थ में ही गृहीत किया जाय जिससे सत्साहित्य का सर्जन और समर्थन हो सके। विश्व के प्रमुख विचारकों की भी यही मान्यता है कि जिस चिरन्तन भावनाओं का अभिव्यंजक शाश्वत साहित्य कहा जाता है वह वस्तुतः सबसे अधिक प्रगतिशील है, क्योंकि वह देशकाल के कृत्रिम अनुबन्धों से विहीन और भावाभिव्यंजनाओं में नित्य नवीन होता है तभी तो प्रत्येक देश युग और परिस्थिति उसका अभिनन्दन करती है। वास्तव में साहित्य का एक स्वस्थ दृष्टिकोण होना चाहिए, जिससे वह हमारी मंगलविधायिनी शक्तियों को उन्मेषित कर हमारे मानस में आशा और उल्लास का संचार कर सके अन्यथा केवल आज के प्रगतिवादी दृष्टिकोण की यथार्थवादिता मनाम निराशा या आत्मकुंठा उसका आत्म-हनन कर उसे कहीं का न रखेगी।

२१ आज के प्रगतिशील समालोचक अपने पक्ष में मार्क्सवाद का पल्ला पकड़ कर बार-बार इस मत का अनुमोदन करते हैं कि प्राचीन साहित्य जर्जरित और गतिहीन हो गया है, क्योंकि उसमें उस युगानुवर्तिनी दृष्टि का अभाव है जिसके द्वारा हम वर्तमान विश्व की प्रगति के साथ अपने कदम रखते हुए आगे बढ़ सकते हैं। इन विचारकों की दृष्टि में आज हमें नूतन जीवन दर्शन की आवश्यकता है, जो परिवर्तन के क्रम को समझ कर नूतन समस्याओं के सम्पर्क में आ सके तथा आज के वृद्धिगत ज्ञान का सम्यक् आकलन कर सके। जहाँ तक इस सैद्धान्तिक मान्यता के उदात्त स्वरूप का प्रश्न है वह समीचीन है किन्तु प्रश्न यह है कि आज के प्रगतिवाद का जीवन दर्शन क्या इतने व्यापक और उच्च धरातल पर अवस्थित है? यदि निष्पक्ष और गम्भीर दृष्टि से मनन किया जाय तो हमें इसी निष्कर्ष की उपलब्धि होगी कि इस पर वाद या मत-विशेष के हावी होने का जितना प्रबल आग्रह है, उतना तथ्य-ग्रहण और उदार दृष्टिकोण का नहीं। यही कारण है कि आधुनिक प्रगतिवाद हमें केवल अपनी कतिपय युगीन समस्याओं का ही उत्तेजक वाणी में बौद्धिक परिचय मात्र देकर रह जाता है और किसी व्यापक सत्य को ग्रहण करने की शक्ति नहीं प्रदान करता। अपने दृष्टिकोण की विवशतावश प्रगतिवादी विचारक अतीतकालीन साहित्य को आधुनिक युग में अग्राह्यता निर्दिष्ट कर उसके विरोध में कुछ भी कहें किन्तु वास्तविकता तो यह है कि देशकाल की परिधि से परे रहने वाले साहित्यकारों में भी युग-परिवर्तन की आवश्यकताओं का संकेत मिले बिना नहीं रहता। प्रायः देखा जाता है कि प्राचीन साहित्यकार की वाणी से भी युग-परिवेश का अभिव्यंजन जिस सशक्त संवेदना और जीवन्त दृष्टिकोण से हुआ है, उस विधि से केवल युग-परिस्थिति का नारा लगाने वाले रचनाकार के द्वारा नहीं। इसका मूल कारण यह है कि आत्मानुभूति के प्रबल सम्बल के साथ-साथ जिस प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से रस-संवेद्य स्थिति में भाव-ग्रहण करने की क्षमता होती है उतनी अन्य लोगों में नहीं होती। यही कारण है कि उनका साहित्य निश्चय ही उच्च और महान् हो जाता है।

अपितु वह अपना चिरन्तन स्वभाव रखती है। अतः छायावाद की प्रतिक्रिया को ही प्रगतिवाद की संज्ञा देना समुचित प्रतीत नहीं होता। यदि विवेचन की सुविधा के उद्देश्य से यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि छायावाद की प्रतिक्रिया ही प्रगतिवाद के स्वरूप में अवतीर्ण हुई है तो फिर उसके परवर्ती स्वरूप की प्रगतिशीलता को नवीन नाम प्रदान करने का प्रश्न कालान्तर में और जटिल बन कर उपस्थित होगा। इसके साथ एक बात यह भी है कि प्रगतिवादी विचारक जिन विचार बिन्दुओं को सादर समेट कर अपनी मान्यताओं की व्याख्या करते हैं, वह भी एक विशेष प्रकार की सरणि या विचार-धारा में ही संकेन्द्रित है। उसका काव्य के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण भी मार्क्सवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ही तो साहित्यिक प्रयोग है और यह एक निर्भ्रान्त सत्य है कि वाद के माध्यम में सत्य का केवल अंशमात्र ही ग्रहण किया जा सकता है। अतः प्रगतिवाद की संज्ञा से अभिहित विचार प्रणाली भी अंशी रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुतः किसी वाद या मान्यता के नामकरण का कोई वास्तविक आधार भी तो होना चाहिए। यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि छायावाद का स्थैर्य प्रगतिवाद की मांग का कारण हुआ तो क्या उसका पूर्ववर्ती जीवन प्रगति परम्परा से विहीन था अथवा जिस रूप में आज का प्रगतिवाद विवेचित हो रहा है वही प्रगति का सच्चा स्वरूप है? ऐसी परिस्थिति में प्रगतिवाद का नामकरण ही भ्रामक-सा लगता है, जिसकी वास्तविकता का परीक्षण अति गम्भीरतापूर्वक करने की नितान्त अपेक्षा है।

प्रगतिवादी समीक्षा का मूलाधार: मार्क्सदर्शन

२३ आज का प्रगतिवादी साहित्यालोचक जिस मान्यता को सर्वाधिक गौरव प्रदान करता हुआ आगे बढ़ता है, वह है कार्लमार्क्स की विचारधारा। वस्तुतः मार्क्सवाद अपने जिस जीवन-दर्शन पर अवलम्बित है उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी कहा जाता है। इसके अनुसार आत्मा और परमात्मा आदि अलौकिक सत्ताओं का कोई अस्तित्व नहीं है और जगत् का सारा वैभव केवल भौतिक तत्त्वों पर ही निर्भर रहता है। यह हीगेल के अध्यात्मवाद में कोई विश्वास नहीं रखता और उसके अनुसार जड़-तत्त्व की स्थिति चेतन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इतना ही नहीं वह मनुष्य की चेतना का सारा आधार भौतिक और सामाजिक परिवेश को ठहराता है और उसके अनुसार किसी भी समाज-व्यवस्था का मूलाधार आर्थिक प्रतिमान पर बहुत अधिक निर्भर होता है। उसने अर्थ-व्यवस्था को तो इतनी अधिक प्रमुखता दी है कि उसे उसीके सांचे में किसी भी देश की सांस्कृतिक चेतना और कला-सृष्टि के मूल तत्त्व प्रदर्शित होते हैं। वह शोषक और शोषित वर्ग की अनिवार्यता उद्घोषित कर उनका आविर्भाव प्रत्येक देश काल के साहित्य में देखता है, और उसकी मान्यता में यह क्रम तब तक नष्ट नहीं हो सकता जब तक वर्गहीन समाज की स्थापना न कर ली जाय।

प्रगतिवादी समीक्षा का सामाजिक पक्ष और अतीत के प्रति दृष्टिकोण

२४ प्रगतिवादी साहित्यकार और समालोचक अपने पक्ष-समर्थन में जो सबसे बड़ा तर्क प्रस्तुत करते हैं वह है साहित्य की सामाजिकता का। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादी युग में एक प्रकार की जो वैयक्तिक कुण्ठा और आत्म-परकता का अतिरेक हो गया था उसे दूर करने में यह दृष्टिकोण परम उपयोगी सिद्ध हुआ किन्तु कालान्तर में यह भी अपनी रूढ़िग्रस्त और एकांगी प्रतिक्रिया से विमुक्त नहीं रह सका। बात यह हुई कि प्रगतिवादियों की सामाजिकता भी एक विशेष प्रकार के जीवन-दर्शन से ही उद्भूत रही अन्यथा इस तथ्य के प्रति तो कदाचित् ही कोई अपनी निषेधात्मक प्रवृत्ति प्रकट करे कि साहित्य-साधक के व्यक्तित्व-निर्माण में सामयिक परिस्थिति और

यो निश्चय ही एकपक्षीय दृष्टिकोण है। राजनीति के आकाश में विभिन्न वादों के संप्रदाय अपने प्रभावपूर्ण दृष्टिकोण से बनते-मिटते रहते हैं किन्तु उनका अस्तित्व साहित्य-सर्जना की दृष्टि से स्थायी नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो राजनीतिक मंच पर भिन्न-भिन्न युगों में प्रादुर्भूत शक्तियां अपने जीवन के शाश्वत चिन्ह छोड़ जातीं किन्तु गम्भीर विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक चेतना हमारी जीवन-चेतना का एक अंगमात्र हो सकती है, उसकी अंगी नहीं। अतः युग की समस्याओं और क्रान्तियों का आवेग बड़ी सयत विधि से ग्रहण किया जाना चाहिए। तत्पत साहित्य को उसके विशुद्ध स्वरूप में ग्रहण करने पर आज की प्रगतिवादी समालोचना केवल इसके प्रचार के अतिरिक्त और अधिक नहीं सिद्ध होती क्योंकि उसका केवल युगीन महत्व है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि अब उसके प्रतिवर्तन में प्रयोगवाद का नवीन विधान आकार ग्रहण कर उद्भूत हो चला है। इस कठोर विरोध से मेरा आशय यह नहीं कि प्रगतिवाद शब्द से हमें चिढ़ होनी चाहिए, किन्तु यह मन्तव्य अवश्य है कि उसे व्यापक और स्वस्थ मनोभूमि में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। यदि हम प्रगतिवाद से यह अभिप्राय ले सकें कि यह हमारे युग-परिवर्तन के अन्तर्गत प्रगतिशील चेतनाओं को पहचानने की प्रक्रिया है और उसमें जीवन-संवेदनाओं को प्रथित कर आगे बढ़ने की एक निर्माणोन्मुख चाह है तो इससे क्वचित् ही किसी को विरोध हो, किन्तु उसे केवल अपने वाद प्रकार की दृष्टि का लक्ष्य बना कर अन्य मान्यताओं की उपेक्षा कर बैठना ठीक नहीं कहा जा सकता।

प्रगतिवादी समीक्षा और कलात्मक साहित्य-सौष्ठव

२८ प्रगतिवादी समालोचना के तथाकथित स्वरूप में हमें एक अभाव और खटकता है और वह है साहित्य-सौष्ठव और कलात्मक दृष्टि की उपेक्षा का। बात यह है कि प्रगतिवादी समालोचक कलावादी परम्परा का राग अलापते हुए साहित्य में भी पूँजीवाद और वर्गवाद का तत्त्व गुम्फन करना चाहते हैं जिसके कारण उन्हें साहित्य की प्राचीन और वैभवपूर्ण स्थिति में बुर्जुआ वृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भी विवादग्रस्त है क्योंकि जब साहित्य हमारे हृदय-कोष के भाव रत्नों का उच्छ्वसित संवेग है तो उसके वैभव को भौतिक और आर्थिक पैमाने से मापना केवल हठवादिता है। ऐसा मानने पर तो विश्व के महान् साहित्यकारों की महत्ता निश्चय ही उपहास्पद हो जायगी और हम अपनी उस ज्ञान-गरिमा और भाव-राशि की अवहेलना कर बैठेंगे जिससे आज की विश्व-संस्कृति के इतिहास का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार प्रगतिवादी समालोचक सभी कृतियों में विशेष प्रकार की कलावादी प्रवृत्तियों का अनुसन्धान करते चलते हैं, वह भी अधिक उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करना भी साहित्य की व्यापक विधा पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाना है। सच तो यह है कि समालोचकों की दृष्टि साहित्य-विवेचन के प्रसंग में जीवन के व्यापक स्वरूपों के उद्घाटन की ओर ही रहनी चाहिए क्योंकि सच्ची साहित्य-समालोचना में प्रगतिवाद का दृष्टिकोण उस दृष्टिकोण से निश्चय ही भिन्न होगा जो राजनीतिक वादों और सामयिक व्यवस्थाओं में विद्यमान रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज विश्व-प्रांगण में समाजवादी विचारधारा क्रमशः प्रसारित हो रही है जिसका प्रभाव साहित्य-क्षेत्र पर पड़ना नैसर्गिक है किन्तु प्रश्न यह है कि इस विचारधारा का कौन-सा पक्ष हमारी संस्कृति और परम्परा के अनुकूल कहा जा सकता है, इसकी ओर भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता है। इतिहास से सिद्ध है कि हमारे देश की परिस्थिति पश्चिमी देशों के मानसिक धरातल से भिन्न कोटि की रही है और यहाँ साहित्य-सृजन की मूल-चेतना अपनी आस्थाओं में कुछ विशिष्ट श्रेणी की ही रही है अतः कोई आवश्यक नहीं कि हम मार्क्सवादी विचारधारा का ही अक्षरशः अनुवाद अपने प्रगतिवाद में भी करना चाहें, क्योंकि ऐसा करना एक प्रकार से अपनी जीवन-आस्थाओं में शंका को जन्म देना है।

प्रगतिवादी समीक्षा में युग-स्वर और सामयिकता

२६ पूर्वोक्त विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि छायावादी साहित्य-समीक्षा के प्रतिवर्तन में जिस प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति ने जीवन धारण किया है उसकी साहित्यगत कोई उपयोगिता नहीं है। वास्तव में प्रगतिवाद अपने युग की एक आवश्यकता के रूप में अवतीर्ण हुआ था और जन भावनाओं की माँग उससे युग-वाणी का स्वर-संधान चाहती थी। इस वाद ने भले ही शाश्वत संवेदनाओं को महत्त्व नहीं दिया हो किन्तु उसके द्वारा कई स्वच्छन्द और एकांगी प्रवृत्तियों का नियमन भी हो सका। इसने एक ओर जहाँ साहित्य-क्षेत्र में कल्पनावाद की पलायन-भावना पर अंकुश लगाया वहाँ दूसरी ओर वासनापूर्ण शृंगारी वृत्तियों को भी रोका। यदि यह अपने विशेष प्रकार के दृष्टिकोण को कुछ अधिक लोक-व्यापक भावभूमि पर अधिष्ठित करता हुआ चलता तो उससे साहित्य की व्यापक प्रेषणीयता के उद्देश्य में कोई कमी नहीं आती किन्तु जब यह एक विशेष वर्ग का प्रचारक और समर्थक बन गया तो इसका आत्म-रस अपनी प्रवहमान जीवन-धारा को कुंठित करने का कारण बना। दूसरी बात यह भी हुई कि इसने ध्वंस का जितना पक्ष लिया उतना निर्माण का नहीं। अतः हमारी भावी कार्य रेखा क्या हो उसके तत्त्व-कण इसमें बहुत कम आ सके। माना कि आज की युगीन प्रगति में प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं का वह अतीतकालीन महत्त्व नहीं रहा है, किन्तु उनकी सर्वथा उपेक्षा कर नवीन निर्माण की धुन में अपनी उपलब्ध ज्ञान राशि को निरर्थक समझ बैठना निश्चय ही भ्रमात्मक मनःस्थिति का निर्देशक है। ऐसी अवस्था में प्रगतिवाद का संकीर्ण क्षेत्र स्वतः ही प्रकट हो जाता है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज के प्रगतिवादी हिन्दी-समालोचक मार्क्स लेनिन और काडवेल आदि विचारकों के सिद्धान्त-सूत्रों का आश्रय लेकर अपने मन्तव्यों का विश्लेषण करते हैं, उनमें भी वैसी संकीर्णता और एकांगी दृष्टि नहीं है जैसी कतिपय समीक्षकों ने बना रखी है। माना कि मार्क्स की एक निश्चित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा थी किन्तु उसे साहित्य की चिरंतन प्रवृत्तियों से चिढ़ ही थी यह भी नहीं कहा जा सकता। लेनिन ने साहित्य और कला का जो विवेचन किया है उसमें भी हमारी शाश्वत संवेदनाओं का स्वरूप झलकता है। सच तो यह है कि केवल रोटी का प्रश्न हमारी मानसिक क्षुधा का निवारण नहीं कर सकता। उसके लिए कुछ और भाव-सामग्री चाहिए और यह निश्चय है कि वह सामग्री उस प्रगतिवाद के पास नहीं थी जो जन-जीवन की समस्याओं का हल निकालने का अधिकार अपने भौतिक और स्थूल दृष्टिकोण से सिद्ध करने चला था। स्पष्ट ही है कि हमारे जीवन के अभावों की पूर्ति केवल उनके प्रति आक्रोश और विध्वंसपूर्ण भावनाएँ व्यक्त करने से नहीं हो सकती अपितु उसके लिए कुछ अन्य सामग्री चाहिए यदि ऐसा नहीं होता तो ग्रीष्म की तमतमाती धूप में खून-पसीना एक करने वाला कृषक चैती और बिरहा गाकर अपना मानसिक आह्लादन नहीं करता अथवा वैधव्य संकट से जूझती हुई भारतीय नारी अपने जीवन यापन के लिए चक्की चलाती हुई मीरा के भजनों और सन्तों की साखियों से अपना अधिमानसिक प्रसादन नहीं करती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य ने हमें हमारी दुर्बलताओं और विषमताओं से अधिक सुपरिचित कर हमें और भी भयावह परिस्थिति में रख दिया जिससे हमारी समस्याओं का समाधान होने के स्थान पर वे हमें और भी जटिल प्रतीत होने लगीं। कहना होगा इस परिस्थिति के सृजन में जहाँ रचनात्मक साहित्यकार का प्रबल हाथ था वहाँ उसकी पीठ थपथपाने वाले समालोचक ने भी उसीकी वाणी का प्रतिध्वन्यात्मकपूर्ण शब्दों में समर्थन किया जिससे सत्साहित्य की शाश्वत प्रवृत्ति पर एक प्रकार की ठेस-सी लगी।

२७ आज के प्रगतिशील साहित्यकार और समालोचक अपने पक्ष में समय-सापेक्षता के प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं किन्तु वे तर्क तत्त्वतः ठोस नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे राजनीति और अर्थ व्यवस्था को साहित्य की नियामक शक्ति समझने की मान्यता लेकर चलते हैं

जिसे प्रौढ़िपूर्ण कहा जा सके। सच तो यह है कि आज शुक्लोत्तर-युग में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद आदि के नाम पर जिस प्रकार का काव्य-सृजन और काव्य-समीक्षण हो रहा है, वह थोड़ी दूर तक सम्यक विधि से चल कर समाप्त हो जाता है और उनका स्फुरण वैसी व्यापकता और अन्तर्दृष्टि से नहीं हो पाता जिसकी स्थापना आचार्य शुक्लजी ने की थी। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो आचार्य शुक्लजी ने जिस समीक्षाशास्त्र का प्रणयन किया था वह समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण से इतना अधिक परिव्याप्त था कि उसमें लोकहृदय और लोकमंगल की भावनाएँ अपने विशुद्ध मानवीय आदर्शों पर प्रस्फुटित हुई थीं और जिसमें लौकिकता और अलौकिकता को भी एक समुचित आधार भूमि पर ग्रहण किया गया था। वस्तुतः उनकी विचारणा के मूल में एक ठोस सांस्कृतिक दृष्टि थी जो साहित्य के सम्मिलन भाव को मानव-हृदय की व्यापक भूमि में ग्रहण करते हुए चलती है। यही कारण है कि आज शुक्ल-युग की मान्यताएँ कई दृष्टियों से 'समय-बाह्य' होने पर भी अपनी *प्रौढ़ि में महान् हैं और उसकी समता में प्रगतिवादी समालोचना की चेतना हल्की और एकांगी* सिद्ध होती है।

प्रगति और परम्परा का पारस्परिक निर्वाह-विधान

११ आज के प्रगतिवादी साहित्यालोचक की एकांगी विचारधारा स्वतः स्पष्ट है और उसका परिशमन करके ही साहित्य को विकासशील पथ-प्रदर्शन मिल सकता है। अतः उसकी व्यापक दृष्टि के लिए प्रगतिवादी साहित्य-समालोचकों को इस तथ्य की कभी अवहेलना नहीं करनी चाहिए कि प्रगति और परम्परा का अटूट सम्बन्ध है। सच तो यह है कि किसी देश का सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन तभी आगे बढ़ सकता है जब वह अपने साथ अपनी परम्परागत जीवन-आस्थाओं को लेकर चले। आज विश्व के अनेक अभ्युदयशील राष्ट्र जीवन-संघर्ष में किसी भी देश से कम आधुनिक न होने पर भी अपनी प्राचीन परम्पराओं को परिष्कृत रूप में सहेजते चल रहे हैं। उदाहरण के लिए शेक्सपियर के युग से बहुत आगे बढ़ा हुआ इंग्लैण्ड भी आज शेक्सपियर, मिल्टन आदि पर गर्व करता है तो जर्मन राष्ट्र को भी अपने बेटे हीगल और कांट पर अभिमान है। ऐसा करने का मूल कारण वहाँ के लोगों का अपनी सांस्कृतिकता की मूल चेतना को लेकर चलने की प्रवृत्ति ही है। ऐसी स्थिति में हमें अपने उन नवीन प्रगतिशील विचारकों के इस मत पर हार्दिक क्षोभ होता है जो अपने दृष्टिकोण को केवल विदेशी प्रभाव से आक्रान्त बना कर अपनी परम्परा-प्राप्त धरोहर की अमूल्य सम्पत्ति का महत्त्व नहीं समझते और केवल पश्चिम अथवा यूरोप के अन्धानुकरण को ही सब कुछ मानने लगते हैं। मेरी समझ में तो जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य-सृजन और समीक्षण के क्षेत्र में भी तभी सच्ची उन्नति और प्रगति हो या सकती है, जब हम अपने प्राचीन साहित्य का मर्म और महत्त्व समझें और उसके चेतन कणों को समाहित कर अपने विकास की दिशा की ओर उन्मुख हों। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसकी ओर प्रगतिवादियों का ध्यान आकर्षित होना अत्यन्त अनिवार्य है अन्यथा हम अपनी परम्परा से विमुख होकर बहुत कुछ उपयोगी पैतृक सम्पत्ति को मिट्टी के ढेले समझ कर यों ही फेंकने का महान् अपराध कर बैठेंगे।

१२ उपर्युक्त पंक्तियों में प्रगतिवादियों के लिए जिस सांस्कृतिक परम्परा के परिपालन का संकेत किया गया है उससे यह आशय कदापि नहीं लेना चाहिए कि हमारी क्रमागत सम्पूर्ण परम्परा हमारे लिए ग्राह्य है। सच्ची बात तो यह है कि हमें अपनी आँखें खोल कर और आधुनिक युग की अक्षुण्ण चेतना की आवश्यकता का अनुभव कर यह सोचना है कि आज का जीवन हमें किस ओर बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी परम्परा को अपनाएँ अवश्य किन्तु इस बात का भी पूर्ण विवेक रखें कि उस परम्परा में कितना अंश ऐसा है जो जड़तापूर्ण

प्रगतिवादी साहित्य-समीक्षा की उचित दिशा और विश्वजनीन सांस्कृतिकता

२१ जहाँ तक साहित्य में प्रगतिवाद का प्रश्न है रचनात्मक साहित्यकार भाव-लोक और कला-निर्माण के विकासमय पक्ष को ही प्रधानता दे और उसके काव्य-विषयों में नूतन प्राण प्रतिष्ठा करते हुए भावाभिव्यक्ति के ही अन्तर्गत नूतन छन्द-विधान नवीन प्रक्रियाएँ और भाषा शिल्प का आयोजन करे जो किसी संकीर्ण कारा में आबद्ध न होकर जीवन की चिरन्तन भावना को नूतन चेतन-शक्ति प्रदान करने वाली हो तभी साहित्य में प्रगतिवाद का स्वर अपनी समुचित दिशा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार साहित्य के समालोचकों का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे साहित्यकारों की मानसिक स्वतन्त्रता के कठघरे निर्धारित कर उन्हें वाद-विवादों में ही न उलझा दें अपितु समालोचना के वास्तविक उद्देश्य को बिना विस्मृत किये प्रस्तुत साहित्य का समीक्षण ऐसी सृजनशील प्रतिभा से करें जिससे साहित्य का समुचित मूल्यांकन और भावी साहित्य निर्माण का सम्यक् पथ-प्रदर्शन हो। यह अत्यन्त विक्षोभपूर्ण विषय है कि हमारे प्रगतिशील समालोचक अपने मताग्रह के पोषण में कभी-कभी इतने अनुदार बन जाते हैं कि उन्हें सत्कवियों की उच्च कोटि की काव्य-सर्जना भी उस दृष्टि से हेय-सी लगती है जिस दृष्टि से उनकी विचारधारा का प्रतिपादन नहीं हो पाता। इसका एक प्रबल प्रमाण तो यही है कि आज के कतिपय प्रगतिवादी समालोचकों ने पन्त और निराला की उस प्रतिभा का अधिक स्तवन किया है जो ग्राम्या और 'कुकुरमुत्ता' जैसी कृतियों में प्रस्फुटित हुई है जब कि उन्हें 'पल्लव' और 'गीतिका'-काल की काव्य-कृतियों में प्रगतिवाद के स्थान पर पलायनवाद की गन्ध मिलती है। उनका यह निर्णय किसी एक अंश तक ही तर्कसम्मत और न्यायपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि पन्त और निराला का छायावाद का परवर्ती रूप उन्हें वास्तविक मानसिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में असमर्थ ही रहा है। यह बात दूसरी है कि केवल अपने मतवाद के आग्रह से उन्हें महान् कह दिया जाय जो उनकी महानता न होकर केवल अपने वाद-पक्ष की अभ्यर्थना-मात्र है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य और उसकी समालोचना में साहित्य के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण करने की उतनी प्रवृत्ति नहीं है जितनी प्रचार और अपनी वाद-स्थापना की। यदि ये प्रगतिवादी साहित्यकार अपने मताग्रहों और विशेष मान्यताओं की हठवादिता को छोड़कर साहित्य की प्रगतिशीलता को व्यापक दृष्टि से देखते हुए चलें तो उनसे कदाचित् ही किसी को विरोध हो।

१० प्रगतिवादी समालोचक का एक एकांगी पक्ष यह भी है कि वह मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक भौतिकता को इस प्रकार पकड़ कर बैठ जाता है कि उसे आज की विश्वव्यापी सांस्कृतिक चेतना के विविध पक्षों के प्रति किसी विशेष प्रकार की सहानुभूति हो ही नहीं पाती। वस्तुतः साहित्य को उसके विपुल और सर्वांगीण स्वरूप में न देख पाने के कारण ही वह जीवन की भौतिकता में इतना अधिक उलझ जाता है कि उसे हृदय के भावात्मक प्रसार का साक्षात्कार ही नहीं होता। इस समीक्षा-प्रवृत्ति के समालोचक यदि समाजशास्त्रीय व्याख्या का भारतीय आदर्शों के अनुकूल मानदण्ड अपना कर चलते तब तो फिर भी उनसे आशा की जा सकती थी कि वे रचनात्मक साहित्य-क्षेत्र में स्थायी कार्य कर सकेंगे किन्तु ऐसा उनके द्वारा बहुत कम हो सका। उनकी विचारणा का बौद्धिक धरातल अपनी रचनात्मक अनुभूति में एकांगिता बन कर अभिव्यक्त हुआ है जिसके कारण उनकी समीक्षा-पद्धति कुछ समय के लिए विशेष चमक दिखला कर प्रभावहीन-सी होने लगी है। स्पष्ट है कि जैसे छायावादी कविता और उसकी समालोचना क्रमशः अपने युग की विशिष्ट सम्वेदना से दूर हटती हुई कुछ समालोचकों द्वारा केवल एकान्त सगीत की भक्ति-मात्र बना दी गई, वैसे ही प्रगतिवाद भी उसकी प्रतिक्रिया में जिस भौतिक दृष्टिकोण की स्थूलता को लेकर अवतीर्ण हुआ वह भी क्रमशः वर्गग्रस्त-सा बन कर अपना एकपक्षीय स्वरूप ही प्रकट कर सका। इस प्रकार इस समालोचना-प्रवृत्ति द्वारा ऐसी सार्वभौमिक प्राणवत्ता नहीं संचारित हो सकी

चले और जिसमें किसी प्रकार के मतवाद का मिथ्या दम्भ न हो। सच तो यह है कि उसे न केवल अपने अतीतकालीन साहित्य राशि को ही समेट कर चलना है और न नवीनता के प्रवाह में ही उसकी उपेक्षा करनी है अपितु उसे युग-जीवन के साथ पद-संचार करते हुए सत्साहित्य के प्रति समादर की भावना लेकर चलना है। उसे अपनी रसानुभूति को ऐसा व्यापक और उदात्त क्षेत्र प्रदान करना है जिसमें वह साहित्य की सार्वभौम सत्ता की गुरुता समझ सके और जिसके द्वारा उसमें "बालोऽपि गुणो ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि" वाली प्रवृत्ति का संचार हो सके। अभिप्राय यह है कि उसमें एक ऐसी रसग्राहिता होनी चाहिए जिसके द्वारा वह तत्त्वोपलब्धि में सदैव जागरूक रह सके।

१५. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी समालोचना का एक प्रबल पक्ष उसकी सामाजिक उपयोगिता है, अतः उसे समाजशास्त्रीय समालोचना भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रचनाकार अथवा कृति का विवेचन उसके सृजन-काल की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को केन्द्रवर्ती मान कर किया जाता है। इस पद्धति का समालोचक प्रमुख रूप से इसी बात का पता लगाता है कि आलोच्य व्यक्ति अथवा विषय अपनी सामाजिकता को कितनी अधिक सशक्त वाणी दे सका है। यदि उसे कृतिकार अथवा कृति में उसका युग-स्वर अधिक उदात्त रूप में प्रस्फुटित लगता है तो वह उन्हें श्रेष्ठ समझता है अन्यथा जीवन की सरस से सरस उद्भावना करने वाले साहित्य को भी वह सामाजिक परिवेश की अपूर्णता से लांछित कर पूर्ववर्ती साहित्य की समता में हीन-कोटि का निर्णीत कर देता है। ऐसा करना समाजशास्त्रीय समालोचक की एकांगिता का सूचक है। बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके भावों और विचारों के निर्माण में समाज का महान् दायित्व रहता है, किन्तु केवल सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि की स्थूलता में ही उसका चेतन अंश नहीं पहचाना जा सकता। सच तो यह है कि व्यक्ति का यह अंश उसके सामाजिक परिवेश से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और मुख्यतः उसके द्वारा साहित्य को एक सांस्कृतिक प्रयत्न रूप में उद्भूत किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि साहित्य-समीक्षण के समय भी ऐसी ही उदार दृष्टि से काम लिया जाय। साहित्य को केवल एक समाजशास्त्रीय भौतिक प्रक्रिया समझने और समालोचना को उसके आर्थिक और वर्गवादी दृष्टिकोण से परीक्षण करने का एकमात्र साधन मानने से ही अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज के युग में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आलोचना का एक व्यापक पक्ष है और उसके द्वारा ही कोई भी समालोचक युग की भाव-सम्वेदना में प्रविष्ट होकर उसका ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता है किन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि समाजशास्त्रीय समालोचना में जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दनों और अन्तर्जगत् की मनोहर कल्पना छवियों की इतनी अधिक उपेक्षा कर दी जाती है जिससे अनेक बार साहित्यालोचन केवल राजनैतिक और आर्थिक दलबन्दी का अखाड़ामात्र बन कर रह जाता है। यदि हम साहित्य-समीक्षण के समय केवल स्थूल और भौतिकवादी दृष्टि लेकर ही चलते रहें तो अपने अनेक अतीतकालीन साधकों की काव्य-साधना और उद्भावक-शक्ति के साथ सच्चा न्याय नहीं कर सकेंगे और हमारी समालोचना निश्चय ही प्रचार का एक साधनमात्र बन जायगी। अतः समाजशास्त्रीय समालोचना का आज के युग में महत्त्व होते हुए भी उसकी अपूर्णताएँ भी अप्रकट नहीं हैं।

अपूर्णताएँ और अन्तर्विरोध

१६ प्रगतिवादी समालोचना के प्रतिमान की अपूर्णताएँ आज अनेक संभ्रान्त समालोचकों द्वारा उद्घाटित की जा चुकी हैं। इसका मूलाधार मार्क्सदर्शन विचार-क्षेत्र की वह जड़वादी दृष्टि है जिसका जीवन की आध्यात्मिक चेतना में कोई विश्वास नहीं है। यही कारण है कि प्रगतिवादी

और रूढ़िवादी बन गया है। हमारे लिए यह तो कदापि शोभनीय नहीं होगा कि हम वर्तमान की ओर से आँखें मूंद कर केवल अतीत के राग ही गाते रहें किन्तु इस बात को भी न भुला दें कि अतीत का साहित्य भी हमें आगे बढ़ाने का जितना ठोस धरातल प्रदान कर सकता है उतना केवल कल्पना पूर्ण भविष्य अथवा वर्तमान का चित्रण नहीं। प्रगतिवादियों द्वारा प्रगतिवाद को एक विशेष जीवन दर्शन में संकीर्णताग्रस्त बनाने का ही एक दुष्परिणाम यह भी हुआ है कि हमें अपना अतीतकालीन जीवन सर्वथा चेतनाहीन और रूढ़िग्रस्त-सा लगने लगा है और केवल प्रचार के नारों को ही हम काव्य का सर्वस्व समझने लगे हैं अन्यथा इस बात को स्पष्ट स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं प्रतीत होती कि प्रसाद के नाटक भले ही एक प्रगतिवादी दलबन्दी की उपज न हों किन्तु उन्होंने अतीत के स्वर्णिम इतिहास के आधार पर जो सांस्कृतिक प्रगति का आचरण किया है वह किसी भी प्रगतिवादी कहे जाने वाले साहित्यकार की कृतियों से कम नहीं है। आज प्रगति वादी समीक्षा को इस प्रकार से उच्च और व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है तभी हमारे समालोचना-क्षेत्र में चलने वाली धाँधली अथवा छोटे-छोटे विषयों पर तिल को ताड़ देने वाले मात्सर्यपूर्ण विरोध दूर किए जा सकते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण और युगव्यापी धरातल

१३ प्रगतिवादी साहित्यकार और समालोचक आज जिस तथ्य की अवहेलना कर अपनी एकांगिता से चल रहे हैं वह है उनमें सांस्कृतिक दृष्टिकोण की न्यूनता। सच तो यह है कि अपनी संस्कृति की उपेक्षा कर प्रगतिवाद तो क्या कोई भी वाद अपना स्वस्थ जीवन धारण कर ही नहीं सकता। इसका मूल कारण यह है कि संस्कृति हमारी आत्मा अथवा प्राणों का वास्तविक रक्त-संचार है और इसके द्वारा ही अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी विकास किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि आज की प्रगतिवादी समालोचना को केवल मार्क्स अथवा लेनिन की मान्यताओं पर ही आगे न बढ़ाया जाय अपितु अपने सांस्कृतिक जीवन से भी उसे ऐसी विकसित चेतना प्रदान की जाय जिसकी अमूल्य धरोहर को लेकर हमारे अतीतकालीन जीवन का क्रमिक विकास हुआ है। यह एक अत्यन्त क्षोभपूर्ण विषय है कि आज के हिन्दी-क्षेत्र के अनेक प्रगतिवादी समालोचकों को सात समुद्र पार की संस्कृति के ज्योति स्फुलिंग तो अर्चित हो जाते हैं, किन्तु शताब्दियों से गंगा-यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश में विकसित और तपोपूत ऋषि-मुनियों के आश्रमों में उद्भूत होने वाली अमर-वाणी का सन्देश भाव-विभोर नहीं बनाता जिसके आलोक-स्तम्भ के द्वारा भारत के राष्ट्रीय जीवन का सर्वतोमुखी निर्माण हुआ है तथा जिसने राष्ट्र की परतन्त्रता में भी उसके प्राणों का परित्राण किया है। वस्तुतः आज के प्रगतिवादी समालोचक अपने विचारों को इतना उदात्त बना कर चलने लगें तो हमारे सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन की अनेक समस्याओं का अनायास ही समाधान हो सकता है।

१४ पूर्वोक्त कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम अपने देश के अतीतकालीन साहित्य के प्रति आस्था लेकर चलना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझें। उसका मूल मन्तव्य तो केवल इतना ही है कि हम अपने युग-परिवेश की यथार्थता से सदैव अपने आपको परिचित रखें और अपनी दृष्टि को अत्यन्त उदार और विश्वजनीन बना कर आगे बढ़ाना सीखें। महाकवि कालिदास ने तो आज से कई शताब्दी पूर्व मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में 'परप्रत्यय नेय-बुद्धि' वाले व्यक्तियों को मूढ़जनों की संज्ञा दे कर प्राचीन और नवीन से ग्राह्य और त्याज्य वस्तुओं का सार चुनते हुए आगे बढ़ने का सत्परामर्श दिया था। हमारे प्रगतिशील आलोचक चाहें तो उस महाकवि की अमरवाणी से बहुत अधिक रत्नकणों का चयन कर सकते हैं। वस्तुतः सच्चा प्रगतिशील लेखक अथवा समालोचक वही है जो पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह की संकीर्णता का परित्याग कर

चले और जिसमें किसी प्रकार के मतवाद का मिथ्या दम्भ न हो। सच तो यह है कि उसे न केवल अपने अतीतकालीन साहित्य-राशि को ही समेट कर चलना है और न नवीनता के प्रवाह में ही उसकी उपेक्षा करनी है अपितु उसे युग-जीवन के साथ पद-संचार करते हुए सत्साहित्य के प्रति समादर की भावना लेकर चलना है। उसे अपनी रसानुभूति को ऐसा व्यापक और उदात्त क्षेत्र प्रदान करना है जिसमें वह साहित्य की सार्वभौम सत्ता की मुक्ता समझ सके और जिसके द्वारा उसमें "धन्नौरपिमुरणा काम्या दारा बाम्या पुरोऽपि" वाली प्रवृत्ति का उभार हो सके। अभिप्राय यह है कि उसमें एक ऐसी रसग्राहिता होनी चाहिए जिसके द्वारा वह तत्त्वोपलब्धि में सदैव जागरूक रह सके।

१४. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी समालोचना का एक प्रबल पक्ष उसकी सामाजिक उपयोगिता है, अतः उसे समाजशास्त्रीय समालोचना भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रचनाकार अथवा कृति का विवेचन उसके सृजन-काल की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को केन्द्रवर्ती मान कर किया जाता है। इस पद्धति का समालोचक प्रमुख रूप से इसी बात का पता लगाता है कि आलोच्य व्यक्ति अथवा विषय अपनी सामाजिकता को कितनी अधिक सशक्त वाणी दे सका है। यदि उसे कृतिकार अथवा कृति में उसका युग-स्वर अधिक उदात्त रूप में प्रस्फुटित लगता है तो वह उन्हें श्रेष्ठ समझता है अन्यथा जीवन की सरस से सरस उद्भावना करने वाले साहित्य को भी वह सामाजिक परिवेश की अपूर्णता से लांछित कर पूर्ववर्ती साहित्य की समता में हीन कोटि का निर्णीत कर देता है। ऐसा करना समाजशास्त्रीय समालोचक की एकांगिता का सूचक है। बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके भावों और विचारों के निर्माण में समाज का महान् दायित्व रहता है, किन्तु केवल सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि की स्थूलता से ही उसका चेतन अंश नहीं पहचाना जा सकता। सच तो यह है कि व्यक्ति का अहं उसके सामाजिक परिवेश से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और मुख्यतः उसके द्वारा साहित्य को एक सांस्कृतिक प्रयत्न कर में उद्भूत किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि साहित्य-समीक्षा के समय भी ऐसी ही उदार दृष्टि से काम लिया जाए। साहित्य को केवल एक समाजशास्त्रीय भौतिक प्रक्रिया समझने और समालोचना को उसके आर्थिक और वर्गवादी दृष्टिकोण से परीक्षण करने का एकमात्र साधन मानने से ही अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज के युग में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आलोचना का एक व्यापक पक्ष है और उसके द्वारा ही कोई भी समालोचक युग की भाव-सम्वेदना में प्रविष्ट होकर उसका ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता है किन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि समाजशास्त्रीय समालोचना में जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दनों और अन्तर्जगत् की मनोहर कल्पना छवियों की इतनी अधिक उपेक्षा कर दी जाती है जिससे अनेक बार साहित्यालोचन केवल राजनैतिक और आर्थिक समस्यों का अखाड़ामात्र बन कर रह जाता है। यदि हम साहित्य-समीक्षण के समय केवल स्थूल और भौतिकवादी दृष्टि लेकर ही चलते रहें तो अपने-अनेक अतीतकालीन साधकों की काव्य-साधना और उद्भावक-शक्ति के साथ सच्चा न्याय नहीं कर सकेंगे और हमारी समालोचना निश्चय ही प्रचार का एक साधनमात्र बन जायगी। अतः समाजशास्त्रीय समालोचना का आज के युग में महत्त्व होते हुए भी उसकी अपूर्णताएँ भी अप्रकट नहीं हैं।

अपूर्णताएँ और अन्तर्विरोध

१५ प्रगतिवादी समालोचना के प्रतिमान की अपूर्णताएँ आज अनेक सम्भ्रान्त समालोचकों द्वारा उद्घाटित की जा चुकी हैं। इसका मूलाधार मार्क्सदर्शन विचार-क्षेत्र की वह वस्तुवादी दृष्टि है जिसका जीवन की आध्यात्मिक चेतना में कोई विश्वास नहीं है। यही कारण है कि प्रगतिवादी

समीक्षा ने साहित्य की सामाजिकता का तो पर्याप्त पक्ष लिया किन्तु वह उस महान् सत्य की अवहेलना कर बैठी जो मानव-हृदय की चिन्तन संवेदनाओं के रूप में पारस्परिक सौहार्द, सहयोग और स्नेह की कोमल भावनाओं से साकार बनता है। इसी प्रकार वह अपने वर्तमान की प्रतिबद्धता में इतनी अधिक उलझ गई कि उसे मनुष्य की आन्तरिक चेतना और कल्पनाशील प्रवृत्ति का विशेष ध्यान ही न रहा और उसकी दृष्टि में अतीत की स्मृति और भविष्य की आशा केवल भुलावे की भ्रान्ति मात्र प्रतीत होने लगी। सच तो यह है कि तथाकथित प्रगतिवादी समालोचना ने हमें आर्थिक और सामाजिक जीवन की बढ़ती व्यवस्था में इतना अधिक ग्रस्त बना दिया कि हम इस तथ्य को भूल ही गये कि साहित्य का चरम उद्देश्य हमारे मानस में रसानुभूति का संचार करना है और उसका साध्य केवल भौतिकता की उपलब्धि ही नहीं अपितु उस अधिमानसिक चेतना की उपलब्धि है जिसमें वर्गसमाज के सारे बन्धन ध्वस्त होकर केवल व्यक्ति का पावन भाव-लोक ही अमर बन सकता है।

१७ प्रगतिवादी समालोचना का एक दुर्बल पक्ष यह भी है कि इसके समालोचक मूलतः मार्क्सवादी होने पर भी परस्पर बहुत अधिक अन्तर्विरोध रखते हैं। इसका एक प्रमुख कारण तो यही है कि इस प्रणाली के प्रायः सभी आलोचकों में अपने को पूर्ण ज्ञाता मान कर चलने की जो महत्वाकांक्षा है, वह दूसरों के पर्वत जैसे उच्च तथा सागर जैसे गम्भीर ज्ञान को धूलि-कणिकाओं के समान वायु-वेग में उड़ा देना चाहती है। इन प्रगतिवादी समालोचकों की दृष्टि में भी कम मत-वैभिन्न्य नहीं है। सबने अपने-अपने ढंग से प्रगतिवादी साहित्य और समालोचना की व्याख्या की है और मार्क्स की विचारधारा को तोड़-मरोड़ कर अपने पक्ष में कर लिया है। यद्यपि प्रगतिवाद का विश्लेषण करते हुए हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है किन्तु ऐसी पुस्तकों की बहुत कमी है जिसमें विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इस वाद अथवा मान्यता का विश्लेषण किया गया हो। प्रकाशित पुस्तकों में या तो रूस और चीन के लेखकों और राजनीतिज्ञों के पारस्परिक विवाद अथवा विरोध के प्रकरण हैं या अपने साथी समालोचकों के कथनों का कटु शब्दों में खंडन है। किसी ने (डा० रामविलास शर्मा ने) 'प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। तथा श्रेष्ठ साहित्य सर्वत्र प्रगतिशील होता है' (प्रगति और परम्परा पृष्ठ ४१।१) कह कर प्रगतिवाद का विवेचन किया है तो किसी ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अक्षरशः अनुवाद प्रगतिवाद के विवेचन में जोड़ दिया है। यही कारण है कि प्रगतिवाद का स्वरूप हिन्दी समालोचना साहित्य में अत्यन्त प्रौढ़ बन कर उपस्थित नहीं हुआ है जिसके द्वारा तथ्य ग्रहण करने वाले जिज्ञासु को अनेक बार निराश ही होना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा प्रसारकालीन समालोचना की एक प्रमुख प्रवृत्ति अवश्य है पर उसका समन्वयात्मक पक्ष उभरा हुआ नहीं है। इस प्रकार की समीक्षा के प्रमुख समालोचक डॉ० रामविलास शर्मा प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त अमृत राय तथा शिवदानसिंह चौहान आदि हैं, जिनका विवेचन यथा प्रसंग किया जायगा।

(३)

प्रसारकालीन समालोचना की इतर प्रवृत्ति प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा

१८ युद्धोत्तर-युग की समालोचना को प्रसारित बनाने में प्रयोगवादी काव्य और उसकी समीक्षा ने भी अपना अपेक्षित योग दिया है। इस विशेष प्रकार की काव्य-प्रवृत्ति के समालोचक प्रायः वे ही कवि हैं जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य को छायावाद और प्रगतिवाद की कविता से श्रेष्ठ तथा युग-जीवन के साथ चलने वाला निर्दिष्ट किया और पूर्ववर्ती काव्य में ऐसे अनेक अवरोधपूर्ण तत्व अनुसंधित किये जिनसे उनकी दृष्टि से काव्य के प्रकृत स्वरूप का ह्रास हो गया।

इस प्रकार की विचारधारा का समालोचनागत विधान हमें 'तार-सप्तक' नामक काव्य-संग्रह में विशेष रूप से मिलता है जिसकी 'विवृति' में अज्ञेय जी ने प्रयोगवाद के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। 'तार-सप्तक' में जिन सात कवियों की रचनाएँ संकलित हुई हैं, उन्होंने भी अपनी रचनाओं के पूर्व काव्य के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। वस्तुतः 'तार सप्तक' की 'विवृति' और उसमें संकलित कवियों का स्पष्टीकरण ही प्रयोगवाद का स्वरूप निर्दिष्ट करने का सर्वप्रमाणित घोषणा-पत्र कहा जा सकता है जिसको उपजीव्य बना कर अन्य आलोचकों ने समालोचनाएँ लिखी हैं। इस प्रकार की समालोचना-प्रवृत्ति के हमें दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। पहले रूप में तो प्रयोगवादी कवि-समीक्षकों की अपनी उद्भावनाएँ हैं जिनमें प्रयोगवाद की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा गया है और दूसरे रूप में उन समालोचकों की विवेचनाएँ हैं जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य-समीक्षण में अनेक प्रकार की असंगतियाँ तथा भ्रान्तियाँ पा कर साहित्य-हितचिन्तन की दृष्टि से उनके पूर्वग्रही-पक्ष का खंडन किया है और साहित्य के सम्बन्ध में चिरंतन तथा उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। यद्यपि समालोचना की यह प्रवृत्ति समीक्षा-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान नहीं बना सकी है क्योंकि इसकी विचार परिधि स्वतः ही अत्यन्त सिमट चुकी है किन्तु अनुशासन प्रसार-काल में इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। सम्भव है, इसके प्रयोग अपने अन्वेषण-कार्य में साहित्य का शाश्वत सौन्दर्य-विधान उपलब्ध कर सकें और उनकी राह में उन समालोचकों की विवेचनाएँ पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकें जो प्रत्येक युग की कविता में अपने पूर्ववर्ती युग से वस्तु तथा शैलीगत नवीनता को अनिवार्य समझ कर इस विशेष प्रकार की रूढ़िग्रस्त काव्य-परम्परा को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा का स्वरूप

१९. आजकल हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रयोगवादी रचनाओं का उद्घोष अत्यन्त तार-स्वर से किया जा रहा है। इन रचनाओं के मूल में जीवन की किस सामाजिक और मानसिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु यह एक असंदिग्ध बात है कि इसके निर्माताओं को अपनी नई सूझ-बूझ पर यथेष्ट गर्व है। एक प्रकार से प्रयोगवाद का नामकरण-संस्कार भी उन्हीं के मस्तिष्क की उपज है। उन्होंने साहित्य को भी एक प्रकार के प्रयोग का नाम देकर अपनी रचनाओं के प्रस्तुत विषयों और विचारधाराओं का विवेचन अपने ही ढंग से किया है। आजकल प्रयोगवादी काव्य हिन्दी-जगत् की नव्यतम प्रवृत्ति समझी जाती है और इसके रचयिता अपने मानसिक और बौद्धिक विवेचन में किसी भी उत्कर्ष प्राप्त साहित्यकार की चेतना से स्वयम् को हीनकोटि का नहीं समझते। उनकी सम्मति में छायावाद और प्रगतिवाद पुराने हो चुके क्योंकि उनमें उन्हें जीवन की वह चेतना नहीं मिलती जो साहित्य को संजीवनी प्रदान करती है। इन प्रयोगवादी रचयिताओं ने रचनात्मक साहित्य के नाम पर अनेकानेक छोटे-बड़े तथा संकीर्ण और प्रकीर्णक विषयों पर काव्य-रचनाएँ की हैं और उनके समर्थन में असंख्य तर्क-वितर्क भी प्रस्तुत किये हैं। किसी समय ये रचनाएँ केवल पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर-कक्ष में अपना आकार ग्रहण कर रह गई थीं किन्तु कालानुक्रम से जब उन्हें नवीनता के नाम पर आवश्यकता से अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया गया तो उनके निर्माता उन्हें काव्य का जीवंत स्वरूप मान बैठे। वैसे तो अनेक काव्यकारों ने विभिन्न विषयों पर प्रयोगवाद के नाम पर कविताएँ लिखी हैं, किन्तु उनको सर्वोपरि महत्ता श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के द्वारा दी गई है। अज्ञेयजी ने 'तार-सप्तक' की सम्पादन 'विवृति' में प्रयोगवाद के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त कर प्रयोगमयी समीक्षा-शैली में उसका प्रबल संस्तव किया है। उनका विवेचन प्रयोगवाद के समर्थन में वैसा ही है जैसा छायावाद की अभ्यर्थना में पंत जी के पल्लव का 'प्रवेश' किन्तु इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य रहा है कि

समीक्षा ने साहित्य की सामाजिकता का तो पर्याप्त पक्ष लिया किन्तु वह उस महान् सत्य की उपेक्षा कर बैठी जो मानव-हृदय की विभिन्न संवेदनाओं के रूप में पारस्परिक सौहार्द सहयोग और स्नेह की कोमल भावनाओं से साकार बनता है। इसी प्रकार वह अपने वर्तमान की प्रति बाधिता में इतनी अधिक उलझ गई कि उसे मनुष्य की आन्तरिक चेतना और कल्पनाशील प्रवृत्ति का विशेष ध्यान ही न रहा और उसकी दृष्टि में अतीत की स्मृति और भविष्य की आशा केवल भुलावे की भ्रान्ति मात्र प्रतीत होने लगी। सच तो यह है कि तथाकथित प्रगतिवादी समालोचना ने हमें आर्थिक और सामाजिक जीवन की जड़वादी व्यवस्था में इतना अधिक ग्रस्त बना दिया कि हम इस तथ्य को भूल ही गये कि साहित्य का चरम उद्देश्य हमारे मानस में रसानुभूति का संचार करता है और उसका साध्य केवल भौतिकता की उपलब्धि ही नहीं अपितु उस अतिमानसिक चेतना की उपलब्धि है जिसमें वर्गसमाज के सारे बन्धन ध्वस्त होकर केवल व्यक्ति का पावन भाव-लोक ही अमर बन सकता है।

१७ प्रगतिवादी समालोचना का एक दुर्बल पक्ष यह भी है कि इसके समालोचक मूलतः मार्क्सवादी होने पर भी परस्पर बहुत अधिक अन्तर्विरोध रखते हैं। इसका एक प्रमुख कारण तो यही है कि इस प्रणाली के प्रायः सभी आलोचकों में अपने को पूर्ण ज्ञाता मान कर चलने की जो मनोवृत्ति है वह दूसरों के पर्वत जैसे उच्च तथा सागर जैसे गम्भीर ज्ञान को धूलि-कणिकाओं के समान वायु-वेग में उड़ा देना चाहती है। इन प्रगतिवादी समालोचकों की दृष्टि में भी कम मत-वैभिन्न्य नहीं है। सबने अपने-अपने ढंग से प्रगतिवादी साहित्य और समालोचना की व्याख्या की है और मार्क्स की विचारधारा को तोड़-मरोड़ कर अपने पक्ष में कर लिया है। यद्यपि प्रगतिवाद का विश्लेषण करते हुए हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है किन्तु ऐसी पुस्तकों की बहुत कमी है जिसमें विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इस वाद अथवा मान्यता का विश्लेषण किया गया हो। प्रकाशित पुस्तकों में या तो रूस और चीन के लेखकों और राजनीतिज्ञों के पारस्परिक विवाद अथवा विरोध के उद्धरण हैं या अपने साथी समालोचकों के कथनों का कटु शब्दों में खंडन है। किसी ने (डा॰ रामविलास शर्मा ने) 'प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। तथा श्रेष्ठ साहित्य सर्वत्र प्रगतिशील होता है' (प्रगति और परम्परा पृष्ठ ४१।५) कह कर प्रगतिवाद का विवेचन किया है तो किसी ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अक्षरशः अनुवाद प्रगतिवाद के विवेचन में जोड़ दिया है। यही कारण है कि प्रगतिवाद का स्वरूप हिन्दी समालोचना साहित्य में अत्यन्त प्रौढ़ बन कर उपस्थित नहीं हुआ है जिसके द्वारा तथ्य ग्रहण करने वाले जिज्ञासु को अनेक बार निराश ही होना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा प्रसारकालीन समालोचना की एक प्रमुख प्रवृत्ति अवश्य है पर उसका समन्वयात्मक पक्ष उभरा हुआ नहीं है। इस प्रकार की समीक्षा के प्रमुख समालोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा प्रो॰ प्रकाशचन्द्र गुप्त अमृत राय तथा शिवदानसिंह चौहान आदि हैं, जिनका विवेचन यथा प्रसंग किया जायगा।

(५)

प्रसारकालीन समालोचना की इतर प्रवृत्ति प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा

१८. युद्धोत्तर-युग की समालोचना को प्रसारित बनाने में प्रयोगवादी काव्य और उसकी समीक्षा ने भी अपना अपेक्षित योग दिया है। इस विशेष प्रकार की काव्य-प्रवृत्ति के समालोचक प्रायः वे ही कवि हैं, जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य को छायावाद और प्रगतिवाद की कविता से श्रेष्ठ तथा युग-जीवन के साथ चलने वाला निर्दिष्ट किया और पूर्ववर्ती काव्य में ऐसे अनेक अवरोधपूर्ण तत्व अनुसंधित किये जिससे उनकी दृष्टि से काव्य के प्रकृत स्वरूप का ह्रास हो गया।

इसी से साहित्य का सम्मिलन मात्र कंठित कर दिया जाता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इन प्रयोगवादी समीक्षाओं में नवीनता के नाम पर कुछ नूतन प्रयोग और चमत्कार दिखाने की जितनी प्रवृत्ति है, उतनी सत्साहित्य के स्वरूप निर्धारण की नहीं। तत्त्व की बात तो यह है साहित्य-समीक्षा का कोई न कोई जीवन-उद्भूत आधार अवश्य होना चाहिए और यह कोई आवश्यक नहीं है कि वह सर्वथा शास्त्रसम्मत ही हो किन्तु उसमें जीवन की चेतना के मूल तत्त्वों की उपेक्षा करना साहित्य की जीवनदायिनी शक्ति को जड़ बनाना है।

प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा के विभिन्न दृष्टिकोण

४२ जब हमारी दृष्टि में प्रयोगवाद का कोई पुष्ट और व्यवस्थित स्वरूप-विधान ही नहीं बन पाता तो उसका तात्त्विक विश्लेषण किस आधार पर किया जाय यह कम उलझन का विषय नहीं है। प्रयोगवादी काव्यकारों की प्रवृत्ति एवम् प्रकृति का विवेचन करते हुए अज्ञेयजी लिखते हैं 'उनमें मतैक्य नहीं है सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग-अलग है, जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में काव्य-वस्तु और शैली छन्द और तुक तथा कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहां तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं सिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता उद्योगों का समाजीकरण यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि वे सब एक दूसरे की रुचियों कृतियों और आशाओं विश्वासों पर एक दूसरे की जीवन परिपाटी पर और यहां तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।"[1] अज्ञेय जी प्रयोगवाद के सबसे बड़े समर्थक हैं और उन्होंने इसके रचयिताओं के मानसिक उत्थान के विषय में कदाचित् बड़ी विवेक-बुद्धि से उपर्युक्त धारणा व्यक्त की है अतः इसी के आधार पर यदि प्रयोगवाद को समझने का प्रयास किया जाय तो भी उसमें किसी निश्चित् दृष्टिकोण की उपलब्धि नहीं हो सकती। उनके विवेचन से इतनी ध्वनि अवश्य निकलती है कि वे प्रयोगवादियों को विश्व के महान् मनीषियों की कोटि का समझते हैं और उनके मत-वैभिन्न्य को भी युक्तापूर्ण कहते हैं। माना कि विश्व में महापुरुष अपने विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग औपचारिक दृष्टि लेकर अवतीर्ण होते हैं और कार्य-तत्पर बनते हैं किन्तु अन्ततोगत्वा वे भी तात्त्विक दृष्टि से एक ही सत्य पर पहुँचते हैं पर इन प्रयोगवादियों में तो ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार प्रयोगवादियों को जिस अर्थ में अन्वेषी कहा गया है उसका अर्थ भी तो इसके समीक्षक स्पष्ट नहीं कर पाते। अज्ञेय जी ने भाषा-विषयक अन्वेषण को लेकर प्रयोगवादियों की जो मौलिकता निरूपित की है वह भी चिन्त्य है। उनका यह कहना भी व्यवहार्य नहीं है कि प्रयोगवादी रचयिता अपनी उलझी हुई सम्वेदना की सृष्टि को पाठकों के पास पहुँचाने की नीयत से अपना प्रयोग करते हैं। प्रश्न है कि वह उलझी हुई संवेदना क्या है अज्ञेयजी के पास इसका कोई निश्चित् उत्तर नहीं है। वे इस प्रसंग में भी अपनी मनोविश्लेषक प्रवृत्ति का समावेश कर आन्तरिक और बाह्य संघर्ष को उलझी हुई संवेदना का कारण निर्दिष्ट करते हैं और आंतरिक संघर्ष के फलस्वरूप आज के मानव-मन को ऐसी यौन-कल्पनाओं से लदा हुआ बतलाते हैं जो दमित और कुण्ठित हो गई हैं। यहाँ तक कि अज्ञेयजी के मतानुसार तो आज के मानव की सौन्दर्य-चेतना भी इन्हीं यौन-कल्पनाओं से आक्रान्त है और इसीलिए उनके उपमान भी यौन प्रतीकार्थ रखते हैं। अज्ञेय जी ने बाह्य संघर्ष का भी स्पष्टीकरण किया है और बतलाया है कि आज का प्रयोगवादी अपनी उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति में इतना अधिक आकुल रहता है जिसका प्रतिफल ही प्रयोगवादी रचनाएँ हैं।

---

१ 'तार-सप्तक' की सम्पादकीय विज्ञप्ति में अज्ञेय जी का वक्तव्य।

पंत जी ने ब्रजभाषा और मध्यकालीन साहित्य पर अनेक प्रकार के उचितानुचित व्यंग्य और प्रहार करते हुए भी उनके काव्य-गुणों की यत्किंचित् प्रशंसा भी की है, जबकि अज्ञेय जी तथा अन्यान्य प्रयोगवादी समीक्षकों की सहानुभूति अन्य वादों के प्रति प्रायः नहीं के बराबर रही है।

समीक्षा की तर्कभित्ति और मौलिक व्यवस्था का परीक्षण

४ प्रयोगवादी साहित्यकारों और समीक्षकों के पास अपने समर्थन के विशेष तर्क हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपने मत-समर्थन की विवेचना प्रस्तुत की है और कर रहे हैं। उनके विवेचन में परस्पर मत-वैभिन्न्य की मात्रा भी इतनी अधिक है कि उनकी मान्यताओं को किसी *एक तर्कसम्मत धरातल पर प्रवस्थित नहीं कहा जा सकता।* अज्ञेय जी ने 'तार-सप्तक' में जिन प्रयोगवादियों को एक ही खूंटे पर बाँधने का प्रयास किया है वे अलग-अलग रस्से तुड़ाकर बैठे भागना चाहते हैं। उन्हें प्रयोगवादी काव्यकार न जाने किस अर्थ में किसी एक स्कूल के न होने के कारण ही महान् समझते हैं और वे उन्हें राही नहीं 'राहों के अन्वेषी' समझते हैं। अज्ञेय जी का विवेचन उससे और अधिक स्पष्टीकरण चाहता है, क्योंकि उसमें मनोविश्लेषणवादियों की मानसिक कुंठाओं की भाँति अनेक उलझनों की गाँठें विद्यमान हैं। अच्छा होता यदि अज्ञेय जी उस राह का निर्देश करते जिसका अन्वेषण करने के लिए ये राही अपनी प्रयोगवादिता में ही भटक रहे हैं। समझ में नहीं आता कि हमारे प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षक किसी नवीन सिद्धान्त या विचारणा की सृष्टि करने की धुन में जीवन के चिरंतन सत्यों के रूप में अभिव्यक्त साहित्य की शाश्वत परम्परा से क्यों चिढ़े हुए हैं? माना कि जीवन में प्रयोग का महत्त्व होता है जो हमें किसी नवीन प्रयास या नूतन निर्माण-चेष्टा के लिए प्रेरणा देने का कारण बनता है किन्तु यह प्रयोग किसी सांस्कृतिक और पुष्ट धरातल पर भी तो अवस्थित होना, चाहिए। आधुनिक साहित्य-समीक्षा में प्रयोगवाद के नाम पर जो साहित्य-सृजन और समीक्षण आजकल हमारे सामने आ रहा है, उसकी *मूलभित्ति किसी ठोस आधार से नितान्त ही हीन है। नवीनता के नाम पर किसी प्रकार से यह बाना साहित्य और जीवन-निर्माण का कोई सम्यक् सबल नहीं कहा जा सकता।* वस्तुतः साहित्यकार अपने जीवन की बाजी देकर साहित्य-वृन्त पर भाव-पराग का प्रस्फुटन करता है, अतः उसको किसी प्रयोग के शुष्क मरुस्थल में भटकाना कदाचित् ही सुवास-रस की प्राप्ति का उपादान बन सके।

४१ वैसे तो प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा में अनेक प्रकार के अस्तव्यस्त और विकीर्ण विचार व्यक्त किये गये हैं और उस परम्परा का अन्त भी अभी नहीं है किन्तु उनसे किसी मौलिक और व्यवस्थित सत्य की उपलब्धि हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। हाँ, यदि कोई तत्त्व जिज्ञासु इनके समर्थक समालोचकों के विचार-कणों का समन्वय कर किसी निश्चित धारणा पर पहुँचना चाहे तो उसे प्रकीर्ण सूत्रों के रूप में कई प्रकार की जानकारी हो सकती है। प्रयोगवादी समीक्षकों की अपने विषय में सबसे विचित्र मान्यता तो यह है कि चूँकि आत्माभिव्यक्ति अपने में सम्पूर्ण और निरपेक्ष नहीं होती अतः किसी कवि की कृति को स्वान्तः सुखाय कहना युक्तिसंगत नहीं है। अच्छा होता यदि वे प्रयोगवादी समीक्षक अपनी इस अनोखी धारणा को अपने सृजन पर ही घटित कर संतोष कर लेते किन्तु उन्होंने इस प्रतिमान से विश्व के सभी महान् साहित्यकारों को नापना चाहा है और उन्हें भी *स्वानुभूति की प्रेरणा से साहित्य लिखने वाला नहीं माना है।* आश्चर्य तो यह है कि हिन्दी के सर्वस्व और अमर कवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस के प्राक्कथन-रूप में *'रघुनाथ-गाथा' को जिस रूप में 'स्वान्तः सुखाय' कहा है, वह भी इन प्रयोगवादियों को नहीं जंचता।* इस प्रकार उनका विवेचन जहाँ अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए किया गया मनमाना प्रयास है, वहाँ उसका अन्य साहित्यकारों की काव्य प्रतिमा पर भी प्रयोग वस्तुतः शुभ लक्षणों से युक्त नहीं कहा जा सकता। ऐसे एकांगी दृष्टिकोण साहित्य-समालोचना में विघटन लाने के कारण बनते हैं

प्राप्त होते हैं। इसके बजाय हमें राग और तान में पूरित ऐन्द्रिक मार्मिकाश्रित और अभिप्राय मूर्त विधान करना है।[1] स्पष्ट है आलोचक महोदय ने साहित्य के विद्यापीठ से अपना यह निर्णय दिया है पर प्रश्न यह है कि जिस मूर्त-विधान की वे बातें कहते हैं, क्या वैसा वे करते भी हैं? सच तो यह कि उनका यह मन्तव्य स्वतः उनसे प्रयोगों से आपूरित है। वे हिन्दी-कविता में जिस प्रकार का विकास वांछनीय समझते हैं, वह क्या उनके द्वारा लाया जा रहा है अथवा सचमुच पूर्ववर्ती काव्य इतना सड़ गया है जिसकी चेतना सर्वथा लुप्त-सी हो चली है। मुझे तो इनके ये प्रयोग साहित्य और जीवन की शाश्वतता का खण्डित करने वाले से लगते हैं और इनके प्रचारक साहित्य-क्षेत्र में किसी मेधावी समालोचक का अंकुश न मानने के कारण ही इस प्रकार के उपक्रम में लगे हैं। यदि साहित्य सृजन और समालोचना के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयोग ही चलते रहे, तब तो साहित्य की अभिवृद्धि अंधकारमय ही रहेगी और वाल्मीकि, कालिदास सूर, तुलसी भारतेन्दु और प्रसाद आदि का गौरव दिग्भ्रांत बना दिया जायगा। अतः आज के उत्तरदायी समालोचकों का यह प्रथम कर्तव्य है कि वे इस प्रकार के प्रयोगों को निष्पक्ष दृष्टि से परखें और साहित्य-मन्दिर के अमररत्नों के बीच ऐसे कृत्रिम काँच के टुकड़े न लगने दें जो उनकी श्रीसम्पन्नता और गुरुता को खंडित करने वाले हों।

५४ जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, प्रयोगवादी समीक्षकों का दृष्टिकोण वस्तुतः भ्रांतिग्रस्त है। उनके विवेचन के द्वारा तो कदाचित् ही किसी प्रकार की सात्विक उपलब्धि हो सके। अतः उनके विश्लेषण से जो कुछ टूटे फूटे तथ्य हाथ लग सकें उन्हें ही प्रयोगवादी साहित्य के उपादान समझ लेना चाहिए। इस दृष्टि से तो यही कहना समीचीन है कि प्रयोगवादी साहित्य केवल वैचित्र्य-पूर्ण और बुद्धि के अजीर्ण से उद्भूत साहित्य है जिसके रचयिता न तो अपनी वैयक्तिक अनुभूति के प्रति सच्चे हैं और न सामाजिक दायित्व को निभाने में ही सक्षम। सच तो यह है कि उनकी रचनाओं को काव्य की भूमि में परिगणित करना भी एक प्रकार का दुस्साहस पूर्ण कार्य है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि आज का प्रयोगवादी साहित्य अपनी जीवन शक्ति के अभाव में स्वतः विचारकों का स्नेह और सौहार्द खोता जा रहा है। उसमें यह सरसता ही नहीं जो पाठक हृदय-संवेद्य बन सके फिर भला ऐसे जीवन-स्पन्दनहीन साहित्य को उसके उद्भावक अपनी किस प्राण-चेतना का इंजेक्शन लगा कर कब तक जीवित रख सकेंगे, यह एक विचारणीय प्रश्न है। वस्तुतः सच्चे साहित्य-समीक्षकों का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे आज के विकासोन्मुख जगत् में साहित्य का चिरंतन महत्त्व समझें और जिन तपस्याओं और साधनाओं ने हिन्दी के मस्तक को गौरव पूर्ण बना कर विश्व-साहित्य की समता में एक विशिष्ट स्थान प्रदान कराया है उन पर अपनी उच्छृंखलता की धूमिल छाया न पड़ने दें। आज हिन्दी भाषा और साहित्य को भारत का नेतृत्व करने का जो सम्मान प्राप्त हुआ है उसकी गुरुता का परिवहन हमारा यह सामयिक प्रयोगवादी साहित्य अपने निर्बल कंधों पर कैसे कर सकेगा, यह हमारी आज की ज्वलन्त समस्या है। इसके निराकरण के लिए जितना जल्दी समुचित प्रयत्न किया जाय उतना ही शोभनीय है।

५५. प्रयोगवादी साहित्य के सम्बन्ध में मुझे इतना अधिक इसलिए भी लिखना पड़ा कि वह हमारी आधुनिक समालोचना का एक प्रमुख आलोच्य विषय बन रहा है और उसे आज के युगीन साहित्य की सच्ची उद्भावना का रूप दिया जा रहा है। इतना ही नहीं प्रयोगवाद के नाम से प्रचलित रचनाओं की प्रशंसा में ऐसी-ऐसी बातें भी लिखी जा रही हैं जो केवल अपनी चमक दमक और ऐन्द्रजालिक क्रियाओं से सम्बलित-सी हैं। हो सकता है, प्रयोगवाद आज की एक छोटी बड़ी या किसी भी प्रकार की आवश्यकता हो और उसमें साहित्य की सम्पुरकशीलता के तत्त्व छिपे

१ मन्मथ जागरे 'प्रायश्चित्त, कल्पना' पृ० ११ ११।

उनका सत्य और प्रेम आदि के विषय में भी अलग दृष्टिकोण है। सारांश यह कि प्रयोगवाद का अभी तक कोई सुस्पष्ट रूप न तो रचनात्मक साहित्य के द्वारा ही व्यक्त हो सका है और न समालोचना-शास्त्र के रूप में ही। उनके विवेचन के निष्कर्ष के रूप में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य की जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है "उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति *के लिए अथवा अज्ञेय क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरों पीछे या उलटे* अक्षरों आदि का प्रयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियों की रचना"[1]। स्पष्ट है कि वाजपेयी जी ने प्रयोगवाद की यह सामान्य परिभाषा प्रयोगवादी समीक्षकों *की शब्दावली को ही लेकर निर्मित की है जिसका मूल अभिप्राय यही सिद्ध करने का है कि वे तथा*कथित प्रयोगवादी अपने विषय में चाहे जितनी अहम्मन्यता का विज्ञापन करें किन्तु उनका साहित्य-समालोचन *किसी तात्विक आधार पर अवस्थित नहीं है।*

अन्य मान्यताएँ और आक्षेप

४१ प्रयोगवाद के समर्थकों ने अपने पक्ष-समर्थन में अनेक प्रकार की बातें कही हैं। यदि वे केवल प्रयोगवाद का ही संस्तवन करते तब तो फिर भी गनीमत थी किन्तु उन्होंने अपने वाद *की अभ्यर्थना में जो अन्य वादों को आड़े हाथों लिया है वह अशोभनीय है। यह एक अजीब बात* है कि कोई अपने महत्त्व प्रदर्शन के लिए दूसरों पर मनमानी छींटाकशी करे। प्रयोगवादियों ने ऐसा ही किया है। इस सम्बन्ध में अज्ञेय जी ने जो कुछ कहा अथवा लिखा है उसका तो सामान्य परिचय दिया ही जा चुका है। उनके अतिरिक्त जो अन्य समालोचक हैं उन्होंने भी अनेक अतार्किक और असंबद्ध चर्चाएँ अपनी समीक्षाओं के अन्तर्गत की हैं। उदाहरण के लिए श्री प्रभाकर माचवे को *लिया जा सकता है। उन्होंने प्रयोगवाद के समर्थन में तो अनेक बातें लिखी ही हैं किन्तु उनकी* चपेट में छायावाद और प्रगतिवाद भी आने से भी नहीं बच सके हैं। उनका कहना है कि "छायावाद तो हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी-कविता का एक मानसिक रोग है और प्रगतिवाद दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाला पौरुष की सीमा पर पहुँचा हुआ पर पीड़न प्रेम। प्रयोगवाद इन दोनों के छोरों को मिलाने में उपयोगी हुआ है"।[2] प्रश्न होता है कि जब प्रयोगवाद हिस्टीरिया के प्रतीक *छायावाद और पौरुषपूर्ण प्रगतिवाद की ही उपज है तो उसमें उन्हें किस प्रकार काव्य के उदात्त* गुण मिलते हैं। इसका समाधान न तो उनके पास है और न उन्हें इस बात की आशंका है कि कोई उन्हें इस प्रकार की मनमानी विवेचनाओं के लिए उत्तरदायी ही बना सकता है। और तो और, प्रयोगवादी रचनाओं के छिछलेपन को वे जिस आडम्बरपूर्ण शब्दावली से भरना चाहते हैं वह और भी अधिक अक्षम्य है।[3] कठिनाई तो यहाँ तक है कि इन साहित्य-समीक्षकों के पास न तो *विवेचन का कोई शास्त्रीय आधार ही है और न अनुभूतिजन्य कोई तर्क ही। उन्हें तो जैसे* काव्य-क्षेत्र में प्रयोग करना अभीष्ट है, उसी प्रकार आलोचना-क्षेत्र में भी। उनकी निम्नलिखित शब्दावली से न तो किसी तथ्य की प्राप्ति होती है और न कोई नवीनता का पुष्ट स्वरूप ही मिलता है। जैसे 'हिन्दी में प्रयोगशील अभिव्यंजना या प्रयोगवादी कविता के मध्यमार्ग पर चलने की आवश्यकता और गुंजाइश है। हिन्दी कविता के विषयों की विविधता व्यंग्य का तीखा और सुरुचिपूर्ण *प्रयोग प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि आदि का विकास होना चाहिए। हमारी कविता* में पाये जाने वाले अधिकांश कल्पना-चित्र या बिम्ब शब्दों के ये निरे शाब्दिक सहस्मृत या परम्-

१ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य' पृष्ठ ७८।

२. प्रभाकर माचवे 'तार-सप्तक' वक्तव्य पृष्ठ ५१।

३ वही पृ० ५१ ५२।

'विवेचना' 'साहित्य-सर्जना' (पं० गंगाप्रसाद पांडेय के साथ), 'साहित्य-चिन्तन' और 'देखा-परखा' नामक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उन्होंने आधुनिक साहित्य की मनोविश्लेषण वादी प्रवृत्तियों का निरूपण मुख्य रूप से किया है। उनकी समालोचनाओं का मुख्य विवेच्य विषय वाद-विश्लेषण और उपन्यास-साहित्य कहा जा सकता है, जिसकी पार्श्वभूमि में अन्य भारतीय भाषाओं तथा पाश्चात्य साहित्यों के लेखकों का भी यथाप्रसंग विवेचन हुआ है। मुक्तोत्तर-युग के अन्य वाद-समर्थक समालोचकों की भाँति उनमें भी अपनी मान्यताओं के प्रति विशेष आस्था है और वे प्रगतिवादियों के दृष्टिकोण में रूढ़िवादिता और हठधर्मी की मात्रा अधिक पाते हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगतिवाद और मनोविश्लेषणवाद के एकांगी सिद्धान्तों को लेकर हिन्दी समालोचना-साहित्य में जो बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा और जिसका अन्त भी अभी नहीं हुआ है उसका जोशीजी पर भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और वे भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपूर्ण और अवैज्ञानिक सिद्ध करने के लिए उद्यत हो गये। प्रगतिवाद की मान्यताओं पर आक्रमण करते हुए वे कहीं-कहीं तो इतने अधिक असंयमित बन गये हैं कि उन्हें 'मूर्खतापूर्ण' तक कहने में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ है। जोशीजी का इस प्रकार का आक्षेप अत्यन्त निर्मम और एकांगी-सा है। बात यह है कि प्रगतिवाद अपने में जितना अधिक उलझा हुआ नहीं है उतना उसके समर्थकों और विरोधियों ने बना दिया है। जोशी जी ने अपनी दृष्टि से भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता की परम्परा का ऐतिहासिक विवेचन कर यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इसका एक स्वाभाविक क्रम है जिसे उनके दृष्टिकोण से ग्रहण करना समीचीन है। उन्होंने प्रगतिवादी साहित्यकारों और समालोचकों को यह सम्मति दी है कि वे 'उनके नये प्रगतिवाद का अनुसरण' करें जिसमें वास्तविक बाह्य प्रगति तथा आन्तरिक प्रगति को समान समन्वयात्मक रूप से अपनाया गया है।"[2] इस प्रकार जोशी जी के अनुसार नूतन प्रगतिवाद रूढ़िवादी प्रगतिवाद से भिन्न है किन्तु उनकी दृष्टि भी एकपक्षीय हो सकती है, इस तथ्य की ओर उनका ध्यान कम गया है।

४७ जोशी जी को साहित्यकार की अन्तश्चेतना पर बहुत अधिक विश्वास है। उनकी विचारधारा में फ्रायड की मान्यताओं का कहीं-कहीं इतना अधिक प्राबल्य है कि वे आदर्शपूर्ण भारतीय साहित्य को भी केवल उसी के प्रतिमान से विवेचित करने के लिए उद्यत हो गये हैं। जिन भक्त-कवियों ने राम-कृष्ण को अपना आराध्य बना कर काव्य कला की लोकोत्तर स्थिति और ब्रह्मानन्द सहोदरता का विकास किया था उनके अवचेतन पर भी वे दमित वासनाओं की ही छाया देखते हैं और कालिदास आदि की कृतियों में भी दमित युग भावना के प्रति विद्रोह मानते हैं। उन काव्यकारों का आत्म विश्लेषण करते हुए अपनी विवेचना के अन्तर्गत उन्होंने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि "इस प्रकार अपने अन्तर्मन की वासना-विस्फूर्जित कल्पनाओं को ब्रह्मानन्द की अलौकिक फैंटेसी से एक रूप में मिला कर वे लोग स्वयं मूर्खों के काल्पनिक स्वर्ग में रहना पसन्द करते थे और जनता को भी उसी मूर्खतापूर्ण गोरख-धन्धे में (जिसे काव्यशास्त्र विनोद का भारी भरकम नाम दिया जाता था) भरमाते रहने में सुख प्राप्त करते थे।"[3]

४८ इलाचन्द्र जी ने संस्कृत के साहित्यकारों के मनोविश्लेषण में भी अतृप्त कामवासना की झलक देखी है और हिन्दी के भक्तिकाल तथा रीतिकाल को तो केवल उसी के उत्तेजन से युक्त सिद्ध किया है। उन्होंने जयदेव आदि कवियों की शृंगारिकता को अत्यन्त अस्वस्थ और विकृत बतलाया है और वे उसे दमित यौनवृत्ति के विकारों से ग्रस्त मानस का प्रलाप मात्र मानते हैं।[4]

---

१ पं० इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना' की भूमिका, पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ २।
३ वही, पृष्ठ ८।
४. वही, पृष्ठ १।

हुए हों, किन्तु क्या प्रयोग की यही दिशा उपयुक्त है जिसकी ओर हमारे ये प्रयोगवादी साहित्यकार बढ़ रहे हैं ? सच तो यह है कि प्रयोगवाद के नाम पर मिथ्या-प्रचार ने हमारे अनेक उदीयमान सुकुमार मति साहित्यकारों को भी कम दिग्भ्रान्त नहीं बनाया है। उन्होंने अपने समालोचकों की विचारदृष्टि के आधार पर यही समझ रखा है कि उल्टी सीधी पंक्तियों में किसी प्रकार की शब्द-अभिव्यंजना कर देना ही प्रयोगवाद के लिए पर्याप्त है जो वस्तुतः एक भ्रांत दृष्टिकोण है। ऐसा करने का परिणाम यह भी हुआ है कि प्रयोगवादी रचनाओं में काव्य की भावात्मकता अथवा रचयिता की आत्मानुभूति का नैसर्गिक अभिव्यंजन हो नहीं पाता और उनके रचयिता उन्हीं तिरछी लकीरों या टेढ़े-मेढ़े शब्दों में जो कुछ प्रयोग कर देते हैं उन्हें मान्य वाक्य समझ कर उनके प्रशंसक उन्हें मार्ग प्रयोग सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वस्तुतः बात यह है कि प्रयोगवादी साहित्य के नाम पर आज अनेक हल्की वस्तुएं हमारे साहित्य में प्रविष्ट होती जा रही हैं और काव्य-हेतु और प्रयोजन लक्ष्य-भ्रष्ट हो कर 'चेंवें धम बढ़ाह' या टूटी चूड़ी के टुकड़ों में ही सिमटने लगा है। इतना ही नहीं अनेक बार तो जीवन-विज्ञान और मनोविज्ञान आदि की मान्यताओं का विकृत प्रस्थापन ही प्रयोगवादी काव्य का अंतरंग बन कर उपस्थित होता है, जिससे काव्य कहा जाने वाला 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' या 'रसात्मक वाक्य' नष्टप्राय हो रहा है। ऐसे प्रचार से काव्य-क्षेत्र जड़-वस्तुओं का अजायबघर या भावों का विनबाड़ मात्र बनने लगा है जिसमें प्रयोगवादियों की वर्णित तस्वीरें अपना अभिनव प्रदर्शन करने के गर्व में अपनी पूर्वसंचित निधि को खो भी रही हैं। पता नहीं वे किस प्रकार की आत्मकुंठा से प्रपीड़ित होकर अपनी संस्कारगत भावराशि को ठुकराते हुए नई परम्परा का सूत्रपात करने के लिए उन्मुख हैं। मेरे विचार से प्रयोग की वही दिशा अधिक विवेक सम्मत कही जा सकती थी जिसमें हमारे ये प्रयोगवादी साहित्यकार जीवन की संवेदना को प्रमुखता देकर और उसी का रस लेकर नई विचार-धाराओं और जीवन-दर्शन का अन्वेषण करते पर ऐसा बहुत कम हो रहा है। प्रतीत होता है कि अपनी इस भूल का कुछ-कुछ आभास इनको भी होने लगा है और वे अपनी कृतियों को अपने मनचेतन की भाँति ही जीवन की भूल समझने लगे हैं फिर भी परम्परा बन पड़ी है उसको परित्यक्त करने का वे मोह-संवरण भी नहीं कर पाते। अस्तु, प्रयोगवादी आज के युग-जीवन की एक क्षणिक प्रतिक्रिया है जिसका आधार अत्यन्त दुर्बल है और इसी कारण यह धूमकेतु की चमक दिखला कर शनैः-शनैः अन्धकार में विलीन होने लगा है क्योंकि उसमें जीवन के, प्रोत्साहित साहित्य के तत्त्वपूर्ण ग्रहण करने की शक्ति या सामर्थ्य का अभाव है। इस प्रकार की साहित्य-समीक्षा में विविध तत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के अभाववश मैंने उसका केवल सामान्य स्वरूप ही विवेचित किया है। आगे के पृष्ठों में अब प्रसारकालीन समालोचना के प्रमुख समीक्षकों का विवेचन कर उनकी मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया जायगा। इन समालोचकों में पं० इलाचन्द्र जोशी श्री प्रभाकर माचवे डा० रामविलास शर्मा और प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रधान हैं।

प्रसारकाल २ के प्रमुख समालोचक और उनका विवेचन

(१)

पं० इलाचन्द्र जोशी

४६. पं० इलाचन्द्र जोशी मूलतः कथाकार हैं और मानव-मनोविश्लेषण की अन्तश्चेतना को अपनी कथाओं का मूल आधार बना कर चलते हैं, अतः उनकी समालोचनाओं में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनके समालोचनात्मक निबन्धों के संग्रह साहित्य-सर्जना 'विश्लेषण

जिजयाकांक्षा की चरितार्थता के लिये प्रस्तुत करते हैं।'[1]

२५. जोशी जी की समालोचनाओं का एक व्यावहारिक पक्ष भी है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने आधुनिक काव्य तथा कथा-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले कलाकारों की रचनाओं के विशेष स्वरूपों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया है। उनके कुछ समीक्षात्मक निबन्ध तो अत्यन्त साधारण कोटि के हैं जैसे 'उपेक्षिता उर्मिला' 'प्रसाद की काव्यधारा और उसकी परिस्थिति' आदि किन्तु उसमें भी उन्होंने यथाप्रसंग कहीं-कहीं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारणाएँ प्रस्तुत की हैं। वे व्याख्यात्मक-पद्धति में प्रसाद जी की काव्यधारा का क्रमिक विकास अंकित करते हुए कामायनी महाकाव्य को छायावाद-युग से भिन्न कोटि का मानते हैं, क्योंकि 'उसमें प्रसाद जी ने छायावादी कवियों की भाँति सीमित और अहंगत अन्तर्वेदना और घोर असामाजिक तथा आत्मरत भावना का परिचय नहीं दिया'।[2] उनकी दृष्टि में 'कामायनी' हिन्दी-जगत् का सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट प्रगतिशील काव्य है, जिसमें कवि ने मानवात्मा की चिरन्तन पुकार को वाणी दी है। जोशी जी ने 'कामायनी' काव्य से कतिपय उद्धरण दे कर अपने मत की पुष्टि की है और उसे गेटे के 'फाउस्ट' के समकक्ष सिद्ध किया है। अपने 'कामायनी' शीर्षक स्वतन्त्र निबन्ध में भी उन्होंने कामायनी काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष से सम्बन्धित अनेक अंगों का सोदाहरण विवेचन कर उसे महान् आदर्श भावना से ओत प्रोत माना है। इसी प्रकार प्रसाद के कथा-साहित्य और 'कंकाल' के विवेचन में उन्हें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यही लगी कि प्रसाद जी ने सब प्रथम अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास-जगत् में ऐसे पात्रों की अवतारणा की जिनका जन्म ही समाज-निषिद्ध था तथा जिनके जीवन-संघर्ष का क्रम भी सामाजिक दृष्टि से दुर्बलताओं से भरा हुआ था।[3] इस दृष्टि से जोशी जी को प्रसाद जी प्रेमचन्द जी से अधिक सजीव लगे हैं।

२६. जोशी जी की व्यावहारिक समालोचनाओं में विश्लेषण के साथ साथ प्रभावाभिव्यंजक पक्ष भी है जिसमें वे किसी भी समालोच्य कलाकार की समीक्षा करते हुए उन बातों की ओर भी विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं जिनका उनके मानस पर प्रभाव पड़ा है। प्रेमचन्द जी की कला का मूल-तत्त्व विवेचित करते समय उन्होंने इसी पद्धति को अपनाया है। वे प्रेमचन्द जी की रचनाओं के प्रति आस्था रखते हुए भी उनकी कला को पुरुष-प्रधान मानते हैं जिसमें नारी-जीवन के मधुर तथा आंतरिक पक्ष का उद्घाटन नहीं हुआ है।[4] इसी प्रकार उन्होंने प्रेमचन्दजी की रसानुभूति को भी पुष्ट और व्यापक नहीं माना है तथा उनकी कला में केवल मस्तिष्क का चमत्कार पाया है। स्पष्ट है कि जोशी जी की इस धारणा का दृष्टि-बिन्दु उनका प्रेमचन्द जी से कला सम्बन्धी मतभेद है तथा वे यह मानकर चलते हैं कि 'नारी की मूल शक्ति से प्रेरित हुए बिना किसी भी यथार्थ सृजनात्मक साहित्य की प्राण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।'[5]

२७. उपन्यासकार होने के कारण जोशी जी की सहज प्रवृत्ति उपन्यासों के विवेचन की ओर रही। उन्होंने विश्व-साहित्य की क्रोड़ में विकसित होने वाले उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके उत्तरवर्ती उपन्यास-साहित्य का विवेचन ऐतिहासिक पद्धति की अवतारणा से किया है जिसमें प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार टाल्सटाय तुर्गनेव डास्टाएव्स्की चेखव और गोर्की आदि की रचनाओं के मूल मनोभावों का सिंहावलोकन हुआ है। इस विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने टाल्सटाय के 'अन्ना

---

१ पं० इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना' प्रथम संस्करण : पृष्ठ ९९।
२ वही, पृष्ठ ११।
३ वही, पृ० ४७।
४ वही, पृ० २१-२२।
५ वही पृ० ६८-६९।

इसी प्रकार चंडीदास विद्यापति आदि कवियों के आलोच्याकार भी उन्हें स्नायु-विकारग्रस्त प्रतीत होते हैं। उन्होंने तुलसीदास को अपने युग का महान् प्रगतिशील कवि मान कर भी उनके नारी-विषयक विचारों तथा उनकी 'सुप्रिय विमलीन-युग होगा' आदि चौपाइयों में अपना फ्रायडवादी सिद्धान्त घटित कर ही लिया है। इसी प्रकार मीरां के काव्य-गुणों की प्रशंसा करते हुए भी वे उसमें भी दमित-यौन-वृत्ति की झलक ही देखते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अधिकांश प्रगतिवादी समालोचक देश-काल और सांस्कृतिक धरातल का व्यापक दृष्टि से विचार किये बिना केवल जनवादी परम्परा में ही प्रत्येक साहित्यकार की समीक्षा करना समीचीन समझते हैं उसी प्रकार जोशी जी ने भी मनोविश्लेषणवादी समालोचक के रूप में सर्वत्र अपने पक्ष की सामग्री का अनुसंधान करने की ही चेष्टा की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जोशी जी का यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि इससे साहित्य का सम्मिलन-भाव क्षत-विक्षत होकर अपनी ममत्वविभाजिनी शक्ति खो बैठता है।

४८. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है, जोशी जी ने हिन्दी-साहित्य की परम्परा में सर्वत्र यौन सम्बन्धी भावनाओं की विकृति पाई है और वे फ्रायड और एडलर की विवादग्रस्त धारणाओं को भी आर्ष प्रयोग के समान ग्रहण करते चले हैं, जो उन्हें बार-बार एक ही प्रतिमान से सभी प्रकार की काव्य-पद्धतियों और साहित्य रचनाओं का समीक्षण करने के लिये प्रेरित करती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे जीवन और साहित्य में यौन वृत्ति का एक प्रबल अंश है किन्तु भारतीय चिन्ता ने उसके उच्छृंखल प्रदर्शन को पाशविकता के समकक्ष मान कर संयमित जीवन के आदर्श का जो पथ प्रदर्शित किया है, वह मानवता की मनोभूमि के अधिक निकट है। जोशी जी का इस प्रकार काम-वासनाओं का साहित्यगत अंतर्मुक्त विवेचन एक विशेष श्रेणी के कलाकारों पर भले ही संगठित हो सके किन्तु हमारे तपस्वी मनीषियों में भी इसी प्रकार का अनुसंधान करना भारतीय आदर्श के प्रतिकूल है। उन्होंने छायावादी और प्रगतिवादी कवियों पर अपनी मान्यताओं का जो आरोप किया है, उसका आभास उनके इस उद्धरण से मिल सकेगा

"यौन सम्बन्धी मनोभावनाओं को छायावादी कविगण आवश्यकता से अधिक शालीनता के साथ जिस प्रकार के पर्दे-जालों से ढकते आ रहे थे उन सब आवरणों को अपरिपक्व प्रगतिवादियों ने नग्न अवस्था में उघाड़ना शुरू कर दिया। जब सेक्स सम्बन्धी उन्माद कुछ ठंडा पड़ा तो साहित्य का एकमात्र विषय वर्ग-समस्या को हल करना बताया जाने लगा और वह भी केवल प्रोलेटेरियन वर्ग के प्रतिदिन के जीवन के क्रियाकलापों द्वारा।"[1]

१ जोशीजी की समालोचनाओं से आभासित होता है कि वैसे तो वे छायावाद और प्रगतिवाद के मूल जीवन-दर्शन में केवल अन्तर्मन की कुंठा पाते हैं किन्तु उन्हें छायावादी युग की एकान्त चिन्ता से प्रगतिवादियों का बाह्य जगत् का जीवन-संघर्ष अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। उन्हें प्रगतिवादियों से मूल अनुरोध यही है कि वे मार्क्स के सौ वर्ष पुराने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को साहित्य-क्षेत्र में ज्यों का त्यों आरोपित न करें। उनका यह निर्णय किसी विशेष तथ्य-विश्लेषण के अधिक निकट न हो कर केवल यही सिद्ध करने के निमित्त है कि मार्क्स का जीवन दर्शन अपूर्ण है और फ्रायड और एडलर का सम्पूर्ण। वस्तुतः यही उनकी समालोचनाओं की एकांगिता है। कालान्तर में उन्हें अपनी इस भूल का आभास मिला तो वे स्पष्ट शब्दों में अपने आपको फ्रायडवादी कहने में अपनी बदनामी समझने लगे।[2] साहित्य-चिन्तन पुस्तक में

---

१ इलाचन्द्र जोशी 'विवेचना' आलोचना साहित्य में प्रगतिशीलता की परम्परा पृष्ठ १।

२. "मैं फ्रायडवाद का समर्थक नहीं हूँ, यद्यपि मेरे आलोचकों ने मेरी रचनाओं को फ्रायडवादी रंग कर बदनाम कर रखा है।" साहित्य चिन्तन : प्रगति की नई दिशा' पृष्ठ १५।

साहित्य-कलाकार मनोविज्ञान को एक ताक पर रख कर अंतर्जीवन के सत्यों की पूर्ण उपेक्षा करे और केवल उन राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यों का उद्घाटन करे जो बाह्य जीवन-क्षणों के पारस्परिक संघर्ष (श्रेणी-संघर्ष) के रूप में परिपुष्ट होते हैं।"[1]

१६. जोशी जी का उपन्यास साहित्य विषयक अध्ययन अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने पाश्चात्य देशों के प्रमुख उपन्यासकारों का अध्ययन कर कथासमीक्षण की एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त की है। उस अध्ययन से भारतीय मार्क्सवाद की अपेक्षा वर्तमान यथार्थवाद के प्रति उनका अधिक झुकाव हुआ है और वे उन विचारकों का विरोध करते हैं जो सर्वथा आदर्श तथा धीरोदात्त नायकों की अवतारणा कथा-साहित्य में करना चाहते हैं। जोशी जी ने विश्व के प्रमुख उपन्यासकारों की कृतियों के उदाहरण देकर यथार्थवाद को उपन्यास-कला के सौष्ठव का प्रतिमान माना है। विरोधी पक्ष का खंडन करते समय तो उनका स्वर अत्यन्त उग्र हो गया है। उनकी इस प्रकार की उग्रता से हमारे साहित्य में आलोचना प्रत्यालोचना का भी एक सुदीर्घ सिलसिला चला जिसका ज्ञान उनके 'आलोचना में अनाचार' शीर्षक निबन्ध से हो सकता है जिसमें उन्होंने जून सन् १९४१ के 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनके उपन्यास 'प्रेत और छाया' के सम्बन्ध में प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखी हुई आलोचना का प्रत्युत्तर दिया है। इस निबन्ध में स्वपक्ष-मंडन और परपक्ष-खंडन का ही दृष्टिकोण मूल रूप से झलकता है, जिसमें वैयक्तिक विरोध की भावना भी प्रस्फुटित हो गई है। उनके अन्य समालोचनात्मक निबन्धों में 'चिरयुवा और चिरजीवी रवीन्द्रनाथ' 'प्राचीन युग का यथार्थवादी नाटक: मृच्छकटिक' 'शरत्चन्द्र की प्रतिभा' 'मानवधर्मी कवि चंडीदास' 'शेक्सपीयर का हैमलेट' 'निराला जी की काव्य-प्रतिभा का मूल स्वर' 'पंतजी की स्वर्ण-चेतना में क्रान्तिकारी स्फोट' 'जीवन का महान् विश्लेषक गेटे' 'कलाकार रोमां रोलां' 'चित्रकार महादेवी' और 'रहीम और उनकी कविता' आदि प्रमुख हैं जिनमें व्यावहारिक समालोचना के पक्ष का प्रस्फुटन हुआ है। समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्धित निबन्धों में 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण' 'मानवीय व्यक्तित्व और साहित्य-सर्जना' 'साम्य' का अस्तित्ववाद' 'साहित्य-कला और विरह-काव्य में अस ध्वा' 'स्पर्श-रस' 'साहित्य में वैयक्तिक कुंठा' 'कला में सौन्दर्य का आदर्श' 'साहित्य में प्रेमतत्त्व तथा विषाद रस' आदि की गणना की जा सकती है। सारांश यह है कि जोशीजी की प्रतिभा मुख्यतया आधुनिक साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उनके निर्माताओं के विश्लेषण में ही अधिक रमती रही है और वे समीक्षा-क्षेत्र में मनोविज्ञान का अनिवार्य पक्ष उद्घाटित करने र कारण युद्धोत्तर युग की प्रसारकालीन समीक्षा की मनोविश्लेषण-पद्धति के एक प्रमुख समा ोचक हैं। आजकल उनकी जो वार्ताएँ अथवा समीक्षात्मक निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं उनमें सवादी विचारधारा के स्थान पर भारतीय साहित्य की समन्वयपूर्ण दृष्टि का क्रमशः अधिक प्रभाव प्रकट होने लगा है[2] जो इस बात का प्रतीक है कि शनैः शनैः प्रसारकालीन समा ाचक भी अपने अधिकार के पथ को छोड़ कर किसी गम्भीर तथा व्यापक दृष्टिकोण की उपलब्धि के लिए प्रयास-तत्पर हैं।

(२)

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

१. अज्ञेय जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य की एक नवीन शिल्प-विधि के कलाकार और विश्लेषणवादी समालोचक हैं जिनके प्रमुख समालोचनात्मक निबन्धों का संकलन 'त्रिशंकु' के

---

[1] इलाचन्द्र जोशी 'विवेचना' पृ० १२५।

[2] इलाचन्द्र जोशी: विवेचना, 'विश्व साहित्य में मनोविज्ञान' पृष्ठ १०८।

कैरिनर्स' नामक उपन्यास की विशेष विवेचना की है जिसने किसी समय विश्व-साहित्य में एक अभिनव क्रान्ति का सूत्रपात किया था। शरत्चन्द्र के उपन्यासों में भी उन्हें पीड़ित मानवता के चित्रण के जो स्थल दृष्टिगोचर हुए हैं, उनकी प्रेरणा उन्होंने पूर्वोक्त लेखकों की कृतियों से ही स्वीकृत की है। उक्त उपन्यासकारों की कथा-वस्तु के कतिपय स्थल विवेचित कर उन्होंने अपने कथन की पुष्टि भी की है। इस विश्लेषण में उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सर्वत्र परिलक्षित है। शरत् बाबू के प्रभाव से हिन्दी-उपन्यासकारों ने अपना जो रचना-कौशल अथवा दृष्टिकोण निर्धारित किया उसकी उन्होंने एक सीमा तक ही प्रशंसा की है, क्योंकि उनके चरित्र-चित्रण में उन्हें छाया-युग के सस्ते रोमांस की ही झलक परिलक्षित मिली है। उनका शरत् के नारी-चित्रण की आदर्श-मयता से भी विरोध है। वे उस आदर्शवाद का खंडन करते हैं जिसमें यथार्थ जीवन की ओर झांकने की दृष्टि न हो कर केवल कल्पना-लोक के मादक स्वप्नों की अभिव्यंजना की जाती है। इस विवेचन का मुख्य आधार उन्होंने शरत् बाबू की उपन्यास-कला को बनाया है और अन्ततः उस कला का विरोध किया है जो 'नपुंसक रोमांटिक भावुकता को बढ़ावा देकर दमित यौन-वृत्ति से पीड़ित निकम्मे और आलसी पात्रों के गुणगान में प्रवृत्त होती है।'[1] उनके मतानुसार ऐसी कला के द्वारा समाज तथा जीवन का कोई हित-सम्पादन नहीं हो पाता।

१८ जैसा कि प्रारम्भ में संकेत कर दिया गया है जोशी जी की मूल समालोच्य चेतना मनोविज्ञान है, अतः उनके अधिकांश निबन्धों में केवल उसी का तत्त्व-संयोजन मिलता है। उन्होंने सूर और तुलसी की कृतियों से लेकर वर्तमान युग तक विकसित होने वाले हिन्दी-साहित्य में मनो-विज्ञान का विवेचन किया है। सूर और तुलसी की काव्य प्रशंसा करते हुए भी जोशी जी उनमें 'गहरे मनोवैज्ञानिक चमत्कार नहीं पाते द्विवेदी युग के मनोविज्ञान के क्षेत्र में कवियों और लेखकों का जैसे दिवाला ही निकल गया।'[2] हाँ छायावाद-युग से उसकी प्रवृत्ति में विकास-चिह्न प्रदर्शित हुए और द्विवेदी-युग के अवसान-काल से प्रेमचन्द द्वारा कथा-साहित्य में यह प्रस्फुटित होने लगा। जोशी जी के अनुसार प्रेमचन्द जी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण छिछला है और उनकी कला में जीवन के मार्मिक सत्य का भी सफल उद्घाटन कम ही हुआ है। इसी प्रकार 'भारत भारती' को भी उन्होंने कला की दृष्टि से असफल रचना माना है, भले ही उसका किसी समय अत्यधिक प्रचार क्यों न रहा हो। आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रारम्भ उन्होंने बंकिम-चन्द्र से माना है जिनसे विकसित होती हुई यह परम्परा रवीन्द्रनाथ शरत्चन्द्र जैनेन्द्र अज्ञेय तथा उनके उपन्यासों तक क्रमशः चली आई है। जोशी जी ने जैनेन्द्र की उपन्यास कला तथा मनोविश्ले-षण विधि की प्रशंसा करते हुए उन आलोचकों की ओर निन्दा की है जो जैनेन्द्र के साहित्य को समाजघाती तथा अकल्याणकारी मानते हैं। अज्ञेय जी की 'शेखर एक जीवनी' नामक रचना उन्हें जीवनी उपन्यास और दर्शन के बीच की कोई ऐसी चीज लगी है जिसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ऐसे अहंभाव के अधिक निकट है जिसका समाज-कल्याण से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। उन्होंने अपने उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करना बतलाया है जो अज्ञेय जी से सर्वथा विपरीत है।[3] इस प्रकार आधुनिक युग में साहित्यगत मनो-विज्ञान की महत्ता की प्रशंसा करते हुए जोशी जी ने उन मार्क्सवादी समालोचकों की निन्दा की है "जो साहित्य में प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्यों का उपहास करने पर तुले हैं और अपने संगठित साहित्यिक प्रचार-कार्य द्वारा इस उद्देश्य की सफलता के लिए पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं कि

१ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना : 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण' पृ. २२१।
२. इलाचन्द्र जोशी : विवेचना 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान' पृ. १६६।
३. वही, पृ. १६१।

की कल्पना कदाचित् इसलिए करनी पड़ी है कि वे कला-सृजन के मूल में एक्सार की उस मान्यता का प्रतिपादन करना चाहते हैं जिसके अनुसार वह हमारी क्षतिपूर्ति का अतिरिक्त साधन सिद्ध होती है। अज्ञेय जी ने आदिम युग के मानव-समाज का क्रमिक विकास विवेचित कर तथा व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सूत्र-सम्बन्ध का निर्देश कर प्रथम कलाकार तथा उसकी कला का परिचय इस प्रकार दिया है—

'हमारे कल्पित कमजोर प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पा कर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत हो कर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है—सौन्दर्य-बोध। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी—फिर चाहे वह रेखाओं द्वारा प्रकट हुआ हो चाहे वाणी द्वारा चाहे तान द्वारा चाहे मिट्टी के लौंदों द्वारा।'[1]

१२ अज्ञेय जी ने कला की परिभाषा में प्रयुक्त समाज तथा अपर्याप्तता का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान तथा समाज-शास्त्र की दृष्टि से किया है। वे समाज का अभिप्राय उस परिवृत्ति से लेते हैं जिसके साथ व्यक्ति किसी प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करता है और अपर्याप्तता के अन्तर्गत मनुष्य की उन भावनाओं का समावेश करते हैं जिनकी हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए वह क्रियाशील बनता है। इस प्रकार अज्ञेय जी के अनुसार कला निश्चय ही अपर्याप्तता की भावना के प्रति व्यक्ति का विद्रोह है जिसके स्वभाव तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में उन्होंने निम्न लिखित निष्कर्ष निकाले हैं

'कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है वह एक प्रकार का आत्मदान है जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्ण रखना चाहता है। सच्ची कला कभी भी अनैतिक नहीं हो सकती। वह अन्ततः एक नैतिक मान्यता (ऐथिकल वैल्यू) पर आश्रित है।"[2]

१३ अज्ञेय जी के विवेचन से स्पष्ट है कि वे कला में आत्मदान को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वे आत्मदान के अन्तर्गत केवल अहं की सिद्धि ही नहीं मानते अपितु अहं की पुष्टि का भी समावेश करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे व्यक्ति की पूर्णता तथा स्थिति के लिए आत्मदान की अनिवार्य अपेक्षा अनुभव करते हैं पर यह आत्मदान केवल नैतिक मान्यता के लिए ही न होकर स्वान्तःसुखाय भी होना चाहिए क्योंकि उसका सम्बन्ध समाज के प्रतिदान से भी है। इस प्रकार अज्ञेय जी के मतानुसार कला में आत्मदान का बड़ा महत्त्व है जो सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए भी सतत सचेष्ट रहता है।[3]

१४ वैसे तो रूढ़ि और मौलिकता केवल साहित्य-क्षेत्र में ही प्रयुक्त होने वाले शब्द नहीं हैं, अपितु इनकी सत्ता राजनीति समाजशास्त्र तथा सांस्कृतिक धरातल तक व्याप्त है किन्तु समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत भी इनका यथेष्ट महत्त्व है यह एक स्पष्ट सत्य है। विभिन्न देशों के साहित्यों में इनके आधार पर साहित्य-विवेचन तथा मूल्यांकन करने के प्रयास किए गए हैं। अज्ञेय जी ने टी. एस. इलियट को अपना आधार बना कर एतद्-विषयक विवेचना प्रस्तुत की है। उस विवेचन से स्पष्ट है कि अज्ञेय जी रूढ़ि और मौलिकता के प्रति कोई परम्परा मुक्त धारणा लेकर नहीं चले हैं अपितु उन्होंने विशुद्ध तात्त्विक दृष्टि से उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार रूढ़ि केवल प्राचीन साहित्य की अग्राह्य तथा त्याज्य परिपाटी

---

१ अज्ञेय : त्रिशंकु 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' पृष्ठ २६।
२. वही पृष्ठ २८।
३ वही, पृष्ठ २६।

नाम से प्रकाशित हुआ है। इस *पुस्तक में उनके भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लिखे गए तथा पत्र* पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्ध हैं, जिनसे उनका साहित्य-विषयक दृष्टिकोण समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। पुस्तक की भूमिका से स्पष्ट है कि ये निबन्ध उनके अनेक वर्षों की साधना और अध्ययन के परिणाम हैं जिनके द्वारा उन्होंने अपनी साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं को आधुनिक हिन्दी-साहित्य में संघटित करने का प्रयास किया है। वे प्रारम्भ ही से यह मान कर चले हैं कि 'आलोचना में नया कम होता है।'[1] अतः उनके इन निबन्धों में भी अपेक्षित मौलिकता की न्यूनता मिले तो वह स्वयं लेखक की स्वीकृति के अनुसार स्वाभाविक है। फिर भी यह बात अवश्य है कि इन निबन्धों के द्वारा अज्ञेय जी ने सर्वयुगीन साहित्य के मूल्यांकन के लिए दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिसमें भले ही किसी बहुत व्यापक मानदण्ड का अभाव हो किन्तु लेखक का यह कथन कि 'उनका त्रिशंकु युग-युगान्तर तक अधर में टँगा रह सकता है'[2] सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही इन निबन्धों के द्वारा अज्ञेय जी ने हिन्दी के साहित्यकारों और समालोचकों के लिए मनन तथा चिंतन करने योग्य पर्याप्त सामग्री प्रदान की है। इन निबन्धों में प्रमुखता तो सैद्धान्तिक पक्ष की है, किन्तु पुस्तक के परिशिष्ट के अन्तर्गत 'केशव की कविताई' 'चार नाटक' 'दो फूल' 'आधुनिक कवि महादेवी वर्मा' पर पुस्तकालोचन की विधि में सामान्य परिचयात्मक व्यावहारिक समालोचनाएँ भी हैं। पुस्तक में संकलित 'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक निबन्ध तो मी टी एस इलियट के एक लेख का प्रायः भावानुवाद ही है। इसी प्रकार 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' नामक निबन्ध में उन्होंने प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी एडलर की कला-विषयक मान्यताओं का ही विश्लेषण प्रधान रूप से किया है। शेष निबन्धों में भी उनकी नवीन विचारणा की झलक है। चूँकि इस प्रकार की *समालोचनाएँ युद्धोत्तर-युग में एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश* करने में कारण बनी थीं अतः अज्ञेय जी के इस संकलन का भी इस दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व है। इनके कुछ निबन्धों का स्वरूप तो विशुद्ध साहित्यिक न हो कर केवल विचार-पक्ष प्रधान हो गया है, जिनमें साहित्य के प्रतिमान-निर्धारण का एक सामान्य दृष्टिकोण मात्र है।

११ अज्ञेय जी ने यद्यपि 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' का विवेचन आधुनिक मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से किया है, किन्तु उनके विश्लेषण की पद्धति एक प्रकार से भारतीय समीक्षा की शास्त्रीयता के बहुत निकट है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने कला का विस्तृत विवेचन करने के पूर्व प्रारम्भ में सूत्र-रूप में उसकी परिभाषाएँ दी हैं और तदुपरान्त उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनकी कला-विषयक परिभाषा तत्कालीन हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में सर्वथा नूतन थी क्योंकि उन्होंने उसका दृष्टिकोण विशुद्ध साहित्यिक न रख कर मनोवैज्ञानिक रखा था। उनके मतानुसार "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को *प्रमाणित करने का प्रयत्न*—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"[3] जिसका विश्लेषण उन्होंने आदि-युग के मानव-समाज की कल्पना करते हुए किया है। हमारे भारतीय साहित्य में क्रौंच-वध की कथा के आधार पर महर्षि वाल्मीकि की जिस करुणा-विगलित वाणी को काव्य-सृजन का मूल स्रोत माना जाता है, उसके प्रति आस्था रखते हुए भी अज्ञेय जी ने कला-सृजन का मूल-बिन्दु उसके भी पूर्ववर्ती युग में ढूँढ़ा है जब मनुष्य-समाज में सभ्यता नाम की वस्तु का कोई विकास ही नहीं हुआ था और वह गुफाओं और कन्दराओं में अन्य पशुओं का सा जीवन व्यतीत करता था। अज्ञेय जी को कला-निर्माण के आदि-स्वरूप का प्रतिपादन करने में उस समाज

१ श्री अज्ञेय 'त्रिशंकु' प्रथम संस्करण १९४५, भूमिका का प्रारम्भ, पृष्ठ ७।
२ वही मध्यान्तर के पूर्व दूसरी भूमिका पृष्ठ ८।
३ वही, पृष्ठ ११।

में अतृप्ति का या कह लीजिए लालसा का विकृत विस्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है।[1] अज्ञेय जी का यह निर्णय परम्परावादी समीक्षा के लिए सक्षम बन कर चलने की मानो एक प्रकार की चुनौती-सी थी जिससे उस क्षेत्र में एक नवीन विधि की आवश्यकता का सूत्र-पात सा हो गया। उन्होंने अपनी वस्तुपरक तथा यथार्थवादी दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आधार लेकर उपर्युक्त कथन की सत्य-सिद्धि आधुनिक साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों की कृतियों की मूल-चेतना को लेकर की है। आधुनिक युग में जिस प्रकार की संक्रमणशीलता का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आधिपत्य है, उसका विश्लेषण कर उन्होंने आधुनिक साहित्य में केवल बौद्धिक क्लांति तथा अतृप्ति को ही व्याप्त पाई है। अपने सिद्धान्त की सार्थकता के लिए उन्होंने जहाँ एक ओर प्रेमचन्द जी के साहित्य में समाज की त्रुटियों तथा अपर्याप्तता का उद्घाटन कर उनमें भी विशफुल थिंकिंग का एक हल्का-सा पर्दा खोज निकाला है तो वे दूसरी ओर जैनेन्द्र के साहित्य में भी मुक्त-परिवेश के कुण्ठित व्यक्ति का ही जीवन-दर्शन पाते हैं।[2] कमला चौधरी की कहानियों में उन्हें अतृप्ति का मूल कारण समाज से सम्पूर्णतया पलायन का भाव दृष्टिगोचर हुआ है तो महादेवी जी को भी वे निरपवाद रूप से रहस्यवादी कवयित्री न मान कर उनमें किसी रहस्यमय दृष्ट पुरुष की अलौकिक विरह वेदना के स्थान पर वे केवल घर लौटने की बौद्धिकपूर्ण मनःस्थिति ही पाते हैं।[3] इसी प्रकार उन्होंने बच्चन सियारामशरण गुप्त तथा प्रसाद की कृतियों में अपना उपर्युक्त सिद्धान्त घटित किया है, जो उनके मतानुसार इन कवियों की मानसिक कुंठा का ही निर्देश करता है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि अज्ञेय जी गुण-दोष के विवेचन में ही किसी रचना की आलोचना पूर्ण नहीं समझते अपितु उनकी दृष्टि में रचयिता की मन-स्थिति का विश्लेषण करना भी आलोचना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार अज्ञेय जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा-क्षेत्र में एक ऐसा प्रतिमान उपस्थित किया है जो हिन्दी-समालोचना के विकास में नूतन है तथा जिसमें रचयिता के मनस्तत्व के विश्लेषण के साथ-साथ उसकी परिवृत्ति यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा जीवनोद्भूत क्रिया-प्रतिक्रिया का भी पर्याप्त मात्रा में समावेश है।

६७ अज्ञेय जी का आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र विषयक अध्ययन अत्यन्त व्यापक है और उन्होंने उसको *मनोभाव के रूप में महत्व देकर मौलिक उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं*, किन्तु उनका स्वर अपनी विरोधी विचार-धारा के प्रति मर्यादा का उल्लंघन बहुत कम कर सका है। युद्धोत्तर युगीन छायावादी प्रवृत्तियों का विरोध करने वाले अन्य समालोचकों में जो वैयक्तिक आक्षेपों तथा कटु व्यंग्यों की प्रवृत्ति मिलती है वह अज्ञेय जी में कम है। वस्तुतः उन्होंने तो साहित्य-समीक्षा के लिए एक दृष्टिमात्र प्रदान की है और उसी के प्रतिमान से उसका परीक्षण किया है। उन्होंने 'साहित्य और प्रगति' 'राजनीति और साहित्य' तथा 'साहित्य किसके लिए'? इन तीन प्रमुख प्रश्नों के आधार पर संक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक समस्याओं को भी सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार साहित्य में प्रेरक शक्ति हो सकती है किन्तु वह साहित्यकार की आंतरिक क्षमता का स्वयंभूत फल है। कला की सामग्री को सीमित करना अनधिकार चेष्टा है। परिस्थितियों को ध्यान में रख कर हम जैसी प्रेरणा चाहते हैं वह यदि साहित्यकार में स्वभावतः नहीं है, तो हम बलात् उसे पैदा नहीं कर सकते। अन्ततः वे इस सम्बन्ध में अपना यही निर्णय देते हैं कि साहित्य को विवश करने का प्रयास निरर्थक है और उसे राजनीति का अनुवर्ती बनाना तो और भी बुरा है।

१ अज्ञेय : 'त्रिशंकु' परिस्थिति और साहित्यकार पृष्ठ ४०।
२. वही पृष्ठ २८।
३ वही पृष्ठ ५६-५७।
४ वही, पृष्ठ ७०।

ही नहीं है अपितु इसके अन्तर्गत किसी भी साहित्यकार की उस साहित्यिक चेतना तथा साधना का भी समावेश किया जा सकता है जिसके द्वारा वह प्रौढ़ता प्राप्त करता है। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक चेतना का भी महत्त्व स्वीकार किया है जिसके द्वारा प्रतिभाशाली साहित्यकार अतीत और वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ कर अपनी मौलिकता प्रकट करता है। उनकी तो स्पष्ट धारणा है कि "कोई भी कला-वस्तु चाहे कितनी ही नई क्यों न हो ऐसी वस्तु नहीं है जो अकस्मात अपने आप घटित हो गई है। वह ऐसी वस्तु है, जो अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं के साथ घटित हुई है।"[1] इस प्रकार अज्ञेय जी के मत से पुरातन और नूतन तथा रूढ़ि और मौलिक सापेक्षिक शब्द हैं जिनका अन्तर्गुंफन प्रत्येक कलाकार की रचना में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है और इन दोनों के तारतम्य से ही किसी भी कला-कृति का सम्यक मूल्यांकन किया जा सकता है। अज्ञेय जी ने इस विवेचन द्वारा साहित्य-परीक्षण के लिए सुन्दर निष्कर्ष प्रदान किया है जिसका आशय यह है कि नवीन से नवीन साहित्य का मूल्यांकन करते समय भी केवल नूतन अभिव्यक्ति को ही मौलिक न मानकर उसका अतीत-कालीन साहित्य से भी सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

१५ रूढ़ि और मौलिकता के प्रसंग में ही अज्ञेय जी ने इलियट की उस मान्यता का विश्लेषण किया है जिसके अनुसार वह कविता को भावों की मुक्ति मानता है तथा उसे व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना न कह कर व्यक्तित्व से मोक्ष निर्दिष्ट करता है। उन्होंने आलोचना का विषय साहित्यकार और कवि को न मानकर उनकी कृतियों को माना है। वे काव्य-परीक्षण के लिए मन की उस धातु की परीक्षा आवश्यक समझते हैं जिससे साहित्य उद्भूत होता है।[2] इसी प्रकार उन्होंने रचना का समन्वय रचनाकार के मन के साथ करना आवश्यक बतलाया है। उन्होंने कवि के मन की उपमा ऐसी भट्टी से दी है जिसके ताप में विभिन्न धातुएँ पिघल कर एकरस हो जाती हैं।[3] उनके अनुसार जितना ही महान् कलाकार होगा उतनी ही उसकी माध्यमिकता परिष्कृत होगी।[4] इस प्रकार उन्होंने हमारे साहित्य-शास्त्र में विवेचित स्थायी और संचारी भावों का भी क्षेत्र-निर्धारण कर इस बात की सम्मति दी है कि कला का रस कला में ही ढूँढ़ा जाय। उनका यह सारा विश्लेषण इलियट की भावधारा का ही प्रकाशन है क्योंकि वह भी इस सिद्धान्त को मानता था कि रचनाकार का महत्त्व रचना करने की क्रिया की तीव्रता में है।

१६ यह तो एक सामान्य सिद्धान्त है कि साहित्य के निर्माण में व्यक्ति के अहं के अतिरिक्त उसके वातावरण का भी पर्याप्त योग रहता है जिसने उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए एक प्रकार का उपादान प्रदान किया हो किन्तु अज्ञेय जी ने इस विषय को भी आधुनिक मनोविज्ञान का ही एक स्वरूप दे कर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। आज के युग-जीवन में जिस प्रकार का संघर्षपूर्ण तथा सस्ती अनुभूतियों वाला साहित्य लिखा जा रहा है, उसका कारण अज्ञेय जी ने हमारी यांत्रिक दृष्टि तथा उसके रूप में बसी हुई हमारी विशेष प्रकार की मनःस्थिति को ही निर्दिष्ट किया है। उन्होंने इन प्रवृत्तियों के मूल सूत्र का विवेचन करते हुए बतलाया है कि 'सस्ती स्त्री का आदर्शीकरण स्त्री के नाम से कहानियाँ छपा कर लेखिका (संस्कृत) स्त्री पाने की इच्छा-पूर्ति (विशफुलफिलमेंट) आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे आधुनिक युग की कुण्ठा समझी जा सकती है।"[5] इस विषय में अज्ञेय जी का तो स्पष्ट निर्णय है कि "आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश

---

१ अज्ञेय : त्रिशंकु' रूढ़ि और मौलिकता, पृष्ठ ११ ।
२ वही, पृष्ठ १७ ।
३ वही, पृष्ठ १८ ।
४ वही, पृष्ठ १८ ।
५ वही, पृष्ठ ४० ।

में यह मान कर चले हैं कि 'सभी कालों के कवि एक प्रकार से प्रयोग करते चले हैं जिससे किसी विशेष दिशा में उनकी प्रवृत्ति भिन्न होगी स्वाभाविक है' अतः उन्होंने भी अपने काव्य का स्वरूप एक प्रकार से प्रयोग को ही माना है।[1] मूलतः रूप से प्रचलित प्रयोगवाद की भाँति उनका विश्लेषण भी अत्यन्त असम्बद्ध हुआ है। उन्होंने भी प्रयोगवाद के पक्ष में बातें तो बहुत बड़े-बड़े किये हैं, किन्तु वे इस धारा के कवियों की भाँति स्वतः अस्पष्ट हैं। साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों में उन्हें प्राण-संचार के मार्ग का अवरोध मिला है, अतः उन्होंने व्यक्ति के अनुभूत को समष्टि तक पहुँचाने के लिए प्रयोगवाद को एक विधि के रूप में स्वीकार किया है।[2] उनका यह भी मत है कि स्वान्तः सुखाय भाव से कोई भी कविता लिखी ही नहीं जा सकती अतः वे काव्य-प्रेरणा के रूप में अपना यह तर्क उपस्थित करते हैं कि "मैं स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता अन्य मानवों की भाँति अहं मुझमें भी मुखर है और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है।"[3] उन्होंने आधुनिक युग के साधारण व्यक्ति को भी 'यौन-वर्जनाओं का पुंज' मान कर यही निर्देश किया है कि "आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएं सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञेय जी का प्रयोगवाद-विषयक विश्लेषण समालोचना के क्षेत्र में भी एक नवीन प्रयोग भले ही मान लिया जाय किन्तु उसके द्वारा किसी विशेष प्रकार की महत्त्वपूर्ण तत्त्वोपलब्धि नहीं होती। यह कथन इस दृष्टि से भी अन्यथा नहीं समझा जाना चाहिए कि वे स्वयं प्रयोग के रूप में उसके आविष्कर्ताओं को केवल अन्वेषी मात्र ही मानते हैं। प्रयोगवाद को लेकर शुक्लोत्तर-युग के समालोचकों ने उसका जो विश्लेषण किया है उनकी श्रेणी में अज्ञेय जी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(१)

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

७० डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने समाजशास्त्रीय समालोचना-पद्धति के द्वारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य को एक नवीन दृष्टि से देखने की चेष्टा की है। उन्होंने समय समय पर एतद्विषयक जो आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं, उनसे उनकी विचारधारा का आभास हो जाता है। उनके निबन्धों में कुछ तो सैद्धान्तिक हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जिनमें उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विविध साहित्यिक धाराओं और रचनाओं को देखने का प्रयास किया है। चूँकि उनके निबन्धों में स्फुटता की मात्रा अधिक है, अतः उनके जो भी संकलन प्रकाशित हुए हैं उनमें तारतम्य का अभाव ही है, फिर भी उनके अध्ययन द्वारा लेखक की समालोचक-दृष्टि और व्यावहारिक समालोचनाओं का पता अवश्य चल जाता है। उनके प्रायः सभी निबन्ध-संग्रह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समालोचना से संयुक्त हैं, जिनमें गम्भीर गवेषणा की झलक न हो कर केवल चुकरिम्मू वाली व्यावहारिक और हलकी-फुलकी समालोचनाओं की अभिव्यक्ति-मात्र है। उनकी समालोचनाओं से हिन्दी-साहित्य का ऐसा प्रौढ़ विश्लेषण नहीं हो सका है, जिसके कारण उन्हें किसी विशेष धारा का प्रवर्तक कहा जा सके।

७१ श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त कला और समाज का अपरिहार्य सम्बन्ध मानते हैं। वे काडवेल के अनुसार 'कला की उत्पत्ति समाज से उसी प्रकार बतलाते हैं जिस प्रकार मोती की सीपी से।'

---

१. अज्ञेय : तार-सप्तक, वक्तव्य पृष्ठ ८८।
२. वही, पृष्ठ ८८।
३. वही, पृष्ठ ८८।

सच तो यह है कि राजनीति तथा किसी मत-विशेष की पुष्टि के लिए साहित्य को जोतना वे किसी भी दृष्टि में समीचीन नहीं समझते और विशेष रूप से उन्हें प्रगतिवाद का सिद्धान्त तो साहित्य-सृष्टि के क्षेत्र में सर्वथा अग्राह्य लगता है क्योंकि उसका मूल सम्बन्ध राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र से है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय जी ने जिस प्रगतिवाद की रूढ़ियों का विरोध किया है वह हमारे समालोचना-क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ही सत्य और चिरंतन मान कर चलने लगा था अतः उनके लिए उसका विरोध करना अनिवार्य हो गया। प्रगति के वास्तविक स्वरूप के प्रति उनके विचार इस प्रकार हैं

"संघर्ष चिरंतन है इसलिए साहित्य में कला में संघर्ष के किसी भी रूप में प्रगति नहीं है केवल गति है। और यह प्रगति इसलिए नहीं है कि उसमें ऐच्छिक प्रेरणा नहीं है। प्रगतिशीलता प्रगति का वाद बनकर स्वयं एक रूढ़ि बन जाती है। साहित्यकार के लिए प्रगतिशीलता का कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति में कार्य-कारण जोड़ने की वृत्ति है।

१८ प्रगतिवाद तथा छायावाद की प्रतिक्रिया में काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत जिस प्रयोगवाद ने जन्म लिया उसके स्वरूप-निर्णय का प्रयास भी अज्ञेय जी ने तार-सप्तक (सन् १९४३) की 'विवृति' और 'पुरावृत्ति' में किया है। इस वाद के कलाकारों का मूल-दर्शन उन्होंने यह माना है कि 'वे कवि ऐसे हैं जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।[3] अज्ञेय जी के इस कथन से स्वतः यह ध्वनित होता है कि प्रयोगवाद काव्य की कोई निर्णीत प्रणाली नहीं है। यह तो एक प्रकार का अन्वेषण-मात्र है, जिसका भविष्य स्वतः अनिश्चित है। 'तार-सप्तक' में जिन सात कवियों का काव्य-संग्रह किया गया है उनके सम्बन्ध में भी उनका ऐसा कोई दावा नहीं है जो इस कथन की पुष्टि करे कि वे काव्य के किसी निश्चित स्वरूप को पा सके हैं अथवा किसी एक मार्ग को अपना कर चले हैं। उनके सम्बन्ध में भी उनका यही कहना है कि सातों एक दूसरे के परिचित हैं किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाय कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं राहों के अन्वेषी। उनमें मतैक्य नहीं है सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग अलग है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय जी का इस प्रकार प्रयोगवादी कवियों की अंतश्चेतना का विश्लेषण स्वतः उसके अनिश्चित स्वरूप का प्रमाण है और उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका यह प्रयोगवाद केवल एक प्रयास-मात्र है जो सफल हो भी जाय और न भी हो सके। हाँ यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की विचारधारा का उन्मेष करने के कारण अज्ञेय जी मनोविश्लेषणवादी समालोचक होने के साथ-साथ हमारे काव्यगत प्रयोगवाद के भी पक्ष-समर्थक और मूल प्रेरक कहे जा सकते हैं और उनकी समीक्षाओं में इस वाद का विवेचन भी एक अंग बन कर उपस्थित हुआ है।

१९ वैसे तो अज्ञेयजी मूलतः उपन्यासकार हैं, किन्तु उन्होंने प्रयोगवाद के नाम पर जो कविताएँ लिखी हैं, उनसे उनके काव्य-विषयक दृष्टिकोण का भी पता चलता है। वे प्रारम्भ ही

१ अज्ञेय त्रिशंकु संस्कृति की कुछ सामयिक समस्याएँ, पृष्ठ ७८।
२ वही, पृष्ठ ७७-७८।
३ अज्ञेय तार-सप्तक, विवृति और पुरावृत्ति प्रथम संस्करण (१९४३) पृष्ठ ५।
४ वही, पृष्ठ ५।

भले ही समुचित कहा जा सके किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इसकी अपूर्णता स्वतः सिद्ध है। यदि हम आज की समाजशास्त्रीय परिभाषा और कभी क्रान्ति की चेतना में ही कला को ग्रहण करने लगें तो हमें अतीत कालीन गौरवपूर्ण कला-सृजन को शासनतन्त्र अथवा पूँजीवाद के कठघरे में बन्द करना होगा और इस प्रकार हम अपना विगत-वैभव को अपनी परम्परा और जीवन-संस्कृति से सर्वथा अलग कर ऐसे लोक में फेंक देंगे जहाँ हमारी अर्जित सम्पत्ति के लिए कोई स्थान नहीं होगा। अतः गुप्त जी के विचारों से हम उस अंश तक तो सहमत हो सकते हैं जहाँ तक कला में लोक-संस्कृति का आविर्भाव हो किन्तु वह लोक-संस्कृति किसी एक वर्ग-विशेष की प्रेरणा से ही निर्मित होती है, इसे यथार्थ में नहीं स्वीकार किया जा सकता। हाँ उनकी विचारधारा युग विशेष की चेतना प्रदान करने की शक्ति के रूप में भले ही अपना ली जाय किन्तु उस पर सार्वकालीनता और शाश्वत भावना का आरोप युक्तिसंगत नहीं कहा जायगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि गुप्त जी के इस विवेचन में कला के प्रकृत और विशुद्ध रूप को स्पष्टीकरण करने की अपेक्षा अपने *प्रगतिवाद* की एक सीमित प्रणाली को प्राधान्य देकर उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयत्न-मात्र है। इस विवेचन में कला का स्वरूप गौण बन गया है और मार्क्सवादी दृष्टि का प्राधान्य। अतः यह विवेचन सर्वग्राही मान लिया जाय, यह कोई आवश्यक नहीं है।

७४ गुप्त जी ने अपने दृष्टिकोण से कला के जो रूप निर्दिष्ट किये हैं उनका संयोजन उन्होंने हिन्दी-साहित्य की परम्परा पर भी सिद्ध किया है। वे संत-कवियों की रचना में लोक-जीवन अथवा जन-संस्कृति की कला का प्रसार पाते हैं तो रीतिकालीन कवियों में दमित जीवन की विलास-पूर्ण कला का। इसी प्रकार उन्होंने आधुनिक काव्य-जगत् के रहस्यवाद निराशावाद, व्यक्तिवाद आदि में *अभिजात वर्ग की कला का स्वरूप देखा है तो प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में जनता का* कला का। कला-विवेचन का यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है, किन्तु उसके क्षेत्र में अभिजात वर्ग या जन-वर्ग का श्रेणीविभाजन अनुपयुक्त और कृत्रिम है। हाँ उनके विवेचन को इस रूप में ले लिया जाय कि इसने रहस्यवाद और छायावाद के रूप में विकसित होने वाली व्यक्तिवाद की उच्छृंखलता का अवरोध करने के लिए एक विशेष समय में अंकुश का काम किया और यह विवेचन उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित हुआ तब तो फिर भी ठीक है, अन्यथा इसे *समालोचना का* स्थायी स्वरूप मानने में मुझे तो सन्देह ही है।

७५. यद्यपि गुप्त जी ने साहित्य-समीक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत निबन्ध नहीं लिखे किन्तु उनके लघु लेखों में उनकी *विचारधारा* की अभिव्यक्ति स्वतः हो गई है। उनसे उनके व्यक्तित्व की भाँति उनकी स्पष्ट और सुलझी हुई शैली में उनकी साहित्यालोचन-सम्बन्धी धारणाओं का अनुमान करना कोई कठिन कार्य नहीं है। वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं, इसका आभास तो हमें उनके निबन्धों के प्रत्येक विचारकण से हो जाता है। उन्होंने आलोचना का मार्क्सवादी आधार स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यह एक साहित्य-दर्शन का स्वस्थ दृष्टिकोण है और इसके द्वारा *राजनीति अर्थशास्त्र और दर्शन को तो एक नूतन पथ मिला ही है किन्तु साहित्य को भी एक* नवीन दृष्टि का बोध हुआ है। गुप्त जी के मतानुसार मार्क्सवाद ने हमारे जीवन और साहित्य में निहित सत्य का उद्घाटन कर हमें सामाजिक जीवन की नूतन चेतना दी है जिसके धरातल पर मानव संस्कृति का भव्यतम विकास होना सम्भाव्य है। उन्होंने अपने विवेचन क्रम में अन्तर्मन के तत्त्वों को शाश्वत मान कर चलने वाली मनोविश्लेषणवादी समालोचना को एकांगी और दोषपूर्ण ठहराया है, *क्योंकि वह अहम् की विकृति को तो साहित्य-सृजना का मूल बिन्दु मान लेती है किन्तु* उन कारणों का उद्बोध नहीं कराती जो इस प्रकार की मानसिक कुंठाओं के पीछे सामाजिक जीवन की विषमताओं और अन्तश्चेतनाओं का आधार लिये हुए हैं। यही कारण है कि गुप्त जी ने अज्ञेय आदि के विवेचन की असत्याभिव्यक्ति का भंडाफोड़ कर उनकी मान्यता को उन्हीं के समान

अन्यान्य समाजवादी समालोचकों की भाँति उनकी मान्यता में भी साहित्य मनुष्य की प्राचीनतम अभिव्यक्तियों में से एक है किन्तु वे उसका ग्रहण सामाजिकता के दायित्व से अलग किसी महत्त्व के रूप में नहीं करते। उन्होंने उन लोगों की कुत्सा की है जो कला को कलाकार के 'अहम्' से निकली हुई कह कर उसका सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध ही मानते तथा जिनके अनुसार 'सत्यम्, शिवम् सुन्दरम्' की निरपेक्ष अभिव्यक्ति ही कला-सृजन की प्रेरणा बनती है। गुप्त जी का तो यह निश्चित मत है कि केवल पतनशील समाज में ही कला का सामाजिक दायित्व अविकासिक रह जाता है। वे कला को संस्कृति का एक अभिव्यंजन कह कर उसके विकास के मूल में सामाजिक श्रम की लम्बी कथा सिद्ध करते हैं और इस प्रकार उनका काडवेल की विचारधारा से यथेष्ट अंश में साम्य है।

७२ गुप्त जी ने कला और समाज के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर अपनी जो विचार अभिव्यक्ति की है उस पर निश्चय ही काडवेल लेनिन तथा सोवियत संघ की मान्यता का भार है। माना कि कला का एक सामाजिक दृष्टि-बिन्दु है और सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्यकार के मानस-निर्माण में पर्याप्त सहयोग रखती हैं किन्तु उन्हें ही कला सृजन की मूल प्रेरणा सिद्ध करना उसके प्रसार और व्यक्तित्व को हीनत्व प्रदान करना है। कोई भी कलाकार जब तक सहानुभूति और आत्माभिव्यंजन की भावना से आकुल नहीं होगा वह कला-सृष्टि कर ही नहीं सकता। उसका व्यक्तित्व समाज की एक इकाई होने पर भी अपने में ऐसा पूर्ण रहता है जो "एकोऽहं बहुस्याम" की भावना में प्रस्फुटित होता है। अतः कला-कृतियों को सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम कहना एक आंशिक सत्य का ही निदर्शन है। इसी प्रकार श्री अज्ञेय आदि विचारकों ने टी० एस० इलियट आदि का पल्ला पकड़ कर व्यक्तिवाद और अहं के विस्फोट को जिस एकांगी अतिरेकता में कारानिबद्ध कर दिया है वह भी इस दृष्टिकोण की एक चरम सीमा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुप्तजी ने सामाजिक जीवन और उसकी व्यवस्था को कला-सृजन के मूल में स्वीकार कर व्यक्तिवादियों को चुनौती दी किन्तु वे भी अपने पक्ष-समर्थन के आग्रह में इतने अधिक आगे बढ़ गये कि उनकी विचारधारा भी पूर्वग्रह-ग्रसित सी हो गई। वैसे कला के सामाजिक दृष्टिकोण की बात तो आचार्य शुक्ल जी ने भी उसका लोक-जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करते हुए कही थी और वे छायावादी और रहस्यवादी कवियों के उस पक्ष के निन्दक थे जो भावों की प्रेष णीयता और सामाजिक सम्बन्ध-निर्वाह से अलग पड़ता था किन्तु वे कला या साहित्य को केवल राजनीति और समाजवाद की भाँति प्रचार या विचार का साधन ही नहीं मानते थे अपितु उसमें एक ऐसी अनुभूति की संजीवनी शक्ति पाते थे जो उन्हें जन-सम्बद्ध बना कर अपनी रागात्मकता में प्रभावित होती थी। अतः गुप्त जी का यह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण शुक्ल जी की विचारधारा का एक परिवर्द्धित रूप है जिस पर सोवियतसंघ अथवा अन्यान्य आधुनिक विदेशी प्रवृत्तियों की छाया अधिक मात्रा में है।

७३ गुप्त जी ने अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वर्ग-समाज के आधार पर कला को दो रूपों में विभक्त किया है और वे हैं शासक-वर्ग की कला और लोक-संस्कृति की कला। मुझे तो यह विभाजन भी ऊपरी और व्यावहारिक सुविधा के लिए किया हुआ लगता है। वस्तुतः कला का सम्बन्ध मनुष्य की आंतरिक प्रेरणा से है और उस आन्तरिक प्रेरणा में वर्ग-समाज के सभी भाव तिरोहित होकर केवल हृदय की मुक्त दशा में ही आकार ग्रहण करते हैं। अतः राजनीतिक और धार्मिक जीवन के वर्ग-विभाजनों की भाँति हृदय की सर्वज्ञता को भी विभिन्न विभेदों में विभक्त करना समुचित नहीं जान पड़ता है। कला को चाहे किसी वर्ग का बताया जाय उसके मूल उद्गम की प्रेरणा में तो मानवीय अन्तर्भावों की स्थिति रहती ही है। यह बात अवश्य है कि उनके साधन और स्वरूप में बाह्य अन्तर अवश्य आ जाता है। अतः बाह्य दृष्टि से यह विभाजन

बता कर उन्हीं के उद्धरणों पर फबतियाँ कसते हुए उनका खंडन किया है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य में चलने वाली प्रगतिशील साहित्य की प्रगतिवादी धारा का सामान्य निरूपण कर यह निर्देश किया है कि आज की समालोचना में इसका कितना अधिक प्रचार है और इसके पक्ष-विपक्ष में कितनी अधिक समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। डा० शर्मा ने कुछ प्रमुख समालोचकों के प्रगतिवादी विचारों के उद्धरण देकर अन्त में अपनी यही मान्यता स्थापित की है प्रगतिशील साहित्य अपने युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है और उसकी शक्ति इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट रह कर चलने वाला है। उनकी मान्यता है कि आज की हिन्दी-समालोचना प्रगतिवाद के प्रति न्यायपूर्ण दृष्टि न रखने के कारण उसके प्रसमर्थन किस प्रकार की विकृति पाती है यही हमारे प्रगतिशील साहित्य की मूल समस्या है। यदि ये समालोचक प्रगतिवाद के प्रति अपनी इस प्रकार की अरुचि अथवा मिथ्या-धारणा का परित्याग कर दें तो अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान हो सकता है।

७८. डा० रामविलास की समालोचना की अपनी अलग धारा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अपनी मान्यताओं पर अटूट विश्वास है और प्रतिपक्षी के प्रति उनके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं है। कहा जा सकता है कि उनकी समालोचना छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति को ही अधिक लेकर चली है। जिन लोगों की विचारधाराओं का उन्हें खण्डन करना होता है, उनके निबन्धों से एतद् विषयक आवश्यक उद्धरणों का चयन कर वे उनकी छीछालेदार करने लग जाते हैं। अपने पक्ष-समर्थन का आग्रह उस समय उनसे इतना अधिक बढ़ जाता है कि वे अपने विपक्षी के दृष्टिकोण की ओर ध्यान ही नहीं दे पाते और उन्हें उनमें केवल दोष ही दोष दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति उनकी प्रायः समस्त समालोचनाओं में मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि डा० रामविलास शर्मा ने अपनी विचारणा का प्रतिमान यथेष्ट प्रबल धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है, किन्तु उनका एकपक्षीय आग्रह अनेक स्थलों पर हठवादिता का जामा पहिन कर उपस्थित हुआ है। कई अवसरों पर तो वे विरोधी समालोचकों पर प्रहार करते समय अत्यन्त कठोर और निर्मम भी बन जाते हैं। इसे उनकी स्वभावगत असहिष्णुता कहा जाय या प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति विशिष्ट प्रकार की आस्था यह निर्णायकों के लिये विचारणीय विषय है।

७९. डॉ० रामविलास शर्मा प्रगतिवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने उन मनोविश्लेषणवादियों का भी कट्टर विरोध किया है जो साहित्य को अतृप्त काम कुंठाओं का विस्फोट कह कर उसको पूर्णतया व्यक्तिपरक बना देते हैं। अज्ञेय जी की विचार-धारा से तो उन्हें बड़ी चिढ़ है और वे उन पर व्यक्तिगत आक्षेप करते हुए उन्हें 'साम्राज्यवाद का दोस्त' तक कह देते हैं। उनकी इस चिढ़ का एक प्रमुख कारण यह भी है कि अज्ञेय आदि ने प्रगतिवादी धारा के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की कुत्सा की है जिसे रामविलास जी का व्यक्तित्व भला कैसे सहन कर सकता है। इसी प्रकार रामविलास जी ने पं० इलाचन्द्र जोशी को भी अपनी कटु आलोचना का अभिसंधान बनाया है। 'विवेचना' की भूमिका में जोशी जी ने अपनी फ्रायडवादी विचारधारा का निरूपण करते हुए प्रगतिवादियों की जिस एकांगिता को मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति की संज्ञा दी है उसको लेकर शर्मा जी जोशी जी पर बरस पड़े हैं। कहा जा सकता है कि जैसे इलाचन्द्र जी ने फ्रायडवादी मनोविश्लेषण के द्वारा केवल छायावादी कवियों को ही दमित यौन-वृत्ति के विकारों से ग्रस्त नहीं बतलाया है, अपितु भक्तिकालीन वैष्णव कवियों और सन्त-महात्माओं में भी स्नायु विकार-ग्रस्त भावोद्गारों की अभिव्यक्ति पाकर अपनी एकांगी अनिरेकता का परिचय दिया है उसी प्रकार डा० रामविलास ने भी जोशी जी के तथ्यों को सर्वथा तथ्यहीन सिद्ध कर अपनी प्रगतिवादी मान्यताओं को सर्वोच्च संस्थिति प्रदान करने का आग्रह किया है। साहित्य

अलेय कहा है जिसकी वास्तविकता का और निकालना हमारे लिए किसी समस्या से कम नहीं।

७६ गुप्त जी की साहित्यिक आलोचनाओं में पूँजीवाद साम्राज्यवाद जनवाद, मार्क्सवाद आदि का विवरण बार-बार आया है। उन्हें कला और साहित्य का जनवादी परम्परा में सिद्ध करने के लिए एक ही बात को बार-बार दोहराना पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी समालोचना में युग-दृष्टि का ही प्राधान्य है; तभी वे प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों में नूतन सामाजिक जीवन और संस्कृति के प्रतिनिधित्व करने की शक्ति का असामर्थ्य पाते हैं। अच्छा तो यह होता कि गुप्त जी पहले प्राचीन साहित्य-संस्कृति के स्वरूप का विशद विश्लेषण कर उसका रूप-दर्शन कराते और तब यह सिद्ध करते कि उनमें कहाँ तक ऐसी प्राणहीनता आ गई है जो हमारे वर्तमान जीवन को चेतना देने में असमर्थ है। ऐसा करने पर उनका विवेचन अधिक ठोस और तार्किक बन सकता था किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। वस्तुतः मेरी दृष्टि से उनकी विचारधारा उनके लघु लेखों में नवीनता के प्रति भले ही आकर्षण उत्पन्न कर दे किन्तु उनका प्रतिपादन प्रौढ़ धरातलपर अल्पांश में ही आसीन है। आज मार्क्सवाद और प्रगतिवाद को तभी विद्वद्-वर्ग में प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है जब उसका पश्चिमी दृष्टिकोण और भारतीय साहित्य-जीवन के अनुरूप ही विवेचन न किया जाय अपितु उसे व्यापक स्वरूप में भी परखा जाय। यदि गुप्त जी इस विषय का स्वतंत्र निरूपण किसी स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में करते तो उनका समीक्षण-प्रतिमान अधिक व्यापक बन सकता था क्योंकि वस्तुतः आज भी इस कार्य की बड़ी आवश्यकता है।

(४)

डा० रामविलास शर्मा

७७ डा० रामविलास शर्मा प्रगतिवादी समालोचकों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-समालोचना' 'प्रेमचन्द' और 'निराला' को छोड़ कर उन्होंने अधिकांशतः फुटकर समालोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं जिनका प्रकाशन कालान्तर में पुस्तकाकार हुआ है। 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' 'प्रगति और परम्परा' 'संस्कृति और साहित्य' उनकी प्रमुख समीक्षा-कृतियाँ हैं जिनमें उन्होंने साहित्य का उद्देश्य और उसकी परम्परा आदि का विवेचन अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किया है। निबन्धों के शीर्षकों को देखने से सर्वप्रथम ऐसा आभास होता है कि इनमें लेखक ने स्वतंत्र विधि से इन पर अपनी मान्यताएँ व्यक्त की होंगी किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं हुआ है। इनमें लेखक ने अनेक प्रमुख साहित्य-समालोचकों और विचारकों की समीक्षात्मक निबन्धगत विचारधाराओं को लेकर उन पर अपना विश्लेषण और निर्णय देते हुए उनकी वास्तविकता के तार्किक मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि डा० रामविलास शर्मा का अपना एक निश्चित् जीवन-दर्शन है जिसको कसौटी बना कर ही वे विभिन्न विचारकों का परीक्षण करने में कार्य-तत्पर हुए हैं और उस कसौटी के अनुरूप उन्हें जहाँ विवेच्य विचारकों में विचारधाराएँ मिल गई हैं उनका तो उन्होंने खुल कर समर्थन किया है और शेष का खंडन। निबन्धों में खंडन-मंडन अथवा वादविवाद की जितनी अधिक प्रवृत्ति मिलती है, उतनी साहित्य-समीक्षा की अनुभूतिपूर्ण व्यंजना नहीं। खंडन-मंडन के बीच-बीच में उन्होंने अपने विरोधी समालोचकों पर अनेक प्रकार के कठोर व्यंग्य भी किये हैं। उनकी यह समीक्षा-प्रणाली नवीनतम विचारधारा के अन्य समालोचक यथा रांगेय राघव अमृतराय शिवदानसिंह चौहान और प्रभाकर माचवे आदि से भी मिलती-जुलती है जिसमें विरोधी वर्गों की कस-कस कर खबर ली जाती है। रामविलास जी ने अपनी समालोचनाओं में तटस्थ आलोचक के रूप में तो अपनी मान्यताएँ कम व्यक्त की हैं, किन्तु अधिकांशतः किसी न किसी समालोचक अथवा उसकी कृति को ही अपना लक्ष्य

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में किया है। शुक्ल जी पर उनकी जो दृढ़ आस्था है उसके वशीभूत हो कर ही उन्होंने हजारी प्रसाद जी के अनेक उद्धरण देते हुए 'संत-साहित्य में योगियों की भूमिका' के अन्तर्गत उनका खण्डन किया है। इस खण्डन में भी उनकी वही प्रवृत्ति परिलक्षित है जो उनकी अन्यान्य आलोचनाओं में मिलती है। उनकी विचारधारा को तथ्यपरक मान्यता तो तभी दी जा सकती थी जब डा० शर्मा अपनी विवेचना का विश्लेषण कर इस विषय का सतर्क और सप्रमाण निरूपण करते कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी किन-किन कारणों से अपनी विचारधारा में भ्रान्तिग्रस्त हैं और शुक्ल जी सत्य के निकट हैं। अच्छा हो डा० रामविलास शर्मा अपने 'समालोचक' नामक पत्र के द्वारा साहित्य को समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करें। वस्तुतः आज इसकी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता है जिससे समालोचना के प्रसार में गाम्भीर्य और औदात्य की सृष्टि हो सके।

अन्यान्य समालोचक

८३. आजकल हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल में ऐसे अनेक समालोचक आते हैं जिनमें किसी न किसी वाद-विशेष की मान्यताओं के प्रति विशेष प्रवृत्ति है। इन समालोचकों द्वारा मौलिक प्रतिष्ठान बहुत कम हुआ है और उनमें चर्वित चर्वण भी बहुत है, अतः उन पर अधिक विवेचन करने का मुझे कोई तर्कपूर्ण तथ्य नहीं मिलता। हाँ प्रसार-काल के कुछ समालोचकों की कुछ कृतियाँ विशेष महत्वपूर्ण हैं जिनमें समालोचना की नवीन प्रणाली को विकसित बनाने की चेष्टा भी हुई है। पं० गंगाप्रसाद पांडेय का 'महाप्राण निराला' जीवनचरितमूलक प्रणाली में लिखा गया एक अभिनव प्रयास है। साहित्यकार बनने की धुन में हमारे नवीन समालोचक बड़े उत्साहपूर्ण शब्दों में अपनी सर्वज्ञता का दुन्दुभिनाद भी करते हैं, किन्तु उनकी समीक्षा-क्षेत्र में विशेष उपलब्धि न होने के कारण उनको मैंने विशेष महत्त्व नहीं दिया है। वैसे शिवदानसिंह चौहान अमृत राय मंमथ प्रभाकर माचवे धर्मवीर भारती प्रेमनारायण टण्डन आदि नवीन समालोचक पत्र-पत्रिकाओं में यदा कदा अपनी विचारधाराओं में अभिनव उन्मेष करने का प्रयास भी करते रहते हैं, किन्तु जब तक उनमें कोई विशेष परिपक्वता न मिले उनका विवेचन सम्मानार्ह नहीं कहा जा सकता। डा० विनयमोहन शर्मा, नलिनविलोचन शर्मा और डा० देवराज के समीक्षात्मक निबन्ध प्रसार-काल के इतर समालोचकों की समता में अधिक संयमित और विवेकपूर्ण हैं। अपने वाद की मान्यताओं के संकीर्ण क्षेत्र को छोड़ कर हमारे अन्य समालोचक भी इस ओर प्रयत्न करें तो उनसे समालोचना को वास्तविक अर्थ में असीम प्रसार मिल सकता है। सम्भव है युग की पुकार उनमें कभी न कभी इस प्रकार की स्फुरणा उत्पन्न करे।

समालोचकों से यह बात छिपी नहीं है कि जोशी जी और रामविलास जी दोनों अपने-अपने दृष्टि कोणों में कितने अधिक पूर्वाग्रही और हठी हैं।

८० डा० रामविलास ने पंत जी की विचारधाराओं का भी तीव्र शब्दों में खण्डन किया है। उत्तरा आधुनिक कवि तथा अन्यान्य काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं में पंत जी ने अपनी जो सांस्कृतिक दृष्टि व्याख्यात की है उसकी सरलता पर रामविलास जी ने शंका प्रकट की है। वे पंत जी के प्रगतिवादी दृष्टिकोण को भी सामन्तवादी विचारधारा से संग्रस्त पाते हैं और उनमें जनवादी प्रवृत्ति का स्वरूप उन्हें नहीं मिलता। इसी प्रकार पंत जी ने ग्राम्या' में जिस बौद्धिक सहानुभूति के दृष्टिकोण का विश्लेषण किया है वह भी शर्मा जी की दृष्टि में उनकी प्रवंचना मात्र है। सच तो यह है कि पंत जी का व्यक्तित्व जिन सुकुमार कल्पनाओं के रजत तन्तुओं से निर्मित हुआ है उसके सांचे में मार्क्सवादी जन-कल्याण की प्रवृत्ति कम ही नहीं ठहरती और इसी पर अपनी आस्था रखते हुए रामविलास जी ने पंत जी की गाँधीवादी विचारधारा में मरणोन्मुख संस्कृति की ही अन्तिम झलक पाई है। इतना ही नहीं पंत जी ने भारतीय संस्कृति का विजय संस्तव करते हुए मार्क्सवाद की जिन अपूर्णताओं का निर्देश किया है, उनसे भी रामविलास जी असहमत हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि रामविलास जी की दृष्टि में पंतजी के व्यक्तित्व का एक ऐसा अपूर्ण पक्ष है जो अनेक प्रकार की एकांगिताओं से ग्रस्त और मार्क्सवादी अभिव्यक्ति के विवेचन में अधूरा है।

८१ डा० रामविलास शर्मा ने आलोचना-क्षेत्र में आचार्य शुक्ल जी का वही महत्त्व माना है जो उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द जी तथा कविता के क्षेत्र में निराला जी का है। उन्होंने अपनी विवेचना के प्रसंग में शुक्ल जी में सामंती संस्कृति के विरोधीतत्वों का अन्वेषण कर यही सिद्ध किया है कि शुक्ल जी भारत के रूढ़िवाद तथा पश्चिम के व्यक्तिवाद के कट्टर विरोधी थे और उनकी साहित्यिक मान्यताएँ जनवादी परम्परा के अत्यन्त निकट हैं। उन्होंने शुक्ल जी की समीक्षा में सामन्ती साहित्य के विरोधी भावों का विश्लेषण करने के उद्देश्य से ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' नामक पुस्तक की रचना की है, जिसमे शुक्ल जी की महत्ता सिद्ध करने के साथ-साथ उन समसामयिक समालोचकों की कटुनिन्दा भी है जो शुक्ल जी में ब्राह्मणवाद सामन्तवाद रूढ़िवाद अथवा सम्प्रदायवाद का स्वरानुसन्धान करते हैं। कहना होगा डा० रामविलास ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि विशेष प्रबल शब्दों में की है किन्तु उनका विवेचन भी एकांगी बनने से नहीं बच सका है। यद्यपि शुक्ल जी का साहित्य के प्रति समाजशास्त्रीय तथा जनवादी दृष्टिकोण अवश्य था किन्तु वे उसके कल्पना प्रेरित-सौन्दर्य मूलक भावपक्ष के भी कम प्रशंसक न थे। यदि डा० रामविलास अपनी सूक्ष्म तथा पैनी दृष्टि से शुक्ल जी के समीक्षण का मूल्यांकन व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित कर सर्वांगीण भाव से करते तो निश्चय ही शुक्ल जी का मूल्यांकन अधिक न्याय-भावना से हो पाता पर वे अपनी असमत प्रवृत्तियों के कारण ऐसा नहीं कर सके। हिन्दी समीक्षा-जगत् डा० शर्मा के समीक्षक रूप से सुपरिचित है और उनकी लेखनी का प्रभाव भी किसी पर अप्रकट नहीं है, किन्तु उनका जो एकांगी दृष्टिकोण है वह हमे कई कारणों से सर्वथा स्वस्थ और शालीन नहीं लगता।

८२ डा० रामविलास में तुलनात्मक समालोचना की प्रवृत्ति भी मिलती है। वस्तुतः उनमें एक ऐसी निर्भीकता है जिसके कारण वे बड़े से बड़े विद्वान को भी अपने मनोनुकूल न पाकर कठोर शब्दों में उसका खण्डन अथवा विरोध कर देते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के सम्बन्ध में जो पूर्ण अधिकारी से माने जाते हैं तथा जिनकी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' अनुसंधानपूर्ण ऐतिहासिक समालोचना के आदर्श ग्रन्थ हैं उनके कतिपय निष्कर्षों का भी खण्डन

उपेक्षा कर अपना रचना-निर्माण नहीं कर सकते। अद्यतन जीवन की विषम जटिलता और संघर्ष संकुलता ने रचनात्मक साहित्य के साथ-साथ समालोचना-साहित्य को भी उसके बाह्य तथा आभ्यंतरिक विधान में इस प्रकार प्रभावित कर रखा है जिसके फलस्वरूप साहित्य समीक्षण के क्षेत्र में विविधवर्णिनी समस्याओं की सृष्टि हो गई है। इन समस्याओं का स्वरूप किसी देश-काल तक ही सीमित न होकर विश्वजनीन क्षेत्र तक परिव्याप्त है जिसकी छाया से हिन्दी-साहित्य भी अस्पृष्ट नहीं रह सका है। अनेक स्थलों पर तो इसने साहित्य-समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों में ऐसी अनेक उद्भावनाओं को भी जन्म दिया है जिनका हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं से बहुत कम सम्बन्ध है तथा जिनके आभास में विजड़ित होने के भी अन्य अवसर नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे वर्तमान जीवन-दर्शन के निर्माण में आधुनिक युग चेतना का सर्वाधिक प्रभाव है, किन्तु उसके कारण हमारे जीवन-साहित्य में जिन जटिल ग्रंथियों की सृष्टि हुई है उनकी ओर उपेक्षा भाव प्रदर्शित करना किसी भी रूप में न्यायसंगत नहीं है।

मौलिक चिंतन में शैथिल्य और राजनीतिक प्रभाव

१ आज के साहित्यालोचन की एक प्रमुख समस्या अधिकांश समालोचकों में मौलिक चिंतन का शैथिल्य तथा व्यापक दृष्टि की न्यूनता है। इसका मूल कारण यह है कि अधिकांश समालोचक बहुपठित होने पर भी तत्त्वचिंतन की गौणतावश उसका सम्यक्‌निर्वाह अपनी आलोचना-कृतियों में नहीं कर पाते। इतना ही नहीं कुछ समीक्षकों ने सामान्यतया वैयक्तिक प्रभाव के अभिव्यंजन को ही समालोचना का एकान्त पथ समझ रखा है जिसके कारण उनकी कृतियों में स्वतन्त्र और मौलिक चिंतन के नाम पर अनेक बार स्वैरचारी विचारधाराओं की अभिव्यक्ति मिलती है जिसका वे सामान्यतया कम दुरुपयोग भी नहीं करते। स्वतन्त्र और मौलिक चिंतन में आलोचकों द्वारा जहाँ तथ्यपूर्ण तत्त्वों का उद्‌घाटन होना चाहिए, वहाँ मुंडे-मुंडेमतिर्भिन्ना की प्रवृत्ति तो अत्यधिक मात्रा में प्रकट हो रहा है, किन्तु उनकी चिंतन-शक्ति में शनैः शनैः शैथिल्य के लक्षण भी परिलक्षित होने लगते हैं जिनके कारण साहित्य और समालोचना की गरिमा को आघात पहुँचता है। इस प्रकार की समस्या को प्रादुर्भूत करने में आधुनिक विश्व-जीवन के राजनीतिक मतभेदों का साहित्य-क्षेत्र में अनावश्यक रूप से पदार्पण भी एक कारण है। विश्व के विभिन्न देशों में आज प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साहित्य की सार्वभौम सत्ता राजनीतिक दलबन्दियों में ग्रस्त होकर अपने वैशिष्ट्य को खण्ड-खण्ड कर रही है और जीवन की संवेदना तथा रसानुभूति जीर्ण-शीर्ण होकर अवश्य थोथी राजनीतिक प्रभावों के सम्मुख आत्म-समर्पण करने के लिए विवश बनाई जा रही है। आज के राजनीतिज्ञों और राष्ट्र-संचालकों के विविध व्यक्तित्व के सम्मुख साहित्यकार ने जैसे अपने घुटने टेक दिए हैं और वह उनके इंगित का मुखापेक्षी बन गया है। ऐसा लगता है जैसे उसका 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' वाला व्यक्तित्व किसी अज्ञात कोने में अंतर्हित हो गया है और अब वह बिना राजनीतिक वैसाखी के खड़े होने में असमर्थ है। फलतः साहित्य के प्रतिमान भी परिवर्तित होकर साम्राज्यवाद प्रजातन्त्रवाद सामंतवाद, पूँजीवाद समाजवाद, साम्यवाद और मार्क्सवाद के स्तर में प्रतिष्ठापित होने लगे हैं और साहित्य का परीक्षण करने में इनके बटखरों का प्रयोग प्रायः किया जाने लगा है। परिणाम यह हुआ है कि साहित्यालोचन में जीवन की व्यापकता से उद्भूत उन सिद्धान्तों की न्यूनता होने लगी है जो कि देशकालावच्छिन्न साहित्य के मानदण्ड बन सकते हैं तथा जिनके कारण रचनात्मक साहित्य को भी नूतन दिशा प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में हिन्दी का साहित्यालोचन भी उससे परिकल्पित्‌रूप में प्रभावित हुआ है और आए दिन प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों में जो झगड़े चलते हैं, वे इस बात के प्रत्यक्ष

दशम अध्याय

समालोचना के विकास-पथ की समस्याएँ तथा स्वतन्त्र मान-दण्ड का विचार

विवेचन का प्रतिपाद्य विषय और उसकी उपयोगिता

१ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना के विकास को औपचारिक दृष्टि से चार चरणों में विभक्त कर पूर्ववर्ती अध्यायों में जो विवेचन किया गया उससे यह स्पष्ट है कि प्रायः एक शताब्दी के कार्यकाल में उसने जो प्रगति की है वह अपेक्ष संतोष जनक है किन्तु समय समय पर उसके विकास-पथ में ऐसे अनेक गतिरोध भी आते रहे हैं, जिन्होंने काल-क्रम में समस्याओं का रूप धारण कर लिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन समस्याओं के निवारण के सदुप्रयत्न हमारे विभिन्न चरणों के सुधी समालोचकों ने अत्यन्त गाम्भीर्य और विवेक-पुरस्सर विधान से किए हैं और यह क्रम अब भी वर्तमान है, किन्तु उन समस्याओं के कारण साहित्य के नैसर्गिक विकास में कुछ बाधा भी अवश्यमेव पड़ी है। प्रस्तुत अध्याय में उन समस्याओं के प्रादुर्भाव की मूल परिस्थितियों का सामान्य विश्लेषण करते हुए इस विषय के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया जायगा कि उन्हें प्रादुर्भूत करने में किन-किन कारणों ने योग दिया है और वे किस प्रकार निराकृत भी होती रही हैं। साथ ही साथ हमारी विवेचना का एक विषय यह भी है कि उन समस्याओं का निवारण करते हुए तत्सम्बन्धी समालोचकों द्वारा हिन्दी-समीक्षा के विकास में किस प्रकार का स्वतन्त्र प्रतिमान निर्धारित करने में सफलता प्राप्त की गई है। विवेचन के इसी प्रसंग में इस विषय का संकेत करना भी आवश्यक है कि प्रस्तुत अध्याय में विकास-पथ की जिन समस्याओं का विश्लेषण किया जा रहा है, वे ऐसी गुरुतर और अवरोधपूर्ण समस्याएँ नहीं हैं, जिनसे समालोचना-साहित्य को निष्कृति न मिल रही हो। सच तो यह है कि हमारे समालोचकों का एक वर्ग प्रारम्भ से ही इस दिशा में सचेष्ट है कि साहित्य का स्वरूप-विधान ऐसे उदार और विश्व कल्याण कारी दृष्टिकोण से निरूपित किया जाय जो इन समस्याओं के धरातल से बहुत ऊँचा हो तथा जिसका प्रतिमान किसी भी प्रकार की वर्गगत भावना से सम्पृक्त न हो कर साहित्य को उसके विशुद्ध संवेदनात्मक स्वरूप में ही प्रतिष्ठित करता हुआ चले।

(अ)

आधुनिक युग-जीवन और समस्या-सृष्टि

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचनात्मक समस्याओं का विश्लेषण करने के पूर्व हमारा ध्यान सर्वप्रथम अपने युग-जीवन की ओर जाता है। वर्तमान युग में अपनी वैज्ञानिक उन्नति और बौद्धिक विचारणा के द्वारा हमारे जीवन के विविध क्षेत्रों को इतना अधिक संघर्षमय और वैषम्यपूर्ण बना दिया है, जिसका प्रत्यालोक उसके मूर्तस्वरूप साहित्य के अंग-प्रत्यंगों पर दृष्टि गोचर होना सर्वतोभावेन स्वाभाविक है। आधुनिक युग के सामान्य साहित्यकार के लिए तो अपने युग संघर्ष की उपेक्षा कर चलना सर्वथा असम्भव सा है, किन्तु जो मानव भावनाओं के शाश्वत उद्गाता और प्रतिभाशाली साहित्यकार हैं वे भी अपने युग जीवन और परिस्थितिजन्य संघर्ष की

है जिससे साहित्यिक समालोचना की इस विद्यमान समस्या का समाधान अत्यन्त सुविधापूर्वक हो सके। ऐसा तभी सम्भव है जब हम अपने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह को तिलांजलि देकर साहित्यालोचन में उदार तथा निष्पक्ष बनते हुए चलें और उसके मूल्यांकन में सच्ची सहानुभूति और सुरुचि से काम लें।

नियम-निर्धारण में कठिनाइयाँ

६. साहित्यालोचन के नियम-निर्धारण में जो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ समय-समय पर प्रस्तुत होती चलती हैं वे भी एक प्रकार से आधुनिक समालोचना की समस्याओं के ही रूप हैं। बात यह है कि साहित्य और देशकाल का प्रारम्भ ही से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है और वह (साहित्य) युगानुरूपता से उदासीन होकर कभी भी अपना अस्तित्व नहीं रख सका है। फलतः युगधर्म की प्रवृत्तियों ने कभी उसे आदर्श की ओर मोड़ा है तो कभी उसे यथार्थ का आलिंगन करने के लिए बाध्य किया है। अनेक बार तो दोनों की एकांत-दर्शिता ने उसे इतना दुविधापूर्ण बना दिया है कि उसे पथ-प्रदर्शन करने के स्थान पर स्वयं के प्रति भी अविश्वासी बनना पड़ा है। ऐसी स्थिति में उसके लिए नेतृत्व करना तो दूर रहा वह स्वयं भी असहाय बन कर अपनी चिरंतन निधियों को आत्मविस्मृत कर बैठा है। निश्चय ही यह स्थिति उसे समीक्षा के उपयुक्त धरातल प्रदान करने के सर्वथा प्रतिकूल रही है। अतः साहित्यालोचन में यह भी एक समस्या ही है कि वह जीवन की संवेदनाओं से प्रेरणा लेकर अपना स्वरूप धारण करे अथवा शुष्क सिद्धांतों की जटिलता का ही अपनी धमनियों का रक्त प्रवाह बनावे। निश्चय ही यह स्थिति भी अत्यन्त दुविधापूर्ण है अतः साहित्यालोचन के विवेचन में इस समस्या को भी सुलझाने की परम आवश्यकता है।

यथार्थ का एकांगी आतिरेक्य

७. आजकल साहित्य के यथार्थ को लेकर भी समालोचना के क्षेत्र में अनेकानेक प्रवाद प्रचलित हो गये हैं जिनका प्रतिफल समस्या का रूप धारण कर गया है। यथार्थ से अभिप्राय यदि मानव-हृदय की मूल मनोवृत्तियों के चित्रण से लिया जाय और उसमें केवल जीवन की वास्तविकता की झलक-मात्र ही प्रतिबिम्बित हो तब तक तो फिर भी ठीक है किन्तु जब उसके द्वारा विकृत मनोभावनाओं और कुत्सित वृत्तियों का प्रसार किया जाता है तो उसका स्वरूप बिना अप्राह्य बने नहीं रहता। आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविश्लेषण-शास्त्र के नाम पर जो प्रवृत्तियाँ उसके रचनात्मक साहित्य उपन्यास कहानी में विशेषतः और नाटक काव्य आदि में गौणतः प्राप्त होती हैं वे इसका प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। इसका प्रभाव यह हुआ है कि समालोचना-साहित्य में भी यथार्थ के नाम पर अनेक प्रकार की भ्रांतियों और मतमतांतरों का प्रचलन हो गया है। फ्रायड एडलर और युंग आदि पाश्चात्य विचारकों ने अपनी जो मनोवैज्ञानिक सरणियाँ प्रस्तुत की हैं वे आज के यथार्थवाद के लिए आप्त वचन बन रही हैं और यह समझा जाने लगा है कि आज का युगधर्म केवल इन्हीं के चित्रण पर निर्भर है। दुःख तो तब होता है जब आज की प्रगति का मानदंड नहीं यथार्थ मान लिया जाता है जिसमें मनुष्य की आदर्शनिष्ठ नैतिकता और सुरुचि-सम्पन्नता को केवल काल्पनिक जगत् की वाग्मयी सृष्टि कह कर उसे वायुवेग में उड़ा दिया जाता है। माना कि जीवन की भौतिक आवश्यकताओं का भी जीवन में अपेक्षित महत्व है और उनकी उपेक्षा कर जीवन की गति आगे नहीं बढ़ सकती किन्तु मनुष्य केवल अस्थि चर्म का आकारमात्र ही तो नहीं है। उसके भीतर भी एक ऐसी चेतन शक्ति है जो सतत ऊर्ध्वमुखी पथ की ओर उन्मुख बनने के लिए सदैव आकुल रहती है। अतः जब साहित्य और जीवन दोनों ही अभिन्न अंग बन कर आते हैं तो जीवन की उस चेतना की ओर से आँखें मूँद कर भी हमारा वास्तविक साहित्य-दर्शन हो सकेगा इसमें तो

निदर्शन है कि उनका मूल दृष्टिकोण साहित्य को विशुद्ध भावात्मक स्थिति में ग्रहण करने का न होकर केवल अपना पक्ष समर्थित करना है अतः इसे भी आधुनिक समालोचना की एक समस्या ही कहा जायगा।

प्राचीन और नवीन का संघर्ष तथा एकपक्षीय प्रवृत्ति

४ समालोचना-क्षेत्र की दूसरी समस्या का प्रादुर्भाव उस संघर्ष के कारण हुआ है जो प्राचीनता और नवीनता की रूढ़ि तथा स्वच्छन्दता को पूर्वाग्रह के रूप में ग्रहण कर हमारे जीवन को प्रभावित करते हुए चल रहा है। इस संघर्ष में भाग लेने वाले साहित्यकार अपने पक्ष का समर्थन अत्यन्त कट्टरता के साथ करते हैं। आज के आलोचक के सामने एक ओर जहाँ प्राचीन साहित्य-शास्त्र की भी ऐसी प्रभूत सामग्री का अक्षय-कोष है जिसके परित्याग का वह लोभ-संवरण नहीं कर सकता तो दूसरी ओर अधुनातन वैज्ञानिक युग की विशिष्टता ने उसे जो नूतन विचारधारा तथा अभिनव दृष्टि प्रदान की है वह भी उसके लिए किसी भी रूप में उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती। इस प्रकार दोनों रूपों में उसके लिए आकर्षण विद्यमान है। जहाँ तक दोनों विचार-सरणियों से तथ्य-ग्रहण की प्रवृत्ति है साहित्यालोचन के क्षेत्र में वह उपादेय है किन्तु जब दोनों पक्षों के समालोचक हठपूर्वक अपने संकीर्ण क्षेत्रों में आबद्ध होकर अपना अपना राग भिन्न-भिन्न स्वरों में अलापने लगते हैं तो साहित्यालोचन में स्वतः ही समस्योद्भव की परिस्थिति आ उपस्थित होती है। उस समय प्राचीनता के रूढ़िवादी समर्थक नवीनता की ग्राह्य प्रवृत्तियों से आँखें मूँद कर उसमें सर्वत्र दोषोद्भावना ही पाते हैं तो नवीनता के उत्साही अनुमोदक प्राचीन शास्त्र-परम्परा को सड़ी-गली और समय बाह्य घोषित कर उसमें आधुनिक युग-चेतना तथा जीवन शक्ति-समीक्षण का अभाव पाने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि दोनों श्रेणी के विचारक अपने व्यापक ध्येय तथा मानवोपयोगी विचार धारा से विमुख होकर साहित्य-सृजन एवं साहित्य-समीक्षण के मार्ग में भटक जाते हैं जिसके कारण साहित्यालोचन के विवेकपूर्ण मनोजगत् में एक गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः ऐसी स्थिति भी समालोचना की एक समस्या बन जाती है।

निश्चित और व्यापक दृष्टिकोण की न्यूनता

५. आज की साहित्य-समालोचना के सम्मुख एक जीवन्त समस्या उसके मूल्यांकन के प्रति किसी निश्चित दृष्टिकोण के अभाव की है। विज्ञान के उत्कर्ष और वैभव ने आज के मनुष्य को इतना अधिक बुद्धिवादी और भौतिकता में आस्था रखने वाला बना दिया है कि उसका हृदय पक्ष और आध्यात्मिक भाव प्रायः व्यक्तित्वहीन हो रहा है। फलतः जीवन के मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य में भी उसकी प्रतिच्छाया के सभी लक्षण परिलक्षित होने लगे हैं। बुद्धि ने अपनी व्यावसायिकता में ऐसे अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया है जो जीवन की अनन्तता एवं अखण्डता के प्रति संकुचित होकर उसे विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में नियन्त्रित बनाने के आकांक्षी हैं। आज जीवन वादों और सिद्धांतों के वात्याचक्र में ग्रस्त होकर अपने लिए उचित मार्ग पाने में असमर्थ है जिससे साहित्य की प्रकृत सर्जना में निश्चय ही एक कटुतापूर्ण व्यवधान आ गया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम जीवन को सन्तुलन और व्यापकता प्रदान करें और उसके मूर्तस्वरूप साहित्य में भी उसकी नित्य नूतन विकासशील विचारों का चित्रण करते हुए उसे भी दलबन्दियों के वातावरण से दूर ही रखें जिससे यह पथभ्रष्ट न हो। ऐसा करने पर ही हमें उसके समीक्षण के लिए भी एक व्यापक दृष्टिकोण मिल सकता है जिसके द्वारा समालोचना की पथ प्रशस्ति में सुविधा हो सकती है। हाँ यह बात अवश्य है कि ऐसा करते हुए रुचिवैचित्र्यवश हमें प्रारम्भ में अनेक प्रकार की संकटमय परिस्थितियों का भी सामना करना पड़े किन्तु शनैः-शनैः एक ऐसा प्रशस्त पथ अवश्य प्राप्त किया जा सकता

समालोचना की एक समस्या है कि मानदण्ड का स्वतन्त्र संस्थान किस रूप में प्रतिष्ठित किया जाय।

पारिभाषिक शब्दों की अनिश्चित स्थिति

८. आधुनिक हिन्दी-समालोचना के सामने एक छोटा सा प्रश्न उसके पारिभाषिक शब्दों
के निर्माण का है। जहाँ तक प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र-परम्परा का सम्बन्ध है, समालोचनागत
पारिभाषिक शब्दावली उसके मूल रूप में ज्यों की त्यों ग्रहण की जाती रही है किन्तु आधुनिक युग
में जिस प्रकार की पाश्चात्य प्रणाली की समालोचना का प्रचलन हुआ है उसके लिए पारिभाषिक
शब्दों का भाषा में समकक्ष निर्माण करना प्रारंभ में एक प्रकार की समस्या ही रही है।
यद्यपि डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' के अन्त में इस प्रकार के अंग्रेजी पारिभाषिक
शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची हिन्दी पारिभाषिक शब्द दिये हैं जो यथेष्ट रूप में स्वीकार्य समझे जा
सकते हैं किन्तु उन्हें भी निर्विवाद रूप में स्वीकार करने में अनेक विचारकों को आपत्ति है। इस
दिशा में आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया कार्य अवश्य अधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण है। उन्होंने
निश्चय ही अंग्रेजी साहित्यालोचन में गृहीत पारिभाषिक शब्दों के लिए हिन्दी में शास्त्रीय शब्दों
का विधान किया है जो प्राचीन संस्कृत-काव्य की सरणि के साथ-साथ उसकी मौलिक उद्भावनशक्ति
के भी परिचायक हैं। किन्तु उन्हें हो पूर्ण मानने में कई समालोचकों को संकोच का अनुभव होता है।
इसका एक मूल कारण यह है कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक सांस्कृतिक आधार होता है
और उसके निर्माण में देशकालगत संस्कार स्वतः अपना कार्य करते चलते हैं, अतः उनके प्रतीक
शब्द-कोष में भी उन-उन देशों की काल विशेष की मान्यताओं का भी कम आधार नहीं रहता।
कई बार तो ऐसा भी देखा गया है कि एक शब्द किसी काल विशेष में किसी अर्थ-विशेष में प्रयुक्त
होता था यह कालान्तर में अर्थ-संकोच अर्थ-विस्तार अर्थापकर्ष अर्थोत्कर्ष अथवा अर्थातिशय
करता हुआ उत्तरवर्ती युग में अपनी मूल आत्मा की प्रकृत ध्वनि को ही खो बैठता है। जब यह
कठिनाई किसी एक ही भाषा की शब्द-शक्ति के सामने उपस्थित है तो उसका अन्य भाषाओं में
समरूप अनुवाद या पर्याय देना कोई सरल कार्य नहीं है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि
एक छोटे से शब्द में जितनी वोधन-शक्ति अथवा व्यंजना छिपी रहती है उतनी उसके बड़े-से-बड़े
पर्यायवाची शब्द में भी नहीं मिलती। अतः पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में इस प्रकार का विचार
दृष्टिकोण लेकर न चला जाय तो यह भी हमारी समस्याओं का स्वरूप बन जाता है।

९. पारिभाषिक शब्दों की पूर्व-विवेचित समस्या के स्पष्टीकरण के लिए हम पाश्चात्य
साहित्यालोचन में प्रचलित एक ऐसे शब्द को लेते हैं जिसका प्रचलन आधुनिक समालोचना का
प्रधान अंगभूत बन कर हो रहा है। वह शब्द है 'एस्थैटिक'। इसके लिए आजकल हिन्दी में
'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द का प्रायः सर्वत्र प्रयोग देखा जाता है। अब विचारणीय यह है कि क्या सौन्दर्य
शास्त्र शब्द में इस शब्द की मूल ध्वनि आ सकी है? यदि इसका सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो
इसमें उसके मूल भाव का अर्थ द्योतित नहीं है। आज के प्रचार ने भले ही हमें एस्थैटिक के
पर्याय शब्द के रूप में सौन्दर्य-शास्त्र' शब्द को हमारे कानों के लिए अभ्यासगम्य बना दिया हो
किन्तु एस्थैटिक का मूल यूनानी अर्थ परसेप्शन (Perception) है जिसे 'प्रत्यक्षीकरण' के रूप में
हिन्दी में गृहीत किया जा सकता है। यह 'प्रत्यक्षीकरण' कालान्तर में 'सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण' की
ध्वनि देने लगा और आगे चल कर इसी का साधारणरूप में 'सौन्दर्य की चेतना' के अर्थ में प्रयोग
होने लगा। हिन्दी में एक ऐसा वर्ग भी है जो इस एस्थैटिक शब्द के लिए 'कलामीमांसा' शब्द का
प्रयोग करता है, किन्तु वह भी एक सीमा तक ही ग्राह्य समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में हमारे
लिए विचारणीय प्रश्न यह है कि हम ऐसे मूल पारिभाषिक शब्दों को लें और उनके लिए यथा
सम्भव ऐसे शब्दों की खोज करें जो हमारे ज्ञान-कोष भारतीय वाङ्मय और मूलतः संस्कृत वाङ्मय

मुझे संदेह ही है। आज की मनोवैज्ञानिकता और भौतिकता यथार्थ के नाम पर चाहे कितना ही एकांगी प्रचार करे किन्तु उसकी संकीर्ण दृष्टि कभी भी शोभनीय नहीं कही जा सकती। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि जिस प्रकार हम रचनात्मक साहित्य में अपने भावों के परिष्करण के लिए सरस सामग्री की उपलब्धि की साधना करें वैसे ही समालोचनात्मक साहित्य में भी आदर्शनिष्ठ यथार्थवाद को भी विस्मृत न कर दें। ऐसा करते हुए ही हम अपने तथा साहित्यालोचन के प्रति न्याय भावना का निर्वाह कर सकेंगे अन्यथा साहित्य-क्षेत्र में एक ऐसा विप्लव उपस्थित हो जायगा जो न तो साहित्य का ही सच्चा निर्माण करने देगा और न समालोचना का सुष्ठु स्वरूप ही साकार बन सकेगा। ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए यह विचारणीय विषय बन जाता है कि हम साहित्य-समालोचना के समुन्नत पक्ष की गौरवपूर्ण मर्यादा का ध्यान रखें और उसे उसके उस उच्च धरातल से न गिरने दें जिसमें जीवन की चेतनापूर्ण सजीव साँसों का मूल्यांकन और परीक्षण बड़ी सतर्कता से किया जाता है। आज की हिन्दी-समालोचना की एकांगी यथार्थवादिता निस्संदेह भयावह है और इसकी विकृति भी हमारे लिए एक समस्या बन गई है जिसके निराकरण के लिए प्रयत्नशील होना हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य है।

स्वतन्त्र मानदण्ड विषयक समस्या

८ आज हमारे सामने एक अन्य समस्या हिन्दी समालोचना साहित्य के स्वतन्त्र मानदण्ड की भी है। इस क्षेत्र में विचारकों में दो वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं। एक वर्ग का तो ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार का प्रश्न ही व्यर्थ है कि समालोचना का हिन्दी-साहित्य में स्वतन्त्र मानदण्ड है या नहीं ? वे हिन्दी को विभिन्न साहित्यों की समता में अत्याधिक सम्पन्न पाते हैं और उन्हें उसमें साहित्य की विविध विधाओं की इतनी प्रबल सामग्री दीख पड़ती है जो किसी भी साहित्य के लिए गौरवपूर्ण कही जा सकती है। यह वर्ग आवश्यकता से अधिक आशावादी है और उसकी धारणा में आत्मविश्वास का स्वर अत्यन्त प्रबल है। इसके अतिरिक्त इस विषय में दूसरा वर्ग ठीक इससे विपरीतगामी है। उसे अपने साहित्य और समालोचना में एकमात्र हीनता ही प्रदर्शित होती है। पूर्ववर्ती वर्ग में यदि आशावाद की अतिरेकता है तो इसमें निराशावाद का प्राबल्य। इस वर्ग की समझ में यह आता ही नहीं कि हिन्दी की भी अपनी कोई स्वतंत्र परम्परा है और उसका भी एक अनन्त विकासवादी ज्ञानकोष है। जिस साधना और तपस्या के बल पर आज हिन्दी भारत जैसे महान् राष्ट्र की राज-भाषा बनने का गौरव प्राप्त कर सकी है उसकी आधारशिला को वे कपोल कल्पना कह कर यों ही हवा में उड़ाना चाहते हैं। यह वर्ग पाश्चात्य विचारधारा और भौतिक संस्कृति की चकाचौंध में अपने व्यक्तित्व को तिरोहित-सा कर बैठा है और इसके प्रतिमान इतने अधिक पर प्रत्ययाश्रित हैं कि उसे हिन्दी के प्राचीन साहित्य-समालोचन में रूढ़ि और संकीर्णता ही मिलती है। इस वर्ग के लोगों की जबानी प्रायः यह सुनने को मिलता है कि अभी हिन्दी में समालोचना-साहित्य का आरम्भ ही कहाँ हुआ है और उसमें जो कुछ है वह केवल जूठन या अनुकरणमात्र है। निश्चय ही उनका यह निर्णय हमें अत्यन्त हीनकोटि का लगता है क्योंकि उसके मूल में उनके अज्ञान का थोथा दम्भ अपनी प्रत-छाया प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार की धारणा से हमारा कोई हितचिंतन हो सकेगा ऐसा सहसा नहीं प्रतीत होता। इन दोनों वर्गों की हठवादिता से घबराकर एक तीसरा वर्ग सामंजस्यवादी दृष्टिकोण अपना कर चलता है, किन्तु इसके पास भी उस ज्ञान-गुरुता की कमी है जिसके कारण वह न्यायाधीश के पद पर आसीन होकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व और चिन्तन के आधार पर निर्णय नहीं दे पाता। यह दोनों प्रकार की विचारधाराओं से पलायित होकर मध्यस्थता का अभिनय करता है किन्तु उस अभिनय में वास्तविकता के परीक्षण का प्रश्न अवकाश है अतः यह भी हिन्दी

प्रतिपादित किया गया है तो कहीं कला की उपयोगिता को जीवन के अनिवार्यतत्व से संबन्ध कर उसे प्रावलम्बित बना दिया गया है। इसी प्रकार सत्यं शिवं सुन्दरम् की व्याख्याएँ भी प्रसग-प्रसग प्रणालियों में हुई हैं। कहना होगा आधुनिक हिन्दी-समालोचना के सैद्धान्तिक विकास में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। रहस्यवाद और छायावाद के युग से लेकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के युग तक इसी प्रकार आलोचकों ने अपने अपने ढंग से विवेचन प्रस्तुत किए हैं जिनके फलस्वरूप अनेक स्थलों पर संतुलन का अभाव भी आ गया है। माना कि साहित्य-समीक्षण में भी रुचि-वैभिन्य के सिद्धान्त की उपयोगिता है, किन्तु जहाँ आलोचक अपने पक्ष का मंडन और विरोधी पक्ष का खंडन करने के लिए ही पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति से उद्यत होते हैं वहाँ उनका विवेचन साहित्यालोचन के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के स्थान पर उसे और अधिक अस्तव्यस्त और उलझन का कारण बन जाता है। इसका एक प्रमुख प्रमाण है आधुनिक युग की नवीनतम प्रवृत्तियों का स्वरूप। अज्ञेय जी ने 'समकालीन भारतीय-साहित्य' की प्रवृत्तियों के अन्तर्गत अथवा तारसप्तक की भूमिका में जो कुछ लिखा है अथवा प्रगतिवादी समालोचक डा० रामविलास शर्मा तथा श्री शिवदान सिंह चौहान आदि के बीच जो समालोचनागत कटुतापूर्ण विवाद चले हैं, वे इस प्रकार की समालोचनागत समस्याएँ नहीं तो और क्या हैं? माना कि सबको विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है किन्तु उसके पीछे विद्वज्जन-सुलभ संयम का ठोस आधार अथवा तर्कसम्मत धरातल भी कम आवश्यक नहीं है। आधुनिक हिन्दी समालोचना में जहाँ इस प्रकार की सामग्री मिलती है वह हमारे लिए कदापि सुग्राह्य नहीं कही जा सकती। वस्तुतः उसका यह स्वरूप आधुनिक समालोचना की एक समस्या ही है जिसका निराकरण केवल तभी सम्भव है जब हमारा समालोचकवर्ग अपनी दृष्टि को उदार तथा व्यापक बना कर अपने कार्य के दायित्व का निर्वाह करे।

पूर्वग्रह का दुराग्रह और उसके परिणाम

१२ समालोचना के क्षेत्र में एक समस्या तब उत्पन्न हो जाती है जब विभिन्न वर्गीय समालोचक अपनी-अपनी वाद-प्रणाली को पूर्ण तथा निरपेक्ष मानने की भूल कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य में जो छायावादी युग चला वह केवल काल्पनिक जगत की अतीन्द्रियता को ही अधिक महत्त्व दे बैठा तो प्रगतिवादी युग ने उसके विपरीत यथार्थ को अधिक से अधिक ग्राह्य समझा। फलतः दोनों श्रेणियों के कुछ आलोचक साहित्य के सर्वमुखक-क्षेत्र में अभिमतकवाद की प्रवृत्ति से चलने लगे जिसका रचनात्मक साहित्य पर भी विशेष अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि इन वादों के प्रवर्तक विचारकों में उतनी कट्टरता नहीं थी जितनी उनके कुछ अनुयायियों में कालांतर में प्रस्फुटित हुई। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी समस्याओं के निवारण के लिए समालोचक अधिक उदार दृष्टिकोण से काम लें जिससे सत्साहित्य के प्रणयन और प्रसार में कोई व्यवधान उपस्थित न हो। माना कि तर्क-बुद्धि और मानसिक स्तर की विभिन्नतावश आलोचक-समाज के प्रतिमानों में अन्तर होना स्वाभाविक है किन्तु ऐसी तो कोई बात नहीं कि वे एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण न रख सकें। जब हम साहित्य और समालोचना को क्रमशः जीवन की सरस और बौद्धिक अनुभूति कहते हैं तो चाहे किसी प्रणाली अथवा परम्परा का अवलम्बन किया जाय उसका मूल मन्तव्य तो एक ही सिद्ध होगा।

पाश्चात्य दृष्टिकोण का एकनिष्ठ ग्रहण

१३ आधुनिक हिन्दी समालोचना की एक समस्या यह भी है कि इसमें समालोचकों कुछेक ऐसे वर्ग भी सम्मिलित हो गए हैं जो अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा के

में उपलब्ध हों। हाँ जहाँ ऐसे व्यंजनापूर्ण शब्दों का स्वरूप हमें अपने संस्कृत की शब्दनिधि में नहीं मिल सका वहाँ उनकी नूतन सृष्टि करना भी अनुचित नहीं है। बाह्य रूप से इस विषय का महत्त्व अत्यन्त हीन जान सकता है किन्तु इसे भी हिन्दी-समालोचना का एक महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार करना होगा। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग सूत्र-रूप में होता है अतः उनकी मूल चेतना और अर्थ-शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त कराने के लिए यथासम्भव उपयुक्त शब्दों की सृष्टि की जानी चाहिए। भिन्न भिन्न आलोचकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग शोभनीय प्रयत्न नहीं है। हमें इसके लिए एक समान दिशा में चलना होगा और तभी पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की समस्या का समाधान हो सकेगा। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर हम अपनी अन्य समृद्ध प्रांतीय भाषाओं की शब्दावली से भी शब्द ग्रहण कर सकते हैं। इसमें कोई मान-हानि की बात नहीं है। इस समस्या के निवारण के लिए विद्वानों की एक समिति की योजना भी परम उपादेय हो सकती है, जो अपनी व्यापक मति द्वारा शब्द-निर्माण के इस कार्य में योगदान दे सके। इसी प्रकार जो शब्द हमारी भाषा प्रकृति में तादात्म्य पा गये हैं उनकी यथार्थता भी प्रतिपादित कर दी जाय तो भी बुरा नहीं है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी नोवल (Novel) शब्द के लिए हिन्दी में जो 'उपन्यास' शब्द प्रचलित है वह मूलतः बंगला भाषा से आया है किन्तु इस शब्द को अपने मध्य रहते हुए इतना अधिक समय हो गया है कि इसका पारिभाषिक शब्दावली से निष्कासन करने की हमें कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती है। अतः इस पारिभाषिक शब्द-योजना की समस्या पर भी हमें एक बार पुनः विचार करना है और इसके निवारण का अर्थ निश्चय ही हमारी समालोचना के भावी विकास के लिए कल्याणप्रद है। डा० नगेन्द्र ने 'अरस्तू के काव्यशास्त्र' तथा 'लौंजाइनस के उदात्त-तत्त्व' के विवेचन में पाश्चात्य साहित्य शास्त्रीय शब्दावली के लिए जिस प्रकार के भारतीय शब्दों का प्रयोग किया है वह इस दिशा में शोभनीय प्रयास है।

संतुलन का अभाव और समस्योद्भावना

११ आज के साहित्यालोचन में एकांगी अतिरेकता भी एक प्रकार की समस्या बन कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत है जिसे संतुलन का अभाव कहा जा सकता है। बात यह है कि साहित्य की भाँति हमारा समालोचनागत दृष्टिकोण भी अपनी सीमित परिधि में सिमट कर ऐसा बंध गया है कि हम साहित्य के सर्वांगीण एवं सार्वजनीन भाव को विस्मृत सा कर बैठे हैं। जिस प्रकार साहित्य के विवेचन में विभिन्न विचारक अपनी स्वतन्त्र चेतना के अनुसार अपनी-अपनी विचार सरणियाँ प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार उसके समालोचक भी अपनी-अपनी वर्गग्रस्त मान्यताओं में अलग अलग विवेचन उपस्थित करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि मानव-विचार को एक ही प्रणाली में बाँध कर रखना सम्भव नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारा ज्ञान और विज्ञान अनेक प्रकार की शाखाओं और उपशाखाओं के विभाजन में जटिल बन कर अपना प्रसार पाता रहा है किन्तु उन बिखरी ज्ञान-रश्मियों को संतुलित रख कर अभिव्यक्त नहीं किया जा सके ऐसा विवेक शक्ति के लिए कोई कठिन कार्य नहीं है। इसकी ओर ध्यान न देने से साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार की जटिलताओं का संचार हो जाता है। उदाहरणार्थ प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में रस रीति वक्रोक्ति ध्वनि और चमत्कार आदि विभिन्न सम्प्रदायों को लेकर जो सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है वह उनके तत्त्वदर्शी मीमांसकों के उर्वर मस्तिष्क का सूक्ष्म प्रयत्न है किन्तु उनकी एकांगिता भी अप्रच्छन्न नहीं है। इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में भी प्लेटो अरस्तू और लौंजाइनस आदि की परम्परा से चल कर हम रस्किन रिचर्ड्स आदि के कार्यकाल तक आते हैं उनमें भी कुछ ऐसी ही प्रवृत्तियाँ काम करती हुई प्रदर्शित

... प है। वहीं 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त

आदि साहित्यों की उपत्यका में अपना जो कुछ अस्तित्व धारण कर सका है उसकी पृष्ठभूमि निश्चय ही उन साहित्यों से अपने संस्कार ग्रहण करती हुई चली आई है। साथ ही साथ देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति के निर्माण में जो बाह्य-शक्तियाँ अपना योगदान देती आई हैं उनका प्रभाव भी ग्रहण करने से वह अपने को अलग नहीं रख सका है। अतः जिस प्रकार उसके रचनात्मक साहित्य में भारतीय संस्कार और विदेशी प्रभाव के भूपछाही रंग घुल मिल गये हैं, उसी प्रकार उसकी समालोचना-पद्धति भी दोनों के तानों-बानों से ग्रथित है। ऐसी स्थिति में यह समस्या स्वतः तिरोहित हो जाती है कि हिन्दी-साहित्य में समालोचना की कोई स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं अथवा उसका कोई अपना प्रतिमान बन सका है नहीं। मुझे तो ऐसा लगता है कि निश्चय ही हिन्दी-समालोचना के स्वरूप का गठन अपनी प्रणाली से हुआ है और उसमें विभिन्न संस्कारों और प्रभावों ने नवीन उद्भावनाओं और स्फूर्तियों का संचार किया है। हाँ उसका व्यक्तित्व इतना विकसित अवश्य ही नहीं रहा है जिसके कारण हम कुछ समस्या सी प्रतीत होती है किन्तु इस समस्या का निराकरण अत्यन्त कठिन हो यह भी नहीं कहा जा सकता। आज की हमारी यह सब से बड़ी आवश्यकता है कि हम अपने में स्वतन्त्र रुचि और चिन्तन-वृत्ति का निर्माण और पोषण करें और उन समस्त प्रक्रियाओं का अध्ययन करें जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। ऐसा करते हुए निश्चय ही हम एक ऐसे सारभूत तत्व की उपलब्धि हो सकेगी जो हमारे स्वतन्त्र चिन्तन का मूलाधार होगा और जिसकी क्रोड़ में हम अपना मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकेंगे। यह तभी सम्भव होगा जब हम केवल प्राचीन संस्कृत-साहित्य के सैद्धान्तिक ग्रन्थों के एकमात्र भक्त बन कर ही न बैठ जायें किन्तु उनकी प्रगति का अनुशीलन कर रीतिकालीन परम्परा की उस परिसीमा तक भी पहुँच जिसमें अनेक मोड़ लेकर समालोचना की प्रवृत्ति अद्भुत हुई है। साथ ही साथ हम अपने युग धर्म और विश्व के आभ्यन्तरिक और बाह्य वातावरण की उपेक्षा भी न करें जिनके संस्कार और प्रभाव हमारी रग रग में समाये हुए हैं। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि आज की सभ्यता और संस्कृति जिन पाश्चात्य विचारधाराओं से प्रभावित अथवा मिश्रित है उनकी वास्तविकता क्या है और आज के राजनीतिक धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक वाद-विवादों के मूल में कौन कौन सी मनोवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं? इन सब का व्यापक दृष्टि से पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात् हमें एक बार पुनः अपनी सांस्कृतिक जीवन-परम्परा को देखना होगा और इस प्रकार वर्तमान की क्रोड़ में भारतीयता का नवीन मूल्यांकन कर साहित्य-निर्माण के लिए नूतन संजीवन-पथ को पाना होगा जो सब प्रकार के पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों से रहित होगा। इस प्रकार रचनात्मक साहित्य के साथ समालोचना-साहित्य को भी एक स्वतन्त्र दृष्टि मिल सकेगी और उसके प्राण-वायु से मिश्रित होकर हमारे आधुनिक युग की समालोचना का ऐसा स्वतन्त्र विकास हो सकेगा जिसमें किसी प्रकार की समस्या अथवा उलझन की कोई ग्रन्थि नहीं होगी।

साहित्य की विशुद्ध संवेदनात्मक रूपग्राहिता समस्या का एकमात्र समाधान

११. समालोचना-क्षेत्र की इन समस्त समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब हम सब प्रकार की दलबंदियों से दूर रह कर साहित्य को उसके विशुद्ध संवेदनात्मक रूप में ग्रहण करें और उसके ऐसे प्रतिमान निर्धारित करें जो मानव-मात्र के मानस-लोक के अधिकाधिक निकट हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमें युग-परिवेश के परिवर्तन के अनुसार उनमें समयोचित संशोधन और परिवर्तन भी करने होंगे किन्तु उन की मूल चेतना एक ही तत्व से अनुप्राणित रहेगी। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि जैसे वात्सल्य स्नेह और प्रणय आदि प्रवृत्तियाँ अपने मूलवर्ती स्वरूप में देशकाल के बंधन से विहीन और नित्य नवीन हैं (जैसे ही उनकी अभिव्यक्ति में

स्वस्थ दृष्टिकोण में अनास्था रखते हैं तथा जिन्हें पश्चिम से आने वाले वादों की चमक-दमक अधिक विमुग्ध बना देती है। उनके मस्तिष्क में यह बात जमती ही नहीं कि भारत की प्राचीन शास्त्रीयता अपने अन्तर्जीवन में ऐसे तत्व भी गुम्फित किए हुए है जो आज के प्रतिमान भी बन सकते हैं। इसमें उनका दोष भी नहीं है। क्योंकि एक तो उनका ऐसे वातावरण में ही मानसिक परिपोषण हुआ है जो पश्चिम को सर्वांगीण दृष्टि से प्रगतिशील और भारत को रूढ़िग्रस्त मान कर चलता है और दूसरे उनका प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र का परिज्ञान केवल सुनी सुनाई बातों पर आधारित है, अतः वे अपने साथ पश्चिमी प्रतिमान रख कर हिन्दी साहित्य की समालोचना में भी प्रवृत्त होते हैं, जिनका सामंजस्य ठीक तरह से न होने के कारण उनका कोई उचित संयोग नहीं बैठ पाता। परिणाम यह होता है कि जैसे नवीन साहित्यिक प्रतिमान प्राचीन साहित्य के साथ समुचित योग न पाकर उसे निरर्थक घोषित कर देते हैं उसी प्रकार प्राचीन शास्त्रीयता को भी नवीन साहित्य-विधि अद्भुत सी लगती है। फलतः समालोचना-क्षेत्र में गड़बड़ मच जाती है।

सर्वांगीण दृष्टि का असंयोजन

१४ समालोचना के क्षेत्र में विभिन्न समस्याओं के उत्पन्न होने का एक कारण यह भी होता है कि कुछ समालोचक उसके प्रति जीवन की सर्वांगीण दृष्टि का निर्वाह नहीं कर पाते। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि जब हम साहित्य की परिसीमा अन्तर्जगत और बहिर्जगत तक परिव्याप्त समझते हैं तो उसके समीक्षण में भी ऐसा ही प्रतिमान लेकर क्यों न चला जाय। यदि समालोचना को केवल अन्तर्जगत के मनोनिवेश तक संकीर्ण बना कर केवल मनोविश्लेषणवादी व्याख्या की जायेगी तो उसका बाह्य परिवेश अछूता रह जायगा जिसके कारण युग और परिस्थिति का चित्रण नहीं हो सकेगा और यदि उसे केवल ऐतिहासिक प्रणाली में ही आबद्ध कर दिया गया तो उसका अन्तरंग पक्ष विवेचित होने से छूट जायगा। ऐसी परिस्थिति में निश्चय ही समालोचक द्वारा वे बातें नहीं कही जा सकेंगी जिनसे साहित्य की भाँति समालोचना भी पूर्ण बनती है और यह भी समालोचना-क्षेत्र की समस्या का ही एक कारण होगा। अतः यह आवश्यक है कि समालोचक ऐसी अपूर्ण स्थिति के प्रादुर्भाव के मूल कारण का ही नाश कर दे और साहित्य के व्यापक विधान में समालोचना को ग्रहण करे जिससे समालोच्य कृतिकार अथवा उसकी कृति का अन्तरंग और बहिरंग विश्लेषण सुव्यवस्थित प्रणाली से हो सके।

समस्या निवारण के लिए रचनात्मक दिशा निर्देश

१५ प्रश्न होता है कि यदि हम इसी प्रकार विविध समस्याओं से अपने को आक्रांत बना लेंगे तो फिर हमारी प्रगति अपने लिए कौन-सा मार्ग प्राप्त कर सकेगी? इसका एकमात्र समाधान यही है कि हम किसी भी विषय में अपने आपको इतना अधिक परमुखापेक्षी न बना दें कि हमें अपने अस्तित्व के विषय में ही शंका होने लगे। वांछनीय तो यह है कि हम रूढ़िगत आस्था अथवा अनास्था से अनासक्त बन कर स्वतन्त्र चिंतन से काम लें और यह निर्णय करने में विशेष जागरूक हों कि समालोचना के स्वतन्त्र मानदण्ड पर हिन्दी में जो प्रवाद प्रचलित हो रहे हैं उनकी वास्तविकता क्या है? ऐसी तो कोई बात नहीं है कि जो हिन्दी-साहित्य सहस्र वर्षों से अपना अक्षय भाव-कोष संचित करता हुआ चला आ रहा है वह समालोचना-दृष्टि से सर्वथा पराश्रित है और ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि उसमें जो कुछ है वह एकमात्र उसी के संकीर्ण आत्म विकास की ही उपज है। ऐसी स्थिति में मुझे तो यही समीचीन प्रतीत होता है कि हिन्दी का साहित्य भारतीय जीवन के सजीव स्वरूप-संस्कृत वाङ्मय और उससे विकसित होने वाले प्राकृत और अपभ्रंश

हुआ किन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि यह प्रवृत्ति भी साहित्य-सर्जना की भाँति ही चिरंतन है। जिस प्रकार साहित्य अपनी जीवन्त संवेदनाओं में नित्य नवीन और शाश्वत रहता है, उसी प्रकार उसका मापन तथा समीक्षण करने वाला मानदण्ड भी अपनी मूल चेतना में सर्वदा परम व्यापक होता है। हाँ यह बात दूसरी है कि मानदण्ड या मूल्यांकन के प्रकार या प्रतिमान युग और परिस्थिति के अनुसार अवश्य परिवर्तित होते रहते हैं। जीवन में चलने वाली क्रिया प्रतिक्रियाओं की भाँति साहित्य में भी कभी नैतिकता और आदर्शवादिता का आग्रह बढ़ जाता है तो कभी स्वच्छन्दतावादिता और यथार्थ का दृष्टिकोण अपनी सत्ता स्थापित कर लेता है, जिसका प्रतिफल अनेकप्रकार समालोचना को प्रभावित करता हुआ चलता है तो कभी वह उससे प्रभावित भी होता रहता है। इस प्रकार जीवन और जगत् की प्रगतिशीलता की भाँति साहित्य और समालोचना में भी मानदण्ड का आवर्तन प्रत्यावर्तन होता रहता है जिसका प्रमाण भिन्न भिन्न युगों की काव्य-कृतियों और उनके मूल्यांकन के प्रयत्नों में अन्वेषित करना कोई कठिन कार्य नहीं है। सच तो यह है कि परिवर्तन का यह चक्र समस्त देशकाल के साहित्यों को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहता अतः कभी-कभी साहित्य-समीक्षक के सामने इस प्रकार की एक समस्या आ जाती है कि वह साहित्य का मूल्यांकन किस प्रकार के मानदण्ड को अपना आदर्श बना कर करे।

२ साहित्य-समीक्षण के मानदण्ड का स्वरूप और विधान प्रत्येक देश और काल में भिन्न-भिन्न रहता है। एक समय था जब प्राचीन आचार्यों ने रामायण और महाभारत-काल के महाकाव्यों के परीक्षण के लिए नायक के लिए वीरता का अनिवार्य गुण निर्धारित कर उसे उदात्त ललित प्रशांत और उद्धत की चार श्रेणियों के अंतर्गत रखा किन्तु आज की परिवर्तित परिस्थिति में इस प्रकार के श्रेणी-विभाग की कोई महत्ता नहीं रह गई है। आज सामान्य से सामान्य श्रेणी का व्यक्ति भी किसी काव्य का नायक बन सकता है जिस पर कुलीनता के नाम से कोई आपत्ति कर ही नहीं सकता। यह मानदण्ड विषयक परिवर्तन विभिन्न युगों की धारणाओं और मान्यताओं की देन नहीं तो और क्या है? इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य के मूल्यांकन में युग और परिस्थिति का महत्त्वपूर्ण स्थान अपने अपेक्षित स्वरूप में रहता अवश्य है। हाँ यह बात दूसरी है कि शाश्वत और चिरंतन साहित्य की भाँति समालोचना के मानदण्ड की भी कुछ ऐसी विधियाँ निर्धारित हैं, जिन पर किसी भी देशकाल के साहित्य का परीक्षण किया जा सकता है। ऐसे स्थायी और शाश्वत मूल्यांकनों के मूल में भी साहित्य की शाश्वत संवेदनाओं की भाँति रसात्मक अनुभूति की बौद्धिकता का अंश रहता है जो विभिन्न वाद-प्रवादों से विहीन और मताग्रहों से रहित होता है। यही कारण है कि जैसे भारत में वाल्मीकि और कालिदास तथा पश्चिम में होमर और शेक्सपियर आदि प्राचीन काव्यकार आज भी अपनी मौलिक उद्भावनाओं और चिरंतन प्रवृत्तियों के कारण अमर हैं, उसी प्रकार उनके मूल्यांकन का वह मानदण्ड भी शाश्वत और सर्वयुगीन है जो रस-प्रक्रिया जैसे काव्यानंद-निरूपक सिद्धान्त की सृष्टि कर सका है। अतएव यह स्पष्ट है कि साहित्य में मूल्यांकन या उसका मानदण्ड निर्धारण भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसको यथार्थ रूप से समझने के लिए एक निश्चित दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

मानदण्ड की विभिन्न विधियाँ और उनका प्रयोग

२१ साहित्य का मूल्यांकन करते समय शास्त्रीय सिद्धान्तों की अपेक्षा जीवन की अनुभूति और संवेदना को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। सच तो यह है कि वही साहित्य देश-काल की परिधि से निष्क्रमित होकर अपनी सार्वभौम स्थिति प्राप्त कर सकता है जो मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों पर आधारित हो और जिसमें रागात्मक तत्त्व का साहित्यिक उद्भावन मूर्तिमान रहे। मूल्यांकन का प्रतिमान देश और काल में होने वाले दृष्टि प्रसार से भी अत्यधिक

देशकाल से बाह्य भले मिले) उसी प्रकार जीवन के सरस संवेदन साहित्य की समालोचना में भी केवल वे ही सिद्धान्त अधिक उपादेय हो सकते हैं जो जीवन-सम्भूत और मानस-अनुभूत हों। इसका एक आभास इस रूप से भी प्राप्त किया जा सकता है कि विभिन्न वर्गीय समालोचक अपने-अपने दृष्टिकोणों से *साहित्य का जो चिंतन और परीक्षण करते हैं उनकी मूलवर्तिनी धारा भी एक सत्य से अनु-*प्राणित अवश्य रहती है। अतः उस सत्य को समाहित रूप में ग्रहण कर हमारी समालोचना भी चलने लगे तो इस समस्या का समाधान अन्वेषित किया जा सकता है।

१७ साहित्य-निर्माण की भाँति साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि यह किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं अपितु जन-मानस की सम्पत्ति है। सांस्कृतिक स्तर *बौद्धिक चेतना आर्थिक सम्पन्नता आदि दृष्टिकोणों से व्यक्तियों में अन्तर हो सकता है* किन्तु हृदय के साम्राज्य में इस प्रकार का कोई निम्नोन्नत भाव नहीं। यह तो सर्वनियन्ता देवता का ऐसा पुनीत मन्दिर है जिसमें सभी साधकों की पहुँच समान रूप से है अतः उसका सृजन और समीक्षण सदैव ऐसे निर्लिप्त भाव से होना चाहिए जिसमें राजनीतिक वादों अथवा अर्थ व्यवस्थाओं की अस्थायी वृत्तियों का बहुत कम प्रवेश हो। विश्व-साहित्य के विभिन्न कालों में इस प्रकार के उदात्त प्रयत्न हुए हैं और उनमें आज भी शाश्वत बने रहने की जीवन-शक्ति है। युग परिवर्तन और क्रान्तियों के अवसर आते हैं और ऊपर ही ऊपर निकल जाते हैं किन्तु उन प्रतिमानों को कोई आँच नहीं आती। अभिप्राय यह है कि ऐसे प्रतिमान जीवन-मूल में ऐसा अंतर्प्रवेश रखते हैं जिनको अज्ञात भाव एवम् रहस्यपूर्ण विधि से प्राण-रस मिलता है जिसका प्रतिफल साहित्य के अंकुरण और पल्लवन के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यदि हम ऐसे चिरंतन मानों को प्रमादवश व्यर्थ समझने की भूल कर बैठे तो जीवन-वृक्ष की जड़ें खोखली हो जायेंगी जिसके फलस्वरूप साहित्य-निर्माण और साहित्यालोचन का प्रस्फुटन भी अवरुद्ध हो जायगा। अतः यह अत्यन्त आव-श्यक है कि साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाली समस्याओं के निरोध के लिए इस दृष्टिकोण की उपेक्षा न की जाय।

१८ समालोचना के विकास-पथ की प्रमुख समस्याओं और उनके निराकरण के उपायों का विश्लेषण करना हमने इसलिए उचित समझा कि उनके द्वारा इस विषय का बोध हो सके कि समीक्षा प्रवाह में उनके कारण किस-किस प्रकार के अवरोध उपस्थित हो जाते हैं जिनका हम तत्त्वदृष्टि से विचार किये बिना कोई ज्ञान ही नहीं होने पाता। इन समस्याओं का विवेचन हमारे शोध प्रबन्ध की विकास-परम्पराओं से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध नहीं था फिर भी उनका विश्लेषण करना इसलिए समीचीन प्रतीत हुआ कि उनका समालोचना-निर्माण के पथ में ज्ञान करना आवश्यक है। इन समस्याओं के कारण हमारी गति *अवरुद्ध तो नहीं हुई है,* फिर भी कभी कभी संकटों का सामना अवश्य करना पड़ता है। अब हमारे लिए यह विवेच्य विषय बन जाता है कि हम समालोचना के मानदण्ड का सामान्य स्वरूप विवेचित कर इस बात का विचार करें कि आधुनिक हिन्दी-समालोचना का कोई स्वतन्त्र मानदण्ड बन सका है या नहीं और यदि बन सका है तो उसका स्तर किस कोटि का है। इस विवेचन के पश्चात् ही हम उपसंहार के अन्तर्गत आधुनिक समालोचना की उपलब्धि और उसकी आवश्यकताओं का विश्लेषण करने में अधिक समर्थ हो सकेंगे।

(आ)

मानदण्ड का अभिप्रेत अर्थ और उसका स्वरूप विधान

१९. मानदण्ड अथवा मूल्यांकन मूलतः साहित्य शास्त्र के शब्द *नहीं हैं,* किन्तु आधुनिक समीक्षा में इनका प्रयोग प्रायः समस्त लेखकों द्वारा निस्संकोच भाव से किया जाता है। यह तो निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि साहित्य में मूल्यांकन की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव कब से

का निर्माण होता है। अतः यह स्पष्ट है कि समालोचना का मानदण्ड निर्धारित करते समय जीवन और जगत् की अन्तर्व्यापिनी प्रवृत्तियों का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए।

मानदण्ड के विविध आधार

२३ विश्व के विभिन्न साहित्य-क्षेत्रों के देशकाल की भिन्न भिन्न परिस्थितियों में जिस समालोचना-शास्त्र का विकास हुआ है, उसे साहित्य-मीमांसकों ने विभिन्न मानदण्डों से आकार प्रदान किया है। प्राच्य विचारकों में भरत मुनि रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य की प्रेरणा मनुष्य के भावों या मनोवेगों से मान कर उसी की कसौटी पर साहित्य का मूल्यांकन करना समीचीन समझते हैं तो भामह उद्भट दण्डी तथा रुद्रट का झुकाव मार्मिकारिता को काव्य की कसौटी बना कर चलने की ओर विशेष है। वामन के अनुसार 'विशिष्ट पद रचना-युक्त रीति' ही काव्य की आत्मा है तो ध्वनिकार और मम्मट व्यंजना को ही काव्य का सर्वस्व समझते हैं जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारोत्पादक होता है। वक्रोक्तिजीवितकार ने तो वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन निर्दिष्ट किया है। इन शास्त्रकारों ने अपने विवेचन के प्रसंग में काव्य से आनन्द की उत्पत्ति निर्णीत कर उसके सौन्दर्य-पक्ष को भी नहीं भुलाया है जो घूम फिर कर आज के सौन्दर्य-शास्त्र अथवा कला-मीमांसा विषयक (एस्थैटिक) सिद्धान्त के बहुत अनुरूप प्रतीत होता है। पश्चिमी विचारकों ने भी इसी प्रकार अपने ढंग से साहित्य समीक्षण के प्रतिमान निर्धारित किए हैं। जे ए स्मिथ यदि आलोचक के लिए प्रधान धर्म किसी कृति के विशेष व्यक्तित्व का उद्घाटन करने में मानते हैं तो एबरक्राम्बी इस बात पर जोर देते हैं कि कोई साहित्य-कृति अपने रचयिता की अन्तःप्रेरणाओं को अपने माध्यम से किस सीमा तक व्यक्त कर सकी है। भारत की भाँति पश्चिम के आदर्शवादी आलोचकों का दृष्टिकोण किसी कृति में अलौकिक अथवा पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन करने की ओर ही मुख्य रूप से रहा है। इतना ही नहीं एर्सक्रॉम्बर विट्स तथा पोप आदि अन्यान्य आलोचकों ने भी अपने अपने दृष्टिकोण से *समालोचना के मानदण्ड* निर्धारित किए हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि उन सब के मार्ग अलग-अलग हैं किन्तु सब का लक्ष्य एक ही रूप के उद्घाटन की ओर रहा है।

हिन्दी-समालोचना के मानदण्ड का प्रश्न

२४ हिन्दी-साहित्य में समालोचना का स्वतन्त्र मानदंड वस्तुतः एक जटिल प्रश्न है जिसकी जटिलता का विश्लेषण किए बिना उसका स्वरूप-निर्माण किया ही नहीं जा सकता। आधुनिक विचारकों में एक श्रेणी के कुछ व्यक्ति इस विषय में जहाँ प्रशंसात्मक उक्तियाँ करते नहीं अघाते कि आज के हिन्दी साहित्य का सबसे पुष्ट अंग उसकी समालोचना है तो दूसरी श्रेणी के समालोचक समालोचना को केवल अंगुलियों पर गिनी जाने वाली कुछ संस्कृत तथा कुछ अंग्रेजी समीक्षा-पुस्तकों की उद्धरणीमात्र समझते हैं। निश्चित है कि प्रथम श्रेणी के विचारकों का दृष्टिकोण आवश्यकता से अधिक आशावादी है तो द्वितीय श्रेणी के विचारकों की मान्यता निराशा की अतिरेकता को लिए हुए चली है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने वस्तुतः यह समस्या आकर उपस्थित हो जाती है कि हम समालोचना का आधुनिक हिन्दी साहित्य में किस प्रकार प्रतिमान निर्णय करें। मुझे तो इन दोनों प्रकार के विचारकों में प्रथम श्रेणी के विचारकों का मत अधिक युक्तिसंगत और आधारपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि विरोधी विचारकों की दृष्टि के अनुसार हिन्दी-समालोचना का स्तर केवल कुछ ही पुस्तकों के अनुवाद तक ही सीमित करना समीचीन नहीं है। यह तो प्रत्येक विचारक को स्वीकार करना ही होगा कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना साहित्य का सबसे पुष्ट अंग न होने पर भी इतना समृद्ध अवश्य है कि उसे अंग्रेजी

सम्बन्धित है। इसका यह अभिप्राय नहीं की वह केवल अपनी युग-दृष्टि के रूप में ही पूर्ण समझ लिया जाय। सच तो यह है कि साहित्य की भाँति उसका मान-दण्ड भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा और अतीतकालीन मान्यताओं से यथोचित प्रेरणा ग्रहण किए बिना नहीं रहता। इसका मुख्य कारण यही है कि साहित्य के मानदण्ड के निर्धारण में इन बाह्य परिस्थितियों का भी हाथ रहता है। मानदण्ड या मूल्यांकन के प्रश्न को लेकर समालोचकों में मत-वैभिन्न्य भी बहुत अधिक है। कुछ समालोचक शास्त्रीयता के यान्त्रिक नियमों का आश्रय लेकर केवल उन्हीं का साहित्य समालोचना में प्रयोग करना पर्याप्त समझते हैं तो कुछ साहित्य की भाँति समालोचना की प्रवृत्ति को भी अन्तर्मुखी सिद्ध कर केवल उसका आत्यन्तिक मनोविश्लेषण करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानते हैं। इसी प्रकार कुछ समालोचकों के दृष्टिकोण से साहित्य का मानदण्ड केवल इस विषय को लेकर निर्णीत होना चाहिए कि साहित्य की रचना का मूल उद्देश्य क्या रहा है और उसे अपने कार्य में कैसी सफलता मिली है? मूल्यांकन के प्रतिमान निर्धारण में समालोचना जगत में चलने वाली विभिन्न प्रणालियों का भी कम योग नहीं है। उदाहरणार्थ ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय समालोचक साहित्य का सच्चा मानदण्ड यही समझते हैं कि उसका समालोचक प्रधानत: अपने युग वातावरण समाज और जाति विषयक मान्यताओं का उद्घाटन करे तो आज का प्रगतिवादी समालोचक साहित्य और युग का सम्बन्ध मूलत: मनुष्यों के आर्थिक वर्गगत और सामाजिक क्षेत्रों के दृष्टि-बिन्दु से ही आँकता है। माना कि इन विभिन्न प्रणालियों की समालोचना का मूल्यांकन विषयक मानदण्ड अपेक्षित सत्य से अवश्यमेव समन्वित है किन्तु उसे सत्य की पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। वस्तुत: साहित्य के सच्चे मूल्यांकन के मानदण्ड की परिधि अत्यन्त व्यापक और गम्भीर होनी चाहिए और यथासम्भव उसे अतीत और वर्तमान की सन्धि में सार्वभौम दृष्टि से इस प्रकार सम्पन्न बनाना चाहिए, जिससे मानवचेतना का विकास सांस्कृतिक और मानसिक धरातल पर बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह या दुराग्रह से विकसित हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि समालोचक महान् साहित्यकारों की उन जीवन-प्रेरणाओं और अनुभूतियों से भी सुपरिचित हों जिनसे वे मानव भावनाओं को अमर वाणी प्रदान करने में समर्थ होते हैं।

मानदण्ड-निर्धारण में व्यापक दृष्टि का समावेश

२२ वैसे तो युग-परिवेश के अनुसार जीवन आस्थाओं के प्रति होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप समालोचना के मानदण्ड भी निरन्तर बदलते रहते हैं किन्तु आज की सामयिक परिस्थिति में उसका निर्धारण करते समय केवल जीवन की शाश्वत वृत्तियों के मौलिक विवेचन से ही कार्य नहीं चल सकता। अद्यतन युग की समस्त प्रवृत्तियों के समीक्षण में आज समाज-शास्त्र और मानस-शास्त्र दो ऐसे विषय हैं जिनके साहित्यगत यथोचित अनुपात की महत्ता का निषेध करना साहित्यालोचन के कार्य को एकांगी और अपूर्ण बनाना है। बात यह है कि आज का जीवन अपनी विकासोन्मुख स्थिति में अत्यन्त जटिल है और उसके ऐसे अनेक अनिवार्य अंग हैं जिनका प्रभाव जीवन चेतना की विविध प्रस्फुरण-क्रियाओं मे होता है। साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है अत: आज साहित्यालोचन के मानदण्ड का निर्धारण करते समय जीवन संवेदना का प्रामुख्य दृष्टिगोचर रखते हुए भी हमें उक्त दोनों शास्त्रों के विभिन्न अंगों के आवश्यक प्रभावों का निरूपण करने में भी सतर्क रहना चाहिए। राजनीति अर्थशास्त्र प्राणी-शास्त्र और भूविकास-विज्ञान समाज-विज्ञान के ही अंग हैं जिनका आनुषंगिक प्रभाव साहित्य-सर्जना पर पड़े बिना नहीं रहता। इसी प्रकार मानव-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान की सहायता से साहित्यकार के मानस-लोक की उन ग्रन्थियों का विश्लेषण किया जा सकता है जिनसे प्रेरित होकर किसी कृति

विकास किया है वह स्वस्थ परम्परा को भी ग्रहण करने वाला है या केवल अपनी उपजीव्य-सामग्री का अनुवादमात्र है ? सच तो यह है कि यदि कोई साहित्य-समीक्षक केवल पराश्रित बन कर अपना मौलिक विवेचन नहीं कर पाता अथवा वह सत्यानुभूत तथ्यों की तोड़मरोड़ कर उन्हें स्वेच्छापूर्वक विकृत स्थिति में उपस्थित करता है तो वह स्वतन्त्र विकास की स्थिति भयावह और हानिकारक बन जाती है। इसी प्रकार स्वतन्त्र मानदण्ड की धुन में किसी एकांगी सिद्धान्त-प्रतिपादन की ओर प्रवृत्त हो जाना भी वांछनीय नहीं है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि स्वतन्त्र दृष्टि के निर्माण में अपनी परम्परा प्राप्त संस्कृति भी यथेष्ट सहयोग प्रदान करती है और उसके उपकरण भी हमें नूतन अभिव्यक्ति देने के लिए प्रेरणा देते हैं। इतना ही नहीं अनेक बार तो युग-क्रान्ति के उपकरण भी साहित्य-समालोचना को स्वतन्त्र दृष्टि से परखने के लिए बाध्य बना देते हैं। इन सब तथ्यों का महत्त्व स्वीकार करते हुए ही आधुनिक हिन्दी समालोचना के मानदण्ड की स्वतन्त्रता का स्वरूप अवगत किया जा सकता है।

२७ सर्व प्रथम आधुनिक काल के प्रथम उत्थान-चरण भारतेन्दु-काल को लेते हैं जो साहित्य-समालोचना की भाँति हमारे जीवन की अनेक क्रियाओं में नवीन उत्क्रान्ति का सूत्र संस्थापक बन कर आया है। इस युग की मूल प्रवृत्ति रचनात्मक साहित्य-निर्माण की ओर जितनी अधिक रही उतनी उसके समालोचनात्मक स्वरूप की ओर नहीं। अतः इस युग में समालोचना का कोई निश्चित मानदण्ड ही नहीं बन सका फिर भला उसके स्वतन्त्र वैशिष्ट्य की परिस्थिति ही कैसे आती ? भारतेन्दु युग के प्रमुख समालोचक भारतेन्दु जी प्रेमघन जी ओर बालकृष्ण भट्ट आदि ने अपने पत्र-सम्पादन के साथ समालोचना को भी एक प्रमुख स्तम्भ बना कर इस क्षेत्र में कार्य किया था किन्तु उसमें स्वतन्त्र प्रौढ़ि का कोई लक्षण नहीं है। और तो और, इस युग की समालोचना अधिकतर परिचयमूलक या पुस्तकालोचन के रूप में ही रही अतः उसमें स्वतन्त्र प्रतिमान की दृष्टि का उन्मेष बहुत कम हुआ। इस युग के आलोचकों ने या तो अपनी वैयक्तिक अभिरुचि की धुन में किसी काव्य-कृति की समीक्षा में गुण-दोष-कथन की शैली को अपनाया या प्राचीन समालोचना-ग्रन्थों के आधार पर उन्हीं से मिलती-जुलती अधूरी या अधकचरी बातें कहीं। अतः विचार और अभिव्यक्ति इन दोनों पक्षों की दृष्टि से भी इस युग की समालोचना में स्वतन्त्र रूप-निर्माण का कोई विधान नहीं आ सका। इतना अवश्य है कि एतद्युगीन समालोचना रीतिकाल की लक्षण-परम्परा वृत्ति और नायिका भेद निरूपणी अलंकार-वादिता को छोड़कर नवीन आलोक के साथ अपना स्वर-संधान करने के लिए उन्मुख हो रही थी जिसका प्रस्फुटन कालान्तर में द्विवेदी-युग में हुआ। अतः भारतेन्दु कालीन समालोचना की स्वतन्त्र सत्ता का विवेचन इस तथ्य को बिना विस्मृत किए ही किया जाना चाहिए।

२८ द्विवेदी-युग आधुनिक हिन्दी-समालोचना का द्वितीय चरण है जिसकी सारी मान्यताएँ आचार्य द्विवेदी और उनकी 'सरस्वती' पत्रिका के परिवेश में आवर्तन प्रत्यावर्तन करती हुई चलती रही है। इस युग के विचारकों की दृष्टि में विस्तार और सुधार की भावनाओं का प्रस्फुटन होने लगा था जिसका प्रभाव समालोचना पर भी परिलक्षित हुआ। जहाँ तक समालोचना के स्वतन्त्र प्रतिमान का प्रश्न है, यह युग अपने पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा अधिक अवकाश पा सका। बात यह थी कि आचार्य द्विवेदी जी तथा उनके समकालीन गुण्यमान समालोचक मुख्यतः प्राचीन संस्कृत-साहित्य और पाश्चात्य अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र की विभिन्न विधाओं से अवगत थे और उनका समावेश हिन्दी-साहित्य की अभावपूर्ण स्थिति में भी करना चाहते थे। विश्वविद्यालयों की उच्चतम परीक्षाओं में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था होने के कारण भी साहित्य-मनीषी उसके रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही क्षेत्रों को नूतन विषयों से पूर्ण बनाने के आकांक्षी थे। आचार्य द्विवेदी जी ने गद्य और पद्य के लिए एक

३ निबन्ध—वाणी-वितान ब्रह्मनाल काशी प्रथम संस्करण।
४ भारतेन्दु के निबन्ध—सरस्वती मन्दिर काशी सम्वत् २० ७ वि०।
५. रूसी साहित्य—सरस्वती मन्दिर-काशी १९५१ ई।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री — समालोचना—नागरी प्रचारिणी सभा काशी सम्वत् १९८९ वि।

गंगाप्रसाद पाण्डेय
१ आधुनिक कथा-साहित्य—प्रमोद पुस्तकमाला इलाहाबाद।
२ छायावाद और रहस्यवाद—रामनारायणलाल इलाहाबाद।
३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—इण्डियन प्रेस इलाहाबाद १९४४ ई।
४ महाप्राण निराला—साहित्यकार संसद प्रयाग १९४९ ई०।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
१ आलोचक-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल—रामनारायणलाल इलाहाबाद।
२ गुप्तजी की काव्यधारा—छात्र-हितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग १९३९ ई।
३ महाकवि हरिऔध—रामनारायणलाल प्रयाग १९३४ ई।

गुलाबराय
१ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली १९५१ ई।
२ अध्ययन और आस्वाद—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली संवत् २ १४ वि।
३ काव्य के रूप—प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली संवत् २ १४ वि।
४ प्रसाद की कला—साहित्यरत्न भंडार आगरा १९३८ ई।
५. भाषा भूषण—(सं) साहित्यरत्न भंडार आगरा।
६ साहित्य-समीक्षा—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली १९५५ ई।
७ सिद्धांत और अध्ययन—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली।
८ हिन्दी काव्य-विमर्श—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली।
९ हिन्दी नाट्य विमर्श—मेहरचन्द लक्ष्मणदास लाहौर १९४० ई।
१ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—साहित्यरत्न भंडार, आगरा १९५१ ई०।

चतुरसेन शास्त्री — हिन्दी भाषा और उसका साहित्य—गौतम बुक डिपो दिल्ली १९४७ ई।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा
१ कहानी का रचना-विधान—हिन्दी प्रचारक काशी १९५५ ई०।
२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—नन्दकिशोर ब्रदर्स काशी।
३ हिन्दी गद्य के युगनिर्माता—नन्दकिशोर ब्रदर्स काशी।
४ हिन्दी गद्य-शैली का विकास—नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

जयशंकर प्रसाद — काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—भारती भंडार, प्रयाग।

जैनेन्द्रकुमार
१ साहित्य का श्रेय और प्रेय—पूर्वोदय प्रकाशन नई दिल्ली।
२ सोच-विचार—पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली।

दशरथ ओझा
१ समीक्षा-शास्त्र—राजपाल एण्ड संज दिल्ली संवत् २ १ वि।
२ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—राजपाल एण्ड संज दिल्ली।

देवराज
१ आधुनिक समीक्षा—राजकमल प्रकाशन दिल्ली।
२ छायावाद का पतन—वाणी-मन्दिर छपरा १९४८ ई०।

प्रथम संस्करण १९५४।
२ संतुलन—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली प्रथम संस्करण।
३ समीक्षा की समीक्षा—साहनी प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण।
४ हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ—राजकमल प्रकाशन प्रथम संस्करण।
५ सूर निर्णय—सर्वता प्रेस बम्बई, प्रथम संस्करण।

प्रभुदयाल मित्तल — १ सूर निर्णय—पद्मजा प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण।
प्रेमनारायण शुक्ल — हिन्दी साहित्य में विविध वाद—पद्मजा प्रकाशन प्रयाग सम्वत् २ १२ वि ।
प्रेमशंकर — प्रसाद का काव्य—भारती भण्डार प्रयाग सम्वत् २ १२ वि ।
फतहसिंह — कामायनी-सौन्दर्य—मोहन न्यूज एजेंसी कोटा १९५१ ई०।
१ कामायनी-सौन्दर्य—मोहन न्यूज एजेंसी कोटा १९५१ ई०।
२ साहित्य और सौन्दर्य—भारती मन्दिर बुर्जा।

बलदेव उपाध्याय — १ संस्कृत वाङ्मय—शारदा मन्दिर काशी १९५१ ई०।
२ भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग १ २—प्रसाद परिषद काशी, संवत् २००५, २ ७ वि ।

बालकृष्ण भट्ट — १ भट्ट निबंधमाला भाग १ तथा भाग २—नागरी प्रचारिणी सभा काशी संवत् २ ४ वि०।
२ भट्ट निबंधावली—(सं देवीदत्त शुक्ल) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
३ साहित्य-सुमन—गंगा-पुस्तक-माला लखनऊ।

बालमुकुन्द गुप्त — १ गुप्त निबंधावली—भारतमित्र प्रेस कलकत्ता सम्वत् १९६६ वि ।
२ बालमुकुन्द निबंधावली—(सं झाबरमल्ल शर्मा तथा बनारसीदास चतुर्वेदी) गुप्त स्मारक-प्रकाशन समिति कलकत्ता सम्वत् २० ७ वि ।

भगवतशरण उपाध्याय — सूरजहाँ महाकाव्य अध्ययन—पुस्तक भंडार, पटना।
भगवत् स्वरूप मिश्र — हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास—साहित्य-सदन देहरादून १९५२ ई ।

भगवानदीन लाला — १ बिहारी और देव—साहित्य भूषण प्रकाशन काशी १९२६ ई०।
२ अलंकार मंजूषा—विद्या प्रचारक बुक डिपो गया १९११ ई ।

भगीरथ मिश्र — १ अध्ययन—लखनऊ विश्वविद्यालय सम्वत् २ ५ वि ।
२ काव्य-शास्त्र—विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर, १९५७ ई ।
३ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास विश्वविद्यालय लखनऊ, प्रथम संस्करण सम्वत् २ ५ वि ।

भोलानाथ — आधुनिक हिन्दी-साहित्य—हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय।
मन्मथनाथ गुप्त — १ प्रगतिवाद की रूपरेखा—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली सन् १९५५।
२ प्रेमचन्द और उनका साहित्य—मदनचन्द कपूर, दिल्ली।
३ साहित्य-कला-समीक्षा—साहनी प्रकाशन दिल्ली।
४ हिन्दी साहित्य की नवीन धाराएँ—(सं) पब्लिकेशन्स डिवीजन दिल्ली १९५४ ई ।

महावीर अधिकारी — (स) जयशंकर प्रसाद जीवन-दर्शन कला और कृतित्व—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली १९५५ ई ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी — १ आलोचनांजलि इण्डियन प्रेस १९२८ ई ।
२ कालिदास और उनकी कविता—राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर जबलपुर सम्वत् १९७७ वि ।

११ विचार और अनुभूति—प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद प्रथम संस्करण सम्वत् १९९९ वि ।
१२ विचार और विवेचन—गौतम बुकडिपो दिल्ली प्रथम संस्करण १९४९ ई ।
१३ विचार और विश्लेषण—नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली ।
१४ साकेत एक अध्ययन—साहित्यरत्न भंडार, आगरा प्रथम संस्करण १९५ ई ।
१५ सियारामशरण गुप्त—(सं) गौतम बुक डिपो दिल्ली ।
१६ सुमित्रानन्दन पंत—साहित्यरत्न भंडार आगरा प्रथम संस्करण संवत् १९९५ वि ।

नामवरसिंह
१ आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—किताब महल प्रयाग १९५४ ई ।
२ इतिहास और आलोचना—साहित्य प्रकाशन काशी १९५६ ई०।
३ छायावाद—सरस्वती प्रेस बनारस १९५५ ई ।
४ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—साहित्य-भवन लिमिटेड प्रयाग १९५२ ई ।

पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी
१ और कुछ—नन्दकिशोर ब्रदर्स काशी ।
२ कुछ—इंडियन प्रेस प्रयाग ।
३ विश्व-साहित्य—गंगा-पुस्तक-माला लखनऊ ।
४ साहित्य शिक्षा—हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई १९३ ई ।
५. हिन्दी कथा-साहित्य—हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई ।
६ हिन्दी साहित्य-विमर्श—हिन्दी पुस्तक एजेंसी कलकत्ता संवत् १९८ वि ।

पद्मसिंह शर्मा
१ पद्म-पराग—भारती पब्लिसर्स लिमिटेड पटना सम्वत् १९८६ वि ।
२. हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग १९३२ ई ।
३ बिहारी की सतसई—भूमिका तथा भाष्य ।

परशुराम चतुर्वेदी
१ उत्तरी भारत की संत-परम्परा—भारती-भंडार, प्रयाग संवत् २ ८ वि ।
२ नव-निबंध—लोक सेवक प्रकाशन काशी ।
३ सांस्कृतिक साहित्य की रेखाएँ—राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।
४ हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह—किताब महल प्रयाग १९५४।

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
१ मकरन्द—प्रथम पब्लिशिंग हाउस लखनऊ ।
२ हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।

प्रकाशचन्द्र गुप्त
१ आधुनिक हिन्दी साहित्य—आलोक प्रकाशन बीकानेर, १९५ ।
२ नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि सरस्वती प्रेस काशी १९४६ ।
३ साहित्य-धारा—हिन्दी प्रचारक पुस्तकमाला काशी १९५५ ई ।
४ हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा—किताब-महल प्रयाग १९५३ ई ।

प्रभाकर माचवे
१ व्यक्ति और वाङ्मय—साहनी प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण ।

२ कला और सौन्दर्य—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली प्रथम संस्करण १९५५ ई ।
३ निबन्ध-प्रबन्ध—गौतम बुकडिपो दिल्ली प्रथम संस्करण १९५१ ई ।
४ प्रसाद की नाट्यकला—मानस-मुक्ता कार्यालय मुरादाबाद प्रथम संस्करण ।
५. खिलौमुखी—गौतम बुक डिपो दिल्ली प्रथम संस्करण १९५१ ई० ।
६ सुकवि-समीक्षा—हिन्दी भवन लाहौर, प्रथम संस्करण ।

रामचन्द्र शुक्ल
१ काव्य में रहस्यवाद—साहित्य भूषण कार्यालय काशी प्रथम संस्करण संवत् १९८६ वि० ।
२ चिंतामणि भाग १—इण्डियन प्रेस लिमिटेड द्वितीय संस्करण १९४८ ई ।
३ चिंतामणि भाग २—सरस्वती मन्दिर काशी प्रथम संस्करण सम्वत् २ १ वि ।
४ जायसी-ग्रंथावली की भूमिका—नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण सम्वत् २ १ वि० ।
५ त्रिवेणी (सं०—कृष्णानन्द) नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण सम्वत् १९९५ वि ।
६ गोस्वामी तुलसीदास—काशी नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण सम्वत् २ ०८ वि ।
७ भारतेन्दु-साहित्य—हिन्दी पुस्तक-भवन सहेरियासराय प्रथम संस्करण सम्वत् १९८५ ।
८ रस-मीमांसा—(सं विश्वनाथप्रसादमिश्र) नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण संवत् २ ६ वि ।
९ सूरदास—सरस्वती मंदिर जतनबर काशी प्रथम संस्करण ।
१ हिन्दी साहित्य का इतिहास –नागरी प्रचारिणी सभा काशी नवां संस्करण संवत् २० ९ वि ।

रामचरण महेन्द्र
१ हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—साहित्य प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण १९५८ ई ।
२ वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास कला—सरस्वती पुस्तक-सदन आगरा प्रथम संस्करण १९५३ ई ।
३ सेठ गोविन्ददास नाट्य कला और कृतियाँ—भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली प्रथम संस्करण १९५६ ई ।
४ हिन्दी एकांकी एवं एकांकीकार—सरस्वती पुस्तक-सदन आगरा प्रथम संस्करण १९५३ ई ।
५. हिन्दी महाकाव्य और महाकाव्यकार—सरस्वती पुस्तक-सदन आगरा १९५३ ई ।
६ हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाट्यकार—प्रथम संस्करण १९५५ ई ।

रामदहिन मिश्र
१ काव्य-दर्पण—ग्रंथमाला-कार्यालय पटना प्रथम संस्करण

कालिदास की निरंकुशता—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९११ ई ।
नषध चरित-चर्चा—हरिदास एण्ड कम्पनी कलकत्ता १९१९ ई ।
रसज्ञ रंजन—साहित्यरत्न भंडार आगरा ।
लेखांजलि—हिन्दी पुस्तक एजेंसी कलकत्ता सम्वत् १९८५ वि ।
विक्रमांकदेव चरित चर्चा—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९०७ ई० ।

८ विचार-विमर्श—भारती भंडार, काशी सम्वत् १९८१ वि ।
९. संचयन—(स प्रभात शास्त्री) साहित्य संघ प्रयाग सं २ ९ वि
१ समालोचना-समुच्चय—रामनारायणलाल प्रयाग १९१ ई ।
११ साहित्य-संदर्भ—गंगा-पुस्तक-माला लखनऊ, संवत् १९८५ वि० ।
१२ साहित्य-सीकर—तरुण भारत ग्रन्थावली प्रयाग १९४८ ई ।
१३ सुकवि-संकीर्तन—गंगा-पुस्तक-माला लखनऊ, प्रथम संस्करण ।
१४ हिन्दी कालिदास की आलोचना—झाँसी १९०१ ई ।

मिश्रबन्धु
१ साहित्य-पारिजात—गंगा-पुस्तक-माला लखनऊ ।
२ हिन्दी नवरत्न—गंगा पुस्तकमाला लखनऊ ।
३ मिश्रबंधु विनोद—चार भाग गंगा-पुस्तक-माला लखनऊ ।

मुंशीराम शर्मा 'सोम'
१ भारतीय साधना और सूर साहित्य—साधना मन्दिर, कानपुर सम्वत् २ ९ वि ।
२ सूर सौरभ—साधना मन्दिर कानपुर सम्वत् २ ९ वि ।

मोहनवल्लभ पंत
आलोचना-शास्त्र—मा मा लिमिटेड दिल्ली संवत् २ ९ वि ।

रमाकान्त त्रिपाठी
हिन्दी गद्य मीमांसा—हिन्दी साहित्य माला कानपुर, १९२९ ई ।

रवीन्द्रसहाय वर्मा
हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—पद्मजा प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण सम्वत् २ ११ वि ।

रांगेय राघव
१ काव्यकला और शास्त्र—विनोद पुस्तक भंडार आगरा प्रथम संस्करण १९५५ ई ।
२ काव्य यथार्थ और प्रगति—विनोद पुस्तक भंडार, आगरा प्रथम संस्करण सम्वत् २ १२ वि ।
३ प्रगतिशील साहित्य के मानदंड—सरस्वती पुस्तक-सदन आगरा प्रथम संस्करण १९५४ ई ।
४ संगम और संघर्ष किताब महल इलाहाबाद प्रथम संस्करण, सन् १९५३ ई ।

रामकुमार वर्मा
१ कबीर का रहस्यवाद—साहित्य-भवन लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण १९३८ ई ।
२ साहित्य-शास्त्र—रामकिशोर प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९५५ ई ।
३ साहित्य-समालोचना—साहित्य-मन्दिर, प्रयाग प्रथम संस्करण संवत् १९८७ वि ।
४ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामनारायणलाल इलाहाबाद प्रथम संस्करण १९३८ ई ।

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'
१ आलोचना-समुच्चय—हिन्दी भवन लाहौर, प्रथम संस्करण १९३९ ।

१९३८ ई० ।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामनारायण अग्रवाल, प्रयाग, प्रथम संस्करण सन् १९११ ई०
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ४ समाज और साहित्य—मातृभाषा मन्दिर प्रयाग प्रथम संस्करण १९५० ई० ।
राहुल सांकृत्यायन हिन्दी-काव्यधारा—किताब महल प्रयाग, प्रथम संस्करण १९४५ ई० ।
लक्ष्मीनारायणलाल हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण १९५३ ई० ।
लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' १ काव्य में अभिव्यंजनावाद—जनवाणी प्रकाशन कलकत्ता तृतीय संस्करण संवत् २००७ वि ।
२ जीवन के तत्त्व और सिद्धान्त—जनवाणी प्रकाशन कलकत्ता द्वितीय संस्करण १९५० ई ।
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय १ आधुनिक हिन्दी साहित्य—हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय प्रथम संस्करण १९४१ ई० ।
२ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय १९५२ ई ।
३ फोर्ट विलियम कालेज—
४ निबन्ध-नवनीत—विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर प्रथम संस्करण १९५७ ई ।
५. भारतेन्दुजी की विचारधारा—ललित कार्यालय प्रयाग प्रथम संस्करण १९४८ ई ।
६ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण १९५१ ई ।
७ साहित्य-चिंतन—राज प्रेस बम्बई प्रथम संस्करण सन् १९४९ ई० ।
८ हिन्दी साहित्य का इतिहास—मालवीय पुस्तक भवन लखनऊ, १९५२ ई ।
९. हिन्दुई साहित्य का इतिहास—(अनुवाद) ।
ललिताप्रसाद सुकुल १ साहित्य-जिज्ञासा—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली प्रथम संस्करण संवत् २ ९ वि ।
२ हम से—हिन्दी प्रचारक पुस्तक-माला प्रथम संस्करण १९५७ ई० ।
लीलाधर गुप्त पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग प्रथम संस्करण १९५२ ई ।
विजयेन्द्र स्नातक समीक्षात्मक निबन्ध—नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली १९५७ ई ।
विनय मोहन शर्मा १ कवि 'प्रसाद' आँसू तथा अन्य कृतियाँ—प्रतिभा प्रकाशन नागपुर १९५२ ई ।
२ दृष्टिकोण—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स बनारस १९५१ ई ।
३ साहित्यावलोकन—साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग १९५२ ई ।
४ हिन्दी को मराठी संतों की देन—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९५७ ई० ।

: ई ।
में अप्रस्तुत योजना—ग्रंथमाला-कार्यालय पटना प्रथम संस्करण संवत् २ ९ वि ।
३ काव्य-विमर्श—ग्रंथमाला-कार्यालय पटना प्रथम संस्करण १९५१ ई ।
४ काव्यालोक (द्वितीय उद्योत)—ग्रंथमाला-कार्यालय बाँकीपुर प्रथम संस्करण सम्वत् २ १ वि ।

रामधारीसिंह 'दिनकर'
१ अर्द्धनारीश्वर—उदयाचल प्रकाशन कलकत्ता प्रथम संस्करण १९५२ ई ।
२ काव्य की भूमिका—उदयाचल प्रकाशन पटना १९५८ ई ।
३ पंत प्रसाद और मैथिलीशरण—उदयाचल प्रकाशन पटना १९५८ ई ।
४ मिट्टी की ओर—उदयाचल प्रकाशन पटना प्रथम संस्करण १९४६ ई ।
५ रेती के फूल—अजंता प्रेस पटना प्रथम संस्करण १९५४ ई ।

रामनाथ 'सुमन'
कवि प्रसाद की काव्य-साधना—छात्र हितकारी पुस्तकमाला प्रयाग प्रथम संस्करण १९३८ ई ।

रामविलास शर्मा
१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना—विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा प्रथम संस्करण सम्वत् २ १२ वि ।
२ प्रगति और परम्परा—किताब महल प्रयाग प्रथम संस्करण १९४८ ई ।
३ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा प्रथम संस्करण १९५४ ई ।
४ प्रेमचन्द और उनका युग—मेहरचन्द मुंशीराम दिल्ली प्रथम संस्करण १९५२ ई ।
५ भारतेन्दु युग—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा प्रथम संस्करण सन् १९५१ ई ।
६ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—विद्या धाम, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५५ ई ।
७ भाषा साहित्य और संस्कृति—किताब महल १९५४ ई ।
८ विराम चिह्न—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण १९५४ ई ।
९ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य—हि प्र प काशी, प्रथम संस्करण १९५६ ई ।
१ लोक-जीवन और साहित्य—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा १९५५ ई ।
११ संस्कृति और साहित्य—किताब महल इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९४९ ई ।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
१ अलंकार-पीयूष पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध—रामनारायणलाल पब्लिशर्स प्रयाग १९२९ ३ ई ।
२ आलोचनादर्श—इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण

५. साहित्यानुशीलन—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली १९५५ ई०।
६ हिन्दी साहित्य के पस्सी वर्ष—रण मि दिल्ली १९५४ ई।

शिवनाथ
१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—सरस्वती मन्दिर, बनारस द्वितीय संस्करण सम्वत् २० ५ वि ।
२ आधुनिक हिन्दी साहित्य की आर्थिक भूमिका—काशी विद्यापीठ बनारस प्रथम संस्करण।
३ हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ—राजकमल प्रकाशन दिल्ली १९५३ ई ।

श्यामसुन्दरदास
१ गोस्वामी तुलसीदास—हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग प्रथम संस्करण १९३१ ई ।
२ मेरी आत्म कहानी—इण्डियन प्रेस, प्रयाग १९४१ ई ।
३ रूपक-रहस्य—इण्डियन प्रेस प्रयाग संवत् २ ०६ वि ।
४ साहित्यालोचन—इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९९४ वि ।
५. हिन्दी भाषा और साहित्य—इण्डियन प्रेस प्रयाग संवत् १९८७ वि० प्रथम संस्करण।

श्रीकृष्णलाल
१ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—हिन्दी-परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग प्रथम संस्करण संवत् १९९९ वि ।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय
१ आधुनिक हिन्दी साहित्य—अभिनव भारती ग्रन्थमाला कलकत्ता प्रथम संस्करण १९४० ई०।
२ त्रिशंकु—सरस्वती प्रेस बनारस १९४५ ई ।

सत्येन्द्र
१ कला कल्पना और साहित्य—साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा प्रथम संस्करण संवत् २० ७ वि ।
२ गुप्तजी की कला—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा संवत् १९९४ वि ।
३ प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला—साहित्य रत्न भंडार आगरा।
४ ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—साहित्य रत्न-भंडार, आगरा १९४९ ई ।

सावित्री सिन्हा
अनुसन्धान का स्वरूप—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली १९५४ ई ।

सीताराम चतुर्वेदी
समीक्षा-शास्त्र—अखिल भारतीय विक्रम परिषद संवत् २ १ वि ।

सुधीन्द्र
१ साहित्य-समीक्षांजलि — विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा १९५१ ई०।
२ हिन्दी कविता में युगान्तर—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली १९५० ई ।

सुमित्रानन्दन पंत
गद्य-पथ—साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण १९५३ ई०।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
१ चयन—बिहार ग्रन्थमाला कुटीर, पटना संवत् २०१४ वि ।
२ चाबुक—कला मन्दिर, प्रयाग।
३ पंतजी और पल्लव—गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९४९ ई०।
४ प्रबन्ध-पद्म—गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, सम्वत् १९९१ वि ।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१ बिहारी की वाग्विभूति—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस संवत् १९९३ वि ।
२ वाङ्मय-विमर्श—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस संवत् १९९९ वि ।
३ हिन्दी का सामयिक साहित्य—सरस्वती मन्दिर काशी संवत् २ ८ वि ।
४ हिन्दी में नाट्य साहित्य का विकास—साहित्य सेवक कार्यालय काशी प्रथम संस्करण सम्वत् १९८६ वि ।

विश्वेश्वर आचार्य व्याख्याकार
१ काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति—(आचार्य वामन कृत) संपादक डा नगेन्द्र।
२ हिन्दी ध्वन्यालोक—संपादक डा नगेन्द्र।
३ हिन्दी वक्रोक्ति-जीवितम्—संपादक डा नगेन्द्र।

व्रजरत्नदास
१ खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—हिन्दी साहित्य-कुटीर, बनारस संवत् १९९८ वि ।
२ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग १९४८ ई ।
३ हिन्दी नाट्य साहित्य—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस सम्वत् १९९५ वि ।
४ हिन्दी उपन्यास-साहित्य—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस सम्वत् २ १३ वि ।

शम्भुनाथसिंह
१ छायावाद-युग—सरस्वती मन्दिर, बनारस प्रथम संस्करण १९५२ ई ।
२ हिन्दी महाकाव्य का विकास—हिन्दी प्रचारक पुस्तक मन्दिर, वाराणसी १९५६ ई ।

शचीरानी गुर्टू
१ कलादर्शन—साहनी प्रकाशन दिल्ली १९५६ ई ।
२ हिन्दी के आलोचक—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली प्रथम संस्करण १९५५ ई ।

शांतिप्रिय द्विवेदी
१ आधान—हि प्र पु वाराणसी प्रथम संस्करण १९५७ ई ।
२ कवि और काव्य—इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण १९३६ ई ।
३ ज्योति-विहग—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग संवत् २ ८ वि ।
४ युग और साहित्य—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९४१ ई ।
५. साकल्य—विद्या मन्दिर प्रेस वाराणसी १९५५ ई०।
६ साहित्यिकी—ग्रन्थमाला कार्यालय बांकीपुर, १९३८ ई ।
७. संचारिणी—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९४१ ई ।
८. सामयिकी—ज्ञान-मंडल लिमिटेड काशी संवत् २ १ वि ।

शिवदानसिंह चौहान
१ आलोचना के मान—रण प्रि दिल्ली प्रथम संस्करण १९५८ ई ।
२ प्रगतिवाद—प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद १९४६ ई ।
३ साहित्य की परख—इण्डिया पब्लिशर्स प्रयाग १९४८ ई ।
४ साहित्य की समस्याएँ—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली १९५९ ई ।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

(कालक्रमानुसार)

भरत मुनि	नाट्य शास्त्रम्—चौखम्बा संस्कृत सिरीज बनारस।
भामह	काव्यालंकार— „ „ १९२८ ई।
दण्डी	काव्यादर्श—ओरियंटल बुक सप्लाईंग एजेंसी पूना १९२४ ई।
उद्भट	काव्यालंकारसार-संग्रह—भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट प्रथम संस्करण १९५२ ई०।
वामन	हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली।
रुद्रट	काव्यालंकार—निर्णयसागर प्रेस बम्बई तृतीय संस्करण १९२८ ई।
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक—गौतम बुक डिपो दिल्ली प्रथम संस्करण।
अभिनवगुप्त	अभिनव-भारती—गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज बड़ौदा जिल्द १ अध्याय ६।
राजशेखर	काव्य-मीमांसा—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना १९५४ ई।
धनंजय	दशरूपकम् निर्णयसागर प्रेस बम्बई पंचम संस्करण १९४१ ई।
कुन्तक	हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्—आत्माराम एण्ड संस दिल्ली प्रथम संस्करण १९५५ ई०।
महिम भट्ट	व्यक्ति-विवेक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९३६ ई।
भोजदेव	सरस्वती कण्ठाभरणम्—निर्णयसागर प्रेस १९३४ ई।
क्षेमेन्द्र	औचित्य-विचार-चर्चा—चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९३३ ई।
मम्मट	काव्य प्रकाश—झलकीकर द्वारा व्याख्यात १९२१ ई।
रुय्यक	अलंकार-सर्वस्वम्—निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३९ ई।
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, द्वितीय संस्करण सम्वत् १९९१ वि।
पण्डितराज जगन्नाथ	रस-गंगाधर—निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९४७ ई।

पत्र-पत्रिकाएँ

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कविवचनसुधा' हरिश्चन्द्र मैगजीन' ब्राह्मण' आनन्द-कादम्बिनी' भारतमित्र' 'हिन्दी-प्रदीप' 'हिन्दुस्तान' सरस्वती माधुरी' मतवाला' सुधा' हंस' सम्मेलन-पत्रिका' नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' साहित्य-संदेश' 'समालोचक' 'विशाल-भारत' 'हिन्दी अनुशीलन' आदि।

५ प्रबन्ध प्रतिमा—भारती भंडार, प्रयाग संवत् १९९७ वि. ।

६ रवीन्द्र-कविता-कानन—हिन्दी पुस्तक भंडार बनारस १९५४ ई. ।

सोमनाथ गुप्त

१ पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य—हिन्दी भवन प्रयाग १९५८ ई. ।

२ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—हिन्दी भवन प्रयाग १९५१।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

१ अशोक के फूल—सस्ता साहित्य मंडल नई दिल्ली १९४८ ई. ।

२ कबीर—हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई १९४२।

३ कल्पलता—ज्ञान मंडल बनारस संवत् २ ७ वि. ।

४ नाथ सम्प्रदाय—हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग १९५ ई.

५ विचार और वितर्क—सुषमा-साहित्य मन्दिर जबलपुर।

६ साहित्य का साथी—राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति वर्धा १९४९ ई. ।

७ साहित्य का मर्म—विश्वविद्यालय लखनऊ, १९५२ ई. ।

८ सूर साहित्य—हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर प्रथम संस्करण सम्वत् १९९३ वि. ।

९ हमारी साहित्यिक समस्याएँ—हरेन्द्र प्रकाशन भागलपुर १९४४ ई. ।

१ हिन्दी साहित्य—अतरचन्द कपूर एण्ड संस दिल्ली १९५२ ई०।

११ हिन्दी साहित्य का आदिकाल—राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति पटना संवत् २ ९ वि. ।

१२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई, प्रथम संस्करण १९४ ई. ।

Lamborn, A.E G — 1 The Rudiments of Criticism—Oxford University Press, London, 1926.
2. Poetic Values—

Lawrence, D.H. — Selected Literary Criticism—

Lewisohn, L. — Modern Book of Criticism—

Legouis E. — A History of English Literature—

Lenin. — Materialism and Empirio Criticism—

Lucas, F.L. — 1 Literature and Psychology—Cassell London, 1951.
2. Critical Thoughts in Critical Days—Allen & Co., London, 1942.

Maier N R.F and Reninger H W — Psychological Approach to Literary Criticism—

Macaulay L. — Critical and Historical Essays—Madras, 1916.

Machall, J W — Coleridge s Literary Criticism—

Moulton. — The Modern Study of Literature—

Nicholson Norman. — Man and Literature—London 1944.

Painter F V.N — Elementary Guide to Literary Criticism—London, 1903

Pope, Alexander — Essays on Criticism—Edited with notes by J Sargeaunt, O U P 1909

Pepper S.C — Bases of Criticism in the Arts—

Quiller Couch. (Sir Arthur) — Adventures in Criticism—

Raghavan, Dr — Some Aspects of Alankara Sastra -

Richards, I A — 1. Principles of Literary Criticism—
2. Practical Criticism—
3 A Study of Literary Judgement—

Ramaswami Sastri. — Indian Aesthetics—

Read Herbert. — Collected Essays in Literary Criticism—

Saintsbury George. — 1. A History of Criticism and Literary Taste in Europe—Vols. I and II.
2 A History of English Criticism—

Sankaran, Dr — Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit—

Scott, James R.A. — 1 The Making of Literature—Secker and Warburg, London, 1948.
2. Fifty Years of English Literature—1900-50 with a postscript 1951 55.

Sheran W H. — Handbook of Literary Criticism—1905.

Shipley J T — 1 Encyclopedia of Literature—
2 Dictionary of World Literature—

Sheridan. — The Critic

Spingarn J E. — 1 The New Criticism—New York, 1911
2. A History of Literary Criticism in the renaissance—New York 1912

Thomson George. — Marxism and Poetry—

Vaughan C E — English Literary Criticism—London, 1898

Winchester C T — Some Princ ples of Literary Criticism—Macmillan & Co., London 1899.

Ward A.C — Twentieth Century Literature—1901-50

Wellek Rene. — History of Modern Criticism—Two Volumes, Yale University Press, New Haven, 1955.

Worsfold W B — 1 Judgement in Literature—
P inciples of Criticism—

Wordsworth. — Preface to Lyrical Ballads—

ग्रन्थ-सूची

(ग)

English Books

Abercrombie, Lascelles.
1. Idea of Great Poetry—Secker London 1925
2. Romanticism—Second Impression, London, 1937
3 An Introduction to the Principles of Criticism—

Arnold Mathew
1 Essays in Criticism—Second Series, Macmillan & Co., London 1951
2. Essays, Literary and Critical—Introduction by C. K. Chesterton.

Arkins, J W.B
1. English Literary Criticism—17th and 18th Centuries, Methuen Company London, 1951
2. English Literary Criticism—The Renaissance, Methuen Company London, 1947
3. English Literary Criticism—The Medieval Phase.

Bagehot, W — Estimations in Criticism—Vol. II London, 1909

Bethell, S.L — Essays on Literary Criticism—Dobson London, 1948.

Bywater Ingram — Aristotle on the Art of Poetry—

Bradley A.C — Oxford Lectures on Poetry—Macmillan, London 1950

Carr H.W — Philosophy of Croce—The Problem of Art and History Macmillan & Co London, 1917

Caudwell, Christopher
1 Illusion and Reality—Peoples Publishing House Bombay 1947
2. Studies in Dying Culture—Johnhane. The Bodley Head, London, 1951.

Chesterton G.K. — The Victorian Age in Literature—

Collins J C. — Studies in Poetry and Criticism—London, 1905

Crane R.S — Critics and Criticism—Chicago University Press 1957

Coleridge, S.T — Biographia Literaria—Edited with his Aesthetical Essays by J Shawcross, London, 1949.

Coan T.M. — Critic and Artist—

Croce Benedetto. — *Aesthetics*—

Daiches, David. — Critical Approaches to Literature—Longmans London, 1957

Drinkwater J — The Outline of Literature—

Eliot, T.S.
1. The Use of Poetry and the Use of Criticism—
2. What is a Classic—
3 Selected Essays—
4. On Poetry and Poets—

Gorky Maxim. — Life and Literature—

Grierson, H.J C
1. Criticism and Creation—Chatto and Windus, London, 1945.
2. Cross Currents in English Literature of the Seventeenth Century—
3. A Critical History of English Poetry—

Hudson W H.
1 An Introduction to the Study of Literature—
2. An Outline History of English Literature—

Kupuswami. — Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit—